युगवीर-समन्तभद्र-ग्रन्थमाला : १६

जैन तत्त्वज्ञान-मीमांसा

Jain TattvaJnana-Mimansa

●

लेखक

डॉ० दरबारीलाल कोठिया

●

वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन

ग्रन्थमाला-सम्पादक व नियामक
डॉ० दरबारीलाल कोठिया

जैन तत्त्वज्ञान-मीमांसा
Jain Tattva Jnana-Mimnsa

ट्रस्ट-संस्थापक :
आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

लेखक :
डॉ० दरबारीलाल कोठिया

प्रकाशक :
वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट,
१/१२८ बी०, डुमरांवबाग कॉलोनी, अस्सी, वाराणसी–५ (उ० प्र०)

संस्करण :
प्रथम : १९८३

मूल्य :
पचास रुपए

मुद्रक :
महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी (उ० प्र०)

प्रकाशकीय

जून १९८० में वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्टसे 'जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन' नामके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थका प्रकाशन हुआ था। इसके लेखक देश और समाजके प्रख्यात विद्वान् डॉ० दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्य, वाराणसी हैं, जो ट्रस्टके ऑनरेरी मंत्री भी हैं और ट्रस्टके कार्योंको बड़े उत्साह एवं लगनसे करते हैं। यह ग्रन्थ विद्वद् जगत्‌में बहुत समादृत और उपादेय हुआ है। अनेक विश्वविद्यालयोंकी लायब्रेरियों, सरस्वतीभवनों और मन्दिरोंने क्रय करके इसे मँगाया है। अनेक जिज्ञासु जैन-जैनेतर विद्वानों और साधु-सन्तोंने भी पुस्तक-विक्रेताओंसे इस ग्रन्थको खरीदा है और इसे एक सन्दर्भ-ग्रन्थ माना है।

इसमें सन्देह नहीं कि इसमें जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्रसे सम्बन्धित अनेक विषयोंपर गहरा और अनुसन्धानपूर्ण विमर्श किया गया है। अनेक ग्रन्थकारों और उनके ग्रन्थोंपर बिलकुल नया प्रकाश डाला गया है, जिसका उपयोग अन्य विद्वानोंने भी अपने ग्रन्थोंमें प्रमाणरूपमें किया है। 'तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण' जैसे विषयों और आचार्य विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि, अभिनव धर्मभूषण जैसे ग्रन्थकारोंके समय आदिमें जो अनिश्चितता थी, उसे इसमें दूर किया गया है और जिसे सभीने स्वीकार किया है। स्वामी समन्तभद्रके रत्न-करण्डकश्रावकाचारपर कर्तृत्वविषयक ऊहापोहपूर्ण विपुल सामग्री भी इसमें समाहित है, जो महत्त्वपूर्ण है।

हमें प्रसन्नता है कि आज डॉक्टर कोठियाके एक अन्य ग्रन्थ 'जैन तत्त्वज्ञान-मीमांसा' को भी हम प्रकाशित कर रहे हैं। इसमें जैन तत्त्वज्ञानकी विभिन्न विधाओंपर शोधात्मक चिन्तन उपलब्ध है। डॉक्टर कोठियाके द्वारा 'अनेकान्त' आदि पत्र-पत्रिकाओंमें लिखे गये अनुसन्धानपूर्ण साठ (६०) निबन्ध इसमें संग्रहीत हैं। इनमें ग्रन्थोंकी प्रस्तावनाएँ और अनेक विश्वविद्यालयोंकी संगोष्ठियोंमें पठित शोध-निबन्ध भी सम्मिलित हैं। ये सभी शोधार्थियोंके लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध होंगे।

इसमें तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्ड धर्म, दर्शन और न्याय है। इसमें इन्हीं विषयोंसे सम्बन्धित २७ निबन्ध हैं। ये निबन्ध जैन दर्शन एवं धर्मके जिज्ञासुओंके लिए बहुत उपयोगी और महत्त्वपूर्ण हैं। द्वितीय खण्ड 'इतिहास और साहित्य' है। इस खण्ड में ११ निबन्ध हैं, जो साहित्य और इतिहासविषयक हैं। इन निबन्धोंमें भी नया और समीक्षात्मक विमर्श किया गया है। 'नियमसारकी ५३ वीं गाथा और उसकी व्याख्या एवं अर्थपर अनुचिन्तन', 'अनुसन्धानमें पूर्वाग्रहमुक्ति आवश्यक', 'अनुसन्धानविषयक महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर' जैसे शोध-निबन्धोंमें प्रामाणिक और विपुल सामग्री निहित है, जो अनेक समस्याओं-प्रश्नोंका समाधान प्रस्तुत करनेमें सक्षम हैं। खण्डके अन्तमें जैन परम्पराके युगप्रवर्तक एवं प्रभावशाली आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य गृद्धपिच्छ और आचार्य समन्तभद्रके जीवन, समय और कृतित्वपर संक्षेपमें किन्तु सारगर्भ प्रामाणिक प्रकाश डाला गया है।

ग्रन्थका तीसरा और अन्तिम खण्ड 'विविध' है। इसमें तीर्थों, पर्वों, प्रवासों और विशिष्ट सन्तों-विद्वानोंका परिचय निबद्ध है। 'श्रुत-पञ्चमी' और 'जम्बूजिनाष्टकम्' ये दो रचनाएँ संस्कृतमें हैं। पहली संस्कृत-गद्यमें और दूसरी संस्कृत-पद्यमें है। पहलीमें 'श्रुत-पञ्चमी' पर्वपर ऐतिहासिक प्रकाश डाला गया है और दूसरीमें अन्तिम केवली श्री जम्बूकुमारका संस्तवन किया गया है। राजगृहकी यात्रा और कश्मीरकी यात्रा विषयक आलेख भी पर्याप्त जानकारी एवं तथ्योंका आकलन प्रस्तुत करते हैं। इस तरह यह खण्ड

भी अपनी विविधताको लिए हुए अध्ययनीय और महत्त्वपूर्ण हैं। इस प्रकार यह समग्र ग्रन्थ **'जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन'** जैसा ही पाठकोंको उपयोगी और पठनीय सिद्ध होगा। वस्तुतः यह उसीका द्वितीय भाग है।

हम शीघ्र ही डॉ० पन्नालालजी साहित्याचार्यकी मौलिक संस्कृत-रचना **'सम्यक्त्व-चिन्तामणि'**, आचार्य समन्तभद्रके समग्र ग्रन्थोंका संग्रह **'समन्तभद्र-ग्रन्थावली'** और आचार्य विद्यानन्दकी लघु दार्शनिक कृति **'पत्र-परीक्षा'** ये तीन ग्रन्थ भी पाठकोंके समक्ष ला रहे हैं। ये तीनों छप चुके हैं। मात्र कुछ सामग्री (प्रस्तावनादि) छपनेके लिए अवशिष्ट है।

सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीके सम्पादन व अनुवादके साथ आचार्य देवसेनका **'आराधनासार'** (सटीक) और श्री मिश्रीलालजी एडवोकेट गुनाकी मौलिक कृति **'द्वापरका देवता : अरिष्ट नेमि'** ये दो ग्रन्थ प्रेसमें है, जो जल्दी प्रकाशमें आवेंगे।

जैन साहित्य और इतिहासके विशेषज्ञ एवं अनुसन्धाता स्वर्गीय श्री जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' द्वारा संस्थापित यह वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट उनकी परम्परा—जैन साहित्य और इतिहास सम्बन्धी अनुसन्धान-प्रवृत्तियों—को अपने सीमित साधनोंसे चालू रखे हुए है और आशा है वह आगे भी चालू रहेगी।

ट्रस्टके सभी ट्रस्टियों, संरक्षक-सदस्यों, सहायकों और पाठकोंके हम आभारी हैं, जिनके उदार सहयोग और प्रेरणासे ट्रस्ट साहित्य-सेवा और जिनवाणीके प्रचार-प्रसारमें संलग्न है।

अन्तमें महावीर-प्रेसको हम धन्यवाद देते हैं, जो ट्रस्टके ग्रन्थोंका सुन्दर मुद्रण करके हमें सहयोग करता है।

महावीर-जयन्ती,
२५, अप्रेल १९८३
एटा (उ० प्र०)

डॉ० श्रीचन्द्र जैन, संगल
कोषाध्यक्ष एवं ट्रस्टी
वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट

प्राक्कथन

विगत अर्ध शताब्दिसे जैन विद्याके अध्ययनकी ओर भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों ही विद्वानोंका ध्यान जाने लगा है। भारतीय विद्वानोंमें डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, महापंडित राहुल सांकृत्यायन एवं डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल मनीषियोंने जैन दर्शन, साहित्य एवं संस्कृतिको महत्ताको स्वीकार किया है और उसके अध्ययनपर बल दिया है। वर्तमानमें देशके कुछ प्रमुख विश्वविद्यालयोंमें जैन विद्याके अध्ययनकी विशेष व्यवस्था की गयी है। साथ ही जैन दर्शनके प्रमुख अंग अहिंसा, अनेकान्तवाद एवं अपरिग्रहवादपर दार्शनिक चर्चायें होने लगी हैं। मनीषियोंका यह प्रयास निस्संदेह प्रशंसनीय है।

जैन विद्याके विभिन्न पक्षोंकी व्याख्या करनेवाली प्रस्तुत पुस्तकके लेखक डॉ० दरबारीलालजी कोठिया दर्शनशास्त्रके मर्मज्ञ एवं प्रतिभासम्पन्न मनीषी हैं। उन्होंने विगत तीन-चार दशकोंमें जैन दर्शनका विश्वविद्यालयोंमें प्रतिनिधित्व ही नहीं किया, किन्तु समय-समयपर आयोजित विभिन्न सेमिनारों, संगोष्ठियों एवं विद्वत् परिषदोंमें भी महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। डॉ० कोठियाजीने न्यायदीपिका, आप्तपरीक्षा, द्रव्यसंग्रह, प्रमाणप्रमेयकलिका एवं प्रमाणपरीक्षा जैसे जैन न्यायके ग्रन्थोंका विद्वत्तापूर्ण सम्पादन किया है तथा जैन दर्शनके प्रामाणिक विश्लेषणात्मक अध्ययनके साथ उसकी प्रत्येक मान्यताके सम्बन्धमें अपनी प्रतिक्रिया भी व्यक्त की है। वास्तवमे डॉ० कोठियाका यह अध्ययन एक ऐसे विद्वान्का अध्ययन है जिसने मूल ग्रन्थ, भाष्य और टीकाओंके सूक्ष्म अध्ययनके साथ ही उनकी सूक्ष्मतम समस्याओंका अध्ययन भी किया है।

डॉ० कोठियाने 'जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार' जैसे दार्शनिक एवं न्यायशास्त्रके महत्त्वपूर्ण पक्षको उद्घाटित करनेवाले विषयपर अपना शोध-प्रबन्ध लिखकर दार्शनिक जगत्में अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। उन्होंने प्रस्तुत शोधप्रबधमे जैन परम्परामें अनुमानकी भारतीय तर्कशास्त्रमें सर्वांगीण अर्हता स्थापित करनेमे सफलता प्राप्त की है। उनका 'जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन' शोध-निबन्ध-संग्रह तो यशस्वी कृति है।

प्रस्तुत पुस्तकमें डॉ० कोठियाके करीब ६० निबन्धोंका संग्रह है, जो पहिले विभिन्न पत्र-पत्रिकाओंमे या तो प्रकाशित हो चुके हैं या फिर सेमिनारों एवं संगोष्ठियोंमे उनके द्वारा पढ़े जा चुके हैं। लेकिन ये निबन्ध आज भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने पहिले माने जाते थे और भविष्यमें उनका महत्त्व उसी तरह बना रहेगा। इन निबन्धोंका विषय एक न होकर धर्म, दर्शन, न्याय, इतिहास, पुरातत्त्व एवं साहित्यसे सम्बन्धित है। इनमें कुछ निबन्धोंको छोड़ कर अधिकांश निबन्ध छोटे-छोटे हैं और जिज्ञासुओं एवं विद्यार्थियोंमें तद्विषयक रुचिको जाग्रत करनेवाले हैं। पुण्य और पापका शास्त्रीय दृष्टिकोण, जीवनमें संयम एवं चारित्रका महत्त्व, महावीरकी धर्म-देशना जैसे बहुचर्चित एवं रुचिकर विषयोंपर लेखकने बहुत सुन्दर प्रकाश डाला है। व्यवहारनयसे पुण्यको उपादेय मानते हुए भी उसे परमपद (मोक्ष) प्राप्त करनेमें बाधक बतलाया है। इसी तरह रोग, शोक, आधि, व्याधि आदिका मूल कारण वासना एवं असंयमको माना है, जो साधारण-से-साधारण पाठकको भी रुचिकर लगनेवाला है। इसी तरह आचार्य कुन्दकुन्द, गृद्धपिच्छ, समन्तभद्र, वादीभसिंह, नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, आचार्य शान्तिसागर, नमिसागर, महापंडित टोडरमल,

त्यागमूर्ति गणेशप्रसाद वर्णी जैसे लोकप्रिय आचार्यों एवं पंडितोंपर भी चित्ताकर्षक एवं सुबोध शैलीमें विमर्श किया है। ये सभी निबन्ध विद्वान् और सामान्य सभी तरहके पाठकोंके लिये उपयोगी हैं तथा स्थायी महत्त्वके हैं।

ग्रन्थमे कुण्डलगिरि, गजपंथा, अहार क्षेत्र, पपौरा, पावापुर, राजगृह जैसे लोकप्रिय तीर्थोंपर विभिन्न दृष्टियोमे प्रकाश डालकर पुरातत्त्व एवं इतिहासके क्षेत्रमे विद्वान् लेखकने प्रशंसनीय योगदान किया है। इन्हीके साथ श्रुत-पंचमी, दशलक्षणपर्व, क्षमापर्व, वीरनिर्वाणपर्व, महावीर-जयन्ती जैसे सांस्कृतिक पर्वोंपर भी संक्षिप्त एव सुन्दर प्रकाश डाला है। इस प्रकार प्रस्तुत कृतिमे एक ओर जहाँ न्याय एवं दर्शनके गूढ़ विषयोंके निबन्धोंका सकलन है वहाँ इतिहास, पुरातत्त्व एवं साहित्यके बहुचर्चित एवं लोकप्रिय विषयोंपर लिखे गये निबन्धोंको स्थान देकर पुस्तकको सभी तरहके पाठकोंके लिये रुचिकर बना दिया है। प्रस्तुत पुस्तक जैनविद्याके विद्यार्थियोंके लिये बहुत उपयोगी सिद्ध होगी और सामान्य पाठक इससे लाभान्वित हो सकेगा। डॉ० कोठिया ने अपने निबन्धोंका एक ही स्थानपर संकलन करके हिन्दी जगत्का महान् उपकार किया है, जिसके लिये वे हिन्दी जगत् एवं जैन समाजकी हार्दिक बधाईके पात्र हैं।

८६७ अमृत कलश, बरकत कालोनी
किसान मार्ग, टोंकफाटक;
जयपुर (राजस्थान)
२२-३-८३ ई०

डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल
निदेशक, श्री महावीर ग्रन्थ-अकादमी

प्रस्तुत कृति

सन् १९८० के जूनमें प्रकाशित अपने 'जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन' के **'आत्म-निवेदन'** में हमने लिखा था कि 'जैन साहित्य और इतिहासके अनुसन्धानका गम्भीर एवं तलस्पर्शी अध्ययन भी नहीं-के-बराबर होता आ रहा है। हाँ, एक प्रकाशकी किरण उन विश्वविद्यालयोंसे जरूर दिखाई पड़ती है, जहाँ जैन विद्याका अध्ययन और अनुसन्धान हो रहा है। हमें आशा है इन विश्वविद्यालयोंमें कार्यरत जैन विद्याके विद्वान् और छात्र इस विद्याके अध्ययन-अध्यापन और अनुसन्धानमें गहराई एवं पूरा परिश्रम करके नये तथ्य प्रस्तुत करेंगे तथा अप्रकाशित, लुप्त और अनुपलब्ध जैन साहित्यको विभिन्न शास्त्र-भण्डारोंमें खोजकर प्रकाशमें लायेंगे। पूज्यपादका सारसंग्रह, पात्रस्वामीका त्रिलक्षणकदर्थन, श्रीदत्तका जल्प-निर्णय, कुमारनन्दिका वादन्याय, सुमतिकी सन्मति-टीका, अनन्तवीर्यका प्रमाणसंग्रह-भाष्य, विद्यानन्दका विद्यानन्द-महोदय, अनन्तकीर्तिकी स्वतःप्रामाण्यभङ्गसिद्धि प्रभृति ग्रन्थ जैन वाङ्मयके अपूर्व ग्रन्थ हैं, जो आज अनुपलब्ध हैं और जिनके उत्तरवर्ती ग्रन्थोंमें उल्लेख मिलते हैं। इनकी तथा इसी प्रकारके अन्य अनुपलब्ध ग्रन्थोंकी खोज होनी चाहिये तथा जो बहुत-सा साहित्य शास्त्रभण्डारोंमें अप्रकाशित पड़ा है उसका सुसम्पादनके साथ प्रकाशन होना चाहिए।'

हमें प्रसन्नता है कि जयपुरके कर्मठ साहित्यसेवी डॉ० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल इस दिशामें पूर्णतया संलग्न हैं। उन्होंने **'महावीर ग्रंथ-अकादमी'** की स्थापना करके उसके द्वारा हिन्दीके अनेक ग्रंथोंकी खोज कर उनका प्रकाशन किया है और वे ऐसे अप्रकाशित ग्रन्थोंको बीस भागोंमें निकालना चाहते हैं। उनके हालके पत्रसे ज्ञात हुआ है कि उनकी खोजके परिणामस्वरूप राजस्थानके कुछ शास्त्रभण्डारोंमें उन्हें बहुत ही महत्त्वपूर्ण अप्रकाशित पाण्डुलिपियां मिली हैं, जिनका वे सुसम्पादन करके उक्त अकादमीसे प्रकाशन करेंगे, यह उनका स्तुत्य कार्य है।

अभी हालमें डॉ० भागचन्द्रजी 'भास्कर' नागपुरके पत्रसे भी ज्ञात हुआ है कि उन्हें दो अप्रकाशित ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं—**चंदप्पह-चरिउ** और **यशोधर-चरित**। इनका उन्होंने सम्पादन भी कर लिया है। हम वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्टसे उनका प्रकाशन करेंगे।

साहित्योपासनामें लगे विद्वानोंसे हमारा अनुरोध है कि वे अवकाश निकालकर उत्तर-दक्षिणके शास्त्र-भण्डारोंका अवलोकन करें। संभव है उन्हें उनमें ऐसी कई महत्त्वपूर्ण कृतियां मिल जायें, जो अभी तक कहींसे प्रकाशित न हुई हों और जो जैन वाङ्मयको समृद्ध करने वाली हों।

जैन पुरातत्त्व-विद्यामहार्णव एवं जैन साहित्यानुसन्धाता स्वर्गीय पं० जुगल किशोरजी मुख्तार 'युगवीर' अपनी ९२ वर्षकी वृद्धावस्था तक शास्त्र-भण्डारोंकी छानबीन करते रहे और जिसके फलस्वरूप उन्हें उनमें कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मिले। अभी हमने दक्षिण और उत्तरके शास्त्र-भण्डारोंको सूक्ष्मतासे नहीं देखा और न उनकी ग्रन्थ-सूची ही देखी है। लगभग १०-१२ वर्ष पहले आचार्य अमृतचन्द्रकी पूर्वमें अश्रुत और अहमदाबादके एक श्वेताम्बर शास्त्रभण्डारमे उपलब्ध **'लघुतत्त्वस्फोटसिद्धि'** के मिलान और वाचनके लिए आचार्य समन्तभद्र महाराजके सान्निध्यमें बाहुबली-कुम्भोज (कोल्हापुर) में सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री वाराणसी, डॉ० पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर और हम एकत्रित हुए थे। वहाँसे मूडबिद्री

तथा हुम्बुच भी गये थे। हुम्बुच (हूमच) में भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिजीने वहाँका शास्त्र-भण्डार दिखाया था। शास्त्र-भण्डारमे ताडपत्रकी सैकड़ों प्रतियाँ अस्त-व्यस्त पड़ी थीं, जिनको सूची भी नही बनी थी। हमने भट्टारकजीसे उनकी सूची बनवाने तथा उन्हें व्यवस्थित करनेका अनुरोध किया था। उनकी कन्नड़ लिपि है।

इतना प्रासङ्गिक कहकर अब हम प्रस्तुत ग्रन्थके सम्बन्धमे चर्चा करेंगे। जैसा कि प्रकाशकीयमें कहा गया है, यह मेरे विगत ४०-५० वर्षोंमे लिखे या विभिन्न संगोष्ठियोंमे पढ़े निबन्धों या मेरे द्वारा लिखी कुछ शोधपूर्ण ग्रन्थ-प्रस्तावनाओंका महत्त्वपूर्ण संग्रह है। '**जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन**'के निबन्धोंकी तरह इस '**जैन तत्त्वज्ञान-मीमांसा**'के निबन्धोंका भी हमने स्वयं आद्योपान्त पुनरीक्षण-सम्पादन, आवश्यक संशोधन, परिवर्धन और परिवर्तन किया है। लेखोंको कई-कई बार पढ़ा और मांजा है। इसे प्रकाशमें ला ही रहे थे कि संयोगसे इसी बीच मेरे अभिनन्दन-ग्रन्थका निश्चय किया गया। इस अभिनन्दन-ग्रन्थको नया रूप देनेके लिए उसके सम्पादकमण्डल तथा अभिनन्दनग्रन्थोंके प्रकाशनके अनुभवी श्री बाबूलालजी फागुल्लके परामर्शानुसार उक्त निबन्धोंको उसमें भी संयोजित किया गया और अन्य विद्वानोंके विभिन्न लेखोंको देनेकी परम्पराको छोड दिया। इस तरह इस संग्रहके निबन्धोंका पाठकोंके लिए दोहरा लाभ हुआ। हमें आशा है प्रस्तुत ग्रन्थ उन पाठकोंको अधिक लाभदायक होगा, जिनके पास उक्त अभिनन्दन-ग्रन्थ नही होगा और इस दृष्टिसे यह एक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भग्रन्थ सिद्ध होगा तथा कितनी ही नयी जानकारी प्रदान करेगा।

इसके अधिकांश निबन्ध तत्त्वज्ञानपरक होनेसे इसका नाम '**जैन तत्त्वज्ञान-मीमांसा**' रखा गया है। 'पुण्य और पापका शास्त्रीय दृष्टिकोण,' 'वर्तनाका अर्थ', 'अनेकान्तवाद-विमर्श', 'स्यद्वाद-विमर्श', 'जैन दर्शनमें सल्लेखना', 'जैन दर्शनमे सर्वज्ञता', 'अर्थाधिगम-चिन्तन', 'संजद पदके सम्बन्धमे अकलङ्कदेवका महत्त्वपूर्ण अभिमत', '९३वे सूत्रमे 'संजद' पदका सद्भाव', 'नियमसारकी ५३वी गाथा और उसकी व्याख्या एवं अर्थपर अनुचिन्तन' आदि लेख उसीके द्योतक है।

विश्वास हैं यह ग्रन्थ सभी प्रकारके पाठकोंके लिए उपादेय एवं उपयोगी सिद्ध होगा।

हम डॉ० कस्तूरचन्दजी कासलीवालके अत्यन्त आभारी है, जिन्होंने हमारी प्रेरणापर ग्रन्थका 'प्राक्कथन' लिखनेकी कृपा की।

अन्तमें ट्रस्टके सभी दृष्टियों, कोषाध्यक्ष डॉ० श्रीचन्द्रजी जैन संगल एटाके हम विशेष अभारी है, जिनके सहयोगसे हमे सदैव उत्साह मिलता है। अभिनन्दनग्रन्थके सम्पादक-मण्डल और प्रिय बाबूलालजी फाल्गुलको भी हम धन्यवाद दिये बिना नही रहेगे, जिन्होंने इन निबन्धोंको अभिनन्दन-ग्रन्थमें भी देकर उसके पाठकोंको लाभान्वित किया है।

२७ जून १९८३,
चमेली-कुटीर,
१/१२८, डुमरावबाग कॉलोनी,
अस्सी, वाराणसी—५

दरबारीलाल कोठिया

जैन तत्त्वज्ञान-मीमांसा

विषयानुक्रम

खण्ड १ : धर्म, दर्शन और न्याय

धर्म

खण्ड २ : इतिहास और साहित्य १६५-३००

खण्ड ३ : विविध ३०१-३७१

धर्म

पुण्य और पापका शास्त्रीय दृष्टिकोण

पूर्व वृत्त

'सम्यग्दृष्टिके पुण्य और पाप दोनों हेय हैं' शीर्षक एक लेखमें[1] मैंने बृहद्द्रव्यसंग्रहके संस्कृत-टीकाकार ब्रह्मदेवके उद्धरणपूर्वक यह बताया है कि सम्यग्दृष्टिके पुण्य हेय है—उपादेय नहीं है और संस्कृत-टीकाकारकी सोदाहरण युक्ति द्वारा स्पष्ट किया है कि सम्यग्दृष्टि निज शुद्ध आत्माकी ही भावना करता है। परन्तु चारित्रमोहके उदयसे यदि उस शुद्ध आत्म-भावनामें असमर्थ रहता है तो निर्दोष परमात्मस्वरूप अरहंतादि पंचपरमेष्ठियोंकी परमात्मपदकी प्राप्ति और विषय-कषायोंको दूर करनेके लिए दान, पूजा आदिसे अथवा गुणस्तुति आदिसे परम भक्ति करता है। इससे उस सम्यग्दृष्टि जीवके भोगोंकी आकांक्षा आदि निदान-रहित परिणाम उत्पन्न होता है। उससे उसके बिना चाहे विशिष्ट पुण्यका आस्रव होता है। जैसे किसान चावलोंकी प्राप्तिके लिए खेती करता है, पर पलाल उसे अनचाहे मिल जाता है। पुण्यका फल वैभव (इन्द्रादिपद) आदि मिलनेपर वह (सम्यग्दृष्टि) उसमें आसक्त या मोहित नहीं होता। इस क्रमसे वह आत्मगुणोंका विकास करता हुआ अन्तमें जिनदीक्षा लेकर निर्वाण प्राप्त करता है।

इस लेखमें हमने अपनी ओरसे कुछ न लिखकर केवल ब्रह्मदेवका उद्धरण और उसके अनुवादक पं० अजितकुमारजी शास्त्रीका हिन्दी अनुवाद दिया था। परन्तु उक्त पण्डितजीने 'जैनगजट' वर्ष ७१, अंक ५० के सम्पादकीयमें 'त्याज्य और ग्राह्य' शीर्षकके अन्तर्गत 'भ्रान्ति-निरास' उपशीर्षकसे एक टिप्पणी दी है और उसमें हमें अपने लेखका स्पष्ट अभिप्राय जनताको समझानेके लिए पुण्य-विषयक विवेचन शास्त्रीय साक्षीसे करनेकी प्रेरणा की है। अतः इस लेख द्वारा हम पुण्य और पापका शास्त्रीय दृष्टिकोणसे विचार करेंगे।

पुण्य और पाप

दिगम्बर परम्परामें प्राचीन आचार्योंमें आचार्य कुन्दकुन्द और उनके बाद आचार्य गृद्धपिच्छका सर्वोपरि स्थान है तथा उनके ग्रन्थोंको निर्विवादरूपमें प्रमाण माना जाता है। आ० कुन्दकुन्दने पंचत्थियसंगह (पंचास्तिक-संग्रह), पवयणसार (प्रवचनसार), णियमसार (नियमसार), अट्ठपाहुड (अष्टप्राभृत), समयसार आदि मूर्द्धन्य ग्रंथोंकी रचना की है तथा आ० गृद्धपिच्छका एकमात्र आद्य संस्कृत-गद्यसूत्र-ग्रन्थ 'तत्त्वार्थसूत्र' उपलब्ध है। हमें देखना है कि इन ग्रंथोंमें पुण्य और पापका वर्णन मिलता है या नहीं? यदि मिलता है तो उन्होंने पुण्य और पापका निरूपण किस प्रकार किया है?

सबसे पहले हम कुन्दकुन्दका 'पंचत्थियसंगह' लेते हैं। इसमें पुण्य और पापको पदार्थ माना गया है और उनकी नौ पदार्थोंमें परिगणना की गई है। जैसा कि उसकी निम्न गाथासे प्रकट है—

> जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं।
> संवर-णिज्जर-बंधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा ॥[2]

---

1. जैन सन्देश, वर्ष ३०, अंक २४, जैन संघ, मथुरा।
2. पंचत्थियसंगह, गा० १०८।

आगे इसी ग्रन्थमें पुण्य और पापका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है कि जीवका शुभ परिणाम पुण्य पदार्थ है और अशुभ परिणाम पाप पदार्थ है। तथा इन दोनों शुभाशुभ परिणामोंका निमित्त पाकर पुद्गल-का परिणाम क्रमशः शुभ कर्म और अशुभ कर्मरूप अवस्थाको प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि जीवका शुभ परिणाम भावपुण्य और उसके निमित्तसे होने वाला पुद्गलका शुभकर्मरूप परिणाम द्रव्यपुण्य है। तथा जीवका अशुभ परिणाम भावपाप और उसके निमित्तसे होने वाला पुद्गलका अशुभकर्मरूप परिणाम द्रव्यपाप है। यथा—

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावंति हवदि जीवस्स।
दोण्हं पोग्गलमेत्तो भावो कम्मत्तणं पत्तो॥[1]

यहां आ० अमृतचन्द्र और आ० जयसेनकी टीकायें द्रष्टव्य हैं। उन्होंने विषयका अच्छा स्पष्टीकरण किया है। स्मरण रहे कि शुभाशुभ परिणाम (भावपुण्य-भावपाप) का कर्त्ता तो जीव है और उनके निमित्तसे होनेवाले पुद्गलकर्मरूप परिणाम (द्रव्यपुण्य-द्रव्यपाप) का कर्त्ता पुद्गल है। तात्पर्य यह है कि जीव और पुद्गल ये दोनों अपने-अपने परिणामके उपादान हैं और एक-दूसरा एक-दूसरेके प्रति निमित्त है।

पुण्यका आस्रव

इतनी सामान्य चर्चाके बाद अब हम केवल पुण्यके आस्रवके संबंधमे प्रकाश डालनेका प्रयास करेंगे। पुण्य क्या है, यह समझ लेनेके उपरान्त अब प्रश्न है कि पुण्यका आस्रव कैसे होता है? इसका समाधान करते हुए इसी पंचत्थियसंगहमे आचार्यने बड़ी विशदतासे कहा है कि जिसके प्रशस्त राग है, अनुकम्पारूप परिणाम है और चित्तमें कालुष्य नहीं है उसी जीवके पुण्यका आस्रव होता है।

अरहन्त, सिद्ध और साधु इनकी भक्ति, व्यवहारचारित्ररूप धर्मानुष्ठानमे चेष्टा (प्रवृत्ति) और गुरुजनोंका अनुगमन (विनय) प्रशस्त राग है। यह राग स्थूल लक्ष्य होनेके कारण केवल भक्तिप्रधान अज्ञानीके होता है अथवा अनुचित राग या तीव्र राग न होने पाये, इस हेतु वह कभी ज्ञानीके भी होता है। यथार्थमें सूक्ष्मलक्ष्यी सम्यग्दृष्टि ज्ञानीको यह राग नही होता।

प्याससे आकुलित, भूखसे पीड़ित अथवा इष्टवियोगादिजन्य दुःखसे दुःखित प्राणीको देखकर जो स्वयं दुःखी होता हुआ दयाभावसे उसके दुःखको दूर करनेकी इच्छासे आकुलित है उसके इस प्रकारके भावको अनुकम्पा कहते हैं। यह अज्ञानीके होती है। ज्ञानीके तो नीचेकी भूमिकामें रहते हुए जन्मोदधिमें डूबे जगत्-को देखकर ईषत् खिन्नता होती है।

जब क्रोध, मान, माया और लोभका तीव्रोदय होता है तब चित्तमें क्षोभ पैदा होता है और इसीको कालुष्य कहते हैं। परन्तु जब उन्ही क्रोधादिका मन्दोदय होता है तब चित्तमें क्षोभ नही आता, ऐसे भावको अकालुष्य कहा गया है। यह कभी विशिष्ट कषायका क्षयोपशम होनेपर अज्ञानीके भी होता है और कषायका उदय रहते हुए और उपयोगके पूर्ण निर्मल न होते हुए ज्ञानीके भी कदाचित् होता है। यह सब निम्न गाथाओंसे स्पष्ट है—

रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो।
चित्ते णत्थि कलुस्सं पुण्णं जीवस्स आसवदि॥
अरहंत-सिद्ध-साहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा।
अणुगमणं पि गुरूणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति॥

---

१. पचत्थियसंगह, गा० १३२।

तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो हु दुहिदमणो।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा॥
कोधो व जदा माणो माया लोभो व चित्तमासेज्ज।
जीवस्स कुणदि खोहं कलुसो त्ति य तं बुधा वेंति॥[1]

अब इन्हीं कुन्दकुन्दके समयसारको लीजिये। उसमें पुण्य और पापको लेकर एक स्वतंत्र ही अधिकार है, जिसका नाम 'पुण्यपापाधिकार' है। इसमें कर्मके दो भेद करके कहा गया है कि शुभकर्म सुशील (पुण्य) है और अशुभकर्म कुशील है—पाप है, ऐसा जगत् समझता है। परन्तु विचारनेकी बात है कि शुभकर्म भी अशुभकर्मकी तरह जीवको संसारमें प्रवेश कराता है तब उसे 'सुशील' कैसे माना जाय? अर्थात् दोनों ही पुद्गलके परिणाम होनेसे तथा संसारके कारण होनेसे उनमें कोई अन्तर नहीं है। देखो, जैसे लोहेकी बेड़ी पुरुषको बाँधती है उसी तरह सोनेकी बेड़ी भी पुरुषको बाँधती है। इसी प्रकार शुभ परिणामोंसे किया गया शुभकर्म और अशुभ परिणामोंसे किया गया अशुभ कर्म दोनों जीवको बाँधते हैं। अत: उनमें भेद नहीं है। जैसे कोई पुरुष निन्दित स्वभाववाले (दुश्चरित्र) व्यक्तिको जानकर उसके साथ न उठता-बैठता है और न उससे मैत्री करता है। उसी तरह ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) जीव कर्मप्रकृतियोंके शीलस्वभावको कुत्सित (बुरा) जानकर उन्हें छोड़ देते है और उनके साथ संसर्ग नहीं करते। केवल अपने ज्ञायक स्वभावमें लीन रहते हैं। राग चाहे प्रशस्त हो, चाहे अप्रशस्त, दोनोंसे ही जीव कर्मको बाँधता है तथा दोनों प्रकारके रागोंसे रहित ही जीव उस कर्मसे छुटकारा पाता है। इतना ही जिन भगवान्‌के उपदेशका सार है, इसलिए न शुभकर्ममें रक्त होओ और न अशुभकर्ममें। यथार्थमें पुण्यकी वे ही इच्छा करते हैं जो आत्मस्वरूपके अनुभवसे च्युत हैं और केवल अशुभकर्मको अज्ञानतासे बन्धका कारण मानते हैं तथा व्रत, नियमादि शुभकर्मको बन्धका कारण न जानकर उसे मोक्षका कारण समझते हैं। इस सन्दर्भमें इस ग्रन्थके उक्त अधिकारकी निम्न गाथाएँ भी द्रष्टव्य हैं—

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि॥१४५॥
सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं॥१४६॥
जह णाम को वि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता।
वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रायकरणं च॥१४८॥
एमेव कम्मपयडीसीलसहावं च कुच्छिदं णाउं।
वज्जंति परिहरंति य तस्संसग्गं सहावरया॥१४९॥
रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज॥१५०॥
वद-णियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति॥१५३॥
परमट्ठबाहिरा जे अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेउं अजाणंता॥१५४॥[2]

---

१. पंचत्थियसंगह, गा० १३५, १३६, १३७, १३८।

२. समयसार, पुण्यपापाधिकार।

आचार्य अमृतचंद्रने इन गाथाओंका मर्म बड़ी विशदतासे उद्घाटित किया है, जो उनकी टीकासे ज्ञातव्य है। यहाँ हम उनके दो दृष्टान्तोंको उपस्थित करनेका लोभ संवरण नहीं कर सकते। एक दृष्टान्त द्वारा उन्होंने बताया है कि जैसे कोई व्यक्ति ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न होकर उसे अपने ब्राह्मणत्वका अभिमान हो जाता है और कोई शूद्र कुलमें पैदा होकर वह उसके अहंकारसे नहीं बचता। परन्तु वे दोनों यह भूल जाते हैं कि उनकी जाति तो आखिर एक ही है—दोनों ही मनुष्य हैं। उसी तरह पुण्य और पाप कहनेको भले ही वे दो हों, किन्तु हैं दोनो ही एक ही पुद्गलकी उपज। दूसरे दृष्टान्त द्वारा आ॰ अमृतचन्द्र कहते हैं कि जिस प्रकार एक हाथीको बाँधनेके लिए मनोरम अथवा अमनोरम हथिनियाँ उसपर कूटनीतिका जाल फेंक उसे बाँध लेती हैं और वह हाथी अज्ञानतासे उनके शिकजेमें आ जाता है, उसी प्रकार शुभकर्म और अशुभकर्म भी जीवपर अपना लुभावना जाल डालकर उसे बन्धनमें डाल देते हैं और जीव अज्ञानतासे उनके जालमें फँस जाता है। तात्पर्य यह कि पुण्य और पाप दोनों ही जीवके सजातीय नहीं हैं—वे उसके विजातीय हैं और एकजाति—पुद्गलके वे दो परिणाम हैं। तथा दोनो ही जीवके बन्धन हैं। इनमें इतना ही अन्तर है कि एकको शुभ (पुण्य) कहा जाता है और दूसरेको अशुभ (पाप)। पर कर्म दोनों ही हैं। और दोनों ही बन्धनकारक है। जैसे सोनेकी बेड़ी और लोहेकी बेड़ी। बेड़ी दोनो हैं और दोनों ही पुरुषकी स्वतन्त्रताका अपहरण करके उसे बन्धनमें डालती हैं।

आ॰ गृद्धपिच्छने भी पुण्य और पाप दोनोंको कर्म (बन्धनकारक पुद्गलका परिणाम) कहा है और ज्ञानावरणादि आठो अथवा उनकी एकसौ अड़तालीस प्रकृतियोंको पुण्य तथा पापमें विभक्त किया है। उनके वे सूत्र इस प्रकार हैं—

१ सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्।

२. अतोऽन्यत्पापम्।[1]

दूसरे कुछ आचार्योंका भी पुण्य-पाप विषयक निरूपण यहाँ उपस्थित है—

आ॰ योगीन्दुदेव योगसारमें लिखते हैं—

पुण्यसे जीव स्वर्ग पाता है और पापसे नरकमें जाता है। जो इन दोनों (पुण्य और पाप) को छोड़कर आत्माको जानता है वही मोक्ष पाता है। (गा॰ दो॰ ३२)

जबतक जीवको एक परमशुद्ध पवित्र भावका ज्ञान नहीं होता तबतक व्रत, तप, संयम और शील ये सब कुछ भी कार्यकारी नहीं होते। (गा॰ दो॰ ३१)

पापको पाप तो सभी जानते और कहते हैं। परन्तु जो पुण्यको भी पाप कहता है, ऐसा पण्डित कोई विरला ही होता है। (दो, ७१)

जैसे लोहेकी साकल, सांकल (बन्धनकारक) है उसी तरह सोनेकी साकल भी सांकल (बन्धनकारक) है। यथार्थमें जो शुभ और अशुभ दोनों भावोंका त्याग कर देते हैं वे ही ज्ञानी हैं। (दो॰ ७२)

परमात्मप्रकाशमें भी आ॰ योगीन्दुदेव पुण्य और पापकी विस्तृत चर्चा करते हुए कहते हैं—

जो व्यक्ति विभाव परिणामको बंधका और स्वभाव परिणामको मोक्षका कारण नहीं समझता वही अज्ञानसे पुण्यको भी और पापको भी दोनोंको ही करता है। (२-५३)

जो जीव पुण्य और पाप दोनोंको समान नहीं मानता वह मोहके कारण चिरकाल तक दुःख सहता हुआ संसारमें भटकता है। (२-५५)

---

१. तत्त्वार्थसू॰ ८।२५, २६।

इस तरह हम सहज रूपमें जान सकते हैं कि पुण्य और पापके विषयमें शास्त्रका क्या दृष्टिकोण है ? अर्थात् निश्चयनयसे पाप भी हेय है और पुण्य भी हेय है, क्योंकि वे दोनों पुद्गलके परिणाम हैं। पण्डितप्रवर दौलतरामजीके शब्दोंमें—

'पुण्य-पापफल माहिं हरख-बिलखो मत भाई,
यह पुद्गल-परजाय उपज विनसैं फिर थाई।'[1]

तथा व्यवहारनयसे पुण्य उपादेय है, क्योंकि व्रतादिका ग्रहण प्रथमावस्थामें आवश्यक है और उनसे पुण्यका आस्रव होता है। पाप तो सर्वथा वर्जनीय ही है।

१. छहढाला।
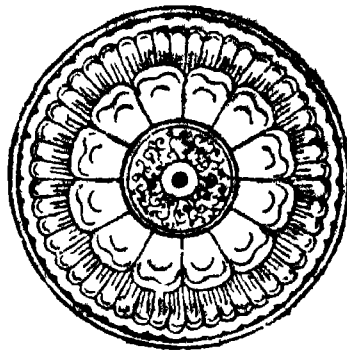
वर्तनाका अर्थ

पण्डित राजमलजी द्वारा रचित 'अध्यात्मकमलमार्तण्ड' एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें विद्वान् लेखकने जैन दर्शनमें मान्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्योंका विशद निरूपण किया है। इसका हिन्दी अनुवाद और सम्पादन हमने किया है तथा जैन साहित्यकी प्रसिद्ध संस्था 'वीर-सेवा-मन्दिर' से उसका प्रकाशन हुआ है। इसमें वर्तनाका जो अर्थ हमने दिया है उसपर 'जैन गजट' के सम्पादक पं० वंशीधरजी शास्त्री सोलापुरने कुछ आपत्ति प्रस्तुत की है। ग्रन्थकी समालोचना करते हुए उन्होंने लिखा है—

'पृष्ठ ८३ में कालद्रव्यका वर्णन आया है, वहाँ वर्तनाका हिन्दी अर्थ गलत हो गया है। वर्तनाका अर्थ लिखा है—द्रव्योके अपने रूपसे सत्परिणामका नाम वर्तना है। यह जो अर्थ लिखा गया है वह परिणामका अर्थ है—वर्तनाका यह अर्थ नही है। 'वर्तना' शब्द णिजन्त है। उसका अर्थ सीधी द्रव्यवर्तना नहीं है, किन्तु द्रव्योंको वर्ताना अर्थ है। इसीलिये वर्तनारूप पर्याय खास अथवा सीधा कालपर्याय माना गया है और इसी सबबसे वर्तना द्वारा निश्चयकालद्रव्यकी सिद्धि होती है। यदि वर्तनाका अर्थ जैसाकि यहाँके हिन्दी अर्थमें बताया गया है कि द्रव्योंका सत्परिणाम वर्तना है तो कालके अस्तित्वका समर्थक दूसरा हेतु मिलना कठिन हो जायेगा। इसलिये पूर्वग्रंथोंके नाजुक एवं महत्त्वयुक्त विवेचनोपर आधुनिक लेखकोंको आदरसे ध्यान रखकर अपनी लेखनी चलानी चाहिए''।

इस पर विचार करनेके पूर्व मैं 'अध्यात्मकमलमार्तण्ड' के उस पूरे पद्य और उसके हिन्दी अर्थको भी यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ। इससे पाठकोंके लिये समझनेमें सहूलियत होगी। पद्य और उसका हिन्दी अर्थ इस प्रकार है—

> ''द्रव्यं कालाणुमात्रं गुणगणकलितं चाश्रितं शुद्धभावै-
>
> स्तच्छुद्धं कालसंज्ञं कथयति जिनपो निश्चयाद् द्रव्यनीतेः।
>
> द्रव्याणामात्मना सत्परिणमनमिदं वर्तना तत्र हेतुः
>
> कालस्यायं च धर्मः स्वगुणपरणतिर्धर्मपर्याय एषः॥

अर्थ—गुणोंसे सहित और शुद्ध पर्यायोंसे युक्त कालाणुमात्र द्रव्यको जिनेन्द्र भगवान्ने द्रव्यार्थिक निश्चयनयसे शुद्ध कालद्रव्य अर्थात् निश्चयकाल कहा है। द्रव्योंके अपने रूपसे सत्परिणामका नाम वर्तना है। इस वर्तनामे निश्चयकाल निमित्तकारण है—द्रव्योंके अस्तित्वरूप वर्तनमें निश्चयकाल निमित्तकारण होता है। अपने गुणोंमें अपने ही गुणो द्वारा परिणमन करना कालद्रव्यका धर्म है—शुद्ध अर्थक्रिया है और यह उसकी धर्मपर्याय है।

यहाँ पद्यका हिन्दी अर्थ हूबहू मूलके ही अनुसार किया गया है। मूलमे जो वर्तनाका लक्षण ''द्रव्याणामात्मना सत्परिणमनमिदं वर्तना'' किया गया है वही—''द्रव्योंके अपने रूपसे सत्परिणामका नाम वर्तना है'' हिन्दी अर्थमें व्यक्त किया गया है। अपनी ओरसे न तो किसी शब्दकी वृद्धि की है और न अपना कोई नया विचार ही उसमें प्रविष्ट किया है। अतः यदि इस हिन्दी अर्थको गलत कहा जायगा तो मूलको भी गलत बताना होगा। किन्तु मूलको गलत नही बतलाया गया है और न वह गलत हो सकता है। प्रतीत होता है कि पंडितजीने मूलपर और सिद्धान्तग्रंथोंमे प्रतिपादित वर्तनालक्षणपर ध्यान नही दिया और यदि कुछ दिया भी हो तो उसपर सूक्ष्म तथा गहरा विचार नही किया।

वास्तवमें अनेक विद्वान् यही समझते हैं कि वर्तना कालद्रव्यकी ही खास पर्याय, परिणमन अथवा गुण है[1] और वह सीधी कालपर्याय है। पर यथार्थमें यह बात नहीं है। वर्तना जीवादि छहों द्रव्योंका अस्तित्व-रूप (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक)[2] स्वात्मपरिणमन है और इस अस्तित्वरूप स्वात्मपरिणमनमें उपादानकारण तो तत्तद्द्रव्य हैं और साधारण बाह्य निमित्तकारण अथवा उदासीन अप्रेरक कारण कालद्रव्य है।[3] यदि प्रत्येक द्रव्य स्वत. वर्तनशील न हो तो वर्तनाको केवल कालद्रव्यकी सीधी पर्याय मानकर भी कालको उनका वर्तयिता—वर्तानेवाला नहीं कहा जा सकता और न वह हो ही सकता है। किन्तु जब प्रत्येक द्रव्य प्रतिसमय वर्त रहे होंगे तभी वह कालाणु (काल द्रव्य) प्रत्येक समय उनके वर्तानेमें निमित्तकारण होता है। अतएव जिस प्रकार धर्मादि द्रव्य न हों तो जीव-पुद्गलोंकी गत्यादि नहीं हो सकती अथवा कुम्हारके चाककी कीली न हो तो चाक घूम नहीं सकता। उसी प्रकार कालद्रव्य न हो तो निमित्तकारणके विना उन द्रव्योंका वर्तन नहीं हो सकता है। इसी निमित्तकारणताकी अपेक्षासे ही धर्मादिद्रव्यके गत्यादि उपकारकी तरह वर्तनाको कालद्रव्यका उपकार कहा गया है। इसी बातको सर्वार्थसिद्धिकार आ० पूज्यपादने कहा है—

> 'धर्मादीनां द्रव्याणा स्वपर्यायनिर्वृत्ति प्रति स्वात्मनैव वर्तमानानां बाह्योपग्रहाद्विना तद्वृत्त्यभावात्त-त्प्रवर्तनोपलक्षित काल इति कृत्वा वर्तना कालस्योपकारः।' —स० सि० ५–२२।

विद्वद्वर्य पं० राजमल्लजीने अपना पूर्वोक्त वर्तनालक्षण पूज्यपादके इसी वर्तनालक्षणके आधारपर रचा जान पडता है, क्योंकि दोनों लक्षणोंको जब सामने रखकर एक साथ पढ़ा जाता है तो वैसा स्पष्ट प्रतीत होता है। आ० अकलङ्कदेव भी यही कहते हैं—

> "प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतैकसमया स्वसत्तानुभूतिर्वर्तना····एकस्मिन्नविभागिनि समये धर्मादीनि द्रव्याणि षडपि स्वपर्यायैरादिमदनादिमद्भिरुत्पादव्ययध्रौव्यविकल्पैर्वर्तन्ते इति कृत्वा तद्विषया वर्तना। साऽनुमानिकी व्यावहारिकदर्शनात् पाकवत्। यथा व्यावहारिकस्य पाकस्य तंदुल-विक्लेदनलक्षणस्यौदनपरिणामस्य दर्शनादनुमीयते—अस्ति प्रथमसमयादारभ्य सूक्ष्मपाकाभिनिर्वृत्तिः प्रतिसमयमिति। यदि हि प्रथमसमयेऽग्न्युदकसन्निधाने कश्चित् पाकविशेषो न स्यात्, एवं द्वितीये तृतीये च न स्यात् इति पाकाभाव एव स्यात्। तथा सर्वेषामपि द्रव्याणां स्वपर्यायाभिनिर्वृत्तौ प्रति-समयं दुरधिगमा निष्पत्तिरभ्युपगन्तव्या। तल्लक्षणः कालः। सा वर्तना लक्षणं यस्य स काल इत्यवसेयः। समयादीना क्रियाविशेषाणां समयादिनिर्वृत्यानां च पर्यायाणां पाकादीनां स्वात्म-सद्भावानुभवनेन स्वत एव वर्तमानानां निर्वृत्तेर्बहिरङ्गो हेतुः समयः पाक इत्येवमादिस्वसंज्ञारूढि-सद्भावे काल इत्ययं व्यवहारोऽकस्मान्न भवतीति तद्व्यवहारहेतुनाऽन्येन भवितव्यमित्यनुमेयः।"
>
> —त० वा०, ५–२२

यहाँ अकलङ्कदेवने बहुत ही विशदताके साथ कहा है कि "हरेक द्रव्यपर्यायमे जो हर समय स्वसत्ता-नुभवन—वर्तन होता है वह वर्तना है। अर्थात् एक अविभागी समयमे धर्मादि छहों द्रव्य स्वतः ही अपनी सादि और अनादि पर्यायोंसे जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप है, वर्त रहे हैं उनके इस वर्तनको ही वर्तना कहते हैं

---

१. उदाहरणस्वरूप देखें, जयधवला, प्रथम पुस्तक (मुद्रित), पृ० ४०।

२. 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्', 'सद् द्रव्यलक्षणम्'-त० सू० ५-३०, २९।

३. जैन सिद्धान्तदर्पण, प्र० भा०, पृ० ७२।

और चूंकि तत्तत् समय उसमें अप्रेरक बाह्यनिमित्तकारण होता है। इसलिए वर्तनाके द्वारा निमित्तकारण-रूपसे कालद्रव्य अनुमेय है, इसीसे वर्तनाको काल-द्रव्यके अस्तित्वका समर्थक मुख्य हेतु कहा जाता है।

आ० विद्यानन्दने[1] भी इसी तरहका विस्तृत वर्णन किया है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ४१४ पर एक अनुमान ही ऐसा प्रस्तुत है, जिसमें उन्होंने स्पष्टतया जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और इनकी व्यापक सत्ता तथा सूर्यगति आदिकी ही वर्तना स्वीकार की है और उसके द्वारा बहिरङ्गकारणरूपसे काल-की सिद्धि की है। जब शकाकारके द्वारा कालवर्तनाके साथ व्यभिचार दोष उपस्थित किया गया तब उन्हों-ने कालकी मुख्य वर्तना न होनेका ही सिद्धान्त स्थापित किया है और धर्मादि द्रव्योंकी ही मुख्य वर्तना बतलाई है। कालद्रव्यकी भी मुख्य वर्तना माननेमें अनवस्था दोष दिया गया है। साथमें यह भी कहा गया कि काल-में वृत्ति और वर्त्तकका विभाग न होनेसे मुख्य वर्तना बन भी नहीं सकती। यदि शक्तिभेदसे वृत्ति और वर्त्तकका विभाग माना जावे तो कालद्रव्यकी भी वर्तना कही जा सकती है क्योंकि कालवर्तनाका बहिरङ्गकारण वर्तक शक्ति हो जाती है। इस तरह विद्यानन्द स्वामीने अनुमानमें उपस्थित किये गये व्यभिचार दोषको उत्सारित किया है। विद्यानन्दके इस स्फुट विवेचनसे हम इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते है कि वास्तवमें वर्तना सभी द्रव्यगत है और काल उसमे केवल बहिरंग कारण है। द्रव्योंके इस वर्तना—अस्तित्वरूप परिणमनमे बहिरंग कारण न तो आकाश है और न जीवादिद्रव्य हैं, क्योंकि वे सब तो उसके उपादान कारण हैं और प्रत्येक कार्य उपादान तथा निमित्त इन दो कारणोमे होता है। अत वर्तनाके उपादान कारण जीवादिसे अतिरिक्त निमित्तकारणरूपसे निश्चयकालद्रव्यकी सिद्धि होती है।

सर्वार्थसिद्धि (सोलापुर संस्करण) पृ० १८३ में एक अतिस्पष्ट पादटिप्पण (फुटनोट) दिया गया है, जो श्रुतसागरसूरिकी श्रुतसागरी तत्त्वार्थवृत्तिका जान पडता है और जिससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी द्रव्योंका प्रतिसमय वर्तन स्वभाव है तथा प्रतिक्षण उनकी उत्तरोत्तर सूक्ष्म पर्यायोंमें जो परमाणु-रूप बाह्य निश्चयकालकी अपेक्षा लेकर वर्तन—परिणमन होता है वह वर्तना है। यहाँ फुटनोटकी कुछ उपयोगी पंक्तियोको दिया जाता है—

> "एवं सर्वेषा द्रव्याणां प्रतिसमयं स्थूलपर्यायविलोकनात् स्वयमेव वर्तनस्वभावत्वेन बाह्यनिश्चय-कालं परमाणुरूपं अपेक्ष्य प्रतिक्षणं उत्तरोत्तरसूक्ष्मपर्यायेषु वर्तनं परिणमनं यद् भवति सा वर्तना निर्णीयते"।

यहाँ "वर्तनं परिणमन" कहकर तो वर्तनाका अर्थ परिणाम भी स्पष्टतया प्रतिपादन किया गया है। इस तरह सिद्धान्तग्रन्थोंसे यह ज्ञात हो जाता है कि पं० राजमल्लजीने वर्तनाका जो "**द्रव्याणामात्मना सत्परिणमनमिदं वर्तना**" लक्षण किया है और हमने उसका जो 'द्रव्योंके अपने रूपसे सत्परिणामका नाम वर्तना है' हिन्दी अर्थ किया है दोनों ही सिद्धान्त सम्मत हैं—गलत नहीं हैं।

अब विचारके लिये शेष रह जाता है कि यदि सत्परिणाम वर्तना है तो परिणाम और वर्तनामें भेद क्या है, क्योंकि कालद्रव्यके उपकारोमे परिणामको भी वर्तनासे पृथक् बतलाया गया है? इसका खुलासा इस प्रकार है—

प्रथम तो सामान्यतया वर्तना और परिणाममे कोई भेद नही है, क्योंकि वस्तुत: परिणाम आदि जो कालद्रव्यके उपकार बतलाये गये है वे वर्तनाके ही भेद है। जैसा कि आ० पूज्यपादके निम्न कथनसे प्रकट है—

१. त० श्लो० वा० ५–२२, पृ० ४१३, ४१४।

"ननु वर्तनाग्रहणमेवास्तु तद्भेदाः परिणामादयस्तेषां पृथग्ग्रहणमनर्थकम्; नानर्थकम्; कालद्वय-सूचनार्थत्वात्प्रपञ्चस्य।" —स० सि० ५–२२।

यहाँ शंका की है कि एक वर्तनामात्रका ग्रहण करना पर्याप्त है, परिणाम आदि तो उसीके भेद हैं, अतः वर्तनाग्रहणसे उनका भी ग्रहण हो जायगा, उनका पृथक् ग्रहण करना व्यर्थ है ? इस शंकाका आचार्य उत्तर देते हैं कि सूत्रमें उनका पृथक् ग्रहण व्यर्थ नहीं है, क्योंकि कालके दो भेदोंकी सूचना—ज्ञापन करनेके लिये प्रपञ्च—विस्तार किया गया है। तात्पर्य यह कि पूज्यपादके लिये परिणाम आदिको वर्तनाके भेद मानना स्पष्टतः अभीष्ट हैं। दूसरे, सत्परिणमनको वर्तना माननेपर वर्तना और परिणाम दोनों एक नहीं हो जाते। प्रतिक्षण समस्त द्रव्योंका अपनी उत्तरोत्तर सूक्ष्म पर्यायोंमे जो वर्तन सत्परिणमन होता है वह तो वर्तना है। जैसा कि पूर्वोक्त विवेचन और सर्वार्थसिद्धिके उल्लिखित फुटनोटसे स्पष्ट है और पूर्वपर्यायके त्याग और उत्तर पर्यायके उत्पादरूप जो द्रव्यमें अपरिस्पन्दात्मक विकार—पर्याय होती है उसे परिणाम कहते हैं। जैसा कि स्वयं पूज्यपादके ही निम्न कथनसे प्रकट है—

"द्रव्यस्य पर्यायो धर्मान्तरनिवृत्तिधर्मान्तरोपजननरूपः अपरिस्पन्दात्मकः परिणामः। जीवस्य क्रोधादिः, पुद्गलस्य वर्णादिः। धर्माधर्माकाशानामगुरुलघुगुणवृद्धिहानिकृतः"।

—स० सि० ५–२२।

पूज्यपादके अनुगामी अकलङ्क[1] और विद्यानन्द[2] भी अपना यही अभिप्राय प्रकट करते हैं। इसी अध्यात्मकमलमार्तण्ड (पृष्ठ ८४) मे अध्यात्मकमलमार्तण्डकारने परिणामका भी लक्षण दिया है, जिससे उनकी एकताका भ्रम दूर हो जाता है। उनका वह परिणामलक्षण इस प्रकार है—

"पर्यायः किल जीवपुद्गलभवो योऽशुद्धशुद्धाद्द्वयः"।

अर्थात्–जीव और पुद्गलसे होने वाले शुद्ध और अशुद्ध परिणमनों—विकारोंको पर्याय–परिणाम कहते हैं। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि ग्रन्थकार जीव और पुद्गलजन्य पर्याय (विकार) को ही परिणाम कहते है, धर्मादिद्रव्योंमें वे विकारको नही मानते। किन्तु तत्त्वार्थके सभी टीकाकारोंने द्रव्यविकारको परिणाम बतलाते हुए धर्मादिद्रव्योंमे भी अगुरुलघुगुणकृत विकार स्वीकार किया है और उसे भी परिणाम कहा है। अस्तु। तात्पर्य यह कि द्रव्यपर्यायोंमें प्रति समय होने वाला परिणमन तो वर्तना है और वे द्रव्यपर्यायें परिणाम हैं। यही वर्तना और परिणाममे सिद्धान्तसम्मत भेद है। यद्यपि 'वर्तना' शब्द 'णिजंत' हैं, किन्तु यह भी ध्यातव्य है कि 'णिज्' का अर्थ यहाँ क्या विवक्षित है। सर्वार्थसिद्धिकारके णिजर्थ सम्बन्धी पूरे अभिप्रायको यहाँ दिया जाता है—

'को णिजर्थः ? वर्तते द्रव्यपर्यायस्तस्य वर्तयिता कालः। यद्येवं कालस्य क्रियावत्त्वं प्राप्नोति। यथा शिष्योऽधीते, उपाध्यायोऽध्यापयति इति; नैष दोषः; निमित्तमात्रेऽपि हेतुकर्तृव्यपदेशो दृष्टः। यथा कारीषोऽग्निरध्यापयति। एवं कालस्य हेतुकर्तृता।'—स० सि० ५–२२।

'णिज्' का अर्थ क्या है ? द्रव्यपर्याय वर्त रही है, उसका वर्ताने वाला काल है। यदि ऐसा है तो कालके क्रियापना प्राप्त हो जायेगा। जैसे—शिष्य पढ़ता है, उपाध्याय पढ़ाता है ? यह कोई दोष नहीं, क्योंकि निमित्तमात्रमे भी कारणको कर्ता कह दिया जाता है। जैसे कण्डेकी अग्नि पढ़ाती है। यहाँ कण्डेकी अग्निको पढ़नेमे निमित्तकारण होने मात्रसे कर्ता कहा गया है। इसी प्रकार स्वतः वर्त रही द्रव्यपर्यायोंके

---

१. त० वा० ५–२२।

२. त० श्लो० वा० ५–२२, पृ० ४१४।

वर्तनमें काल निमित्तकारण होने मात्रसे वर्तयिता—वर्तनकर्ता (वर्ताने वाला) कहा है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार 'पढाना' वस्तुतः उपाध्यायनिष्ठ ही है किन्तु निमित्त रूपसे कारीष-अग्निनिष्ठ भी माना जाता है उसी प्रकार वर्तना वस्तुतः समस्त द्रव्यपर्यायगत ही है फिर भी निमित्त होनेसे वर्तनाको कालगत भी मान लिया गया है। अतः वर्तनाका अर्थ मुख्यत. 'द्रव्यवर्तना' है और उपचारतः 'द्रव्योंको वर्ताना' है। सीधी द्रव्य-वर्तनाका व्यवच्छेद करके एकमात्र 'द्रव्योंको वर्ताना' वर्तनाका अर्थ नही है। अन्यथा सर्वार्थसिद्धिकार 'वर्तते द्रव्यपर्यायः' इतने वाक्यांशको न लिखकर केवल "द्रव्यपर्यायस्य वर्तयिता काल.' इतना ही लिखते। इससे स्पष्ट है कि सत्परिणमनको जो हमने वर्तना कहा है वह मूलकार एवं सिद्धान्तकारोंके विरुद्ध नही है और न गलत है।

अन्तमें जो एक बात रह जाती है वह यह कि सत्परिणमनको वर्तना माननेपर कालके अस्तित्वका समर्थक कोई दूसरा हेतु नही मिल सकता, उस सम्बन्धमें मेरा कहना है कि सत्परिणमनको वर्तना माननेपर कालके अस्तित्वकी साधक वह क्यो नही रहेगी। दूसरे द्रव्य तो उस सत्परिणमनरूप वर्तनामें उपादान ही होंगे, निमित्तकारणरूपसे, जो प्रत्येक कार्यमें अवश्य अपेक्षित होता है, कालकी अपेक्षा होगी और इस तरह वर्तनाके द्वारा निमित्तकारणरूपसे कालकी सिद्धि होती ही है। यदि इस रूपमे वर्तनाका अर्थ वर्ताना इष्ट हो तो उसमें हमे कोई आपत्ति नही है। सत्परिणमन भी वहाँ वर्ताना रूप ही हो सकता है। यहाँ ध्यातव्य है कि पूज्यपाद और अकलङ्कदेवके अभिप्रायसे वर्तना कालका असाधारण गुण और विद्यानन्दके अभिप्रायानुसार पर्याय माना गया है।

जीवनमें संयमका महत्त्व

मानव-जीवनको सुखमय बनानेके लिए संयमकी बहुत आवश्यकता है। बिना संयमके इस दुःखमय संसारसे मुक्ति नहीं मिल सकती। एक तो संसार स्वयं दुःखमय है। दूसरे, हम भी विविध वासनाओंकी सृष्टि करके जीवनको भयानक गर्तमें डाल देते हैं। हमारी वासनायें—इच्छायें दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती ही चली जाती है। ज्यों ही एक इच्छाकी पूर्ति होती है त्यों ही दूसरी इच्छा-वासना आ खडी होती है। इस प्रकार एकके बाद दूसरी और दूसरीके बाद तीसरी, तीसरीके बाद चौथी आदि वासनाओंका तांता लगा ही रहता है। भले ही जीवनका अन्त हो जाय, पर वासनाओंका अन्त नही होता। अतएव कहना होगा कि वासनाये अपरिमित है, उनकी पूर्ति होना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव है, क्योंकि उनके विषय परिमित हैं। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि "दुनियाकी सारी चीजें मुझे ही मिल जायें" तब यह कैसे सम्भव है कि अनन्तानन्त जीव-राशिको इच्छायें-वासनायें परिमित वस्तुओंसे पूर्ण हो जाये। एक विद्वान्का यह वचन प्रत्येक मानवको अपने हृत्पटलपर अंकित कर लेना चाहिये—

आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता॥

—आत्मानुशासन।

अर्थात्—अये! दुःखागार संसार-निमग्न प्राणियो! तुम्हारी वासनायें-इच्छायें बड़े भारी गड्ढेके समान हैं और यह दृश्यमान विश्व उसमें अणुके बराबर है तब उनकी पूर्ति अणु-विश्वसे कैसे हो सकती है? अतः तुमको विषयोंमें अभिलाषा करना व्यर्थ है। यह भी ध्रुव सत्य समझो कि जिसकी अभिलाषा की जावे, वह प्रायः मिलती भी नहो है। क्या यह नही सुना है कि "बिन मागे मोती मिले, मांगे मिले न चून"।

जीवनमें जितने भी रोग, शोक, आधि, व्याधि आदि दुःख भोगने पड़ते हैं, उन सबका मूल कारण वासना एवं असंयम ही है। यदि वासना-इच्छा न हो तो दुःख कभी हो ही नहीं सकता, यह बिलकुल यथार्थ है। इन्द्रिय और मनकी विषयोंमें स्वच्छन्द प्रवृत्तिका नाम ही वासना है। इसीको इन्द्रिय-असंयम कहते हैं।

मनसश्चेन्द्रियाणां च यत्स्वस्वार्थे प्रवर्तनम्।
यदृच्छयेव तत्तज्ज्ञा इन्द्रियासंयमं विदुः॥

अर्थात्—मन और इन्द्रियोंके अपने-अपने विषयमें स्वच्छन्द प्रवर्तनको विद्वान् इन्द्रियासंयम कहते हैं। सचमुचमें मनुष्य इसके चगुलमे फँसकर जघन्य-से-जघन्य कुकृत्योंके करनेमें संकुचित नही होता। उसकी तीव्र वासना एवं स्वार्थलोलुपता उसके सच्चे स्वरूपपर कुठाराघात करती है। इतना ही नही, उसे महान दुःखोंके गर्तमें पटक देती है। अतः कहना होगा कि यह इन्द्रियासंयम अपर नाम वासना अनन्त संसारका कारण है। इस लिये यदि हम अपने जीवनको सुखी एवं शान्तिमय बनाना चाहते है, तो हमारा कर्त्तव्य है कि इस विषय-पिशाची वासनाका मूलोच्छेद करें। यह निश्चित है कि विषय नियत समयके लिये ही प्राप्त

होंगे, अपना समय पूरा करके चले जायेंगे। इससे हमें महान् दुःख होगा, आकुलता होगी, असंतोष पैदा होगा। यदि हम इनको स्वयमेव छोड देंगे तो हमें सन्तोष-सुख मिलेगा और दुःखोंका शिकार नहीं होना पड़ेगा। कहा है :—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वाऽपि विषया,
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः,
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनंतं विदधति ॥

अतः विषयवासनाका उच्छेद करना परमावश्यक है। 'न रहेगा बास न बजेगी बांसुरी', 'जड़ ही नष्ट हो गई तो अंकुर कैसा', 'स्रोत ही सुखा दिया जाय तो प्रवाह कैसा'? हमारे मनमे वासनायें ही पैदा न होंगी तो दुःख कहाँसे होगा? वासनाके निवृत्त हो जानेपर जो उनकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करने पडते थे, जो विकलता उठानी पडती थी, उन सबका अन्त हो जायेगा। फिर किसी भी बाह्य चीजकी अभिलाषा न होगी। अपने अन्तर्जगतमे छिपी चीजे (अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुखादि) प्रकट हो जावेंगी। आत्माकी ये ही स्वाभाविक एवं वास्तविक विभूति है। जब तक आकुलता रहती है तभी तक अशान्ति और दुःखका तांता है। जब आकुलता न रहेगी तब निराकुलतात्मक सुख एवं शान्तिकी पूर्ण व्यक्ति हो जायगी। ऐसी ही अवस्थाका नाम मोक्ष है। प० दौलतरामजीके ये शब्द सदा स्मरणीय हैं—

आतमको हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिवमांहि न, तातें शिवमग लाग्यो चहिये ॥

यदि हम विषय-वासनाके अन्तस्थलमे घुसे तो कहना होगा कि विषय-वासना ही संसार है और उसकी विमुक्ति ही मुक्ति है। "बद्धो हि को यो विषयानुरागी, का वा विमुक्तिः विषये विरक्तः।" अर्थात् बद्ध कौन है? जो विषयोंमें आसक्त है। मुक्ति क्या है? विषयोंमे विरक्तता। वही मुक्त है जो विषयोमे विरक्त है, उनमे आसक्त नही है। सम्राट् भरत पट्खंड विभूतिका उपभोग करते हुए भी दीक्षा लेनेके बाद अन्तर्मुहूर्तमे केवली हो गये। अतः निश्चित है कि आसक्ति ही बंधका कारण है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिकी क्रियाये एक होने पर भी मिथ्यादृष्टिकी क्रियायें बंधका कारण हैं, सम्यग्दृष्टिकी नही, क्योंकि मिथ्यादृष्टि जो क्रियाये करता है आसक्त (तन्मय) होकर करता है, सम्यग्दृष्टि नहीं। वह तो केवल पदस्थ कर्त्तव्य समझ कर करता है—

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ता सर्वे भावा भवन्ति हि।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥

—समयसारकलश।

अब विचारना है कि वासनाका उच्छेद कैसे हो सकता है, क्योकि मनसे इच्छाओंका हटाना हंसी-खेल नही है, टेढी खीर है। अपने-अपने विषयोंके प्रति गमन करनेवाली इन्द्रियों और मनको उनसे हटाना, उनको काबूमें करना उसी प्रकार कठिन है जिस प्रकार जगत्को विध्वंस करनेवाले उन्मत्त गजको वशमें करना है। किन्तु विशेषज्ञोंने जहाँ वासना-निवृत्तिका उपदेश दिया है वही मन और इन्द्रियोको स्वच्छन्द न होने देनेका सुगम साधन भी बतलाया है। ज्यो ही इन्द्रियों और मनपर आत्माका पूर्ण आधिपत्य होता जायगा त्यों ही वासनाओंकी निवृत्ति होती चली जायगी। मनको काबूमे कर लेनेपर इन्द्रियाँ अपने आप काबूमे हो जावेगी। मनको काबूमे करनेका सरल उपाय यही है कि मनमें बुरे विचार कभी भी उत्पन्न न

होने दें। अच्छे विचारोंको पैदा करें। ज्यों ही मन बुरे विचारोंमें गोता लगावे, त्यों ही विवेकांकुशसे लाभ लें। और उस समय इस प्रकार विचार करें—"धिक् छिः तुझे ऐसे नीचातिनीच अकृत्योंमे प्रवृत्त होते शर्म आनी चाहिये। लोकमें जो तेरी थोड़ी-बहुत प्रतिष्ठा है वह सारी मिट्टीमे मिल जायगी, फिर ऊँचा सिर करके नहीं चल सकेगा। परभवमे दुर्गतियोंके अनेक असह्य दुखोंका सामना करना पड़ेगा, उनके शिकंजे-में पड़े बिना नही रह सकेगा। रे मन! चेत! जरा चेत!! इन बीभत्स अनर्थोंमें मत जा, अपने स्वाभाविक स्वरूपको पहचान"। इस प्रकार मनसे बुरे विचारोंको अपना (आत्माका) शत्रु समझकर हटाएँ और आत्माको अधःपतनसे रक्षित करें। महात्मा गाँधीने इन जघन्य मनोवृत्तियोंके दमन करनेके लिये एक बार महाभारतका सुन्दर चित्र खीचकर बतलाया था कि जब मेरे मनमे बुरे विचार उत्पन्न होते हैं तब मैं उसका इस प्रकार दमन करता हूँ—

"शरीरको तो कुरुक्षेत्र समझता और आत्माको अर्जुन, बुरे विचारोंको कौरव और अच्छे विचारोंको पाण्डव, तथा शुद्ध ज्ञानको कृष्ण। जब बुरे और अच्छे विचारोंमे संघर्ष होता है तब बुरे विचार अच्छे विचारोंको घर दबाते है तब फौरन शुद्ध ज्ञानकी वृत्ति उदित होकर (श्रीकृष्ण) आत्मा (अर्जुन) को सचेत कर कहती है (स्वकर्तव्योपदेश देती है) कि हे आत्मन् (अर्जुन) तेरी विरक्ति (मौन) का समय नही है, यह तेरे कर्तव्य पालनका समय है। बुरे विचारों (कौरवों) को तू अपना दुश्मन समझ, उनको अब भाई मत समझो। जब वे (बुरे विचार) तेरे निर्दोष भाइयों (अच्छे विचारों) पर अत्याचारोंके करनेपर उतारू हो गये हैं तब भ्रातृमोह कैसा? यह असामयिक वैराग्य कैसा? अतः अविलम्ब तुम कुरुक्षेत्र (शरीर) के मैदानमें जमकर दुश्मन कौरवों (बुरे विचारों) का संहार करो और अपने भाई—पाण्डवों (अच्छे विचारों) की रक्षा करके विजय प्राप्त करो एव समारके सामने नीतिका आदर्श पेश करो। इस प्रकार बुरे विचारोंका दमन किया करता हूँ।" यह महात्मा गाधीने मनको वशमे करनेके लिये कितना अच्छा चित्र खीचा है।

इस प्रकार मनमें दो प्रकारकी वृत्तियाँ (विचार) पैदा हुआ करती हैं—अच्छी और बुरी। जब मनमे बुरे विचार पैदा होते हैं तब मनरूपी राजा इन्द्रियरूपी सेनाको लेकर विषयरूपी युद्धस्थलमें आत्मारूपी शत्रु-को पराजित कर गिरा देता है। देवसेनाचार्य आराधनासारमें कहते हैं—

> इंदिय-सेणा पसरइ मण-णरवइ-पेरिया ण संदेहो।
> तम्हा मणसंजमणं खवएण य हवदि कायव्वं ॥५८॥

अर्थात् मननृपतिसे प्रेरित होकर इन्द्रियसेना विषयोंमें प्रवृत्त होती है। इसमे किसी प्रकारका संदेह नही। अतः पहले मनोनृपतिको ही रोकना आवश्यक है—

> मणणरवइणो मरणे मरंति सेणाइं इंदियमयाइं।
> ताणं मरणेण पुणो मरंति णिस्सेसकम्माइं ॥६०॥
> तेसि मरणे मुक्खो मुक्खे पावेइ सासयं सुक्खं।
> इंदियविसयविमुक्कं तम्हा मणमारणं कुणह ॥६१॥

अर्थात् मननृपतिके मर जानेपर इंद्रियसेना अपने आप मर जाती है अर्थात् फिर इन्द्रियाँ आत्माको विषयोंमें पतित नही कर सकतीं। जैसे जली हुई रस्सी बन्धनरूप अर्थक्रिया नहीं कर सकती। इन्द्रियोंके मर जानेपर निःशेष कर्मोंका नाश हो जाता है। कर्मशत्रुओंके नाश हो जानेपर आत्माको अपना साम्राज्य (मोक्ष) मिल जाता है और उसके मिल जानेपर आत्मिक—स्वाभाविक सम्पत्ति—अतीन्द्रिय शाश्वत सुख

प्राप्त हो जाता है। अत: मनकी लिप्साओंको भस्मसात् कर देना चाहिये । एवं मनोव्यापारके नष्ट हो जानेपर इन्द्रियाँ फिर विषयोंमे प्रवृत्त नहीं हो सकती । "मूलाऽभावे कुत: शाखा" समूल वृक्षको यदि नष्ट कर दिया जाय तो अंकुर, पल्लव, शाखा आदि कैसे उत्पन्न हो सकते हैं । यथा—

णट्ठे मणवावारे विसएसु ण जंति इंदिया सव्वे ।
छिण्णे तरुस्स मूले कत्तो पुण पल्लवा हुंति ।।६९।।

—आराधनासार ।

यह भी निश्चित है कि मन ही बन्ध करता है और मन ही मोक्ष करता है—"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो: ।" देवसेनाचार्य पुनः कहते है :—

मणमित्ते वावारे णट्ठुप्पण्णे य वे गुणा हुंति ।
णट्ठे आसवरोहो उप्पण्णे कम्मबन्धो य ।।७०।।

अर्थात् मनोवृत्तिके अवरोध और उसकी उत्पत्तिमे दो बातें होती है । अवरोधसे कर्मोंका आस्रव रुकता है और उसकी उत्पत्तिसे कर्मोंका बंध होता है । तब क्यो न हम अपनी पूरी शक्ति उसके रोकनेमें लगावें ।

मन मतंग हाथी भयो ज्ञान भयो असवार ।
पग पग पै अंकुश लगे कस कुपन्थ चल जाय ।।
मन मतंग माने नहीं जौ लों धका न खाय ।

जैनदर्शनमे मनोनिग्रहसे अपरिमित लाभ बताये है । यहां तक कि उससे केवलज्ञान—पूर्ण ज्ञान तक होता है और आत्मा परमात्मा हो जाता है, अल्पज्ञ सर्वज्ञ हो जाता है । देवसेनने कहा है—

खीणे मणसंचारे तुट्टे तह आसवे य दुवियप्पे ।
गलइ पुराणं कम्मं केवलणाणं पयासेइ ।।७३।।
उव्वसिए मणगेहे णट्ठे णीसेसकरणवावारे ।
विप्फुरिये ससहावे अप्पा परमप्पओ हवइ ।।८५।।

अर्थ—मनके व्यापारके रुक जाने पर दोनो प्रकारका आस्रव—पुण्यास्रव एव पापास्रव रुक जाता है और पुराने कर्मोका नाश हो जाता है तथा केवलज्ञान प्रकट हो जाता है और आत्मा परमात्मा हो जाता है । फिर ससारके दु:खोमे नही भटकना पडता, क्योकि कर्मबीज सर्वथा नाश हो जाता है । अतः सुखार्थियोको सयमसे जीवन विताना चाहिये । असयमसे जो हानिया उठानी पडती है वे प्रत्येक संसारी मनुष्यसे छिपी नही है । सयमके विषयमे संसारके आधुनिक महापुरुषोके मन्तव्य देखे—*

डॉ० सर ब्लेड कहते है कि—"असयमके दुष्परिणाम तो निर्विवाद और सर्वविदित है परन्तु संयमके दुष्परिणाम तो केवल कपोलकल्पित हैं । उपर्युक्त दो बातोंमे पहली बातका अनुमोदन तो बड़े-बड़े विद्वान् करते हैं, लेकिन दूसरी बातको सिद्ध करने वाला अभी तक कोई मिला ही नही है" ।

सर जेम्स प्रैगटकी धारणा है कि—"जिस प्रकार पवित्रतासे आत्माको क्षति नही पहुँचती उसी प्रकार शरीरको भी कोई हानि नही पहुँचती—इन्द्रियसंयम सबसे उत्तम आचरण है ।

डॉ० बेरियर कहते है कि—पूर्ण संयमके बारेमे यह कल्पना कि वह खतरनाक है, बिलकुल गलत खयाल है और इसे दूर करनेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

---

* विद्वानोंके ये मत लेखकने महात्मा गांधीरचित "अनीतिकी राह" पुस्तकसे उद्धृत किये हैं ।

सर एंडरू क्लार्क कहते हैं कि—"संयमसे कोई नुकसान नहीं पहुँचता और न वह मनुष्यके स्वाभाविक विकासको रोकता है, वरन् वह तो बलको बढ़ाता है और तीव्र करता है। असंयमसे आत्मशासन जाता रहता है, आलस्य बढ़ता है और शरीर ऐसे रोगोंका शिकार बन जाता है जो पुश्त दरपुश्त असर करते चले जाते हैं।"

महाशय गैबरियल सीलेस कहते हैं कि—"हम बार-बार कहते फिरते हैं कि हमें स्वतन्त्रता चाहिये, हम स्वतन्त्र होंगे। परन्तु हम नही जानते कि स्वतन्त्रता कर्त्तव्यकी कैसी कठोर बेड़ी है। हमें यह नहीं मालूम कि हमारी इस नकली स्वतन्त्रताका अर्थ इन्द्रियोंकी गुलामी है जिससे हमें न तो कभी कष्टका अनुभव होता है और न हम कभी इसलिये उसका विरोध ही करते हैं।"

थ्यूरोका यह वाक्य प्रत्येक मनुष्यको अपने हृदय-पटल पर अंकित कर लेना चाहिये कि "भविष्य संयमी लोगोंके ही हाथोंमें है।"

महात्मा गांधी जो इन्द्रियसंयमके जागरूक प्रहरी थे—स्वयं क्या कहते हैं, सुनिये—

"संयत और धार्मिक जीवनमे ही अभीष्ट संयमके पालनकी काफी शक्ति है। संयत जीवन बितानेमें ही ईश्वर-प्राप्तिकी उत्कट जीवन्त अभिलाषा मिली रहती है। मैं यह दावा करता हूँ कि यदि विचार और विवेकसे काम लिया जाय तो विना ज्यादा कठिनाईके संयमका पालन सर्बथा सम्भव है। वह गाँधी, जो किसी जमानेमे कामके अभिभूत था, आज अगर अपनी पत्नीके साथ भाई या मित्रके समान रहता है और संसारकी सर्व श्रेष्ठ सुन्दरियोंको भी बहिन या बेटीके रूपमें देख सकता है, तो नीच-से-नीच और पतित मनुष्यके लिये भी आशा है? मनुष्य पशु नही है। पशुयोनिमें अनगिनत जन्म लेनेके बाद उस पदपर आया है। उसका जन्म सिर ऊँचा करके चलनेको हुआ है, लेट कर या पेटके बल रेंगनेको नहीं। पुरुषत्वसे पाशविकता उतनो ही दूर है, जितना आत्मासे शरीर।"

थ्यूरोके वाक्य ये हैं—"संयममें शांति है और असंयम तो अशान्तिरूप महाशत्रुका घर है। असंयमीको अपनी इन्द्रियोंकी बड़ी बुरी गुलामी करनी पड़ती है। मनुष्यका जीवन मिट्टीके बर्तनके समान है जिसमे तुम यदि पहली बूँदमें ही मैला छोड़ देते हो तो फिर लाख पानी डालते रहो, सभी गन्दा होता जायगा। यदि तुम्हारा मन सदोष है तो तुम उसकी बातें सुनोगे और उसका बल बढ़ाओगे ध्यान रक्खो कि प्रत्येक काम-पूर्ति तुम्हारी गुलामीकी जजीरकी एक नई कड़ी बन जायगी, फिर तो इसे तोड़नेकी तुम्हें शक्ति ही न रहेगी और इस प्रकार तुम्हारा जीवन एक अज्ञानजनित अभ्यासके कारण नष्ट हो जायगा। सबसे अच्छा उपाय तो ऊँचे विचारोंको पैदा करना और सभी कामोंमें संयमसे काम लेनेमें ही है"।

अन्तमें संयम और असंयमके परिणाकोंको बतला कर लेखको समाप्त करता हूँ।

आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः।
तज्जयः संपदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम्॥

अर्थात् इन्द्रियोंका असंयम अनेक आपदाओं-रोगों आदिका मार्ग है और उनपर विजय पाना सम्पत्तियों—स्वास्थ्यादिका मार्ग है। इनमें जो मार्ग चुनना चाहें, चुनें और चले, आपकी इच्छा है।

●

चारित्रका महत्त्व

जैन दर्शनमें चारित्रका महत्त्व बहुत अधिक है। आत्मगवेषी मुमुक्षुको इस अनाद्यनन्त दुःखमय संसारसे छूटनेके लिये चारित्रकी उपासना बहुत आवश्यक है। जब तक चारित्रकी उपासना नही की जाती तब तक यह जीव संसारके अनेक दुःखोका शिकार बना रहता है और संसारमें परिभ्रमण करता रहता है। यह निश्चित है कि प्रत्येक प्राणधारी इस परिभ्रमणसे बचना चाहता है और सुखकी खोजमे फिरता है। परन्तु इस परिभ्रमणसे बचनेका जो वास्तविक उपाय है उसे नहीं करता है। इसीलिये सुखी बननेके स्थानमे दुःखी बना रहता है।

यों तो संसारके सभी महापुरुषोंने जीवोंको उक्त परिभ्रमणसे छुटाने और उन्हे सुखी बनानेका प्रयत्न किया है। पर जैन धर्मके प्रवर्त्तक महापुरुषोंने इस दिशामे अपना अनूठा प्रयत्न किया है। यही कारण है कि वे इस प्रयत्नमें सफल हुये है। उन्होंने ससार-व्याधिसे छुटाकर उत्तम सुखमे पहुँचानेके लक्ष्यसे ही जैन धर्मके तत्त्वोका अपनी दिव्य वाणी द्वारा सम्पूर्ण जीवोको उपदेश दिया है। उनका यह उपदेश धारा-प्रवाह रूपसे आज भी चला आ रहा है। इसके द्वारा अनन्त भव्य जीवोंने कैवल्य और निःश्रेयस प्राप्त करके आत्मकल्याण किया है।

प्रायः सभी आस्तिक दर्शनकारोंने सम्पूर्ण कर्मबन्धनसे रहित आत्माकी अवस्था-विशेषको मोक्ष माना है। हम सब कोई कर्मबन्धनसे छूटना चाहते है और आत्माकी स्वाभाविक अवस्था प्राप्त करना चाहते है। अतः हमे चाहिये कि उसकी प्राप्तिका ठीक उपाय करें। जैन दर्शनने इसका ठीक एवं चरम उपाय चारित्र-को बताया है। यह चारित्र दो भागोंमे विभक्त किया गया है :— १—व्यवहार चारित्र और २—निश्चय चारित्र। अशुभ क्रियाओंसे हटकर शुभ क्रियाओंमें प्रवृत्त होना सो व्यवहार चारित्र है। दूसरेका बुरा विचारना, उसका अनिष्ट करना, अन्याय-पूर्वक द्रव्य कमाना, पाँच पापोका सेवन करना आदि अशुभ क्रियायें हैं। दूसरों पर दया करना, उनका परोपकार करना, उनका अच्छा विचारना, पाँच पापोंका त्याग, छह आवश्यकोंका पालन आदि शुभ क्रियाये है। संसारी प्राणी अनादि कालसे मोहके अधीन होकर अशुभ क्रियाओमे रत है। उसे उनसे हटाकर शुभ क्रियाओंमें प्रवृत्त कराना सरल है। किन्तु शुद्धोपयोग या निश्चयमार्ग पर चलाना कठिन है। जिन अशुभ क्रियाओके सस्कार खूब जमे है उन्हें जल्दी दूर नही किया जा सकता है। रोगीको कड़वी दवा, जो कड़वी दवा नही पीना चाहता है, मिश्री मिलाकर पिलाई जाती है। जब रोगी मिश्रीके लोभसे कड़वी दवा पीने लगता है तब उसे केवल कड़वी दवा ही पिलाई जाती है। संसारी प्राणी जब अनादि कालसे कषायों और विषयोंमें लिप्त रहनेसे उसकी वासनाओंसे ओतप्रोत है तो निश्चय मार्गमे नही चल सकता। चलानेकी कोशिश करने पर भी उसकी उस ओर अभिरुचि नही होती। अतः उसे पहिले व्यवहारमार्ग या व्यवहार चारित्रका उपदेश दिया जाता है। आचार्य नेमिचन्द्र व्यवहार चारित्रका लक्षण करते हुये कहते हैं :—

> असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
> वद-समिदि-गुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं॥

अशुभ क्रियाओंसे निवृत्त होना और शुभ क्रियाओंमें प्रवृत्ति करना व्यवहारचारित्र है। यह व्यवहारचारित्र तेरह प्रकारका है–५ व्रत, ५ समिति और ३ गुप्ति। रत्नत्रयपूजामें इसी त्रयोदशांग सम्यकचारित्रकी पूजा निहित है। पं० आशाधरजीने भी "अशुभ-कर्मणः निवृत्तिः शुभकर्मणि प्रवृत्तिः" को व्यवहारचारित्र या व्रत बतलाया है। इस व्यवहारचारित्रका अवलम्बन लेकर ही उत्तरोत्तर आत्मविकास करता हुआ आत्मसाधक बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग क्रियाओंका निरोधकर अपने आपमें स्थिर हो जाने रूप परमोदासीनतात्मक परमोत्कृष्ट (निश्चय) चारित्रको प्राप्त करता है। आचार्य स्वामी समन्तभद्र ने लिखा है कि, "रागद्वेष-निवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः" रागादिकी निवृत्तिके लिये साधु हिंसादिनिवृत्तिलक्षण व्यवहारचारित्रका आचरण करता है। अतः स्पष्ट है कि निश्चयचारित्रको प्राप्त करनेके लिये व्यवहारचारित्र पालन करना आवश्यक एवं अनिवार्य है। यह व्यवहारचारित्र सब प्रकारसे मीठा है और तत्काल आनन्द देने वाला है।

विषयानुरागी जीवोंने इन्द्रिय-विषयमें ही आनन्द मान रखा है। एक कविने कहा है कि—
"अविदितपरमानन्दो जनो वदति विषयमेव रमणीयं। तिलतैलमेव मिष्टं येन न दृष्टं घृतं क्वापि ॥"

अर्थात् जिसने कभी घीको नहीं खाया वह पुरुष तेलको ही मीठा बतलाता है। इसी प्रकार संसारी प्राणीने मोक्षानन्दका कभी अनुभव नही किया है इसलिये वह विषयजन्य सुखको ही सुख, आनन्द समझता है। वास्तवमें हमें इन्द्रियाँ इसलिये प्राप्त हुई हैं कि हम अनिष्टसे बचे रहें। स्पर्शन इन्द्रिय कोमल शरीर वाले जीवोंकी रक्षाके लिये है। एकेन्द्रियादि जीवोंका स्पर्श होते ही तुरन्त उनको रक्षाके भाव हो जाने चाहिये। रसना इन्द्रिय भी अनिष्ट, अनुपसेव्य, अभक्ष्य खाद्योंसे बचनेके लिये है। श्रोत्र इन्द्रिय शास्त्रश्रवण, जिनगुणश्रवण करनेके लिये है। चक्षुरिन्द्रिय देवदर्शन आदिके लिये है। घ्राणेन्द्रिय भी जीवरक्षाके लिये है। मन, आत्मचिन्तन, जिनगुणचिन्तन, दूसरोंका भला विचारना आदिके लिये है। किन्तु हम लोगोंने इन्द्रियोंका दुरुपयोग कर रखा है। कहा है :—

भोगा न भुक्ताः वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥

अर्थात् भोगोंको हमने नहीं भोगा, किन्तु भोगोंने ही हमें भोग लिया, मनुष्यपर्यायको पाकर हम तपश्चरण करनेके लिये आये थे, किन्तु विषयोंमें फँसकर तपको नहीं कर सके और विषयोंने ही हमें संतप्त कर दिया। काल नही बीता, सारी ही सारी उम्र बीत गयी। काल पूरा नहीं हो पाता, पर हम पूरे हो जाते हैं अर्थात् हम व्यर्थके झगड़े-टंटोंमें अपना समस्त जीवन व्यतीत कर देते हैं। हमें जो समय प्राप्त था, उसका उपयोग नही करते हैं। चौथे पादमें कवि कहता है कि हम बुड्ढे हो गये, पर हमारी तृष्णा बुड्ढी नही हुई। गरज़ यह है कि हम विषयोंमें लिप्त होकर अपने आपको बिलकुल भूल जाते हैं, आत्मकल्याणकी ओर कुछ भी ध्यान नही देते है। अतः आत्मकल्याणार्थियोंको उचित है कि वे व्यवहारचारित्रका ठीक-ठीक आचरणकर अनन्तानन्त गुणोंके भण्डार चिदानन्द स्वरूप शुद्धात्माकी प्राप्ति करें। इससे स्पष्ट है कि जैन दृष्टिमें चारित्रका कितना महत्त्व है।

करुणा : जीवकी एक शुभ परिणति

करुणाको सभी धर्मोंमें स्वीकार किया गया और उसे धर्म माना गया है। जैन धर्ममे भी वह स्वीकृत है। परन्तु वह जीवके एक शुभ भाव (परिणाम) के रूपमे अभिमत है। उसे धर्म नही माना। धर्म तो अहिंसाको बताया गया है। अहिंसा और करुणामे अन्तर है। अहिंसामे रागभाव नही होता। वह भीतरसे प्रकट होती है और स्वाभाविक होती है। अतएव वह आत्माकी विशुद्ध परिणति मानी गयी है। पर करुणा जीवके, रागके सद्भावमे, बाहरका निमित्त पाकर उपजती है। अतएव वह नैमित्तिक एव कादाचित्क है, स्वाभाविक तथा शाश्वत नही।

करुणा, अनुकम्पा, कृपा और दया ये चारों शब्द पर्यायवाची है, जो अभाव अथवा कमीसे पीड़ित प्राणीकी पीडाको दूर करनेके लिए उत्पन्न रागात्मक सहानुभूति अथवा सहानुभूतिपूर्वक किये जानेवाले प्रयत्नके अर्थमें व्यवहृत होते हैं। आचार्य कुन्दकुन्दने करुणाका स्वरूप निम्म प्रकार दिया है—

तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दुहिदमणो।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा ॥[1]

'जो प्याससे तड़फ रहा है, भूखसे विकल हो रहा है और असह्य रोगादिकी वेदनासे दुःखी हो रहा है उसे देखकर दुःखी चित्त होना अनुकम्पा—करुणा है।'

इसकी व्याख्यामे व्याख्याकार अमृतचन्द्राचार्य और जयसेनाचार्यने लिखा है—

'कञ्चिदुदन्यादिदुःखप्लुतमवलोक्य करुणया तत्प्रतिचिकीर्षाकुलितचित्तत्वमज्ञानिनोऽनुकम्पा। ज्ञानिनस्त्वधस्तनभूमिकासु विहरमाणस्य जन्मार्णवनिमग्नजगदवलोकनान्मनाग्मनः खेद इति।'

'करुणा पात्रभेदसे दो प्रकारकी है—एक अज्ञानीकी और दूसरी ज्ञानीकी। अज्ञानीकी करुणा तो वह है जो प्यास आदिके दुःखसे पीडितको देखकर दयाभावसे उसके दुःखको दूर करनेके लिए चित्तमे विकलता होती है। उसकी यह करुणा चूंकि उस प्यासादिसे दुःखी प्राणीके भौतिक शरीर सम्बन्धी दुःखको ही दूर करने तक होती है—उसके आध्यात्मिक (राग, द्वेष, मोहादि) दुःखको दूर करनेमे वह अक्षम है। अतएव वह अज्ञानीकी करुणा अर्थात् स्थूल करुणा बतलायी गयी है। जिसे शरीर और आत्माका भेदज्ञान हो गया है, पर अभी बहुत ऊँचे नहीं पहुँचा है—कुछ नीचेकी श्रेणियोंमें चल रहा है, उस ज्ञानी (साधु, उपाध्याय और आचार्य) को जन्म-सन्ततिके अपार दुःखोंमें डूबे प्राणियोको देखकर जो उनके दुःखकी निवृत्तिके लिए कुछ खेद होता है वह ज्ञानीकी करुणा है और उपर्युक्त अज्ञानीकी करुणासे वह सूक्ष्म एवं विवेकपूर्ण है। किन्तु उसमे ईषत् रागभाव रहता ही है, भले ही वह लक्ष्यमे न आये। और इसलिये अज्ञानी और ज्ञानी दोनोंकी करुणाएँ पुण्यकर्मके आस्रवकी कारण है।

कुन्दकुन्दने पुण्यास्रवका स्वरूप इस प्रकार दिया है—

रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो।
चित्ते णत्थि कलुस्सं पुण्णं जीवस्स आसवदि ॥[2]

---

१. पंचास्तिकाय, गाथा १३७। २. पंचास्ति०, गा० १३५।

'जिसके शुभ राग है, अनुकम्पा (दया) रूप परिणाम हैं और चित्तमें अकलुषता है उसके पुण्यका आस्रव (आयात) होता है।'

यहाँ दृष्टव्य है कि कुन्दकुन्दने अनुकम्पारूप परिणामको स्पष्टतया पुण्यकर्मके आगमनका कारण बतलाया है। इसका अर्थ है कि जैन धर्ममे अनुकम्पा जीवका एक शुभ भाव मात्र है, जिसमें रागांश रहनेके कारण वह पौद्गलिक पुण्यरूप कर्मका जनक है। और जो कर्मका जनक है वह धर्म नहीं हो सकता। अतएव करुणा पुण्यकर्मका कारण होनेसे धर्म नहीं है। अहिंसा, जो आत्मामे भीतरसे विकसित होती है, फूटती है, अनाकुला, स्थायिनी, स्वाभाविकी और स्व-परसुखदायिनी है—दुःख तो उससे किसीको होता नही, धर्म है। वस्तुका निज स्वभाव ही धर्म होता है और अहिंसा आत्माका निज स्वभाव है। वह अनैमित्तिक (अनौपाधिक) है और करुणा नैमित्तिक (औपाधिक) है। दुःखी व्यक्ति जब सामने उपस्थित होता है तभी कारुणिकके चित्तमें करुणा जन्म लेती है। अहिंसाका स्रोत, ज्यों-ज्यो मोह और आवरण हटते जाते है, खुलता जाता है, सदा बहता रहता और बढता जाता है। दुःखी व्यक्ति अहिंसकके सामने उपस्थित हो, चाहे न हो। सम्भवतः करुणा और अहिंसाके इसी सूक्ष्म अन्तर एवं रहस्यको लक्ष्य करके योगसूत्रकार महर्षि पतञ्जलिने भी अहिंसाको सर्वाधिक महत्त्व दिया और कहा कि **'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः'** (यो० सू० २-३५) अहिंसाकी आत्मामें प्रतिष्ठा होनेपर समस्त प्रकारका वैर (रंजिस) छूट जाता है और अहिंसकके समक्ष विश्वके समस्त प्राणी आत्मवत् हो जात है।

जैन दार्शनिक आचार्य विद्यानन्दने करुणाको मोहविशेष (इच्छाविशेष) रूप बतलाते हुए लिखा है :—**'तेषां मोहविशेषात्मिकाया. करुणायाः सम्भवाभावात्'**—(अष्टस० पृ० २८३)—करुणा मोहविशेष (इच्छा) रूप है। वह वीतरागो (केवलियो) मे सम्भव नही है। जब विद्यानन्दसे प्रश्न किया गया कि बिना करुणाके वीतरागोकी दूसरोके दुःखकी निवृत्तिके लिए किये जानेवाले हितोपदेशमे प्रवृत्ति कैसे होगी? इसका वे सयुक्तिक समाधान करते हुए कहते है—**'स्वभावतोपि स्वपरदुःखनिवर्त्तननिबन्धनत्वोपपत्तेः प्रदीपवत्'** (वही पृ० २८३)—जिस प्रकार दीपक बिना करुणाके दुःखहेतु अन्धकारकी निवृत्ति स्वभावतः करता है उसी प्रकार वीतराग भी बिना करुणाके स्वपरदुःखकी निवृत्ति स्वभावत. करते है। विश्रुत जैन मनीषी अकलङ्कदेव भी उक्त प्रश्नका उत्तर देते हुए कहते है—

> 'न वै प्रदीपः कृपालुतयात्मानं परं वा तमसो निवर्त्तयति। कल्पयित्वापि कृपालुता तत्करणस्वभावसामर्थ्यं मृग्यम्। एवं हि परम्परापरिश्रमं परिहरेत्।'—अष्टश० अष्टस० पृ० २८३।

क्या नही जानते कि दीपक कृपालु होनेसे स्वपरके अन्धकारको दूर नही करता, अपितु उसका उक्त प्रकारका स्वभाव होनेसे वह उभयका अन्धकार मिटाता है। वीतराग भी कृपालुताके कारण स्वपरके दुःखकी निवृत्ति नही करते, किन्तु उनका उस प्रकारका स्वभाव होनेसे स्वपरके दुःखको दूर करनेके लिए प्रवृत्त होते हैं। यदि करुणासे दुःखनिवृत्तिपर बल दिया जाय तो वीतरागोंके करुणा माननेपर भी उनका स्वपरदुःखके निवर्त्तनका स्वभाव अवश्य मानना पड़ेगा। अतः क्यों नही, वीतरागोके करुणाके विना भी उक्त स्वभाव ही माना जाय।

विद्यानन्द यौक्तिक समाधानके अलावा आगमिक समाधान भी करते हैं—

> ततो निःशेषान्तरायक्षयादभयदानस्वरूपमेवात्मनः 'प्रक्षीणावरणस्य परमा दया। सैव मोहाभावाद्रागद्वेषयोरप्रणिधानादुपेक्षा। तीर्थकरत्वनामोदयात्तु हितोपदेशप्रवर्त्तनात् परदुःखनिराकरणसिद्धिः।'—अष्टस० पृ० २८३।

सम्पूर्ण अन्तरायके क्षयसे वीतरागोंके जो आत्माका अभयदान स्वरूप प्रकट होता है वही उनकी परमा दया है और वह दया उनके मोहाभावमें होती है, क्योंकि उस समय उनके न किसीके प्रति राग होता है और न किसीके प्रति द्वेष। इसके सिवाय वीतरागोंकी हितोपदेशमें प्रवृत्ति उनके विद्यमान तीर्थंकरनाम-कर्मके उदयसे होती है और उस हितोपदेश-प्रवृत्तिसे ही परदुःखनिराकरण सिद्ध हो जाता है। अतः जैन धर्ममें अर्हतों (वीतरागों) की हितोपदेशमे प्रवृत्ति बुद्ध या ईश्वरकी तरह करुणासे स्वीकार नही की गयी। अतएव जैन दर्शनमे वीतराग परमात्माको अहिंसक माना गया है, कारुणिक नहीं। आचार्य समन्तभद्रने अहिंसाको जगद्विदित परमब्रह्म बतलाया है—'**अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्।**'—(स्वयम्भू०)

इस प्रकार कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, अकलङ्क, विद्यानन्द जैसे युगप्रधान समर्थ शास्त्रकारोंके विवेचनसे अवगत होता है कि करुणा मोहविशेष (शुभेच्छा) रूप होनेसे वह परमार्थतः धर्म नही है—वह आत्माका एक विकार ही है। शुभपरिणतिरूप होनेसे करुणाको व्यवहारतः धर्म कहा गया है। कुन्दकुन्दने स्पष्ट कहा है कि करुणासे पुण्यसंचय होता है। इस पुण्यसे भोग प्राप्त होते हैं और भोगोंसे आसक्ति तथा आसक्ति जन्म-जन्मान्तरोत्पत्तिका कारण है। शास्त्रोंमे कही-कही '**धर्मस्य मूलं दया**' जैसे प्रतिपादनों द्वारा जो दयाको धर्मका मूल या धर्म कहा गया है वह केवल अशुभसे निवृत्ति तथा शुभमे प्रवृत्ति करानेके प्रयोजनसे कहा है। जिससे व्यक्ति अशुभसे बचा रहे और शुभमे प्रवृत्त रहे। शुभमे शुद्धकी ओर जाया जा सकता है। अतः जैनधर्ममें व्यवहार और निश्चय अथवा उपचार और परमार्थ या उपाधि और निरुपाधि इन दो दृष्टियोंको ध्यानमें रख कर प्रतिपादन है। निष्कर्ष यह कि करुणा व्यवहारतः धर्म है, परमार्थतः नही। परमार्थतः अहिंसा धर्म है।
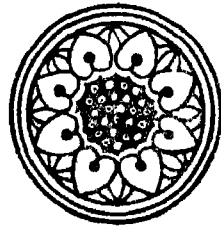
जैनधर्म और दीक्षा

भारतकी संस्कृति और सभ्यता बहुत प्राचीन है। यहाँ समय-समयपर अनेक महापुरुषोंने जन्म लिया और विश्वको नीति एवं कल्याणका मार्ग प्रदर्शित किया है। भगवान् ऋषभदेव इन्ही महापुरुषोंमेंसे एक और प्रथम महापुरुष हैं, जिन्होने इस विकसित युगके आदिमें नीति व स्वपर-कल्याणका संसारको पथ प्रदर्शित किया। श्रीमद्‌भागवतमें इनका उल्लेख करते हुए लिखा है—

'जब ब्रह्माने देखा कि मनुष्य-संख्या नही बढ़ी तो उसने स्वयम्भू मनु और सत्यरूपाको उत्पन्न किया। उनके प्रियव्रत नामका पुत्र हुआ। प्रियव्रतके अनीध्र, अनीध्रके नाभि और नाभि तथा मरुदेवीके ऋषभदेव हुए। ऋषभदेवने इन्द्रके द्वारा दी गई जयन्ती नामकी भार्यामें सौ पुत्र उत्पन्न किये और बड़े पुत्र भरतका राज्याभिषेक करके संन्यास ले लिया। उस समय उनके पास केवल शरीर था और वे दिग-म्बर वेषमे नग्न विचरण करते थे। मौनसे रहते थे। कोई डराये, मारे, ऊपर थूके, पत्थर फेंके, मूत्र-विष्ठा फेंके तो इस सबकी ओर ध्यान नही देते थे। इस प्रकार कैवल्यपति भगवान् ऋषभदेव निरन्तर परम आनन्दका अनुभव करते हुए विचरते थे।'[1]

जैन वाङ्मयमे प्रायः इसी प्रकारका वर्णन है। कहा गया है कि भगवान् ऋषभदेव युगके प्रथम प्रजापति और प्रथम संन्यासमार्ग प्रवर्त्तक थे। उन्होंने ही सबसे पहले लोगोंको खेती करना, व्यापार करना, तलवार चलाना, लिखना-पढना आदि सिखाया था और बादको स्वयं प्रबुद्ध होकर संसारका त्याग करके संन्यास लिया था तथा जगतको आत्मकल्याणका मार्ग बताकर ब्रह्मपद (अपार शान्तिके आगार निर्वाण) को प्राप्त किया था।[2]

इन दोनों वर्णनोंसे दो बातें ज्ञातव्य हैं। एक तो यह कि भ० ऋषभदेव भारतीय संस्कृति एवं सभ्यताके आद्य प्रवर्तक है। दूसरी यह कि उन्होंने आत्मिक शान्तिको प्राप्त करनेके लिए राज-पाट आदि समस्त भौतिक वैभवका त्यागकर और शान्तिके एकमात्र उपाय संन्यास—दैगम्बरी दीक्षाको अपनाया था। इससे यह ज्ञात होता है कि जैनधर्ममें प्रारम्भसे दीक्षाका महत्त्व एवं विशिष्ट स्थान है।

एक बात और है। जैनधर्म आत्माकी पवित्रताकी शिक्षा देता है। शिक्षा ही नही, बल्कि उसके आचरणपर भी वह पूरा जोर एवं भार देता है और ये दोनों चीजें बिना सबको छोड़े एवं दिगम्बरी दीक्षा लिये प्राप्त नही हो सकती। अतः आत्माकी पवित्रताके लिये दीक्षाका ग्रहण आवश्यकीय है।

यद्यपि संसारके विविध प्रलोभनोंमे रहते हुए आत्माको पवित्र बनाना तथा इन्द्रियों व मन और शरीरको अपने काबूमें रखना बड़ा कठिन है। किन्तु इन कठिनाइयोंपर विजय पाना और समस्त विकारोंको दूर करके आत्माको पवित्र बनाना असंभव नही है। जो विशिष्ट आत्माएँ उनपर विजय पा लेती हैं उन्हीं

१. पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैनधर्म, पृ० ५।

२. स्वामी समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तोत्रगत ऋषभजिनस्तोत्र, श्लोक २, ३, ४।

महान आत्माओंको जैनधर्ममें 'जिन' अर्थात् विकारोंको जीतनेवाला कहा है तथा उनके मार्गपर चलने वालोंको 'जैन' बतलाया है।

ये जैन दो भागोंमें विभक्त हैं :—१ गृहस्थ और साधु। जो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाच व्रतोंको एक देश पालते हैं उन्हें गृहस्थ अथवा श्रावक कहा गया है। इनके ऊपर कुटुम्ब, समाज और देशका भार होता है और इसलिये उनके संरक्षण एवं समृद्धिमें योगदान देनेके कारण ये इन व्रतोंको साधुकी तरह पूर्णतः नही पाल पाते। पर ये उनके पालनेकी भावना अवश्य रखते हैं। खेद है कि आज हम उक्त भावनासे भी बहुत दूर हो गये हैं और समाज, देश, धर्म तथा कुटुम्बके प्रति अपने कर्त्तव्यों-को भूल गये हैं।

जैनोंका दूसरा भेद साधु है। साधु उन्हें कहा गया है जो विषयेच्छा रहित हैं, अनारम्भी हैं, अप-रिग्रही हैं और ज्ञान-ध्यान तथा तपमे लीन हैं। ये कभी किसीका बुरा नही सोचते और न बुरा करते हैं। मिट्टी और जलको छोड़कर किसी भी अन्य वस्तुको ये बिना दिये ग्रहण नही करते। अहिंसा आदि उक्त पांच व्रतोको ये पूर्णतः पालन करते है। जमीन पर सोते हैं। यथाजात दिगम्बर नग्न वेषमें रहते हैं। सूक्ष्म जीवोंकी रक्षाके लिये पीछी, शौच-निवृत्तिके लिये कमण्डलु और स्वाध्यायके लिये शास्त्र इन तीन धर्मो-पकरणोके सिवाय और कोई भी परिग्रह नही रखते। ये जैन शास्त्रोक्त २८ मूलगुणोका पालन करते हुए अपना तमाम जीवन परकल्याणमे तथा आत्मसाधना द्वारा बन्धनमुक्तिमें व्यतीत करते हैं। इस तरह कठोर चर्या द्वारा साधु 'जिन' अर्थात् परमात्मा पदको प्राप्त करते है और हमारे उपास्य एवं पूज्य होते हैं। भर्तृहरिने भी वैराग्यशतकमे इस दि० साधु वृत्तिकी आकाक्षा एवं प्रशंसा की है। यथा—

> एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
> कदाऽहं संभविष्यामि कर्मनिर्मूलन-क्षमः॥

'कब मैं अकेला विहार करनेवाला, निःस्पृही, शान्त, पाणिपात्री (अपने ही हाथोको पात्र बना कर भोजन लेनेवाला), दिगम्बर नग्न होकर कर्मोंके नाश करनेमे समर्थ होऊँगा।'

नग्न-मुद्राका महत्व

नग्नमुद्रा सबसे पवित्र, निर्विकार और उच्च मुद्रा है। श्रीमद्भागवतमे ऋषभदेवका चरित वर्णित है। उसमे उन्हे 'नग्न' ही विचरण करनेवाला बतलाया है। हिन्दू-परम्पराके परमहंस साधु भी नग्न ही विचरते थे। शुक्राचार्य, शिव और दत्तात्रेय ये तीनो योगी नग्न रहते थे। अवधूतोंकी शाखा दिगम्बर वेषको स्वी-कार करती थी और उसीको अपना खास बाह्य वेष मानती थी। ऋक्संहिता (१०-१३६-२) मे 'मुनयो बातवसनाः' मुनियोंको वातवसन अर्थात् नग्न कहा है। पद्मपुराणमे नग्न साधुका चरित देते हुए लिखा है—

> नग्नरूपो महाकायः सितमुण्डो महाप्रभः।
> मार्जनी शिखिपक्षाणां कक्षायां स हि धारयन्॥

'वे अत्यन्त कान्तिमान् और शिर मुडाये हुए नग्न वेषको धारण किये हुए थे। तथा बगलमें मयूर पंखोंकी पीछी भी दबाये हुए थे।' इसी तरह जाबालोपनिषद्, दत्तात्रेयोपनिषद्, परमहंसोपनिषद्, याज्ञवल्क्योपनिषद् आदि उपनिषदोंमें भी नग्नमुद्राका वर्णन है।

ऐतिहासिक अनुसन्धानसे भी नग्नमुद्रापर अच्छा प्रकाश पडता है। मेजरजनरल जे० जी० आर फर्लांङ्ग अपनी Short Studies in Science of Comparative Religiors (वैज्ञानिक दृष्टिसे धर्मोंका

तुलनात्मक संक्षिप्त अध्ययन) नामकी पुस्तकमें लिखते हैं कि 'हमने दुनियाके सर्व धार्मिक विचारोंको सच्चे भावसे पढ़कर यह समझा है कि इन सबका मूलकारण विचारवान् जैनियोंका यतिधर्म है। जैन साधु सब भूमियोंमें सुदूर पूर्वकालसे ही अपनेको संसारसे भिन्न करके एकान्त बन व पर्वतकी गुफाओंमें पवित्र ध्यानमें मग्न रहते थे।'

डाक्टर टाम्स कहते है कि 'जैन साधुओंका नग्न रहना इस मतकी अति प्राचीनता बताता है।'

सम्राट चन्द्रगुप्तके समयमें नग्न गुरुओंकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। मुद्राराक्षसके कर्ता प्रसिद्ध विद्वान् कवि कालिदासने लिखा है कि इसीलिये जासूसोंको नग्न साधुके वेषमें घुमाया जाता था। नग्न साधुओंके सिवा दूसरोंकी पहुँच राजघरानोंमें उनके अन्तःपुर तक नहीं हो पाती थी। इससे यह विदित हो जाता है कि जैन निर्ग्रन्थ साधु कितने निर्विकार, निःस्पृही, विश्वासपात्र और उच्च चारित्रवान् होते हैं और उनकी यह नग्नमुद्रा बच्चेकी तरह कितनी विकारहीन एवं प्राकृतिक होती है।

साधुदीक्षाका महत्व

इस तरह आत्म-शुद्धिके लिये दिगम्बर साधु होने अथवा उसकी दीक्षा ग्रहण करनेका महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। जब मुमुक्षु श्रावकको संसारसे निर्वेद एवं वैराग्य हो जाता है तो वह उक्त साधुकी दीक्षा लेकर साधनामय जीवन बिताता हुआ आत्म-कल्याणकी ओर उन्मुख होता है। जब उसे आत्मसाधना करते-करते आत्मदृष्टि (सम्यग्दर्शन), आत्मज्ञान (सम्यग्ज्ञान) और आत्मचरण (सम्यक्चारित्र) ये तीन महत्त्वपूर्ण आत्म-गुण प्राप्त हो जाते हैं और पूर्ण वीतराग सर्वज्ञ बन जाता है तो वह उन गुणोंको प्राप्त करनेका दूसरोंको भी उपदेश करता है। अतएव साधु-दीक्षा एवं तपका ग्रहण स्वपर-कल्याणका कारण होनेसे उसका जैन धर्ममें विशिष्ट स्थान है। दूसरोंके लिये तो वह एक आनन्दप्रद उत्सव है ही, किन्तु साधुके लिये भी वह अपूर्व आनन्दकारक उत्सव है। और इसीसे पण्डितप्रवर दौलतरामजीने निम्न पद्यमें भव-भोगविरागी मुनियोंके लिये 'बड़भागी' कहा है—

'मुनि सकलव्रती बड़भागी, भव-भोगनतें वैरागी।
वैराग्य उपावन माई, चिन्तौ अनुप्रेक्षा भाई॥

जैन शास्त्रोंमें बतलाया गया है कि तीर्थंकर जब संसारसे विरक्त होते हैं और मुनिदीक्षा लेनेके लिये प्रवृत्त होते हैं तो एक भवावतारी, सदा ब्रह्मचारी और सदैव आत्मज्ञानी लौकान्तिक देव उनके इस दीक्षा-उत्सवमें आते हैं और उनके इस कार्यकी प्रशंसा करते हैं। पर वे उनके जन्मादि उत्सवोंपर नहीं आते। इससे साधु-दीक्षाका महत्त्व विशेष ज्ञात होता है और उसका कारण यही है कि वह आत्माके स्वरूपलाभमें तथा परकल्याणमें मुख्य कारण है।

धर्म : एक चिन्तन

धर्मका स्वरूप

जैन संस्कृतिमें धर्मका स्वरूप निरूपित करते हुए कहा गया है कि धर्म वह है जो प्राणियोंको संसार-के दुःखोंसे निकालकर उत्तम सुखमें पहुँचाये—उसे प्राप्त कराये। आचार्य समन्तभद्रने अपने रत्नकरण्डक-श्रावकाचारमे 'धर्म' शब्दकी व्युत्पत्तिसे फलित होनेवाला धर्मका यही स्वरूप बतलाया है—

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥

प्रश्न है कि संसारके दुःखोंका कारण क्या है और उत्तम सुखकी प्राप्तिके साधन क्या है, क्योंकि जब तक दुःखोंके कारणोंको ज्ञातकर उनकी निवृत्ति नही की जायगी तथा उत्तम सुखकी प्राप्तिके साधनोंको अवगत कर उन्हें अपनाया नहीं जायेगा तब तक न उन दुःखोंकी निवृत्ति हो सकेगी और न उत्तम सुख ही प्राप्त हो सकेगा? इस प्रश्नका उत्तर भी इसी ग्रन्थमे विशदताके साथ दिया है। उन्होंने कहा है—

सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः॥

'उत्तम सुखको प्राप्त करनेका साधन सद्दृष्टि—सम्यक् श्रद्धा (निष्ठा), सज्ज्ञान (सम्यक् बोध) और सद्वृत्त—सदाचरण (सम्यक् आचरण) इन तीनोंकी प्राप्ति है और दुःखोंके कारण इनसे विपरीत—मिथ्या-श्रद्धा, मिथ्याज्ञान और मिथ्या आचरण है, जिनके कारण संसारकी परम्परा—संसार-परिभ्रमण होता है।'

तात्पर्य यह है कि धर्मका प्रयोजन अथवा लक्ष्य दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति है। और प्रत्येक प्राणी, चाहे वह किसी भी अवस्थामें हो, यही चाहता है कि हमें दुःख न हो, हम सदा सुखी रहें। वास्तवमें दुःख किसीको भी इष्ट नहीं है, सभीको सुख इष्ट है। तब इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्ति किसे इष्ट नहीं है और कौन उसके लिए प्रयत्न नहीं करता? अनुभवकी साक्षीके साथ यही कहा जा सकता है कि सारा विश्व निश्चय ही ये दोनों बातें चाहता है और इसलिए धर्मके प्रयोजन दुःख-निवृत्ति एवं सुख-प्राप्तिमें किसीको भी मतभेद नहीं हो सकता। हाँ, उसके साधनोंमें मतभेद हो सकता है।

जैन धर्मका दृष्टिकोण

जैन धर्मका दृष्टिकोण इस विषयमें बहुत ही स्पष्ट और सुलझा हुआ है। उसका कहना है कि वस्तु-का स्वभाव धर्म है—**'वत्थुसहावो धम्मो।'** आत्मा भी एक वस्तु है और उसका स्वभाव रत्नत्रय है, अतः रत्नत्रय आत्माका धर्म है। सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीन असाधारण आत्मगुण 'रत्नत्रय' कहे जाते हैं। जब आत्मा इन तीन गुणरूप अपने स्वभावमें स्थिर होता है तो उसे वस्तुतः सुख प्राप्त होता है और दुःखसे छुटकारा मिल जाता है। संसार दशामें आत्माका उक्त स्वभाव मिथ्यात्व, अज्ञान, क्रोध, मान, मात्सर्य, छल-कपट, दम्भ, असहिष्णुता आदि दुष्प्रवृत्तियों अथवा बुराइयोंसे युक्त रहता है और इसलिए स्वभाव स्वभावरूपमें नहीं, किन्तु विभावरूपमे रहता है। इस कारण उसे न सच्चा सुख

मिलता है और न दुःखसे छूट पाता है। तात्पर्य यह कि आत्माका उक्त स्वभाव अथवा धर्म आत्मामें अपने रूपमें यदि उपलब्ध है तो आत्माको अवश्य सुख प्राप्त होता है और उसके दुःखोंका भी अन्त हो जाता है। अतः जैन धर्मका दृष्टिकोण प्रत्येक प्राणीको दुःखसे छुड़ाकर उत्तम सुख (मोक्ष) की ओर पहुँचाने का है। इसीसे जैन धर्ममें रत्नत्रय (सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) को धर्म कहा गया है और मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रको अधर्म बतलाया गया है, जो संसार-परिभ्रमणका कारण है। जैसाकि हम ऊपर आचार्य समन्तभद्रके उल्लिखित धर्मके स्वरूप द्वारा देख चुके हैं।

इससे यह सहजमें जान सकते हैं कि जीवनको पूर्ण सुखी, शान्त, निराकुल और दुःख रहित बनाने के लिए हमें धर्म अर्थात् स्वभावकी उपलब्धिकी कितनी भारी आवश्यकता है। इस स्वभावकी उपलब्धिके लिये हमें उसके तीनों रूपों—अङ्गों—श्रद्धा, ज्ञान और आचारको अपनाना परमावश्यक है। श्रद्धा-शून्य ज्ञान —विचार और आचार तथा विचारशून्य श्रद्धा एवं आचार और आचारहीन श्रद्धा एवं विचार संसार-परम्पराको काटकर पूर्ण सुखी नहीं बना सकते। अतः इन तीनोंकी ओर सुखाभिलाषियों एवं दुःख-निवृत्तिके इच्छुकोंको ध्यान रखना आवश्यक एवं अनिवार्य है।

आज सारा विश्व त्रस्त और भयभीत है। इस त्रास और भयसे मुक्त होनेके लिए वह छटपटा रहा है। पर उसके ज्ञान और प्रयत्न उचित दिशामें नहीं हो रहे। इसका कारण उसका मन अशुद्ध है। प्रायः सबके हृदय कलुषित हैं, दुर्भावनासे युक्त हैं, दूसरोंको पददलित करके अहंकारके उच्च शिखरपर आसीन रहनेकी भावना समाई हुई है और इस तरह न जाने कितनी दुर्भावनाओंसे वह भरा हुआ है। यह वाक्य अक्षरशः सत्य है कि **'भावना भवनाशिनी, भावना भववर्द्धिनी'** अर्थात् भावना ही संसारके दुःखोंका अन्त करती है और भावना ही संसारके दुःखोंको बढाती है।

यदि विश्व जैन धर्मके उसूलोंपर चले तो वह आज ही सुखी और त्रासमुक्त हो सकता है। वह अहंकार-को छोड़ दे, रोषको त्याग दे, असहिष्णुताको अलग कर दे, दूसरोंको सताने और अतिसंग्रहकी वृत्तिको सर्वथा तिलाञ्जलि दे दे तथा सर्व संसारके सुखी होनेकी भावनाको—**'भावना दिन-रात मेरी सब सुखी संसार हो'**—अपने हृदयमे समा ले तथा वैसी प्रवृत्ति भी करे। अनेकान्तके विचार द्वारा विचार-वैमत्यको और अहिंसा, अपरिग्रह आदिके सुखद आचार द्वारा आचार-संघर्षको मिटाकर वह आगे बढ़े तो वह त्रस्त एवं दुखी न रहे।

अतः श्रद्धा समन्वित ज्ञान और आचार रूप धर्म ही व्यक्ति-व्यक्तिको सुखी कर सकता है और दुःखोंसे उसे मुक्त कर सकता है। इसलिए धर्मका पालन कितना आवश्यक है, यह उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन-से स्पष्ट है।
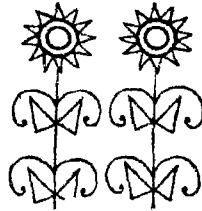
सम्यक्त्वका अमूढ़दृष्टि अङ्ग : एक महत्त्वपूर्ण परीक्षण-सिद्धान्त

यों तो सभी दर्शनों एवं मतोंमे अपने-अपने सिद्धान्त एवं आदर्श हैं। पर जैन दर्शनके आदर्श एवं सिद्धान्त किसी व्यक्ति या समाज विशेषको लक्ष्यमें रखकर स्थापित नही हुए। वे हर व्यक्ति, हर समाज हर समय और हर क्षेत्रके लिए उदित हुए हैं। उनका मुख्य उद्देश्य व्यक्ति और समाजका उत्थान तथा कल्याण करना है। अतएव जैनधर्मके प्रवर्तकों एवं स्थापकोंने जहाँ आत्म-विकास तथा आत्म-कल्याणपर बल दिया है वहाँ बिना किसी चौकाबाजीके दूसरोंके, चाहे वे उनके अनुयायी हो या न हों, उत्थान तथा कल्याणका भी ध्येय रखा है। जैन दर्शन जैनधर्मके इसी ध्येयकी पूर्तिके लिए उनके द्वारा आविष्कृत हुआ है। धर्म और दर्शनमे यही मौलिक अन्तर है कि धर्म श्रद्धामूलक है और दर्शन विचारमूलक। जब तक दर्शन द्वारा धर्मको पोषण नहीं मिलता तब तक वह धर्म कोरा अन्धानुकरण समझा जाता है। अत आवश्यक है कि धर्म-संस्थापक धर्मको दर्शन द्वारा प्राणवान् बनाये। ज्ञात होता है कि इसी दृष्टिको सामने रखकर लोककी गतानुगतिकता एव अन्धानुकरणको रोकने तथा उचित एवं सत्य मार्गका अनुसरण करनेके लिए जैन मनीषियों तथा सन्तोंने धर्मके उपदेशके साथ दर्शनका भी निरूपण किया है और उसके सिद्धान्तोंकी स्थापना की है। आज हम इस छोटे-से लेखमे जैन-दर्शनके महत्त्वपूर्ण परीक्षण-सिद्धातके सम्बन्धमे विचार करेंगे।

परीक्षण-सिद्धांत : एक वैज्ञानिक तरीका

यह जैन-दर्शनका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रमुख सिद्धान्त है। इसके द्वारा बताया गया है कि किसी बातको ठोक-बजाकर—परीक्षा करके ग्रहण करो। उसे इसलिए ग्रहण मत करो कि वह अमुककी कही है और उसे इसलिए मत छोडो कि अमुककी कही हुई नही है। परीक्षाकी कसौटी पर उसे कस लो और उसकी सत्यता-असत्यताको परख लो। यदि परख द्वारा वह सत्य जान पड़े, सत्य साबित हो तो उसे स्वीकार करो और यदि सत्य प्रमाणित न हो तो उसे स्वीकार मत करो, उससे ताटस्थ्य (उपेक्षा—न राग और न द्वेष) रखो। जीवन बहुत ही अल्प है और इस अल्प जीवनमे अनेक कर्त्तव्य विधेय है। उसके साथ खिलवाड़ नहीं होना चाहिए। एक पैसेकी हांडी खरीदी जाती है तो वह भी ठोक-बजाकर ली जाती है। तो धर्मके क्रय (ग्रहण) मे भी हाँडीकी नीतिको क्यों नहीं अपनाना चाहिए ? उसे भी परीक्षा करके ग्रहण करना चाहिए। अत जीवन-विकासके मार्गको चुननेके लिए परीक्षण-सिद्धांत नितांत आवश्यक है और उसे सदैव उपयोगमें लाना चाहिए। एक बार लौकिक कार्योंमे उसकी उपेक्षा कर भी दी जाय, यद्यपि वहाँ भी उसकी उपेक्षा करनेसे भयंकर अलाभ और हानियाँ उठानी पड़ती है, पर धर्मके विषयमे उसकी उपेक्षा नही होनी चाहिए।

एक बारकी बात है। काशीमे पंचकोशीकी यात्रा अश्विन-कार्तिकमे आरम्भ हो जाती है और लोग इस यात्राको पैदल चलकर करते है। यात्री गगाजीके घाटोके किनारे-किनारे जाते हैं। और सभी स्याद्वाद महाविद्यालयके जैन घाट (प्रभुघाट) से निकलते है। एक दिन हम लोगोंको क्या सूझा कि जैन घाटपर जाकर एक किनारे दो-तीन पत्थर रख दिए और उनपर फूल डालकर पानी छिडक दिया। जब हम लोग वहाँसे चुप-चाप चले आये और विद्यालयके घाटपर आकर खड़े हो गये, तो थोड़ी ही देरमे हम देखते हैं कि

वहाँ फूलों, मालाओं, खीलों और पैसोंका ढेर लग गया है। किसीने यह नहीं विचार किया कि यहाँ केवल पत्थर पड़े हैं, किसी देवताकी मूर्ति नहीं है तो फिर फूल आदि क्यों चढ़ाये जायें? इसीको गतानुगतिकता अथवा अन्धानुकरण कहते हैं। जैन-दर्शन कहता है कि ऐसी गतानुगतिकतासे कोई लाभ नहीं होता, प्रत्युत वह अज्ञानको बढ़ाती है। अतः धर्मके सम्बन्धमें परीक्षा-सिद्धान्त आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

जैनधर्ममें जहाँ सम्यक्त्वके आठ अंगोंका वर्णन किया गया है वहाँ उनमें एक 'अमूढदृष्टि' अङ्ग भी बतलाया गया है। यह 'अमूढदृष्टि' अंग परीक्षा-सिद्धांतको छोड़कर दूसरी चीज नहीं है। सत्यके खोजी-की दृष्टि निश्चय ही अमूढ़ा (मूढा—अन्धी नहीं—विवेकयुक्त) होना चाहिए। उसके बिना वह सत्यकी खोज सही सही नहीं कर सकता। जैन दर्शनके इस अमूढदृष्टि बनाम परीक्षण-सिद्धांतके आधारपर जैन चिन्तकोंने यहाँ तक घोषणा की है कि देव (आप्त) को भी उसकी परीक्षा करके अपना उपास्य मानो। आ० हरिभद्र सूरिने लिखा है—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु। युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

'महावीरमे मेरा अनुराग नही है और कपिलादिकोंमे द्वेष नही है। किन्तु जिसकी बात युक्तिपूर्ण है वह ग्राह्य है।'

स्वामी समन्तभद्राचार्यने 'आप्तमीमासा' नामका एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ ही इसी विषयपर लिखा है, जिसमें उन्होने भगवान महावीरकी परीक्षा की है और परीक्षाके उपरान्त उन्हें उनमे परमात्माके योग्य गुणोको पाकर 'आप्त' स्वीकार किया है। साथ ही उनके वचनों (तत्वोपदेशों—स्याद्वाद) की भी परीक्षा की है। आचार्य विद्यानन्द आदि उत्तरकालीन जैन तर्कलेखकोने भी 'आप्तपरीक्षा' जैसे परीक्षा-ग्रन्थोंका निर्माण करके परीक्षण-सिद्धान्तको उद्दीपित किया है। वस्तुतः सत्यका ग्रहण श्रद्धासे नहीं, परीक्षासे होता है। उसके बिना अन्य उपाय नहीं है।

जिस परीक्षा-सिद्धांतको जैन विचारकोंने हजारो वर्ष पूर्व जन्म दिया उसीको आज समूची दुनिया स्वीकार करने लगी है। इतना ही नही, अपनी बातकी प्रामाणिकताके लिए उसे सर्वोच्च कसौटी माना जाने लगा है और उसकी आवश्यकता मानी जाती है। वह विज्ञान (Science) के नामसे सबकी जिह्वाओंपर है। इस विज्ञानके बल पर जहाँ भौतिक प्रयोग सत्य सिद्ध किये जा रहे हैं वहाँ प्रायः सभी मत वाले अपने सिद्धांत भी सिद्ध करनेको उद्यत हैं। जैन धर्मका 'अमूढदृष्टि' सिद्धान्त ऐसा सिद्धान्त है कि हम न धोखा खा सकते हैं और न अविवेकी एवं अन्धश्रद्धालु बन सकते हैं। अतः इस सिद्धान्तका पालन प्रत्येकके लिए सुखद है।
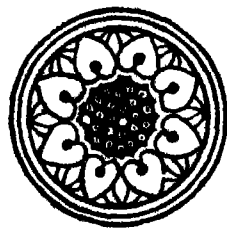
महावीरकी धर्म-देशना

महावीरका जन्म

आजसे २५५१ वर्ष पहले लोकवन्द्य महावीरने विश्वके लिए स्पृहणीय भारतवर्षके अत्यन्त रमणीक पुण्य-प्रदेश विदेहदेश (बिहार प्रान्त) के 'कुण्डपुर' नगरमे जन्म लिया था। 'कुण्डपुर' विदेहकी राजधानी वैशाली (वर्तमान वसाढ) के निकट बसा हुआ था और उस समय एक सुन्दर एवं स्वतन्त्र गणसत्तात्मक राज्यके रूपमे अवस्थित था। इसके शासक सिद्धार्थ नरेश थे, जो लिच्छवी ज्ञातृवंशी थे और बडे न्याय-नीति-कुशल एवं प्रजावत्सल थे। इनकी शासन-व्यवस्था अहिंसा और गणतंत्र (प्रजातंत्र) के सिद्धान्तोंके आधारपर चलती थी। ये उस समयके नौ लिच्छवि (वज्जि) गणोंमें एक थे और उनमें इनका अच्छा सम्मान तथा आदर था। सिद्धार्थ भी उन्हे इसी तरह सम्मान देते थे। इसीसे लिच्छवी गणोंके बारेमे उनके पारस्परिक, प्रेम और संगठनको बतलाते हुए बौद्धोंके दीघनिकाय-अट्ठकथा आदि प्राचीन ग्रन्थोमें कहा गया है कि 'यदि कोई लिच्छवि बीमार होता तो सब लिच्छवि उसे देखने आते, एकके घर उत्सव होता तो उसमे सब सम्मिलित होते, तथा यदि उनके नगरमें कोई साधु-सन्त आता तो उसका स्वागत करते थे।' इससे मालूम होता है कि अहिंसाके परम पुजारी नृप सिद्धार्थके सूक्ष्म अहिंसक आचरणका कितना अधिक प्रभाव था ? जो साथी नरेश जैन धर्मके उपासक नही थे वे भी सिद्धार्थकी अहिंसा-नीतिका समर्थन करते थे और परस्पर भ्रातृत्वपूर्ण समानताका आदर्श उपस्थित करते थे।

सिद्धार्थके इन्ही समभाव, प्रेम, संगठन, प्रभावादि गुणोंसे आकृष्ट होकर वैशालीके (जो विदेह देशकी तत्कालीन सुन्दर राजधानी तथा लिच्छवि नरेशोंके प्रजातंत्रकी प्रवृत्तियोंकी केन्द्र एवं गौरवपूर्ण नगरी थी) प्रभावशाली नरेश चेटकने अपनी गुणवती राजकुमारी त्रिशलाका विवाह उनके साथ कर दिया था। त्रिशला चेटककी सबसे प्यारी पुत्री थी, इसलिए चेटक उन्हे 'प्रियकारिणी' भी कहा करते थे। त्रिशला अपने प्रभावशाली सुयोग्य पिताकी सुयोग्य पुत्री होनेके कारण पैतृकगुणोसे सम्पन्न तथा उदारता, दया, विनय, शीलादि गुणोंसे भी युक्त थी।

इसी भाग्यशाली दम्पति—त्रिशला और सिद्धार्थ—को लोकवन्द्य महावीरको जन्म देनेका अचिन्त्य सौभाग्य प्राप्त हुआ। जिस दिन महावीरका जन्म हुआ वह चैत सुदी तेरसका पावन दिवस था।

महावीरके जन्म लेते ही सिद्धार्थ और उनके परिवारने पुत्रजन्मके उपलक्ष्यमे खूब खुशियाँ मनाई। गरीबोंको भरपूर धन-धान्य आदि दिया और सबकी मनोकामनाएँ पूरी की। तथा तरह-तरहके गायन-वादित्रादि करवाये। सिद्धार्थके कुटुम्बी जनों, समशील मित्रनरेशों, रिश्तेदारों और प्रजाजनोंने भी उन्हें बधाइयाँ भेजी, खुशियाँ मनाई और याचकोंको दानादि दिया।

महावीर बाल्यावस्थामे ही विशिष्ट ज्ञानवान् और अद्वितीय बुद्धिमान् थे। बड़ी-से-बड़ी शंकाका समाधान कर देते थे। साधु-सन्त भी अपनी शकाएँ पूछने आते थे। इसीलिए लोगोने उन्हें सन्मति कहना शुरू कर दिया और इस तरह वर्धमानका लोकमें एक 'सन्मति' नाम भी प्रसिद्ध हो गया। वह बड़े वीर भी थे।

भयंकर आपदाओंसे भी नहीं घबड़ाते थे, किन्तु उनका साहसपूर्वक सामना करते थे। अतः उनके साथी उन्हें वीर और अतिवीर भी कहते थे।

महावीरका वैराग्य

महावीर इस तरह बाल्यावस्थाको अतिक्रान्त कर धीरे-धीरे कुमारावस्थाको प्राप्त हुए और कुमारावस्थाको भी छोड़कर वे पूरे ३० वर्षके युवा हो गये। अब उनके माता-पिताने उनके सामने विवाहका प्रस्ताव रखा। किंतु महावीर तो महावीर ही थे। उस समय जनसाधारणकी जो दुर्दशा थी उसे देखकर उन्हें असह्य पीड़ा हो रही थी। उस समयकी अज्ञानमय स्थितिको देखकर उनकी आत्मा सिहर उठी थी और हृदय दयासे भर आया था। अतएव उनके हृदयमें पूर्णरूपसे वैराग्य समा चुका था। उन्होंने सोचा—'इस समय देशकी स्थिति धार्मिक दृष्टिसे बडी खराब है, धर्मके नामपर अधर्म हो रहा है। यज्ञोंमें पशुओंकी बलि दी जा रही है और उसे धर्म कहा जा रहा है। कहीं अश्वमेघ हो रहा है तो कहीं अजमेध हो रहा है। पशुओंकी तो बात ही क्या, नरों (मनुष्यों) का भी यज्ञ करनेके लिए, वेदोंके सूक्त बताकर जनताको प्रोत्साहित किया जाता है और कितने ही लोग नरमेघ यज्ञ भी कर रहे हैं। इस तरह जहाँ देखो वहाँ हिंसाका बोल-बाला और भीषणकाण्ड मचा हुआ है। सारी पृथ्वी खूनसे लथपथ हो रही है। इसके अतिरिक्त स्त्री, शूद्र और पतितजनोंके साथ उस समय जो दुर्व्यवहार हो रहा है वह भी चरमसीमा पर पहुँच चुका है। स्त्री और शूद्र वेदादि शास्त्र नहीं पढ़ सकते। 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयताम्' जैसे निषेधपरक वेदादिवाक्योंकी दुहाई दी जाती है और इस तरह उन्हें ज्ञानसे वंचित रखा जा रहा है। शूद्रके साथ संभाषण, उसका अन्नभक्षण और उसके साथ सभी प्रकारका व्यवहार बन्द कर रखा है और यदि कोई करता है तो उसे कड़े-से-कड़ा दण्ड भोगना पडता है। पतितोंकी तो हालत ही मत पूछिये। यदि किसी से अज्ञानवतावश या भूलसे कोई अपराध बन गया तो उसे जाति, धर्म और तमाम उत्तम बातोंसे च्युत करके बहिष्कृत कर दिया जाता है—उनके उद्धारका कोई रास्ता ही नहीं है। यह भी नहीं सोचा जाता कि मनुष्य मनुष्य है, देवता नहीं। उससे गलतियाँ हो सकती हैं और उनका सुधार भी हो सकता है।

महावीर इस अज्ञानमय स्थितिको देखकर खिन्न हो उठे, उनकी आत्मा सिहर उठी और हृदय दयासे भर आया। वे सोचने लगे कि 'यदि यह स्थिति कुछ समय और रही तो अहिंसक और आध्यात्मिक ऋषियोंकी यह पवित्र भारतभूमि नरककुण्ड बन जायगी और मानव दानव हो जायगा। जिस भारतभूमिके मस्तकको ऋषभदेव, राम और अरिष्टनेमि—जैसे अहिंसक महापुरुषोंने ऊँचा किया और अपने कार्योंसे उसे पावन, बनाया उसके माथेपर हिंसाका वह भीषण कलंक लगेगा जो धुल न सकेगा। इस हिंसा और जड़ताको शीघ्र ही दूर करना चाहिए। यद्यपि राजकीय दण्ड-विधान—आदेशसे यह बहुत कुछ दूर हो सकती है, पर उसका असर लोगोंके शरीरपर ही पड़ेगा—हृदय एवं आत्मा पर नहीं। आत्मा पर असर डालनेके लिए तो अन्दरकी आवाज—उपदेश ही होना चाहिए और वह उपदेश पूर्ण सफल एवं कल्याणप्रद तभी हो सकता है जब मैं स्वयं पूर्ण अहिंसाकी प्रतिष्ठा कर लूँ। इसलिए अब मेरा घरमें रहना किसी भी प्रकार उचित नहीं है। घरमें रहकर सुखोपभोग करना और अहिंसाकी पूर्ण साधना करना दोनों बातें सम्भव नहीं हैं।' यह सोचकर उन्होंने घर छोड़नेका निश्चय कर लिया।

उनके इस निश्चयको जानकर माता त्रिशला, पिता सिद्धार्थ और सभी प्रियजन अवाक् रह गये, परन्तु उनकी दृढ़ताको देखकर उन्हें संसारके कल्याणके मार्गसे रोकना उचित नहीं समझा और सबने उन्हें उसके लिए अनुमति दे दी। संसार-भीरु सभ्यजनोंने भी उनके इस लोकोत्तर कार्यकी प्रशंसा की और गुणानुवाद किया।

महावीरकी निर्ग्रन्थ-दीक्षा

राजकुमार महावीर सब तरहके सुखों और राज्यका त्यागकर निर्ग्रन्थ-अचेल हो वन-वनमें, पहाड़ोंकी गुफाओं और वृक्षोंकी कोटरोंमे समाधि लगाकर अहिंसाकी साधना करने लगे। काम-क्रोध, राग-द्वेष, मोह-माया, छल-ईर्ष्या आदि आत्माके अन्तरंग शत्रुओंपर विजय पाने लगे। वे जो कायक्लेशादि बाह्य तप तपते थे वह अन्तरंगकी ज्ञानादि शक्तियोंको विकसित व पुष्ट करनेके लिए करते थे। उनपर जो विघ्न-बाधाएँ और उपसर्ग आते थे उन्हें वे वीरताके साथ सहते थे। इस प्रकार लगातार बारह वर्ष तक मौन-पूर्वक तपश्चरण करनेके पश्चात् उन्होंने कर्मकलंकको नाशकर अर्हत अर्थात् 'जीवन्मुक्त' अवस्था प्राप्त की। आत्माके विकासकी सबसे ऊँची अवस्था संसार दशामें यही 'अर्हत् अवस्था' है जो लोकपूज्य और लोकके लिए स्पृहणीय है। बौद्धग्रन्थोंमे इसीको 'अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध' कहा है।

उनका उपदेश

इस प्रकार महावीरने अपने उद्देश्यानुसार आत्मामें अहिंसाकी पूर्ण प्रतिष्ठा कर ली, समस्त जीवों पर उनका समभाव हो गया--उनकी दृष्टिमे न कोई शत्रु रहा और न कोई मित्र। सर्प-नेवला, सिंह-गाय जैसे जाति-विरोधी जीव भी उनके सान्निध्यमें आकर अपने वैर-विरोधको भूल गये। वातावरणमे अपूर्व शान्ति आ गई। महावीरके इस स्वाभाविक आत्मिक प्रभावसे आकृष्ट होकर लोग स्वयमेव उनके पास आने लगे। महावीरने उचित अवसर और समय देखकर लोगोंको अहिंसाका उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया। 'अहिंसा परमो धर्मः' कह कर अहिंसाको परमधर्म और हिंसाको अधर्म बतलाया। यज्ञोंमे होनेवाली पशुबलिको अधर्म कहा और उसका अनुभव तथा युक्तियों द्वारा तीव्र विरोध किया। जगह-जगह जाकर विशाल सभाएँ करके उसकी बुराइयाँ बतलाईं और अहिंसाके अपरिमित लाभ बतलाये। इस तरह लगातार तीस वर्ष तक उन्होंने अहिंसाका प्रभावशाली प्रचार किया, जिसका यज्ञोंकी हिंसापर इतना प्रभाव पड़ा कि पशु-यज्ञके स्थानपर शान्तियज्ञ, ब्रह्मयज्ञ आदि अहिंसक यज्ञोंका प्रतिपादन होने लगा और यज्ञमे पिष्ट पशु (आटेके पशु) का विधान किया जाने लगा। इस बातको लोकमान्य तिलक जैसे उच्च कोटिके विचारक विद्वानोंने भी स्वीकार किया है।

पशुजातिकी रक्षा और धर्मान्धताके निराकरणका कार्य करनेके साथ ही महावीरने हीनों, पतितजनों तथा स्त्रियोके उद्धारका भी कार्य किया। 'प्रत्येक योग्य प्राणी धर्म धारण कर सकता है और अपने आत्माका कल्याण कर सकता है' इस उदार घोषणाके साथ उन्हे ऊँचे उठ सकनेका आश्वासन, बल और साहस दिया। महावीरके संघमें पापोसे पापी भी सम्मिलित हो सकते थे और उन्हे धर्म धारणकी अनुज्ञा थी। उनका स्पष्ट उपदेश था कि 'पापसे घृणा करो, पापीसे नही' और इसीलिए उनके संघका उस समय जो विशाल रूप था वह तत्कालीन अन्य संघोंमें कम मिलता था। ज्येष्ठा और अंजनचोर जैसे पापियोंका उद्धार महावीरके उदारधर्मने किया था। इन्हीं सब बातोसे महान् आचार्य स्वामी समन्तभद्रने महावीरके शासन (तीर्थ--धर्म) को 'सर्वोदय तीर्थ' सबका उदय करनेवाला कहा है। उनके धर्मकी यह सबसे बड़ी विशेषता है।

महावीरने अपने उपदेशोंमें जिन तत्त्वज्ञानपूर्ण सिद्धान्तोंका प्रतिपादन एवं प्रकाशन किया उन पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है :—

१. सर्वज्ञ (परमात्म) वाद—जहाँ अन्य धर्मोंमें जीवको सदैव ईश्वरका दास रहना बतलाया गया है वहाँ जैन धर्मका मन्तव्य है कि प्रत्येक योग्य आत्मा अपने अध्यवसाय एवं प्रयत्नों द्वारा स्वतन्त्र, पूर्ण एवं

ईश्वर—सर्वज्ञ परमात्मा बन सकता है। जैसे एक छह वर्षका विद्यार्थी 'अ आ इ' सीखता हुआ एक-एक दर्जेको पास करके एम० ए० और डॉक्टर बन जाता है और छह वर्षके अल्प ज्ञानको सहस्रों गुना विकसित कर लेता है, उसी प्रकार साधारण आत्मा भी दोषों और आवरणोंको दूर करता हुआ महात्मा तथा परमात्मा बन जाता है। कुछ दोषों और आवरणोंको दूर करनेसे महात्मा और सर्व दोषों तथा आवरणोंको दूर करनेसे परमात्मा कहलाता है। अतएव जैनधर्ममें गुणोंकी अपेक्षा पूर्ण विकसित आत्मा ही परमात्मा है, सर्वज्ञ एवं ईश्वर है—उससे जुदा एक रूप कोई ईश्वर नहीं है। यथार्थतः गुणोंकी अपेक्षा जैनधर्ममें ईश्वर और जीवमें कोई भेद नहीं है। यदि भेद है तो वह यही कि जीव कर्म-बन्धन युक्त है और ईश्वर कर्म-बन्धन मुक्त है। पर कर्म-बन्धनके दूर हो जानेपर वह भी ईश्वर हो जाता है। इस तरह जैनधर्ममें अनन्त ईश्वर हैं। हम व आप भी कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जानेपर ईश्वर (सर्वज्ञ) बन सकते हैं। पूजा, उपासनादि जैनधर्ममें मुक्त न होने तक ही बतलाई है। उसके बाद वह और ईश्वर सब स्वतन्त्र व समान हैं और अनन्त गुणोंके भण्डार हैं। यही सर्वज्ञवाद अथवा परमात्मवाद है जो सबसे निराला है। त्रिपिटिकों (मज्झिमनिकाय अनु. पृ. ५७ आदि) में महावीर (निग्गंठनातपुत्त) को बुद्ध और उनके आनन्द आदि शिष्योंने 'सर्वज्ञ सर्वदर्शी निरन्तर समस्त ज्ञान दर्शनवाला' कहकर अनेक जगह उल्लेखित किया है।

२ रत्नत्रय धर्म—जीव परमात्मा कैसे बन सकता है, इस बातको भी जैनधर्ममें बतलाया गया है। जो जीव सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चरित्ररूप रत्नत्रय धर्मको धारण करता है वह संसारके दुखोंसे मुक्त परमात्मा हो जाता है।

(क) सम्यक्दर्शन–मूढता और अभिमान रहित होकर यथार्थ (निर्दोष) देव (परमात्मा), यथार्थ वचन और यथार्थ महात्माको मानना और उनपर ही अपना विश्वास करना।

(ख) सम्यक्ज्ञान–न कम, न ज्यादा, यथार्थ, सन्देह और विपर्यय रहित तत्त्वका ज्ञान करना।

(ग) सम्यक्चरित्र–हिंसा न करना, झूठ न बोलना, पर-वस्तुको बिना दिये ग्रहण न करना, ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना अपरिग्रही होना। गृहस्थ इनका पालन एकदेश और निर्ग्रन्थ साधु पूर्णतः करते हैं।

३ सप्त तत्त्व—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व (वस्तुभूत पदार्थ) हैं। जो चेतना (जानने-देखनेके) गुणसे युक्त है वह जीवतत्त्व है। जो चेतनायुक्त नहीं है वह अजीवतत्त्व है। इसके पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँच भेद हैं। जिन कारणोंसे जीव और पुद्गलका संबंध होता है वे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग आस्रवतत्त्व हैं। दूध-पानीकी तरह जीव और पुद्गलका जो गाढ़ सम्बन्ध है वह बन्धतत्त्व है। अनागत बन्धका न होना संवरतत्त्व है और संचित पूर्व बन्धका छूट जाना निर्जरा है और सम्पूर्ण कर्मबन्धनसे रहित हो जाना मोक्ष है। मुमुक्षु और संसारी दोनोंके लिए इन तत्त्वोंका ज्ञान करना आवश्यक है।

४ कर्म—जो जीवको पराधीन बनाता है—उसकी स्वतंत्रतामें बाधक है वह कर्म है। इस कर्मकी वजहसे ही जीवात्मा नाना योनियोंमें भ्रमण करता है। इसके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ भेद हैं। इनके भी उत्तर भेद अनेक हैं।

५ अनेकान्त और स्याद्वाद—जैन धर्मको ठीक तरह समझने-समझाने और मीमांसा करने-करानेके लिए महावीरने जैनधर्मके साथ ही जैन दर्शनका भी प्ररूपण किया।

(क) अनेकान्त—नाना धर्मरूप वस्तु अनेकान्त है।

(ख) स्याद्वाद—अपेक्षासे नाना धर्मोंको कहनेवाले वचनप्रकारको स्याद्वाद कहते हैं। अपेक्षावाद, कथंचित्वाद आदि इसीके नाम हैं।

इन और एसे ही और अनेक सिद्धान्तोंका महावीरने प्रतिपादन किया था, जो जैन शास्त्रोंसे ज्ञातव्य हैं।

अन्तमें ७२ वर्षकी आयुमें कार्तिक वदी अमावस्याके प्रातः महावीरने पावासे निर्वाण प्राप्त किया, जिसकी स्मृतिमें जैन-समाजमें वीर-निर्वाण संवत् प्रचलित है और जो आज २४७८ चल रहा है।
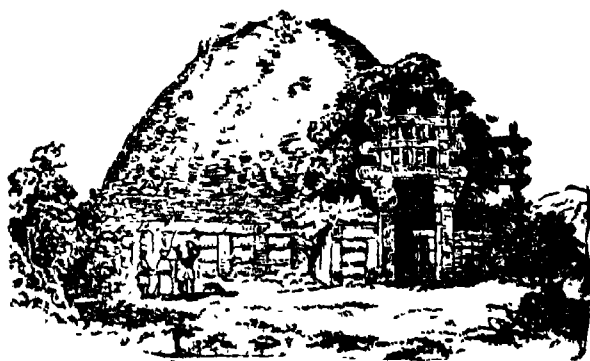
वीर-शासन और उसका महत्त्व

वीर-शासन

अन्तिम तीर्थंकर भगवान वीरने आजसे २४९८ वर्ष पूर्व बिहार प्रान्तके विपुलाचल पर्वतपर स्थित होकर श्रावण कृष्णा प्रतिपदाकी पुण्यवेलामे, जब सूर्यका उदय प्राचीसे हो रहा था, संसारके संतप्त प्राणियोंके संतापको दूरकर उन्हे परम शान्ति प्रदान करनेवाला धर्मोपदेश दिया था। उनके धर्मोपदेशका यह प्रथम दिन था। इसके बाद भी लगातार उन्होंने तीस वर्ष तक अनेक देश-देशान्तरोंमें बिहार करके पथ-भ्रष्टोंको सत्पथका प्रदर्शन कराया था, उन्हें सन्मार्ग पर लगाया था। उस समय जो महान् अज्ञान-तम सर्वत्र फैला हुआ था, उसे अपने अमृत-मय उपदेशों द्वारा दूर किया था, लोगोंकी भूलोंको अपनी दिव्य वाणीसे बताकर उन्हे तत्त्वपथ ग्रहण कराया था, सम्यक्‌दृष्टि बनाया था। उनके उपदेश हमेशा दया एवं अहिंसासे ओत-प्रोत हुआ करते थे। यही कारण था कि उस समयकी हिंसामय स्थिति अहिंसामे परिणत हो गयी थी और यही वजह थी कि इन्द्रभूति जैसे कट्टर वैदिक ब्राह्मण विद्वान् भी, जिन्हें बादको भगवान वीरके उपदेशोंके संकलनकर्ता—मुख्य गणधर तकके पदका गौरव प्राप्त हुआ है, उनके उपाश्रयमे आये और अन्तमें उन्होंने मुक्तिको प्राप्त किया। इस तरह भगवान वीरने अवशिष्ट तीस वर्षके जीवनमे संख्यातीत प्राणियोंका उद्धार किया और जगतको परम हितकारक सच्चे धर्मका उपदेश दिया। वीरका यह सब दिव्य उपदेश ही 'वीरशासन' या 'वीरतीर्थ' है और इस तीर्थको चलाने-प्रवृत्त करनेके कारण ही वे 'तीर्थंकर' कहे जाते हैं। वर्तमानमे उन्हीका शासन—तीर्थ चल रहा है,। यह वीर-शासन क्या है? उसके महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त कौनसे है? और उसमें क्या-क्या उल्लेखनीय विशेषतायें है? इन बातोंसे बहुत कम सज्जन अवगत हैं। अतः इन्ही बातोंपर संक्षेपमें कुछ विचार किया जाता है।

समन्तभद्र स्वामीने, जो महान् तार्किक एव परीक्षाप्रधानी प्रसिद्ध जैन आचार्य थे और जो आजसे लगभग १८०० वर्ष पूर्व हो चुके हैं, भगवान् महावीर और उनके शासनकी सयुक्तिक परीक्षा एवं जांच की है—'युक्तिमद्वचन' अथवा 'युक्तिशास्त्राविरोधिवचन' और 'निर्दोषता' की कसौटीपर उन्हें और उनके शासनको खूब कसा है। जब उनकी परीक्षामें भगवान् महावीर और उनका शासन सौटंची स्वर्णकी तरह ठीक साबित हुये तभी उन्हें अपनाया है। इतना ही नही, किन्तु भगवान् वीर और उनके शासनकी परीक्षा करनेके लिये अन्य परीक्षकों तथा विचारकोंको भी आमन्त्रित किया है—निष्पक्ष विचारके लिये खुला निमंत्रण दिया है।[1] समन्तभद्र स्वामीके ऐसे कुछ परीक्षा-वाक्य थोड़े-से ऊहापोहके साथ नीचे दिये जाते हैं :—

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः। मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान्॥

आप्तमीमांसा १।

१. युक्त्यनुशासन, का० ६३।

'हे वीर ? देवोंका आना, आकाशमें चलना, चमर, छत्र, सिंहासन आदि विभूतियोंका होना तो मायावियों—इन्द्रजालियोंमें भी देखा जाता है, इस वजहसे आप हमारे महान्—पूज्य नहीं हो सकते और न इन बातोंसे आपकी कोई महत्ता या बड़ाई है।

समन्तभद्र स्वामीने ऐसे अनेक परीक्षा-वाक्यों द्वारा उनकी और उनके शासनकी परीक्षा की है, जिनका कथन सूत्ररूपसे आप्त-मीमांसामें दिया हुआ है। परीक्षा करनेके बाद उन्हें उनमें महत्ताकी जो बात मिली है और जिसके कारण भगवान् वीरको 'महान्' तथा उनके शासनको 'अद्वितीय' माना है। वह यह है :—

त्वं शुद्धि-शक्तयोरुदयस्य काष्ठां, तुलाव्यतीतां जिन शान्तिरूपाम्।
अवापिथ ब्रह्मपथस्य नेता, महानितीयत्प्रतिवक्तमीशाः ॥

युक्त्यनुशासन ४।

'हे जिन! आपने शुद्धिके—ज्ञानावरण और दर्शनावरणकर्मके क्षयसे उत्पन्न आत्मीय ज्ञान-दर्शनके तथा शक्तिके—वीर्यान्तरायकर्मके क्षयसे उत्पन्न आत्मबलके—परम प्रकर्षको प्राप्त किया है—आप अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान और अनन्तवीर्यके धनी हैं। साथ ही अनुपम एवं अपरिमेय शान्तिरूपताको—अनन्तसुखको भी प्राप्त हैं, इसीसे आप 'ब्रह्मपथ' के—मोक्षमार्गके—नेता हैं और इसीलिए आप महान् हैं—पूज्य हैं। ऐसा हम कहने—सिद्ध करनेके लिए समर्थ हैं।'

समन्तभद्र वीरशासनको अद्वितीय बतलाते हुए लिखते हैं :—

दया-दम-त्याग-समाधि-निष्ठं, नयप्रमाणप्रकृताञ्जसार्थम्।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जिन त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥

—युक्त्यनुशासन

'हे वीर जिन! आपका मत—शासन नय और प्रमाणोंके द्वारा वस्तुतत्त्वको बिलकुल स्पष्ट करने वाला है और अन्य समस्त एकान्तवादियोंसे अबाध्य है—अखंडनीय है, साथमें दया—अहिंसा, दम—इन्द्रिय-निग्रहरूप संयम, त्याग—दान अथवा समस्त परिग्रहका परित्याग और समाधि—प्रशस्त ध्यान इन चारोंकी तत्परताको लिये हुये है, इसलिए वह 'अद्वितीय' है।

दयाके बिना दम—संयम नहीं बन सकता और संयमके बिना त्याग नहीं और त्यागके बिना समाधि—प्रशस्त ध्यान नहीं हो सकता, इसीसे वीरशासनमें दया—अहिंसाको प्रधान स्थान प्राप्त है।

'वीर-शासन' की इस महत्ताको बतलानेके बाद समन्तभद्र उसे 'सर्वोदयतीर्थ' भी बतलाते हैं—

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥

युक्त्यनुशासन

'हे वीर! आपका तीर्थ—शासन अथवा परमागम-द्वादशाङ्गश्रुत—समस्त धर्मों वाला है और मुख्य गौणकी अपेक्षा समस्त धर्मोंकी व्यवस्थासे युक्त है—एक धर्मके प्रधान होनेपर अन्य बाकी धर्म गौण मात्र हो जाते हैं—उनका अभाव नहीं होता। किन्तु एकान्तवादियोंका आगमवाक्य अथवा शासन परस्पर निरपेक्ष होनेसे सब धर्मों वाला नहीं है—उनके यहाँ धर्मोंमें परस्पर अपेक्षा न होनेसे दूसरे धर्मोंका अभाव हो जाता है और उनके अभाव हो जानेपर उस अविनाभावी अभिप्रेत धर्मका भी अभाव हो जाता है। इस तरह एकान्तमें न वाच्यतत्त्व ही बनता है और न वाचकतत्त्व ही। और इसलिए हे वीर जिनेन्द्र! परस्परकी अपेक्षा रखनेके कारण—अनेकान्तमय होनेके कारण—आपका ही तीर्थ—शासन सम्पूर्ण आपदाओंका अन्त करने वाला है और स्वयं निरंत है—अंतरहित अविनाशी है तथा सर्वोदयरूप है—समस्त अभ्युदयों—

आध्यात्मिक और भौतिक विभूतियोंका कारण है। तथा सर्व प्राणियोंके अभ्युदय—अभ्युत्थानका हेतु है। समन्तभद्रके इन वाक्योंसे यह भले प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः 'वीर-शासन' सर्वोदय तीर्थ कहलानेके योग्य है। उसमें वे विशेषताएँ एवं महत्तायें हैं, जो आज विश्वके लिए वीरशासनकी देन कही जाती हैं या कही जा सकती हैं। यहाँ वे विशेषतायें भी कुछ निम्न प्रकार उल्लिखित हैं—

वीरशासनकी विशेषताएँ

१ अहिंसावाद, २ साम्यवाद ३ स्याद्वाद और ४ कर्मवाद। इनके अलावा वीरशासनमें और भी वाद हैं—आत्मवाद, ज्ञानवाद, चारित्रवाद, दर्शनवाद, प्रमाणवाद, नयवाद, परिग्रहपरिमाणवाद, प्रमेयवाद आदि। किन्तु उन सबका उल्लिखित चार वादोंमें ही प्रायः अन्तर्भाव हो जाता है। प्रमाणवाद और नयवादके ही नामान्तर हैं और इनका तथा प्रमेयवादका स्याद्वादके साथ सम्बन्ध होनेसे स्याद्वादमें और बाकीका अहिंसावाद तथा साम्यवादमें अन्तर्भाव हो जाता है।

१. अहिंसावाद

'स्वयं जियो और जीनो दो' की शिक्षा भगवान् महावीरने इस अहिंसावाद द्वारा दी थी। जो परम आत्मा, परमब्रह्म, परमसुखी होना चाहता है उसे अहिंसाकी उपासना करनी चाहिये—उसे अपने समान ही सबको देखना चाहिये—अपना अहिंसक आचरण बनाना चाहिये। मनुष्यमें जब तक हिंसक वृत्ति रहती है तब तक आत्मगुणोंका विकास नहीं हो पाता—वह दुःखी, अशान्त बना रहता है। अहिंसकका जीवमात्र मित्र बन जाता है—सर्व वैरका त्याग करके जातिविरोधी जीव भी उसके आश्रयमें आपसमें हिलमिल जाते हैं। क्रोध, दम्भ, द्वेष गर्व, लोभ आदि ये सब हिंसाकी वृत्तियाँ हैं। ये सच्चे अहिंसकके पासमें नहीं फटक पाती हैं। अहिंसकको कभी भय नहीं होता, वह निर्भीकताके साथ उपस्थित परिस्थितिका सामना करता है, कायरतासे कभी पलायन नहीं करता। अहिंसा कायरोंका धर्म नहीं है वह तो वीरोंका धर्म है। कायरताका हिंसाके साथ और वीरताका अहिंसाके साथ सम्बन्ध है। शारीरिक बलका नाम वीरता नहीं, आत्मबलका नाम वीरता है। जिसका जितना अधिक आत्मबल विकसित होगा वह उतना ही अधिक वीर और अहिंसक होगा। शारीरिक बल कदाचित ही सफल होता देखा गया है, लेकिन सूखी हड्डियों वालेका भी आत्मबल विजयी और अमोघ रहा है।

अतः अहिंसा पर कायरताका लाछन लगाना निराधार है। भगवान् महावीरने वह अहिंसा दो प्रकारकी वर्णित की है—गृहस्थकी अहिंसा, २ साधुकी अहिंसा।

गृहस्थ-अहिंसा

गृहस्थ चार तरहकी हिंसाओं—आरम्भी, उद्योगी, विरोधी और संकल्पीमे—केवल संकल्पी हिंसाका त्यागी होता है, बाकीकी तीन तरहकी हिंसाओंका त्यागी वह नहीं होता। इसका मतलब यह नहीं है कि वह इन तीन तरहकी हिंसाओंमे असावधान बनकर प्रवृत्त रहता है, नहीं, आत्मरक्षा, जीवननिर्वाह आदिके लिये जितनी अनिवार्य हिंसा होगी वह उसे करेगा, फिर भी वह अपनी प्रवृत्ति हमेशा सावधानीसे करेगा। उसका व्यवहार हमेशा नैतिक होगा। यही गृहस्थधर्म है, अन्य क्रियाएँ—आचरण तो इसीके पालनके दृष्टिबिन्दु हैं।

साधु-अहिंसा

साधुकी अहिंसा सब प्रकारकी हिंसाओके त्यागमेसे उदित होती है, उसकी अहिंसामे कोई विकल्प नहीं होता। वह अपने जीवनको सुवर्णके समान निर्मल बनानेके लिए उपद्रवों, उपसर्गोंको सहनशीलताके

साथ सहन करता है। निन्दा करने वालोंपर रुष्ट नहीं होता और स्तुति करने वालोंपर प्रसन्न नहीं होता। वह सबपर साम्यवृत्ति रखता है। अपनेको पूर्ण सावधान रखता है। तामसी और राजसी वृत्तियोंसे अपने आपको बचाये रखता है। मार्ग चलेगा तो चार कदम जमीन देखकर चलेगा; जीव-जन्तुओंको बचाता हुआ चलेगा, हित-मित वचन बोलेगा, ज्यादा बकवाद नही करेगा। गरज यह कि जैन साधु अपनी तमाम प्रवृत्ति सावधानीसे करता है। यह सब अहिंसाके लिए, अहिंसातत्त्वकी उपासनाके लिए 'परमब्रह्मको प्राप्त करनेके लिए 'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं' इस समन्तभद्रोक्त तत्त्वको हासिल करनेके लिए। इस तरह जैन साधु अपने जीवनको पूर्ण अहिंसामय बनाता हुआ, अहिंसाकी साधना करता हुआ, जीवनको अहिंसाजन्य अनुपम शांति प्रदान करता हुआ, विकारी पुद्गलसे अपना नाता तोड़ता हुआ, कर्म-बन्धनको काटता हुआ, अहिंसामे ही—परमब्रह्ममे ही—शाश्वतानन्दमे ही—निमग्न हो जाता है—लीन हो जाता है—सदाके लिए—अनन्तकालके लिए। फिर उसे ससारका चक्कर नही लगाना पडता। वह अजर, अमर, अविनाशी हो जाता है। सिद्ध एवं कृतकृत्य बन जाता है यह सब अहिंसाके द्वारा ही। वीर-शासनकी जड़—बुनियाद—आधार और विकास अहिंसा ही है।

वर्तमानमे जैन समाज इस अहिंसा-तत्त्व को कुछ भूल-सा गया है। इसीलिये जैनेतर लोग उसके बाह्याचारको देखकर 'जैनी अहिंसा', 'वीर अहिंसा', पर कायरताका कलक मढते हुए पाये जाते है। क्या ही अच्छा हो, जैनी लोग अपने व्यवहारसे अहिंसाको व्यावहारिक धर्म बनाये रखनेसे सच्चे अर्थोमे 'जैनी' बनें, आत्मबल पुष्ट करें, साहसी और वीर बने, जितेन्द्रिय होवे। उनकी अहिंसा केवल चिवटी-खटमल, जूँ आदिकी रक्षा तक ही सीमित न हो, जिससे दूसरे लोग हमारे दम्भपूर्ण व्यवहार—निरा अहिंसाके व्यवहार-को देखकर वीर प्रभुकी महती देन—अहिंसापर कलक न मढ सके।

२ साम्यवाद

यह अहिंसाका ही अवान्तर सिद्धान्त है, लेकिन इस सिद्धान्तकी हमारे जीवनमें अहिंसाकी ही भाँति अपनाये जानेकी आवश्यकता होनेसे 'अहिंसावाद' के समकक्ष इसकी गणना करना उपयुक्त है, क्योकि भगवान् वीरके शासनमे सबके साथ साम्य-भाव—सद्भावनाके साथ व्यवहार करनेका उपदेश है, अनुचित राग और द्वेषका त्यागना, दूसरोंके साथ अन्याय तथा अत्याचारका बर्ताव नही करना, न्यायपूर्वक ही अपनी आजीविका सम्पादित करना, दूसरोंके अधिकारोंको हडप नही करना, दूसरोंकी आजीविका पर नुकसान नही पहुँचाना, उनको अपने जैसा स्वतन्त्र और सुखी रहनेका अधिकारी समझकर उनके साथ 'वसुधैव कुटुम्बकम्'—यथा-योग्य भाईचारेका व्यवहार करना, उनके उत्कर्षमे सहायक होना, उनका कभी अपकर्ष नहीं सोचना, जीव-नोपयोगी सामग्रीको स्वयं उचित और आवश्यक रखना और दूसरोंको रखने देना, संग्रह, लोलुपता, चूसनेकी वृत्तिका परित्याग करना ही 'साम्यवाद' का लक्ष्य है—साम्यवादकी शिक्षाका मुख्य उद्देश्य है। यदि आज विश्वमे वीरप्रभुकी यह साम्यवादकी शिक्षा प्रसृत हो जावे तो सारा विश्व सुखी और शांतिपूर्ण हो जाय।

३ स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद

इसको जन्म देनेका महान् श्रेय वीरशासनको ही है। प्रत्येक वस्तुके खरे और खोटेकी जाँच 'अने-कान्त दृष्टि'—'स्याद्वाद' की कसौटीपर ही की जा सकती है। चूँकि वस्तु स्वय अनेकान्तात्मक है उसको वैसा माननेमे ही वस्तुतत्त्वकी व्यवस्था होती है। स्याद्वादके प्रभावसे वस्तुके स्वरूप-निर्णयमें पूरा-पूरा प्रकाश प्राप्त होता है और सकल दुर्नयो एव मिथ्या एकान्तोका अन्त हो जाता है तथा समन्वयका एक महानतम प्रशस्त मार्ग मिल जाता है। कुछ जैनेतर विचारकोंने स्याद्वादको ठीक तरह से नही समझा। इसीसे उन्होंने स्याद्वादके

खंडनमें कुछ दूषण दिये हैं। शंकराचार्यने 'एकस्मिन्नसंभवात्' द्वारा 'एक जगह दो विरोधी धर्म नहीं बन सकते हैं।' यह कहकर स्याद्वादमें विरोधदूषण दिया है। किन्हीं विद्वानोंने इसे संशयवाद, छलवाद कह दिया है, किन्तु विचारनेपर उसमें इस प्रकारके कोई भी दूषण नहीं आते हैं। स्याद्वादका प्रयोजन है यथावत् वस्तुतत्त्वका ज्ञान कराना, उसकी ठीक तरहसे व्यवस्था करना, अब ओरसे देखना और स्याद्वादका अर्थ है कथंचित्‌वाद, दृष्टिवाद, अपेक्षावाद, सर्वथा एकान्तका त्याग, भिन्न-भिन्न पहलुओंसे वस्तुस्वरूपका निरूपण, मुख्य और गौणकी दृष्टिसे पदार्थका विचार[1]। स्याद्वादमें जो 'स्यात्' शब्द है उसका अर्थ ही यही है[2] कि किसी एक अपेक्षासे—सब प्रकारसे नहीं—एक दृष्टिसे—है। 'स्यात्' शब्दका अर्थ 'शायद' नहीं है जैसा कि 'भारतीय दर्शनशास्त्रका इतिहास' के लेखक विद्वान्‌ने भी समझा है। वे अपनी इस पुस्तकमें लिखते हैं कि 'स्याद्वादका वाच्यार्थ है 'शायदवाद' अंग्रेजीमें इसे 'प्रोबेबिलिज्म' कह सकते हैं। अपने अतिरंजितरूपमें स्याद्वाद संदेहवादका भाई है[3]।" इसपर और आगे पीछेके जैनदर्शन सम्बन्धी उनके निबन्ध पर आलोचनात्मक स्वतन्त्र लेख ही लिखा जाना योग्य है। यहाँ तो केवल स्याद्वादको 'संदेहवाद' का भाई समझनेके विचारका चिंतन किया जायगा। उक्त लेखक यदि किसी जैन विद्वान्‌से 'स्याद्वाद' के 'स्यात्' शब्दके अर्थको निबन्ध लिखनेके पहिले अवगत कर लेते तो इतनी स्थूल गलती उन जैसोंसे—भारतीयदर्शनशास्त्रका अपनेको अधिकारी विद्वान् समझने वालोंसे—न होती। जैन विचारकोंने 'स्यात्' शब्दका जो अर्थ किया है वह मैं ऊपर बता आया हूँ। देवराजव्यक्तिमें अनेक सम्बन्ध विद्यमान हैं—किसीका वह मामा है तो किसीका भानजा, किसीका पिता है तो किसीका पुत्र, इस तरह उसमें कई सम्बन्ध मौजूद है। मामा अपने भानजेकी अपेक्षा, पिता अपने पुत्रकी अपेक्षा, भानजा अपने मामाकी अपेक्षा, पुत्र अपने पिताकी अपेक्षासे है, इस प्रकार देवराजमें पितृत्व, पुत्रत्व, मातुलत्व, स्वस्रीयत्व आदि धर्म निश्चित रूप ही हैं—संदिग्ध नहीं हैं और वे हर समय विद्यमान है। 'पिता' कहे जानेके समय पुत्रपना उनमेंसे भाग नहीं जाता है—सिर्फ गौण होकर रहता है। इसी तरह जब उनका भानजा उन्हें 'मामा-मामा' कहता है उस समय वे अपने मामाकी अपेक्षा भानजे नहीं मिट जाते—उस समय भानजापना उनमें गौणमात्र होकर रहता है। स्याद्वाद इस तरहसे वस्तुधर्मोंकी गुत्थियोंको सुलझाता है—उनका यथावत् निश्चय कराता है[4]—स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल भावकी अपेक्षासे ही वस्तु 'सत्'—अस्तित्ववान् है और परद्रव्य क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे ही वस्तु 'असत्'—नास्तित्ववान् है आदि सात भङ्गों द्वारा ग्रहण करने योग्य और छोड़ने योग्य (गौण कर देने योग्य) पदार्थोंका स्याद्वाद हस्तामलकवत् निर्णय करा देता है। संदेह या भ्रमको वह पैदा नहीं करता है। बल्कि स्याद्वादका आश्रय लिये बिना वस्तुतत्त्वका याथातथ्य निर्णय हो ही नहीं सकता है। अतः स्याद्वादको संदेहवाद समझना नितांत असाधारण भूल है। भिन्न दो अपेक्षाओंसे विरोधी सरीखे दीख रहे (विरोधी नहीं) दो धर्मोंके एक जगह रहनेमें कुछ भी विरोध नहीं है। जहाँ पुस्तक अपनी अपेक्षा अस्तित्वधर्मवाली है वहाँ अन्य पदार्थोंकी अपेक्षा नास्तित्वधर्मवाली भी है, पर—निषेधके बिना स्वस्वरूपास्तित्व प्रतिष्ठित नहीं हो सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि स्याद्वादमें न विरोध है और न सन्देह जैसा अन्य कोई दूषण; वह तो वस्तुनिर्णयका—तत्त्वज्ञानका अद्वितीय अमोघ शस्त्र है, सबल साधन है। वस्तु चूँकि अनेक धर्मात्मक है और उसका व्यवस्थापक स्याद्वाद है इसलिये स्याद्वादको ही अनेकान्तवाद भी कहते हैं। किन्तु 'अनेकान्त' और 'स्याद्वाद'में वाच्य–वाचक–सम्बन्ध है।

---

१. आप्तमीमांसा का० १०४।
२. आप्तमीमांसा का० १०३।
३. 'भारतीय दर्शनशास्त्रका इतिहास', पृ० १३५।
४. देखो, आप्तमीमांसा का० १५।

४. कर्मवाद

कर्म जड़ है, पौद्गलिक है, उसका जीवके साथ अनादिकालिक सम्बन्ध है। कर्मकी वजहसे ही जीव पराधीन है और सुखदुःखका अनुभव करता है। वह कर्मसे अनेक पर्यायोंको धारण करके चतुर्गति संसारमें घूमता है। कभी ऊँचा बन जाता है तो कभी नीचा, दरिद्र होता है तो कभी अमीर, मूर्ख होता है तो कभी विद्वान्, अन्धा होता है तो कभी बहिरा, लंगडा होता है तो कभी बौना, इस तरह शुभाशुभ कर्मोंकी बदौलत दुनियाके रंगमंचपर नटकी तरह अनेकों भेषोंको धारण करता है—अनगिनत पर्यायोंमे उपजता और मरता है। यह सब कर्मकी विडम्बना—कर्मकी प्रपञ्चना है। वीरशासनमें कर्मके मूल और उत्तरभेद और उनके भी भेदोंका बहुत ही सुन्दर, सूक्ष्म, विशद विवेचन किया है। बंध, बंधक, बन्ध्य और बन्धनीय तत्त्वोंपर गहरा विचार किया है। जीव कैसे और कब कर्मबंध करता है इन सभी बातोंका चिंतन किया गया है। कर्मवादसे हमें शिक्षा मिलती है कि हम स्वयं ऊँचे उठ सकते हैं और स्वयं ही नीचे गिर सकते हैं।

वीरशासनमें जीवादि सात तत्त्वों, सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग और प्रमाण, नय, निक्षेप आदि उपायतत्त्वोंका भी बहुत ही सम्बद्ध एवं संगत, विशद व्याख्यान किया गया है। प्रमाणके दो (प्रत्यक्ष और परोक्ष) भेद करके उन्हींमें अन्य सब प्रमाणोंके अन्तर्भावकी विभावना कितने सुन्दर एवं युक्तिपूर्ण ढंगसे की गई है, वह एक निष्पक्ष विचारकको आकर्षित किये बिना नहीं रहती है। नयवाद तो जैन दर्शनकी अन्यतम महत्त्वपूर्ण देन है। वस्तुके अंशज्ञानको नय कहते हैं। वे नय अनेक हैं। वस्तुके भिन्न-भिन्न अंशोंको ग्रहण करने वाले नय ही हैं। ज्ञाताकी हमेशा प्रमाण-दृष्टि नहीं रहती है। कभी उसका वस्तुके किसी खास धर्मको ही जाननेका अभिप्राय होता है, उस समय उसकी नय-दृष्टि होती है और इसीलिये ज्ञाताके अभिप्रायको जैन दर्शनमें नय माना है। चूँकि वक्ताकी वचन-प्रवृत्ति भी क्रमशः होती है—वचनों द्वारा वह एक अंशका ही प्रतिवचन कर सकता है। इसलिये वक्ताके वचन-व्यवहारको भी जैनदर्शनमें 'नय' माना है। अतएव ज्ञानात्मक और वचनात्मकरूपसे अथवा ज्ञाननय और शब्दनयके भेदसे नय वर्णित हैं। इस तरह वीरशासन वैज्ञानिक एवं तात्त्विक शासन है। उसके अहिंसा, स्याद्वाद जैसे विश्वप्रिय सिद्धान्तोंसे उसकी उपयोगिता एवं आवश्यकता भी अधिक प्रकट होती है।

वीरशासनके अनुयायी हम जैनोंका परम कर्त्तव्य है कि भगवान् वीरके द्वारा उपदेशित उनके 'सर्वोदय तीर्थ' को विश्वमें चमत्कृत करें और उनके पवित्र सिद्धान्तोंका स्वयं ठीक तरह पालन करें तथा दूसरोंको पालन करावें और उनके शासनका प्रसार करें।

●

भगवान् महावीरका अध्यात्मिक मार्ग

धर्मका ह्रास, समाजका ह्रास, देशका ह्रास जब चरम सीमाको प्राप्त हो जाता है उस समय किसी अनोखे महापुरुषका अवतार-जन्म-प्रादुर्भाव होता है और वह अपने असाधारण प्रभावसे उस ह्रासको दूर करनेमें समर्थ होता है। वास्तवमें उस पुरुषमें महापुरुषत्व भी इसी समय प्रकट होता है और अनेकानेक शक्तियों तथा परमोच्च गुणोंका पूर्ण विकास भी तभी होता है। वह अपने समूचे जीवनको लोक-हितमें समर्पित कर देता है।

भगवान् महावीर ऐसे ही महापुरुषोंमें हैं। उन्होंने अपने जीवनके प्रत्येक क्षणको लोक-हितमें लगाया था। विश्वको आत्मकल्याणका सन्देश दिया था। उस समय विविध मतोंकी असमञ्जसता तीव्र गतिसे चल रही थी। धर्मका स्थान सम्प्रदाय तथा जातिने घेर लिया था। एक सम्प्रदाय एवं जाति दूसरे सम्प्रदाय एवं जातिको अपना शत्रु समझती थी। आजसे भी अधिकतम साम्प्रदायिकताकी तीव्र अग्नि उस समय धधक रही थी। दार्शनिक सिद्धान्तोंसे स्पष्ट मालूम होता है कि बौद्ध और ब्राह्मण (याज्ञिक) आपसमें एक दूसरेको अपना लक्ष्य (वेध्य-भक्ष्य) समझते थे। आजके हिन्दू और मुसलमानों जैसी स्थिति थी। याज्ञिक यज्ञोंमें निरपराध पशुओंके हवनको धर्म बताते थे। उनके विरुद्ध बौद्ध याज्ञिक हिंसाको अधर्म और पापकृत्य बताते थे।

युक्तिवादको लेकर याज्ञिक कहते कि :—

"वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, आत्मनो नित्यत्वात्" वेदविहित हिंसा हिंसा (जीवघात) नहीं है, क्योंकि आत्मा नित्य है, अमर है, उसका विनाश नहीं होता। भौतिक शरीर, इन्द्रिय, प्राण आदिका ही विनाश होता है। इसकी पुष्टि करनेके लिये वे एड़ीसे चोटी तक पसीना बहाते थे। उधर बौद्ध भी युक्तिवादमें कम नहीं थे। वे भी "सर्वं क्षणिकं सत्वात्" समस्त चीजें नाशशील हैं क्योंकि सत् हैं—इस स्वकल्पित सिद्धान्तकी भित्तिपर "वैदिकी हिंसा हिंसा अस्त्येव आत्मनोऽनित्यत्वात्" 'वेद में कही हिंसा जीवघात ही है क्योंकि आत्मा अनित्य है, मरती है, उसका विनाश होता है' इस सिद्धान्तको झट रखकर उनका खंडन कर देते थे। यही कारण है कि याज्ञिकोंको बौद्धोंके प्रति प्रतिहिंसाके भावोंको लेकर उनके पराजित करनेके लिये छल, जाति, निग्रहस्थानोंकी सृष्टि करनी पड़ी, फिर भी वे इस दिशामें असफल रहे।

भगवान महावीर ऐसी-ऐसी अनेकों विषम स्थितियों, उलझनोंको तीस वर्षकी आयु तक अपनी चर्म-चक्षुओं और ज्ञानचक्षुओंसे देखते-देखते ऊब गये, उनकी आत्मा तिलमिला उठी, अब वे इन विषमताओं, अन्यायों, अत्याचारोंको नहीं सह सके। फलतः संसारके समस्त सुखोंपर लात मार दी, न विवाह किया, न राज्य किया और न साम्राज्यके ऐश्वर्यको भोगा। ठीक है लोकहितकी भावनामें सने हुए पुरुषको इन्द्रिय-सुखकी बातें कैसे सुहा सकती है। सुखको भोगना या जनताके कष्टोंको दूर करना दोनोंमेंसे एक ही हो सकता है।

भगवान् महावीर संसार, शरीर, विषय-भोगोंसे विरक्त होकर पहले अपनेको पूर्ण बनानेके लिये उन्मुख हुये, क्योंकि वे अच्छी तरह समझते थे कि मैं अपूर्ण अवस्था और साम्राज्यशक्तिसे लोकका पूरा-पूरा हित नही कर सकता हूँ। भले ही साम्राज्यशक्तिसे तात्कालिक याज्ञिक हिंसा बन्द हो जावे, पर यह असर उनके शरीर तक ही सीमित रहेगा, आत्मा तक नही पहुँचेगा। आदेशका असर शरीर तक ही सीमित रहता है जबकि उपदेशका असर आत्मापर होता है और चिरस्थायी होता है। इन सब बातोंको विचारकर भगवान् महावीरने साम्राज्य-शक्तिको न आजमाकर आत्मशक्तिको ही आजमानेका सफल प्रयत्न किया। फलतः लगातार १२ वर्षकी कठोर तपश्चर्याके बाद उन्हें पूर्णत्वकी प्राप्ति हो गई और वे सर्वज्ञ कहे जाने लगे।

भगवान् महावीरने उक्त असमञ्जसताओंको दूर करनेवाले सफल तथ्य साधन स्याद्वाद (अपेक्षा-वाद) के द्वारा समन्वय करना शुरू किया और उनके एकान्त मन्तव्योंका समुचित निरसन किया। केवल आत्माकी नित्यता या अनित्यता वैदिक हिंसाका विधान या निषेध नही कर सकती है। विधान और नित्यता, निषेध और अनित्यतामें व्याप्ति नहीं हैं। यह नही कहा जा सकता है कि आत्मा नित्य हैं इसलिए वैदिक हिंसाके करनेमें कोई दोष-जीवघात नही है, वैदिक हिंसा वैध है और यह भी नही कहा जा सकता है कि आत्मा अनित्य हैं इसलिये वैदिक हिंसा दोष—जीवघात है—वैदिक हिंसा निषिद्ध है। नित्यता और अनित्यता परस्परमें सप्रतिपक्ष है।

अतः इस प्रकारसे समझना चाहिये कि आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी। चैतन्यस्वरूप आत्म-द्रव्य हर अवस्थाओंमे रहता है उसका विनाश नही होता है, लेकिन अवस्थायें—पर्यायें बदलती रहती हैं, उनका विनाश होता है और ये पर्यायें आत्मद्रव्यसे पृथक् नहीं की जा सकती हैं, इसलिये अभिन्न हैं और द्रव्य पर्यायका भेद सुप्रतीत होता है, इसलिए भिन्न भी हैं। यज्ञोंमें किया गया पशुवध अवश्य हिंसा—जीवघात है क्योंकि शरीरादिके नाश होनेपर आत्माका भी नाश होता है। जैसे तिलमें तेल सर्वत्र व्याप्त होकर रहता है उसी प्रकार शरीरके अवयवोंमे आत्मा व्याप्त होकर रहती है। यही बात है कि अंगुली आदिके कट जानेपर कष्ट होता है, वेदना होती है। हिंसाका अर्थ ही जीवघात है, केवल घात या विनाश नही। इसीलिये हिंसा शब्दका प्रयोग अचेतन जड़पदार्थोंमें नही होता है। अतः स्पष्ट है कि यज्ञोंमे किया गया पशुवध जीवघात है क्योंकि वह संकल्पपूर्वक—जान-बूझकर किया जाता है प्रसिद्ध कसाइयोंके पशुवधके समान। यद्यपि घर-बार बनाने, कुटुम्ब परिपालन करने, आजीविकोपार्जन करने, मन्दिर आदिके निर्माण करानेमे भी हिंसा—जीवघात होता है। पर यह हिंसा गृहस्थपदकी हैसियतसे क्षम्य है, अनिवार्य है, असंकल्पपूर्वक है, साधुपदकी हैसियतसे तो यह भी अक्षम्य एवं निवार्य है, तब धर्मकी ओटमें यज्ञोंमें याज्ञिक गृहस्थों द्वारा की जानेवाली निवार्य सकल्पी हिंसा कैसे जायज हो सकती है या वैध कही जा सकती है? दूसरी बात यह है कि वेदमे कही हिंसा धर्म नही है, उससे अपने तथा दूसरोंको वेदना—दुःख उत्पन्न होता है, राग-द्वेष आदि प्रमत्त भावोंसे की जाती है। हिंसा कभी भी धर्म नही है और न हुई है और न होगी। अहिंसा ही आत्माका निज धर्म है और वही प्राणियोंको संसार-समुद्रसे पार उतारनेवाली है। संसारकी वह पुस्तक धर्मपुस्तक नही है जिसमें हिंसाका प्रतिपादन है। वह केवल एकदेशीय लोगों द्वारा जनताको ठगनेके लिये लिखी गई है। अतः स्पष्ट है कि यज्ञोंमें किया गया पशुवध धर्म नही है। हाँ, यदि यज्ञ करना ही है तो निम्न प्रकारका यज्ञ करो—अपनी अन्तरात्माको कुण्ड बनाओ, उसमे ध्यानरूपी अग्नि जलाओ और उसे इन्द्रियोंके निग्रहरूप दमरूपी पवनसे उद्दीपित करो तथा उसमें अशुभकर्मरूपी ईंधनकी आहुति दो। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षको नष्ट करनेवाले कषायरूपी पशुओंका शमरूपी मन्त्रोंका उच्चारण करके हवन करो। ऐसा आत्मयज्ञ ही विद्वानों द्वारा विधेय है। कर्म-

विमुक्तिका सीधा मार्ग है। मूतयज्ञ—पशुयज्ञ तुम्हारी कर्मविमुक्तिका मार्ग नहीं है, प्रत्युत कर्म-युक्तिका मार्ग है, दुर्गतिका कारण है। अतः यज्ञोंमें किया गया पशु-वध धर्म नहीं है।

बौद्धोंका आत्माको सर्वथा क्षणिक मानना प्रत्यक्ष-प्रमाणसे बाधित है। प्रत्यक्षसे समस्त पदार्थ स्थिर स्थूल प्रतीत होते हैं। "असत्का उत्पाद नहीं होता है और सत्का विनाश नहीं होता" अर्थात् जो नहीं है वह उत्पन्न नही हो सकता और जो है—जिसका सद्भाव है उसका सर्वथा विनाश—अभाव नहीं हो सकता। इस सिद्धान्तके अनुसार आत्मा जब सद्—सद्भावरूप है तो उसका सर्वथा विनाश नहीं हो सकता। पर्यायरूपसे नाश होनेपर भी द्रव्यरूपसे उसका अवस्थान बना ही रहता है। अत. आत्माकी अनित्यताको लेकर वैदिक हिंसाका निषेध नहीं हो सकता। उसका तो उपर्युक्त ढंगसे ही निषेध हो सकता है। इस प्रकार भगवान् महावीरने ऐसी-ऐसी अनेकों समस्यायें हल की और विश्वको समभाव द्वारा सन्मार्गपर लगाया। भगवान् महावीरके ही सिद्धान्तोंपर महात्मा गांधी चले और समस्त राष्ट्रको चलाया है।

सत्य और अहिंसा आत्माकी अपनी विभूति हैं। उन्हे हम भूले हुए हैं। भगवान् महावीर द्वारा प्रदर्शित सत्य और अहिंसाका आलोक स्थायी आलोक है। उसे हमें पूर्ण नैतिकताके साथ प्राप्त करना चाहिये। हमें भगवान् महावीरके पूर्ण कृतज्ञ होना चाहिये तथा उनके आदर्शों—उसूलों—सिद्धान्तोंका हार्दिकतासे अनुशीलन करना चाहिये।
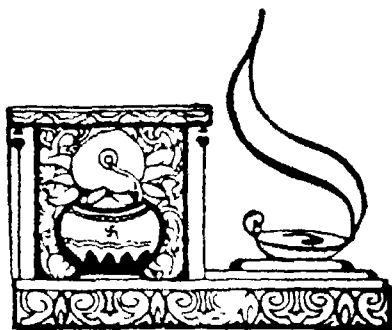
महावीरका आचार-धर्म

महावीर और तत्कालीन स्थिति

लोकमें महापुरुषोका जन्म जन-जीवनको ऊँचा उठाने और उनका हित करनेके लिए होता है। भगवान् महावीर ऐसे ही महापुरुष थे। उनमें लोक-कल्याणकी तीव्र भावना, असाधारण प्रतिभा, अद्वितीय तेज और अनुपम आत्मबल था। बचपनसे ही उनमे अलौकिक धार्मिक भाव और सर्वोदयकी सातिशय लगन होनेसे नेतृत्व, लोकप्रियता और अद्भुत संगठनके गुण विकसित होने लगे थे। भौतिकताके प्रति उनकी न आसक्ति थी और न आस्था। उनका विश्वास आत्माके केवल अमरत्वमें ही नही, किन्तु उसके पूर्ण विकसित रूप परमात्मत्वमें भी था। अतएव वे इन्द्रिय-विषयोंको तापकृत् और तृष्णाभिवर्द्धक मानते थे। एक लोक-पूज्य एव सर्वमान्य ज्ञातृवंशी क्षत्रिय घरानेमें उत्पन्न होकर और वहाँ सभी सामग्रियोंके सुलभ होनेपर भी वे राजमहलोंमे तीस वर्ष तक **'जलमें भिन्न कमल'** की भाँति अथवा गीताके शब्दों में **'स्थितप्रज्ञ'** की तरह रहे, पर उन्हे कोई इन्द्रिय-विषय लुभा न सका। उनकी आँखोंसे बाह्य स्थिति भी ओझल न थी। राजनैतिक स्थिति यद्यपि उस समय बहुत ही सुदृढ़ और आदर्श थी। नौ लिच्छिवियोंका संयुक्त एवं संगठित शासन था और वे बड़े प्रेम एवं सहयोगसे अपने गणराज्यका संचालन करते थे। राजा चेटक इस गणराज्यके सुयोग्य अध्यक्ष थे और वैशाली उनकी राजधानी थी। वैशाली राजनैतिक हलचलों तथा लिच्छवियोंकी प्रवृत्तियोंकी केन्द्र थी। पर सबसे बड़ी जो न्यूनता थी वह यह थी कि शासन समाज और धर्मके मामलेमें मौन था— उसमें कोई हस्तक्षेप नही कर सकता था। फलतः सामाजिक और धार्मिक पतन पराकाष्ठाको पहुँच चुका था तथा दोनोंकी दशा अत्यन्त विरूप रूप धारण कर चुकी थी। छुआछूत, जातीयता और ऊँच-नीचके भेदने समाज तथा धर्मकी जड़ोंको खोखला एवं जर्जरित बना दिया था। अज्ञान, मिथ्यात्व, पाखण्ड और अधर्मने अपना डेरा डाल रखा था। इस बाह्य स्थितिने भी भगवान् महावीरकी आँखोंको अद्भुत प्रकाश दिया और वे तीस वर्षकी भरी जवानीमे ही समस्त वैषयिक सुखोपभोगोको त्यागकर और उनसे विरक्ति धारण कर साधु बन गये थे। उन्होंने अनुभव किया था कि गृहस्थ या राजाके पदकी अपेक्षा साधुका पद अत्यन्त उन्नत है और इस पदमें ही तप, त्याग तथा संयमकी उच्चाराधना की जा सकती है और आत्माको **'परमात्मा'** बनाया जा सकता है। फलस्वरूप उन्होंने बारह वर्ष तक कठोर तप और सयमकी आराधना करके अपने चरम लक्ष्य वीतराग-सर्वज्ञत्व अथवा परमात्मत्वकी शुद्ध एवं परमोच्च अवस्थाको प्राप्त किया था।

महावीर द्वारा आचारधर्मकी प्रतिष्ठा

उन्होंने जिस **'सुपथ'** पर चलकर इतनी ऊँची उन्नति की और असीम ज्ञान एवं अक्षय आनन्दको प्राप्त किया, उस **'सुपथ'** को जनकल्याणके लिए भी उन्होंने उसी तरह प्रदर्शित किया, जिस तरह सद्वैद्य बडे परिश्रम और कठोर साधनासे प्राप्त अपने अनुपम चिकित्सा-ज्ञान द्वारा करुणा-बुद्धिसे रोग-पीड़ित लोगोंका रोगोपशमन करता है और उन्हे जीवन-दान देता है। महावीरके **'आचार-धर्म'** पर चलकर प्रत्येक व्यक्ति लौकिक और पारलौकिक दोनों ही प्रकारके हितोंको कर सकता है। आजके इस चाकचिक्य एवं

भौतिकता-प्रिय जगत्में उनके 'आचार-धर्म' के आचरणकी बड़ी आवश्यकता है। महाभारतके एक उपाख्यान-में निम्न श्लोक आया है :

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन, यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

मैं धर्मको जानता हूँ, पर उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती और अधर्मको भी जानता हूँ, लेकिन उससे निवृत्ति नहीं। हृदयमें स्थित कोई देव जैसी मुझे प्रेरणा करता है, वैसा करता हूँ।'

यथार्थतः यही स्थिति आज अमनीषी और मनीषी दोनोंकी हो रही है। बाह्यमें वे भले ही धर्मात्मा हों, पर अन्तस् प्रायः सभीका तमोव्याप्त है। परिणाम यह हो रहा है कि प्रत्येक व्यक्तिकी नैतिक और आध्यात्मिक चेतना शून्य होती जा रही है और भौतिक चेतना एवं वैषयिक इच्छाएँ बढ़ती जा रही हैं। यदि यही भयावह दशा रही तो मानव-समाजमें न नैतिकता रहेगी और न आध्यात्मिकता तथा न वैसे व्यक्तियोंका सद्भाव कहीं मिलेगा। अतः इस भौतिकताके युगमें भगवान् महावीरका 'आचारधर्म' विश्वके मानव समाजको बहुत कुछ आलोक दे सकता है—आध्यात्मिक एवं नैतिक मार्गदर्शन कर सकता है। उसके आचरणसे मानव नियत मर्यादामें रहता हुआ ऐन्द्रियिक विषयोंको भोग सकता है और जीवनको नैतिक तथा आध्यात्मिक बनाकर उसे सुखी, यशस्वी और सब सुविधाओंसे सम्पन्न भी बना सकता है। दूसरोंको भी वह शान्ति और सुख प्रदान कर सकता है।

अहिंसक व्यवहारकी आवश्यकता

मानव-समाज सुख और शान्तिसे रहे, इसके लिए महावीरने अहिंसा धर्मका उपदेश दिया। उन्होंने बताया कि दूसरोंको सुखी देखकर सुखी होना और दुखी देखकर दुखी होना ही पारस्परिक प्रेमका एकमात्र साधन है। प्रत्येक मनुष्यका कर्त्तव्य है कि वह किसी भी मनुष्य, पशु या पक्षी, यहाँतक कि छोटे-से-छोटे जन्तु, कीट, पतंग आदिको भी न सताये। प्रत्येक जीव सुख चाहता है और दुखसे बचना चाहता है। इसका शक्य उपाय यही है कि वह स्वयं अपने प्रयत्नसे दूसरोंको दुखी न करे और सम्भव हो तो उन्हें सुखी बनानेकी ही चेष्टा करे। ऐसा करनेपर वह सहजमें सुखी हो सकता है। अतः पारस्परिक अहिंसक व्यवहार ही सुखका सबसे बड़ा और प्रधान साधन है। इस अहिंसक व्यवहारको स्थायी बनाये रखनेके लिए उसके चार उपसाधन हैं।

१. पहला यह कि किसीको धोखा न दिया जाय, जिससे जो कहा हो, उसे पूरा किया जाय। ऐसे शब्दोंका भी प्रयोग न किया जाय, जिससे दूसरोंको मार्मिक पीड़ा पहुँचे। जैसे अन्धेको अन्धा कहना या काणेको काणा कहना सत्य है, पर उन्हें पीड़ा-जनक है।

२. दूसरा उपसाधन यह है कि प्रत्येक मनुष्य अपने परिश्रम और न्यायसे उपार्जित द्रव्यपर ही अपना अधिकार माने। जिस वस्तुका वह स्वामी नहीं है और न उसे अपने परिश्रम तथा न्यायसे अर्जित किया है उसका वह स्वामी न बने। यदि कोई व्यवसायी व्यक्ति उत्पादक और परिश्रमशील प्रजाका न्याय-युक्त भाग हड़पता है तो वह व्यवसायी नहीं। व्यवसायी वह है जो न्यायसे द्रव्यका अर्जन करता है। छल-फरेब, धोखाधड़ी या जोरजबर्दस्तीसे नहीं। अन्यथा वह प्रजाकी अशान्ति तथा कलहका कारण बन जायगा। अतः न्यायविरुद्ध द्रव्यका अर्जन दुख तथा संक्लेशका बीज है, उसे नहीं करना चाहिए।

३. तीसरा यह है कि प्रत्येक व्यक्ति (स्त्री-पुरुष) को भोगोंमें आसक्त नहीं होना चाहिए। भोगोंमें आसक्त व्यक्ति अपना तथा दूसरोंका अहित करता है। वह न केवल अपना स्वास्थ्य ही नष्ट करता है, अपितु ज्ञान, विवेक, त्याग, पवित्रता, उच्चकुलीनता आदि कितने ही सद्गुणोंका भी नाश करता है और भावी सन्तानको निर्बल बनाता है तथा समाजमें दुराचार एवं दुर्बलताको प्रश्रय देता है। अतः प्रत्येक पुरुषको अपनी पत्नीके साथ और प्रत्येक स्त्रीको अपने पतिके साथ संयमित जीवन बिताना चाहिए।

४. चौथा यह है कि संचयवृत्तिको सीमित करना चाहिए, क्योंकि आवश्यकतासे अधिक संग्रह करनेसे मनुष्यकी तृष्णा बढ़ती है तथा समाजमें असन्तोष फैलता है। यदि वस्तुओंका अनुचित रीतिसे संग्रह न किया जाय और प्राप्तपर सन्तोष रखा जाय तो दूसरोंको जीवन-निर्वाहके साधनोंकी कमी नहीं पड़ सकती।

इस तरह अहिंसाको जीवनमें लानेके लिए सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाण इन चार नियमोंका पालन करना आवश्यक है। उनके बिना अहिंसा पल नही सकती—पूर्णरूपमें वह जीवनमे नही आ सकती। यही पाँच व्रत भगवान् महावीरका आचार-धर्म है।

आचार-धर्मका मूलाधार : अहिंसा

ऊपर देख चुके हैं कि इस आचार-धर्मका मूलाधार '**अहिंसा**' है, शेष चार व्रत तो उसी तरह उसके रक्षक हैं जिस तरह खेतीकी रक्षाके लिए बाढ (वारी) लगा दी जाती है। यह देखा जाता है कि गलत बात कहने, कटु बोलने, असंगत कहने और अधिक बोलनेसे न केवल हानि ही उठानी पड़ती है किन्तु कलुषता, अविश्वास और कलह भी उत्पन्न हो जाते है। जो वस्तु अपनी नही, उसे बिना मालिककी आज्ञासे ले लेनेपर वस्तुके स्वामीको दुःख और रोष होता है। परपुरुष या परस्त्री गमन भी अशान्ति तथा तापका कारण है। परिग्रहका आधिक्य तो स्पष्टतः संक्लेश और आपत्तियोंका जनक है। इस प्रकार असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह ये चारों ही पापवृत्तियाँ हिंसाके बढ़ानेमें सहायक हैं। इसलिए इनके त्यागमे अहिंसाके ही पालनका लक्ष्य निहित है। अतएव अहिंसाको 'परम धर्म' कहा गया है।

द्रव्यहिंसा और भावहिंसा

अहिंसाके स्वरूपको समझनेके लिये हमें पहले हिंसाका स्वरूप समझ लेना आवश्यक है। भगवान् महावीरने हिंसाकी व्याख्या करते हुए बतलाया कि '**प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा**' अर्थात् दुष्ट अभिप्रायसे प्राणीको चोट पहुँचाना हिंसा है। सामान्यतया हिंसा चार प्रकारकी है—संकल्पी, आरंभी, उद्योगी और विरोधी। इन चारों हिंसाओंमें '**चोट पहुँचाना**' समान है, पर संकल्पी (जानबूझकर की जानेवाली) हिंसामे दुष्ट अभिप्राय होनेसे उसका गृहस्थके लिए त्याग और शेष तीन हिंसाओंमें दुष्ट अभिप्राय न होनेसे उनका अत्याग बतलाया गया है। वास्तवमे उन तीन हिंसाओंमें केवल द्रव्यहिंसा होती है और संकल्पी हिंसामे द्रव्य हिंसा और भावहिंसा दोनों ही हिंसाएँ होती हैं। जैनधर्ममें बिना भावहिंसाके कोरी द्रव्य-हिंसाको पापबन्धका कारण नहीं माना गया है। गृहस्थ अपने और परिवारके भरण-पोषणके लिए आरम्भ तथा उद्योग करता है और कभी-कभी अपनी, अपने परिवार, अपने समाज और अपने राष्ट्रकी रक्षाके लिए आक्रान्तासे लड़ाई भी लड़ता है और उसमे हिंसा होती ही है। परन्तु आरम्भ, उद्योग और विरोधके करते समय उसका दुष्ट अभिप्राय न होनेसे वह अहिंसक है तथा उसकी ये हिंसाएँ क्षम्य है, क्योंकि उसका लक्ष्य केवल न्याययुक्त भरण-पोषण तथा रक्षाका होता है। अतएव जैनधर्मके अनुसार अपने द्वारा किसी प्राणीके मर जाने या दुखी होनेसे ही हिंसा नहीं होती। संसारमे सर्वत्र जीव पाये जाते हैं और वे

अपने निमित्तसे मरते भी रहते हैं। फिर भी जैनधर्म इस 'प्राणिघात' को हिंसा नहीं कहता। यथार्थमें 'हिंसात्मक परिणाम' ही हिंसा है। एक किसान प्रात:से शाम तक खेतमें हल जोतता है और उसमें बीसियों जीवोंका घात होता है, पर उसे हिंसक नहीं कहा गया। किन्तु एक मछुआ नदीके किनारे सुबहसे सूर्यास्त तक जाल डाले बैठा रहता है और एक भी मछली उसके जालमे नहीं आती। फिर भी उसे हिंसक माना गया है। इसका कारण स्पष्ट है। किसानका हिंसाका भाव नहीं है—उसका भाव अनाज उपजाने का है और मछुआका भाव प्रतिसमय तीव्र हिंसाका रहता है। जैन विद्वान् आशाधरने निम्न श्लोकमे यही प्रदर्शित किया है :

> विष्वग्जीव-चिते लोके क्व चरन् कोऽप्यमोक्ष्यत।
> भावैकसाधनौ बन्ध-मोक्षौ चेन्नाभविष्यताम्॥

'यदि भावोंपर बन्ध और मोक्ष निर्भर न हो तो सारा संसार जीवराशिसे खचाखच भरा होनेसे कोई मुक्त नही हो सकता।'

जैनागममें स्पष्ट कहा गया है :—

> मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
> पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स॥

'जीव मरे या चाहे जिये, असावधानीसे काम करनेवाले व्यक्तिको नियमसे हिंसाका पाप लगता है। परन्तु सावधानीसे प्रवृत्ति करनेवालेको हिंसा होनेमात्रसे हिंसाका पाप नही लगता।'

जैनके पुराण युद्धोंसे भरे पडे है और उन युद्धोमें अच्छे अणुव्रतियोंने भाग लिया है। पद्मपुराणमें लड़ाईपर जाते हुए क्षत्रियोंके वर्णनमे एक सेनानीका चित्रण निम्न प्रकार किया है—

> सम्यग्दर्शनसम्पन्नः शूरः कश्चिदणुव्रती।
> पृष्ठतो वीक्ष्यते पत्न्या पुरस्त्रिदशकन्यया॥

'एक सम्यग्दृष्टि और अणुव्रती सिपाही जब युद्धमे जा रहा है, तो उसे पीछेसे उसकी पत्नी देख रही है और विचारती है कि मेरा पति कायर बनकर युद्धसे न लौटे—वही वीरगति प्राप्त करे और सामनेसे देवकन्या देखती है—यह वीर देवगति पाये और चाह रही है कि मैं उसे वरण करूं।'

यह सिपाही सम्यग्दृष्टि भी है और अणुव्रती भी। फिर भी वह युद्धमे जा रहा है, जहाँ असंख्य मनुष्योंका घात होगा। इस सिपाहीका उद्देश्य मात्र आक्रान्तासे अपने देशकी रक्षा करना है। दूसरेके देशपर हमला कर उसे विजित करने या उसपर अधिकार जमाने जैसा दुष्ट अभिप्राय उसका नही है। अतः वह द्रव्य-हिंसा करता हुआ भी अहिंसा-अणुव्रती बना हुआ है। उसके अहिंसा-अणुव्रतमें कोई दूषण नहीं आता।

जैन धर्ममें एक 'समाधिमरण' व्रतका वर्णन आता है, जो आयुके अन्तमें और कुछ परिस्थितियोंमें जीवन-भर पाले हुए आचार-धर्मकी रक्षाके लिए ग्रहण किया जाता है। इस व्रतमे द्रव्य-हिंसा तो होती है पर भाव-हिंसा नही होती; क्योंकि उक्त व्रत उसी स्थितिमें ग्रहण किया जाता है, जब जीवनके बचनेकी आशा नही रहती और आत्मधर्मके नष्ट होनेकी स्थिति उपस्थित हो जाती है। इस व्रतके धारकके परिणाम संक्लिष्ट न होकर विशुद्ध होते हैं। वह उसी प्रकार आत्मधर्म-रक्षाके लिए आत्मोत्सर्ग करता है जिस प्रकार एक बहादुर वीर सेनानी राष्ट्र-रक्षाके लिए हँसते-हँसते आत्मोत्सर्ग कर देता है और पीठ नहीं

फेरता। यही कारण है कि इस व्रतका धारक वीर सेनानीकी भाँति अहिंसक माना गया है। यदि कोई व्यक्ति इस व्रतका दुरुपयोग करता है तो किसी भी अच्छी बातका दुरुपयोग हो सकता है। बंगालमें '**अन्तक्रिया**' का बहुत दुरुपयोग होता था। अनेक लोग वृद्धा स्त्रीको गंगा किनारे ले जाते थे और उससे कहते थे—'हरि बोल।' अगर उसने 'हरि' बोल दिया तो उसे जीते ही गंगामें बहा देते थे। परन्तु वह 'हरि' नहीं बोलती थी, इससे उसे बार-बार पानीमें डुबा-डुबाकर निकालते थे और जब तक वह 'हरि' न बोले तब तक उसे इसी प्रकार परेशान करते थे, जिससे घबराकर वह 'हरि' बोल दिया करती थी और वे लोग उसे स्वर्ग पहुँचा देते थे। '**अन्तक्रिया**' का यह दुरुपयोग ही था। समाधिमरणव्रतका भी कोई दुरुपयोग कर सकता है। परन्तु दुरुपयोगके डरसे अच्छे कामका त्याग नहीं किया जाता। किन्तु यथासाध्य दुरुपयोगको रोकनेके लिए कुछ नियम बनाये जाते हैं। समाधिमरणव्रतके विषयमें भी जैनधर्ममें नियम बनाये गये हैं। अनशन कितना महत्त्वपूर्ण एव आत्मशुद्धि और प्रायश्चित्तका साधन है। गांधीजी उसका प्रयोग आत्मशुद्धिके लिए किया करते थे। किन्तु अपनी बात मनवाने के लिए आज उसका भी दुरुपयोग होने लगा है। लेकिन इस दुरुपयोगसे अनशनका न महत्त्व कम हो सकता है और न उसकी आवश्यकता समाप्त हो सकती है।

इस विवेचनसे हम द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसाके अन्तरको सहजमें समझ सकते हैं और भाव-हिंसाको ही हिंसा जान सकते हैं। लेकिन इसका यह मतलब नही है कि जैनधर्ममें द्रव्यहिंसाकी छूट दे दी गई है। यथा शक्य प्रयत्न उसको भी बचानेके लिए उपदेश दिया गया है और आचार-शुद्धिमें उसका बडा स्थान माना गया है। इस द्रव्यहिंसाके हो जानेपर व्रती (गृहस्थ और साधु दोनों) प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्त करते है। छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े सभी जीवोंसे क्षमा-याचना की जाती है और प्रायश्चित्तमे स्वयं या गुरुसे कृतापराधके लिए दण्ड स्वीकार किया जाता है। जान पडता है कि जैनोंके इस प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्तका पारसी धर्मपर भी प्रभाव पड़ा है। उनके यहाँ भी पश्चात्ताप करनेका रिवाज है। इस क्रियामे जो मंत्र बोले जाते है उनमेंसे कुछका भाव इस प्रकार है—'धातु उपधातुके साथ जो मैंने दुर्व्यवहार किया हो, उसका मैं पश्चात्ताप करता हूँ।' 'जमीनके साथ जो मैंने अपराध किया हो, उसका मैं पश्चात्ताप करता हूँ।' 'पानी अथवा पानीके अन्य भेदोंके साथ जो मैंने अपराध किया हो, उसका मैं पश्चात्ताप करता हूँ।' 'वृक्ष और वृक्षके अन्य भेदोके साथ जो मैंने अपराध किया हो, उसका मैं पश्चात्ताप करता हूँ।' 'महताब, आफ़ताब, जलती अग्नि आदिके साथ जो मैंने अपराध किया हो, मैं उसका पश्चात्ताप करता हूँ।' पारसियोंका यह विवेचन जैन-धर्मके प्रतिक्रमणसे मिलता-जुलता है, जो पारसी धर्मपर जैन धर्मके प्रभावका स्पष्ट सूचक है। अत. भाव-हिंसाको छोड़े बिना जिस तरह कोई व्यक्ति अहिंसक नही हो सकता, उसी तरह द्रव्य-हिंसाको छाडे बिना निर्दोष आचार-शुद्धि नही पल सकती। इसलिए दोनों हिंसाओंको बचानेके लिए सदा प्रयत्न करना चाहिए।

आचार-धर्मके आधार : गृहस्थ और साधु

इस तरह अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच व्रत हैं। इन व्रतोंको गृहस्थ और साधु दोनों पालते हैं। गृहस्थ इन्हें एक देशरूपसे और साधु पूर्णरूपसे पालन करते हैं। गृहस्थके ये व्रत अणुव्रत कहलाते हैं और साधुके महाव्रत। साधुका क्षेत्र विस्तृत होता है। उसकी सारी प्रवृत्तियां सर्वजन-हिताय और सर्वोदयके लिए होती हैं। वह ज्ञान, ध्यान और तपमें रत रहता हुआ वर्गसे, समाजसे और राष्ट्रसे बहुत ऊँचे उठ जाता है, उसकी दृष्टिमे ये सब संकीर्ण क्षेत्र हो जाते हैं। समाजसे वह कम लेकर और उसे अधिक देकर कृतार्थ होता है। लेकिन गृहस्थपर अनेक उत्तरदायित्व हैं। अपनी प्राणरक्षाके अलावा उसके कुटुम्बके प्रति, समाजके प्रति, धर्मके प्रति और राष्ट्रके प्रति भी कुछ कर्त्तव्य हैं। इन कर्त्तव्यों

को पालन करनेके लिए वह उक्त अहिंसा आदि व्रतोंको अणुव्रतके रूपमें ग्रहण करता है और इन स्वीकृत व्रतोंकी वृद्धिके लिए अन्य सात व्रतोंको भी धारण करता है, जो इस प्रकार है—

(१) अपने कार्य-क्षेत्रकी गमनागमनकी मर्यादा निश्चित कर लेना **'दिग्व्रत'** है। वह व्रत जीवन-भरके लिए ग्रहण किया जाता है। इस व्रतका प्रयोजन इच्छाओंकी सीमा बांधना है।

(२) दिग्व्रतकी मर्यादाके भीतर ही उसे कुछ काल और क्षेत्रके लिए सीमित कर लेना—आने-जानेके क्षेत्रको कम कर लेना **देशव्रत** है।

(३) तीसरा **अनर्थदण्डव्रत** है। इसमें व्यर्थके कार्यों और प्रवृत्तियोंका त्याग किया जाता है।

ये तीनों व्रत अणुव्रतोंके पोषक एवं वर्धक होनेसे **गुणव्रत** कहे जाते हैं।

(४) **सामायिक**में आत्म-विचार किया जाता है और खोटे विकल्पोंका त्याग होता है।

(५) **प्रोषधोपवास**में उपवास द्वारा आत्मशक्तिका विकास एवं सहनशीलताका अभ्यास किया जाता है।

(६) **भोगोपभोगपरिमाण**में दैनिक भोगों और उपभोगोंकी वस्तुओंका परिमाण किया जाता है। जो वस्तु एक बार ही भोगी जाती है वह भोग तथा जो बार-बार भोगनेमें आती है वह उपभोग है। जैसे भोजन, पान आदि एक बार भोगनेमें आनेसे भोग वस्तुएँ हैं और वस्त्र, वाहन आदि बार-बार भोगनेमें आनेसे उपभोग वस्तुएँ हैं। इन दोनों ही प्रकारकी वस्तुओंका प्रतिदिन नियम लेना भोगोपभोगपरिमाण व्रत है।

(७) **अतिथिसंविभाग**में सुपात्रोंको विद्या, औषधि, भोजन और सुरक्षाका दान दिया जाता है, जिससे व्यक्तिका उदारतागुण प्रकट होता है। तथा इनके अनुपालनसे साधु बननेकी शिक्षा (दिशा और प्रेरणा) मिलती है।

इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह सामाजिक जीवन-क्षेत्रमें हो या राष्ट्रीय, इन १२ व्रतोंका सरलतासे पालन कर सकता है और अपने जीवनको सुखी एवं शान्तिपूर्ण बना सकता है।
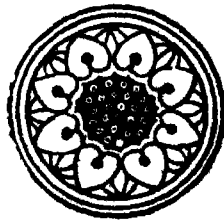
भगवान् महावीरकी क्षमा और अहिंसाका एक विश्लेषण

शान्ति और सुख ऐसे जीवन-मूल्य हैं, जिनकी चाह मानवमात्रको रहती है। अशान्ति और दुःख किसीको भी इष्ट नहीं, ऐसा सभीका अनुभव है। अस्पतालके उस रोगीसे पूछिए, जो किसी पीड़ासे कराह रहा है और डाक्टरसे शीघ्र स्वस्थ होनेके लिए कातर होकर याचना करता है। वह रोगी यही उत्तर देगा कि हम पीड़ाकी उपशान्ति और चैन चाहते हैं। उस गरीब और दीन-हीन आदमीसे प्रश्न करिए, जो अभावोंसे पीडित है। वह भी यही जवाब देगा कि हमे ये अभाव न सतायें और हम सुखसे जिएँ। उस अमीर और साधनसम्पन्न व्यक्तिको भी टटोलिए, जो बाह्य साधनोंसे भरपूर होते हुए भी रात-दिन चिन्तित है। वह भी शान्ति और सुखकी इच्छा व्यक्त करेगा। युद्धभूमिमें लड़ रहे उस योद्धासे भी सवाल करिए, जो देशकी रक्षाके लिए प्राणोत्सर्ग करनेके लिए उद्यत है। उसका भी उत्तर यही मिलेगा कि वह अन्तरंगमें शान्ति और सुखका इच्छुक है। इस तरह विभिन्न स्थितियोंमें फँसे व्यक्तिकी आन्तरिक चाह शान्ति और सुख प्राप्तिकी मिलेगी। वह मनुष्यमें, चाहे वह किसी भी देश, किसी भी जाति और किसी भी वर्गका हो, पायी जायेगी। इष्टका संवेदन होनेपर उसे शान्ति और सुख मिलता है तथा अनिष्टका संवेदन उसके अशान्ति और दुःखका परिचायक होता है।

इस सर्वेक्षणसे हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि मनुष्यके जीवनका मूल्य शान्ति और सुख है। यह बात उस समय और अधिक अनुभवमे आ जाती है जब हम किसी युद्धसे विरत होते है या किसी भारी परेशानीसे मुक्त होते है। दर्शन और सिद्धान्त ऐसे अनुभवोंके आधारसे ही निर्मित होते है और शाश्वत बन जाते हैं।

जब मनमें क्रोधकी उद्‌भूति होती है तो उसके भयंकर परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं। क्रुद्ध जर्मनीने जब जापानयुद्धमें उसके दो नगरोंको बमोंसे ध्वंस कर दिया तो विश्वने उसकी भर्त्सना की। फलतः सब ओरसे शान्तिकी चाह की गयी। क्रोधके विषैले कीटाणु केवल आस-पासके वातावरण और क्षेत्रको ही ध्वस्त नहीं करते, स्वयं क्रुद्धका भी नाश कर देते हैं। हिटलर और मुसोलिनीके क्रोधने उन्हे विश्वके चित्रपटसे सदाके लिए अस्त कर दिया। दूर न जायें, पाकिस्तानने जो क्रोधोन्मादका प्रदर्शन किया उससे उसके पूर्वी हिस्सेको उसने हमेशाके लिए अलग कर दिया। व्यक्तिका क्रोध कभी-कभी भारीसे भारी हानि पहुँचा देता है। इसके उदाहरण देनेकी जरूरत नही है। वह सर्वविदित है।

क्षमा एक ऐसा अस्त्रबल है जो क्रोधके वारको निरर्थक ही नही करता, क्रोधीको नमित भी करा देता है। क्षमासे क्षमावान्‌की रक्षा होती ही है, उससे उनकी भी रक्षा होती है, जिनपर वह की जाती है। क्षमा वह सुगन्ध है जो आस-पासके वातावरणको महका देती है और धीरे-धीरे हरेक हृदयमे वह बैठ जाती है। क्षमा भीतरसे उपजती है, अतः उसमें भयका लेशमात्र भी अंश नहीं रहता। वह वीरोंका बल है, कायरोंका नही। कायर तो क्षण-क्षणमे भीत और विजित होता रहता है। पर क्षमावान् निर्भय और विजयी होता है। वह ऐसी विजय प्राप्त करता है जो शत्रुको भी उसका बना देती है। क्षमावान्‌को क्रोध आता ही नहीं, उससे वह कोसों दूर रहता है।

वास्तवमें क्षमा—क्षमता—सहनशीलता मनुष्यका एक ऐसा गुण है जो दो नहीं, तीन नहीं हजारों, लाखों और करोड़ों मनुष्योंको जोड़ता हैं, उन्हें एक-दूसरेके निकट लाता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी विश्व-संस्था इसीके बलपर खड़ी हो सकी है और जब तक उसमें यह गुण रहेगा तब तक वह बना रहेगा।

तीर्थंकर महावीरमें यह गुण असीम था। फलतः उनके निकट जाति और प्रकृति विरोधी प्राणी—सर्प-नेवला, सिंह गाय जैसे भी आपसके वैर-भावको भूलकर आश्रय लेते थे, मनुष्योंका तो कहना ही क्या। उनकी दृष्टिमें मनुष्यमात्र एक थे। हाँ, गुणोंके विकासकी अपेक्षा उनका दर्जा ऊँचा होता जाता था और अपना स्थान ग्रहण करता जाता था। जिनकी दृष्टि पूत हो जाती थी वे सम्यक्‌दृष्टि, जिनका दृष्टिके साथ ज्ञान पवित्र (असद्‌भावमुक्त) हो जाता था वे सम्यग्ज्ञानी और जिनका दृष्टि और ज्ञानके साथ आचरण भी पावन हो जाता था वे सम्यक्‌चारित्री कहे जाते थे और वैसा ही उन्हें मान-सम्मान मिलता था।

क्षमा यथार्थमें अहिंसाकी ही एक प्रकाशपूर्ण किरण है, जिससे अन्तरतम सु-आलोकित हो जाता है। अहिंसक प्रथमतः आत्मा और मनको बलिष्ठ बनानेके लिए इस क्षमाको भीतरसे विकसित करता, गाढ़ा बनाता और उन्नत करता है। क्षमाके उन्नत होनेपर उसकी रक्षाके लिए हृदयमें कोमलता, सरलता और निर्भीकवृत्तिकी वारी (रक्षकावलि) रोपता है। अहिंसाको ही सर्वांगपूर्ण बनानेके लिए सत्य, अचौर्य, शील, और अपरिग्रहकी निर्मल एवं उदात्त वृत्तियोंका भी वह अहर्निश आचरण करता है।

सामान्यतया अहिंसा उसे कहा जाता है जो किसी प्राणीको न मारा जाय। परन्तु यह अहिंसाकी बहुत स्थूल परिभाषा है। तीर्थंकर महावीरने अहिंसा उसे बतलाया, जिसमें किसी प्राणीको मारनेका न मनमें विचार आये, न वाणीसे कुछ कहा जाय और न हाथ आदिकी क्रियाएँ की जायें। तात्पर्य यह कि हिंसाके विचार, हिंसाके वचन और हिंसाके प्रयत्न न करना अहिंसा है। यही कारण है कि एक व्यक्ति हिंसाका विचार न रखता हुआ ऐसे वचन बोल देता है या उसकी क्रिया हो जाती है जिससे किसी जीवकी हिंसा सम्भव है तो उसे हिंसक नहीं माना गया है। प्रमत्तयोग-कषायसे होनेवाला प्राणव्यपरोपण ही हिंसा है। हिंसा और अहिंसा वस्तुतः व्यक्तिके भावोंपर निर्भर है। व्यक्तिके भाव हिंसाके हैं तो वह हिंसक है और यदि उसके भाव हिंसाके नहीं है तो वह अहिंसक है। इस विषयमें हमे वह मछुआ और कृषक ध्यातव्य है जो जलाशयमे जाल फैलाये बैठा है और प्रतिक्षण मछली ग्रहणका भाव रखता है, पर मछली पकड़मे नहीं आती तथा जो खेत जोतकर अन्न उपजाता है और किसी जीवके घातका भाव नहीं रखता, पर अनेक जीव खेत जोतनेसे मरते हैं। वास्तवमें मछुआके क्षण-क्षणके परिणाम हिंसाके होनेसे वह हिंसक कहा जाता है और कृषकके भाव हिंसाके न होकर अन्न उपजानेके होनेसे वह अहिंसक माना जाता है। महावीरने हिंसा-अहिंसाको भावप्रधान बतलाकर उनकी सामान्य परिभाषासे कुछ ऊँचे उठकर उक्त सूक्ष्म परिभाषाएँ प्रस्तुत की। ये परिभाषायें ऐसी हैं जो हमे पाप और वंचनासे बचाती हैं तथा तथ्यको स्पर्श करती हैं।

अहिंसक खेती कर सकता है, व्यापार-धंधे कर सकता है और जीवन-रक्षा तथा देश-रक्षाके लिए शस्त्र भी उठा सकता है, क्योंकि उसका भाव आत्मरक्षाका है, आक्रमणका नहीं। यदि वह आक्रमण होनेपर उसे सह लेता है तो उसकी वह अहिंसा नहीं है, कायरता है। कायरतासे वह आक्रमण सहता है और काय-रतामे भय आ ही जाता है तथा भय हिंसाका ही एक भेद है। वह परघात न करते हुए भी स्वघात करता है। अतः महावीरने अहिंसाकी बारीकीको न केवल स्वयं समझा और आचरित किया, अपितु उसे उस रूपमें ही आचरण करनेका दूसरोंको भी उन्होंने उपदेश दिया।

यदि आजका मनुष्य मनुष्यसे प्रेम करना चाहता है और मानवताकी रक्षा करना चाहता है तो उसे महावीरकी इन सूक्ष्म क्षमा और अहिंसाको अपनाना ही पड़ेगा। यह सम्भव नहीं कि बाहरसे हम मनुष्य-प्रेमकी दुहाई दें और भीतरसे कटार चलाते रहें। मनुष्य-प्रेमके लिए अन्तस् और बाहर दोनोंमें एक होना चाहिए। कदाचित् हम बाहर प्रेमका प्रदर्शन न करें, तो न करें, किन्तु अन्तस्मे तो वह अवश्य हो, तभी विश्वमानवता जी सकती है और उसके जीनेपर अन्य शक्तियोपर भी करुणाके भाव विकसित हो सकते हैं।

क्षमा और अहिंसा ऐसे उच्च सद्भाव पूर्ण आचरण है, जिनके होते ही समाजमें, देशमें, विश्वमें और जन-जनमें प्रेम और करुणाके अंकुर उगकर फूल-फल सकते तथा सबको सुखी बना सकते है।
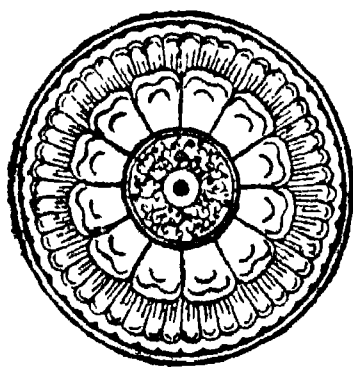
भ० महावीर और हमारा कर्त्तव्य

प्रस्तुतमें विचारणीय है कि वे कौन-से गुण और कार्य थे, जिनके कारण भगवान् महावीर भगवान् बने और सबके स्मरणीय हुए। आचार्यों द्वारा संग्रथित उनके सिद्धान्तों और उपदेशोंसे उनके वे गुण और कार्य हमें अवगत होते हैं। महावीरने अपनेमें निःसीम अहिंसाकी प्रतिष्ठा की थी। इस अहिंसाकी प्रतिष्ठासे ही उन्होंने अपने उन समस्त काम-क्रोधादि विकारोंको जीत लिया था। कितना ही क्रूर एवं विरोधी उनके समक्ष पहुँचता, वह उन्हें देखते ही नत-मस्तक हो जाता था, वे उक्त विकारोंसे ग्रस्त दुनियाँसे इसी कारण ऊँचे उठ गये थे। उन्होंने अहिंसासे खुद अपना जीवन बनाया और अपने उपदेशों द्वारा दूसरोंका भी जीवन-निर्माण किया। एक अहिंसाकी साधनामेंसे ही उन्हे त्याग, क्षमता, सहनशीलता, सहानुभूति, मृदुता, ऋजुता, सत्य, निर्लोभता, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, ज्ञान आदि अनन्त गुण प्राप्त हुए और इन गुणोंसे वे लोकप्रिय तथा लोकनायक बने। लोकनायक ही नही, मोक्षमार्गके नेता भी बने।

हिंसा और विषमताओंका जो नग्न ताण्डव-प्रदर्शन उस समय हो रहा था, उन्हें एक अहिंसा-अस्त्र द्वारा ही उन्होंने दूर किया और शान्तिकी स्थापना की। आज विश्वमें भीतर और बाहर जो अशान्ति और भय विद्यमान है उनका मूल कारण हिंसा एवं आधिपत्यकी कलुषित दुर्भावनाएँ हैं। वास्तवमें यदि विश्वमें शान्ति स्थापित करनी है और पारस्परिक भयोंको मिटाना है तो एक मात्र अमोघ अस्त्र 'अहिंसा' का अबलम्बन एवं आचरण है। हम थोड़ी देरको यह समझ लें कि हिंसक अस्त्रोंसे भयभीत करके शान्ति स्थापित कर लेंगे, तो यह समझना निरी भूल होगी। आतंकका असर सदा अस्थायी होता है। पिछले जितने भी युद्ध हुए वे बतलाते हैं कि स्थायी शान्ति उनसे नही हो सकी है। अन्यथा एकके बाद दूसरा और दूसरेके बाद तीसरा युद्ध कदापि न होता। आज जिनके पास शक्ति है वे भले ही उससे यह सन्तोष कर लें कि विश्वशान्तिका उन्हें नुस्खा मिल गया, क्योंकि हिंसक शक्ति हमेशा बरबादी ही करती है। दूसरेके अस्तित्वको मिटा कर स्वयं कोई जिन्दा नही रह सकता। अतः अणुबम, उद्जन बम आदि जितने भी हिंसाजनक साधन हैं उन्हें समाप्त कर अहिंसक एवं सद्भावना पूर्ण प्रयत्नोंसे शान्ति और निर्भयता स्थापित करनी चाहिए।

हमारा कर्त्तव्य होना चाहिए कि हिंसाका पूरा विरोध किया जाय। जिन-जिन चीजोसे हिंसा होती है अथवा की जाती है उन सबका सख्त विरोध किया जाय। इसके लिए देशके भीतर और बाहर जबर्दस्त आन्दोलन किया जाय तथा विश्वव्यापी हिंसाविरोधी संगठन कायम किया जाय। यह संगठन निम्न प्रकारसे हिंसाका विरोध करे—

१. अणुबम, उद्जनबम जैसे संहारक वैज्ञानिक साधनोंका आविष्कार और प्रयोग रोके जायें तथा हितकारक एवं संरक्षक साधनोंके विकास व प्रयोग किये जायें।

२. अन्न तथा शाकाहारका व्यापक प्रचार किया जाय और मांसभक्षणका निषेध किया जाय।

३. पशु-पक्षियोंपर किये जानेवाले निर्मम अत्याचार रोके जायें।

४. कषायी-खाने बन्द किये जायें। उपयोगी पशुओंका वध तो सर्वथा बन्द किया जाय।

५. बन्दर, कुत्ते, बिल्ली आदिपर वैज्ञानिक प्रयोग न किये जायँ। सृष्टिके प्रत्येक प्राणीको जीवित रहनेका अधिकार है।

६. हीन, पतित, लूले-लंगड़े और गरीबोंके जीवनका विकास किया जाय और उनकी रक्षा की जाय।

७. उद्योग, व्यापार और लेन-देनके व्यवहारमें भ्रष्टाचार न किया जाय और परिहार्य हिंसाका वर्जन किया जाय।

८. धर्मके नामसे देवी-देवताओंके समक्ष होनेवाली पशुबलिको रोका जाय।

९. जीवित जानवरोंको मारकर उनका चमड़ा निकालनेका हिंसक कार्य बन्द किया जाय।

१०. नैतिक एवं अहिंसक नागरिक बननेका व्यापक प्रचार किया जाय। विश्वास है कि इस विषयमें अहिंसाप्रेमी जोरदार एवं व्यापक आन्दोलन करेंगे।
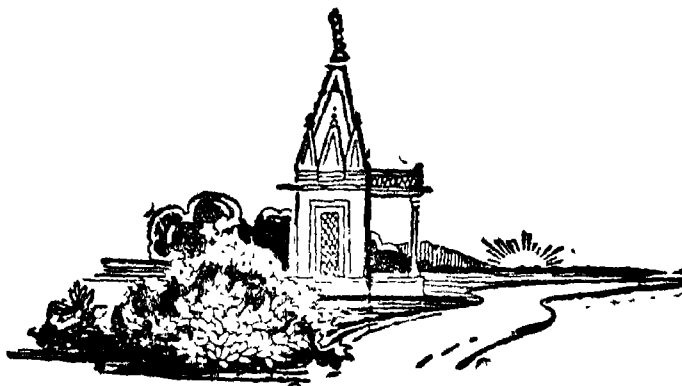
दर्शन

■ ■

अनेकान्तवाद-विमर्श

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ ।
तस्स भुवणेक्क-गुरुणो णमो अणेगंतवायस्स ॥

—आचार्य सिद्धसेन

'जिसके बिना लोकका भी व्यवहार किसी तरह नहीं चल सकता, उस लोकके अद्वितीय गुरु 'अनेकान्तवाद' को नमस्कार है ।'

यह उन सन्तोंकी उद्घोषणा एवं अमृत वाणी है, जिन्होंने अपना साधनामय समूचा जीवन परमार्थ-चिन्तन और लोककल्याणमे लगाया है । उनकी यह उद्घोषणा काल्पनिक नहीं है, उनकी अपनी सम्यक् अनुभूति और केवलज्ञानसे पूत एवं प्रकाशित होनेसे वह यथार्थ है । वास्तवमें परमार्थ-विचार और लोक-व्यवहार दोनोंकी आधार-शिला अनेकान्तवाद है । बिना अनेकान्तवादके न कोई विचार प्रकट किया जा सकता है और न कोई व्यवहार ही प्रवृत्त हो सकता है । समस्त विचार और समस्त व्यवहार इस अनेकान्तवादके द्वारा ही प्राण-प्रतिष्ठाको पाये हुए हैं । यदि उसकी उपेक्षा कर दी जाय तो वक्तव्य वस्तुके स्वरूपको न तो ठीक तरह कह सकते हैं, न ठीक तरह समझ सकते हैं और न उसका ठीक तरह व्यवहार ही कर सकते है । प्रत्युत, विरोध, उलझनें, झगड़े-फिसाद, रस्साकशी, वाद-विवाद आदि दृष्टिगोचर होते हैं, जिनकी वजहसे वस्तुका यथार्थ स्वरूप निर्णीत नहीं हो सकता । अतएव प्रस्तुत लेखमें इस अनेकान्तवाद और उसकी उपयोगितापर कुछ प्रकाश डाला जाता है ।

वस्तुका अनेकान्तस्वरूप—विश्वकी तमाम चीजें अनेकान्तमय हैं । अनेकान्तका अर्थ है नानाधर्म । अनेक यानी नाना और अन्त यानी धर्म और इसलिये नानाधर्मको अनेकान्त कहते हैं । अतः प्रत्येक वस्तुमें नानाधर्म पाये जानेके कारण उसे अनेकान्तमय अथवा अनेकान्तस्वरूप कहा गया है । यह अनेकान्तस्वरूपता वस्तुमें स्वयं है—आरोपित या काल्पनिक नहीं है । एक भी वस्तु ऐसी नहीं है जो सर्वथा एकान्तस्वरूप (एकधर्मात्मक) हो । उदाहरणार्थ यह लोक, जो हमारे व आपके प्रत्यक्षगोचर है, चर और अचर अथवा जीव और अजीव इन दो द्रव्योंसे युक्त है । वह लोकसामान्यकी अपेक्षा एक होता हुआ भी इन दो द्रव्योंकी अपेक्षा अनेक भी है और इस तरह वह अनेकान्तमय सिद्ध है । उसके एक जीवद्रव्यको ही लें । जीवद्रव्य जीवद्रव्य-सामान्यकी दृष्टिसे एक होकर भी चेतना, सुख, वीर्य आदि गुणों तथा मनुष्य, तिर्यंच, नारकी, देव आदि पर्यायोंकी समष्टि रूप होनेकी अपेक्षा अनेक है और इस प्रकार जीवद्रव्य भी अनेकान्तस्वरूप प्रसिद्ध है । इसी तरह लोकके दूसरे अवयव अजीवद्रव्यकी ओर ध्यान दें । जो शरीर सामान्यकी अपेक्षासे एक है वह रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि गुणों तथा बाल्यावस्था, किशोरावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था आदि क्रमवर्ती पर्यायोंका आधार होनेसे अनेक भी है और इस तरह शरीरादि अजीवद्रव्य भी अनेकान्तात्मक सुविदित है । इस प्रकार जगत्का प्रत्येक सत् अनेकधर्मात्मक (गुणपर्यायात्मक, एकानेकात्मक, नित्यानित्यात्मक आदि) स्पष्टतया ज्ञात होता है ।

और भी देखिए। जो जल प्यासको शान्त करने, खेतीको पैदा करने आदिमे सहायक होनेसे प्राणियों-का प्राण है—जीवन है वही बाढ़ लाने, डूबकर मरने आदिमे कारण होनेसे उनका घातक भी है। कौन नहीं जानता कि अग्नि कितनी संहारक है, पर वही अग्नि हमारे भोजन बनाने आदिमे परम सहायक भी है। भूखेको भोजन प्राणदायक है, पर वही भोजन अजीर्ण वाले अथवा टाइफाइडवाले बीमार आदमीके लिये विष है। मकान, किताब, कपड़ा, सभा, संघ, देश आदि ये सब अनेकान्त ही तो है। अकेली ईंटों या चूने-गारेका नाम मकान नहीं है। उनके मिलापका नाम ही मकान है। एक-एक पन्ना किताब नही है नाना पन्नोंके समूहका नाम किताब है। एक-एक सूत कपड़ा नहीं कहलाता। ताने-बाने रूप अनेक सूतोंके संयोगको कपड़ा कहते हैं। एक व्यक्तिको कोई सभा या सघ नही कहता। उनके समुदायको ही समिति, सभा, संघ या दल आदि कहा जाता है। एक-एक व्यक्ति मिलकर जाति, और अनेक जातियाँ मिलकर देश बनते हैं। जो एक व्यक्ति है वह भी अनेक बना हुआ है। वह किसीका मित्र है, किसीका पुत्र है, किसीका पिता है, किसीका पति या या स्त्री है, किसीका मामा या भांजा है, किसीका ताऊ या भतीजा है आदि अनेक सम्बन्धोंसे बधा हुआ है। उसमें ये सम्बन्ध काल्पनिक नहीं है, यथार्थ हैं। हाथ, पैर, आँखें, कान ये सब शरीरके अवयव ही तो हैं और उनका आधारभूत अवयवी शरीर है। इन अवयव-अवयवी स्वरूप वस्तुको ही हम सभी शरीरादि कहते व देखते हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि यह सारा ही जगत् अनेकान्तस्वरूप है। इस अनेकान्तस्वरूपको कहना या मानना अनेकान्तवाद है।

अनेकान्तस्वरूपका प्रदर्शक स्याद्वाद

भगवान् महावीर और उनके पूर्ववर्ती ऋषभादि तीर्थंकरोंने वस्तुको अनेकान्तस्वरूप साक्षात्कार करके उसका उपदेश दिया और परस्पर विरोधी-अविरोधी अनन्त-धर्मात्मक वस्तुको ठीक तरह समझने-समझानेके लिए वह दृष्टि भी प्रदान की जो विरोधादिके दूर करनेमे एकदम सक्षम है। वह दृष्टि है स्याद्वाद, जिसे कथंचित्वाद अथवा अपेक्षावाद भी कहते हैं। इस स्याद्वाद-दृष्टिसे ही हम उस अनन्तधर्मा वस्तुको ठीक तरह जान सकते हैं। कौन धर्म किस अपेक्षासे वस्तुमें निहित है, इसे हम, जब तक वस्तुको स्याद्वाद दृष्टिमे नही देखेंगे, नही जान सकते हैं। इसके सिवा और कोई दृष्टि वस्तुके अनेकान्तस्वरूपका निर्दोष दर्शन नही करा सकती है। वस्तु जैसी है उसका वैसा ही दर्शन करानेवाली दृष्टि अनेकान्तदृष्टि अथवा स्याद्वाददृष्टि ही हो सकती है, क्योंकि वस्तु स्वयं अनेकान्तस्वरूप है। इसीसे वस्तुके स्वरूप-विषयमे "**अर्थोऽनेकान्तः। अनेके अन्ता धर्मा सामान्य-विशेष-गुण-पर्याया यस्य सोऽनेकान्तः**" यों कहा गया है। दूसरी दृष्टियाँ वस्तुके एक-एक अंशका दर्शन अवश्य कराती हैं। पर उस दर्शनसे दर्शकको यह भ्रम एवं एकान्त आग्रह हो जाता है कि वस्तु इतनी मात्र ही है और नही है। इसका फल यह होता है कि शेष धर्मों या अंशोंका तिरस्कार हो जाने-के कारण वस्तुका पूर्ण एवं सत्य दर्शन नही हो पाता। स्याद्वाद-तीर्थके प्रभावक आचार्य समन्तभद्रस्वामीने अपने स्वयम्भूस्तोत्रमें इसी बातको निम्न प्रकार प्रकट किया है :—

> य एव नित्य-क्षणिकादयो नया मिथोऽनपेक्षाः स्वपर-प्रणाशिनः।
> त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः परस्परेक्षाः स्वपरोपकारिणः॥

'यदि नित्यत्व, अनित्यत्व आदि परस्पर निरपेक्ष एक-एक ही धर्म वस्तुमें हों तो वे न स्वयं अपने अस्तित्वको रख सकते हैं और न अन्यके। यदि वे ही परस्पर सापेक्ष हों—अन्यका तिरस्कार न करें—तो हे विमल जिन! वे अपना भी अस्तित्व रखते हैं और अन्य धर्मोंका भी। तात्पर्य यह कि एकान्तदृष्टि तो स्वपरघातक है और अनेकान्त-दृष्टि स्वपरोपकारक है।'

इसी आशयसे उन्होंने स्पष्टतया यह भी बतलाया है कि वस्तुमें एकान्ततः नित्यत्व और एकान्ततः अनित्यत्व अपने अस्तित्वको क्यों नहीं रख सकते हैं? वे कहते हैं कि 'सर्वथा नित्य पदार्थ न तो उत्पन्न हो सकता है और न नाश हो सकता है, क्योंकि उसमें क्रिया और कारकको योजना सम्भव नहीं है। इसी तरह सर्वथा अनित्य पदार्थ भी, जो अन्वयरहित होनेसे प्रायः असत्‌रूप ही है, न उत्पन्न हो सकता है और न नष्ट हो सकता है, क्योंकि उसमें भी क्रिया और कारककी योजना असम्भव है। इसी प्रकार सर्वथा असत्‌का उत्पाद और सत्‌का नाश भी सम्भव नहीं है, क्योंकि असत् तो अन्वय-शून्य है और सत् व्यतिरेकशून्य है और इन दोनोंके बिना कार्यकारणभाव बनता नहीं। '**अन्वयव्यतिरेक-समधिगम्यो हि कार्यकारणभावः**' यों सर्व सम्मत सिद्धान्त है। अतः वस्तुतत्त्व 'यह वही है' इस प्रकारकी प्रत्यभिज्ञा-प्रतीति होनेसे नित्य है और 'यह वह नही है—अन्य है' इस प्रकारका ज्ञान होनेसे अनित्य है और ये दोनों नित्यत्व तथा अनित्यत्व वस्तुमें विरुद्ध नही है, क्योंकि वह द्रव्यरूप अन्तरग कारणकी अपेक्षासे नित्य है और कालादि बहिरंग कारण तथा पर्यायरूप नैमित्तिक कार्यकी अपेक्षासे अनित्य है। यथा—

न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति न च क्रियाकारकमत्र युक्तम्।
नैवाऽसतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति ॥२४॥
नित्यं तदेवेदमिति प्रतीतेर्न नित्यमन्यत् प्रतिपत्तिसिद्धेः।
न तद्विरुद्धं बहिरन्तरङ्गनिमित्त-नैमित्तिक-योगतस्ते ॥४३॥

आगे इसी ग्रन्थमें उन्होंने अरजिनके स्तवनमें और भी स्पष्टताके साथ अनेकान्तदृष्टिको सम्यक् और एकान्त-दृष्टिको स्व-घातक कहा है :—

अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः।
ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः ॥१८॥

'हे अर जिन! आपकी अनेकान्तदृष्टि समीचीन है—निर्दोष है, किन्तु जो एकान्तदृष्टि है वह सदोष है। अतः एकान्तदृष्टिसे किया गया समस्त कथन मिथ्या है, क्योंकि एकान्तदृष्टि बिना अनेकान्तदृष्टिके प्रतिष्ठित नही होती और इसलिये वह अपनी ही घातक है।'

तात्पर्य यह कि जिस प्रकार समुद्रके सद्भावमे ही उसकी अनन्त बिन्दुओंकी सत्ता बनती है और उसके अभावमे उन बिन्दुओंकी सत्ता नही बनती उसी प्रकार अनेकान्तरूप वस्तुके सद्भावमें ही सर्व एकान्त दृष्टियाँ सिद्ध होती है और उसके अभावमे एक भी दृष्टि अपने अस्तित्वको नही रख पाती। आचार्य सिद्धसेन अपनी चौथी द्वात्रिंशिकामे इसी बातको बहुत ही सुन्दर ढंगसे प्रतिपादन करते हैं :—

उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि सर्वदृष्टयः।
न च तासु भवानुदीक्ष्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ॥—(४-१५)

'जिस प्रकार समस्त नदियाँ समुद्रमें सम्मिलित हैं उसी तरह समस्त दृष्टियाँ अनेकान्त-समुद्रमें मिली हैं। परन्तु उन एक-एकमें अनेकान्तका दर्शन नहीं होता। जैसे पृथक्-पृथक् नदियोंमें समुद्र नहीं दिखता।'

अतः हम अपने स्वल्प ज्ञानसे अनन्तधर्मा वस्तुके एक-एक अंशको छूकर ही उसमें पूर्णताका अहंकार 'ऐसी ही हैं' न करें, उसमे अन्य धर्मोंके सद्भावको भी स्वीकार करें। यदि हम इस तरह पक्षाग्रह छोड़कर वस्तुका दर्शन करें तो निश्चय ही हमें उसके अनेकान्तात्मक विराट् रूपका दर्शन हो सकता है। समन्तभद्र स्वामी युक्त्यनुशासनमे यही कहते हैं :—

एकान्तधर्माऽभिनिवेश-मूला रागादयोऽहंकृतिजा जनानाम् ।
एकान्त-हानाच्च स यत्तदेव स्वाभाविकत्वाच्च समं मनस्ते ।।५१।।

'एकान्तके आग्रहसे एकान्तीको अहंकार हो जाता है और उस अहंकारसे उसे राग, द्वेष, पक्ष आदि हो जाते हैं, जिनसे वह वस्तुका ठीक दर्शन नही कर पाता । पर अनेकान्तीको एकान्तका आग्रह न होनेसे उसे न अहंकार पैदा होता है और न उस अहंकारसे रागादिकको उत्पन्न होनेका अवसर मिलता है और उस हालतमे उसे उस अनन्तधर्मा वस्तुका सम्यग्दर्शन होता है; क्योंकि एकान्तका आग्रह न करना—दूसरे धर्मोको भी उसमें स्वीकार करना सम्यग्दृष्टि आत्माका स्वभाव है और इस स्वभावके कारण ही अनेकान्तीके मनमें पक्ष या क्षोभ पैदा नहीं होता—वह समताको धारण किये रहता है ।'

अनेकान्तदृष्टिकी जो सबसे बड़ी विशेषता है वह है सब एकान्तदृष्टियोंको अपनाना—उनका तिरस्कार नही करना—और इस तरह उनके अस्तित्वको स्थिर रखना । आचार्य सिद्धसेनके शब्दोंमे हम इसे इस प्रकार कह सकते हैं—

भद्दं मिच्छादंसण-समूह-मइयस्स अमयसारस्स ।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स ।।

'ये अनेकान्तमय जिनवचन मिथ्यादर्शनों (एकान्तों) के समूह रूप है—इसमे समस्त मिथ्यादृष्टियाँ (एकान्तदृष्टियाँ) अपनी-अपनी अपेक्षासे विराजमान हैं और अमृतसार या अमृतस्वादु हैं । वे संविग्न—रागद्वेषरहित तटस्थ वृत्तिवाले जीवोंको सुखदायक एवं ज्ञानोत्पादक है । वे जगत्के लिये भद्र हों—उनका कल्याण करें ।'

बन्ध, मोक्ष, आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक, पुण्य-पाप आदिकी सम्यक् व्यवस्था अनेकान्तमान्यतामें ही बनती है—एकान्तमान्यतामें नहीं । इसीसे समन्तभद्र स्वामीको देवागममे कहना पड़ा है कि—

कुशलाऽकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित् ।
एकान्त-ग्रह-रक्तेषु नाथ स्वपरवैरिषु ।।

'नित्यत्वादि किसी भी एकान्तमें पुण्य-पाप, परलोक, इहलोक आदि नही बनते हैं, क्योंकि एकान्तका अस्तित्व अनेकान्तके सद्भावमें ही बनता है और अनेकान्तके न माननेपर उनका वह एकान्त भी स्थिर नही रहता और इस तरह वे अपने तथा दूसरेके वैरी—अकल्याणकर्त्ता हैं ।'

इन्हीं सब बातोंसे आचार्य समन्तभद्रने भगवान् वीरके शासनको, जो अनेकान्तसिद्धान्तकी भव्य एवं विशाल आधारशिलापर निर्मित हुआ है और जिसकी बुनियाद अत्यन्त मजबूत है, '**सर्वोदय तीर्थ**—सबका कल्याण करने वाला तीर्थ कहा है—

सर्वान्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं सर्वान्त-शून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।
सर्वाऽऽपदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ।।६१।।

—युक्त्यनुशासन

'हे वीर जिन ! आपका तीर्थ—शासन समस्त धर्मों—सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय, विधि-निषेध, एक-अनेक, नित्यत्व-अनित्यत्व आदिसे युक्त है और गौण तथा मुख्यकी विवक्षाको लिये हुए है—एक धर्म मुख्य

है तो दूसरा धर्म गौण है। किन्तु अन्य तीर्थ—शासन निरपेक्ष एक-एक नित्यत्व या अनित्यत्व आदिका ही प्रतिपादन करनेसे समस्त धर्मों—उस एक-एक धर्मके अविनाभावी शेष धर्मोंसे शून्य हैं और उनके अभावमें उनके अविनाभावी उस एक-एक धर्मसे भी रहित हैं। अतः आपका ही अनेकान्तशासनरूप तीर्थ सर्व दुःखोंका अन्त करनेवाला है, किसी अन्यके द्वारा अन्त (नाश) न होने वाला है और सबका कल्याणकर्ता है।'

आचार्य अमृतचन्द्रके शब्दोंमें हम इस 'अनेकान्त' को, जिसे 'सर्वोदयतीर्थ' कहकर उसका अचिन्त्य माहात्म्य प्रकट किया गया है, नमस्कार करते और मंगलकामना करते हैं कि विश्व इसकी प्रकाशपूर्ण एवं आह्लादजनक शीतल छायामें आकर सुख-शान्ति एवं सद्दृष्टि प्राप्त करे।

परमागमस्य बीजं निषिद्ध-जात्यन्ध-सिन्धुर-विधानम्।
सकल-नय-विलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥
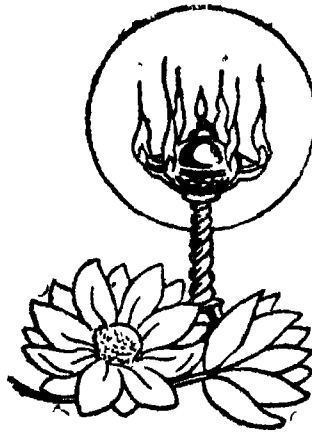
स्याद्वाद-विमर्श

स्याद्वाद : जैनदर्शनका मौलिक सिद्धान्त

'स्याद्वाद' जैन दर्शनका एक मौलिक एवं विशिष्ट सिद्धान्त है। 'स्याद्वाद' पद 'स्यात्' और 'वाद' इन दो शब्दोसे बना है। यहाँ 'स्यात्' शब्द अव्यय निपात है, 'क्रिया' शब्द या अन्य शब्द नहीं है। इसका अर्थ कथचित्, किचित्, किसी अपेक्षा, कोई एक दृष्टि, कोई एक धर्मकी विवक्षा, कोई एक ओर, है। और 'वाद' शब्द का अर्थ है मान्यता अथवा कथन। जो 'स्यात्' (कथंचित्) का कथन करने वाला अथवा 'स्यात्' को लेकर प्रतिपादन करने वाला है वह 'स्याद्वाद' है। अर्थात् जो विरोधी धर्मका निराकरण न करके अपेक्षासे वस्तु-धर्मका प्रतिपादन (विधान) करता है उसे 'स्याद्वाद' कहा गया है।[1] कथंचित्वाद, अपेक्षावाद आदि इसी के नामान्तर हैं—इन नामोंसे उसीका बोध किया जाता है।

स्मरण रहे कि वक्ता अपने अभिप्रायको यदि सर्वथाके साथ प्रकट करता है तो उससे सही वस्तुका बोध नहीं हो सकता और यदि 'स्यात्' के साथ वह अपने अभिप्रायको प्रकट करता है तो वह वस्तु-स्वरूपका यथार्थ प्रतिपादन करता है। क्योंकि कोई भी धर्म वस्तुमे 'सर्वथा'—ऐकान्तिक नहीं है। सत्व, असत्त्व, नित्यता, अनित्यता, एकत्व, अनेकत्व आदि भी धर्म वस्तुमें हैं और वे सभी भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे उसमे विद्यमान हैं। सत्व असत्त्वका, नित्यत्व अनित्यत्वका, एकत्व अनेकत्वका और वक्तव्यत्व अवक्तव्यत्वका नियमसे अविनाभावी है। वे एक दूसरेको छोडकर नहीं रहते। हाँ, एककी प्रधान विवक्षा होनेपर दूसरा गौण हो जायेगा। पर वे धर्म रहेंगे सभी। इसीसे वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। इस विषयको जैन विचारक आचार्य समन्तभद्रने[2] बहुत स्पष्टताके साथ समझाया है। अतः प्रत्येक वक्ता जब कोई बात कहता है तो वह 'स्याद्वाद' की भाषामे कहता है। भले ही वह स्याद्वादका प्रयोग करे या न करे।

स्याद्वादका सार्वत्रिक उपयोग

लौकिक या पारलौकिक कोई भी ऐसा विषय नहीं है, जिसमे स्याद्वादका उपयोग न किया जाता हो। जीवनके दैनिक व्यवहारसे लेकर मुक्ति तकके सभी विषयोमे स्याद्वादका उपयोग होता है और हर व्यक्ति उसे करता है। टोपी, कुरता, धोती आदि जितने शब्द और संकेत हैं वे सब विवक्षित अभिप्रायोंको प्रकट करनेके साथ ही अविवक्षित गौण अभिप्रायोंकी भी सूचना करते हैं। यह दूसरी बात है कि उन्हें कहते समय या सुनते समय उन गौण अभिप्रायोंकी ओर वक्ता या श्रोताका ध्यान न जाय, क्योंकि उसका काम

१. स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधिः। सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥

—समन्तभद्र, आप्तमी. का. १०४।

२. सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः। सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीहिते ॥
सर्वथा-नियम-त्यागी यथादृष्टमपेक्षकः। स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम् ॥

—समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तोत्र १०४, १०५।

विवक्षित अभिप्रायसे सम्पन्न हो जाता है। पर यह बात नहीं कि वे अविवक्षित अभिप्राय उसमें विद्यमान न हों। स्याद्वाद इसी ऐकान्तिकताका निषेध करता है और अनेकान्तका विधान करता है। और तो क्या, वह अनेकान्तमें भी अनेकान्तकी योजना करता है और यह अचरज करनेकी बात नहीं है। जिसे हमने अनेकान्त कहा है वह समष्टिको ध्यानमें रखकर ही तो कहा है, पर व्यष्टि (एक-एक धर्म-अभिप्राय) की अपेक्षासे तो वह अनेकान्त नहीं है, एक-एक अभिप्राय है। इस तरह अनेकान्तको भी स्याद्वादने समष्टि और व्यष्टिकी अपेक्षाओंसे अनेकान्त बतलाया है।[1] और यह अतात्त्विक या व्यर्थ जैसी चीज नहीं है। वस्तु हो जब वैसी स्वभावतः हो तो उसकी वैसी ही व्याख्या होनी चाहिए। हमें जो ऐकान्तिक दृष्टिसे देखनेकी लत पड़ी हुई है उसीसे हम उक्त प्रकारके प्रतिपादनको अतात्त्विक या व्यर्थ कहने लगते हैं। अतः वस्तुके यथार्थ स्वरूपको देखना है तो हमें इस एकान्त दृष्टिके सदोष चश्मेको दूर कर स्याद्वाद-दृष्टिके निर्दोष सूक्ष्म-वीक्षण यन्त्रको लगाकर ही वस्तुके स्वरूपको देखना चाहिए और वैसी ही उसकी व्यवस्था करनी चाहिए।

स्याद्वाद और अनेकान्तवादका सम्बन्ध

कुछ विद्वानोका कथन है कि स्याद्वाद और अनेकान्तवाद दोनो एक हैं—एक ही अर्थके प्रतिपादक दो शब्द हैं। किन्तु ऐसा नही है। इन दोनोंमें उसी तरहका भारी अन्तर है जिस तरहका प्रमाणवाद और प्रमेयवादमे, या ज्ञानवाद और ज्ञेयवादमे है। वस्तुतः स्याद्वाद व्यवस्थापक है और अनेकान्तवाद व्यवस्थाप्य। अथवा स्याद्वाद वाचक (प्रतिपादक) है और अनेकान्तवाद प्रतिपाद्य। दोनों स्वतन्त्र हैं। पर व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक या वाच्य-वाचक सम्बन्धसे वे परस्परमे ऐसे सम्बद्ध हैं, जैसे शब्द और अर्थ, प्रमाण और प्रमेय, ज्ञान और ज्ञेय। इस तरह इन दोनोंमे बड़ा अन्तर है और दोनों ही भिन्नार्थक हैं। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि स्याद्वाद जब भी वस्तुकी व्यवस्था करेगा, तब 'सप्तभङ्गी' के द्वारा करेगा। अतः स्याद्वाद वक्ताका वचनस्थानीय है, अनेकान्तवाद वस्तुस्थानीय है और सप्तभगीवाद प्रयोगसाधनस्थानीय है। चूँकि अनेकान्त-स्वरूप वस्तु स्वयं अपने आपमे समष्टि और व्यष्टिकी अपेक्षा तथा प्रमाण और नयकी विवक्षासे अनेकान्त तथा एकान्त दोनों रूप है। इसलिए उसकी साधन-प्रक्रिया—सप्तभंगी भी दो प्रकारकी कही गई है। एक प्रमाणसप्तभङ्गी और दूसरी नयसप्तभङ्गी। प्रमाणसप्तभङ्गीके द्वारा स्याद्वाद अनेकान्कस्वरूप वस्तुकी अनेकान्तात्मकताका और नयसप्तभङ्गी द्वारा उसी अनेकान्तस्वरूप वस्तुकी अनेकान्तात्मकताका प्रतिपादन करता है। यहीं इन तीनों—स्याद्वाद, सप्तभङ्गीवाद और अनेकान्तवादमे मौलिक भेद है। यहाँ सप्तभङ्गी-वादसे उन सात भङ्गो (उत्तर वाक्यों) के समुच्चयसे अभिप्राय है, जिनके माध्यमसे वक्ता अपने अभिप्रायको प्रकट करता है और प्रश्नकर्ताके प्रश्नोंका समाधान करता है।

अनेकान्तवाद और सप्तभङ्गीवाद

यद्यपि ऊपरके विवेचनसे अनेकान्तवाद और सप्तभङ्गीवादका स्वरूप ज्ञात हो जाता है तथापि उनके सम्बन्धमें थोड़ा प्रकाश और डालना आवश्यक है। 'अनेकान्तवाद' पदमें तीन शब्द हैं—अनेक, अन्त और वाद। अनेकका अर्थ नाना है और अन्तका अर्थ यहाँ उसके नानार्थक होते हुए भी धर्म विवक्षित है और वादका अर्थ मान्यता अथवा कथन है। पूरे पदका अर्थ हुआ नाना-धर्मात्मक वस्तुकी मान्यता अथवा कथन। इस तरह नानाधर्मात्मक वस्तुका नाम अनेकान्त और उसके स्वीकारका नाम अनेकान्तवाद है।

१. अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥ —समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तो० श्लो० १०६।

वस्तुमें सामान्य, विशेष, गुण, पर्याय आदि अनन्त धर्म भरे पड़े हैं। उनमेंसे एक ही धर्मको या एक धर्मात्मक ही वस्तुको स्वीकार करना एकान्तवाद है। सामान्यैकान्त, विशेषैकान्त, भेदैकान्त, अभेदैकान्त, नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त आदि एकान्तवाद हैं। एकान्तवादके स्वीकार करनेमें जो सबसे बड़ा दोष है वह यह है कि उन सामान्य-विशेष आदिमेंसे केवल उसी एकको माननेपर दूसरे धर्मोंका तिरस्कार हो जाता है और उनके तिरस्कृत होने पर उनका अभिमत वह धर्म भी नहीं रहता, जिसे वे मानते हैं, क्योंकि उनका परस्पर अभेद्य सम्बन्ध अथवा अविनाभाव सम्बन्ध है। किन्तु विवक्षित और अविवक्षित धर्मोंको मुख्य तथा गौण दृष्टिसे स्वीकार करनेमें उक्त दोष नहीं आता। अतएव अन्तिम तीर्थंकर महावीरने बतलाया कि यदि अविकल पूरी वस्तु देखना चाहते हो तो उन एकान्तवादोंके समुच्चयस्वरूप अनेकान्तवादको स्वीकार करना चाहिए—उनकी परस्पर सापेक्षतामें ही वस्तुका स्वरूप स्थिर रहता और निखरता है। यही अनेकान्तवाद है, जिसकी व्यवस्था स्याद्वादके द्वारा बतायी जा चुकी है।

सात उत्तरवाक्योंके समुदायका नाम सप्तभङ्गी है। यहाँ 'भङ्ग' शब्दका अर्थ उत्तरवाक्य अथवा वस्तु-धर्म विवक्षित है। जिसमें सात उत्तरवाक्य या धर्म हों, उसे सप्तभंगी कहते हैं। यह वक्ताकी प्रतिबोध्यको समझानेकी एक प्रक्रिया है।[1] इसके स्वीकारका नाम सप्तभङ्गीवाद है। इस सप्तभंगीमें सात ही उत्तर-वाक्योंका नियम इसलिए है कि प्रश्नकर्ताके द्वारा सात ही प्रश्न किये जाते हैं, और उन सात ही प्रश्न किये जानेका कारण उसकी सात ही जिज्ञासाएँ हैं तथा सात जिज्ञासाओंका कारण भी वस्तुके विषयमें उठने वाले उसके सात ही सन्देह हैं और इन सात सन्देहोंका कारण वस्तुनिष्ठ सात ही धर्म हैं।[2] यों तो वस्तुमें अनन्त धर्म हैं। किन्तु प्रत्येक धर्मको लेकर विधि-निषेध (है, नहीं) की अपेक्षासे सात ही धर्म उसमें व्यवस्थित हैं वे सात धर्म इस प्रकार हैं--सत्त्व, असत्त्व, सत्त्वासत्त्वोभय, अवक्तव्यत्व (अनुभय) सत्त्वावक्तव्यत्व, असत्त्वा-वक्तव्यत्व और सत्त्वासत्त्वोभयावक्तव्यत्व। इन सातसे न कम है और न ज्यादा। इन सातमें तीन भङ्ग (सत्त्व, असत्त्व और अवक्तव्यत्व) मूलभूत हैं, तीन (उभय, सत्त्वावक्तव्यत्व और असत्त्वावक्तव्यत्व) द्विसंयोगी हैं और एक (सत्त्वासत्त्वोभयावक्तव्यत्व) त्रिसंयोगी है। उदाहरणस्वरूप नमक, मिर्च और खटाई इन तीन मूल स्वादोंके संयोगज स्वाद चार और बन सकते हैं और कुल सात ही हो सकते हैं। उनसे न कम और न ज्यादा।

अतः इन सात धर्मोंके विषयमें प्रश्नकर्ताके द्वारा किये गये सात प्रश्नोंका उत्तर सप्तभङ्गों—सात उत्तरवाक्योंके द्वारा दिया जाता है। यही सप्तभंगीन्याय अथवा शैली या प्रक्रिया है, जो वस्तुसिद्धिके लिए स्याद्वादका अमोघ साधन है।

●

१. न्यायदीपिका पृ० १२७, तत्त्वार्थवार्तिक १–६, जैनतर्कभाषा, पृ० १९।
२. अष्टसहस्री पृ० १२५, १२६।

संजय वेलट्ठिपुत्त और स्याद्वाद

स्याद्वादके सम्बन्धमें भ्रान्तियाँ

जैन दर्शनके स्याद्वाद सिद्धान्तको अभी भी विद्वान् ठीक तरहसे समझनेका प्रयत्न नही करते और धर्मकीर्ति एवं शङ्कराचार्यकी तरह उसके बारेमें भ्रान्त उल्लेख अथवा कथन कर जाते हैं।

पं० बलदेव उपाध्यायकी भ्रान्ति

काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें संस्कृत-पाली विभागके व्याख्याता पं० बलदेव उपाध्यायने[1] सन् १९४६ में 'बौद्ध-दर्शन' नामका एक ग्रन्थ हिन्दीमें लिखकर प्रकाशित किया है। इसमें उन्होंने बुद्धके समकालीन मत-प्रवर्तकोंके मतोंको देते हुए संजय वेलट्ठिपुत्तके अनिश्चिततावादको भी बौद्धोंके 'दीघनिकाय' (हिन्दी अ० पृ० २२) ग्रन्थसे उपस्थित किया है और अन्तमें यह निष्कर्ष निकाला है कि "यह अनेकान्तवाद प्रतीत होता हैं। सम्भवत: ऐसे ही आधारपर महावीरका स्याद्वाद प्रतिष्ठित किया गया था।"

राहुल सांस्कृत्यायनका भ्रम

इसी प्रकार दर्शन और हिन्दीके ख्यातिप्राप्त बौद्ध विद्वान् राहुल सास्कृत्यायन अपने 'दर्शन-दिग्दर्शन' में लिखते हैं[2]—

"आधुनिक जैन-दर्शनका आधार 'स्याद्वाद' है, जो मालूम होता है संजय वेलट्ठिपुत्तके चार अङ्ग-वाले अनेकान्तवादको (!) लेकर उसे सात अङ्गवाला किया गया है। संजयने तत्त्वों (= परलोक, देवता) के बारेमे कुछ निश्चयात्मक रूपसे कहनेसे इन्कार करते हुए उस इन्कारको चार प्रकार कहा है—

१. है ?—नही कह सकता।

२. नही है ?—नही कह सकता।

३. है भी नही भी ?—नही कह सकता।

४. न है और न नहीं है—नहीं कह सकता।

इसकी तुलना कीजिए जैनोंके सात प्रकारके स्याद्वादसे—

१. है ?—हो सकता है (स्याद् अस्ति)

२. नही है ?—नहीं भी हो सकता (स्यान्नास्ति)

३. है भी नही भी ?—है भी और नही भी हो सकता है (स्यादस्ति च नास्ति च)

उक्त तीनों उत्तर क्या कहे जा सकते (= वक्तव्य) है ? इसका उत्तर जैन 'नही' मे देते हैं—

४ स्याद् (हो सकता है) क्या यह कहा जा सकता (= वक्तव्य) है ?—नही, स्याद् अवक्तव्य है।

५. 'स्याद् अस्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नहीं 'स्याद् अस्ति' अवक्तव्य है।

६. 'स्याद् नास्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नही, 'स्याद् नास्ति' अवक्तव्य है।

७. 'स्याद् अस्ति च नास्ति च' क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, 'स्याद् अस्ति च नास्ति च' अवक्तव्य है।'

---

१. बौद्धदर्शन पृ० ४१। २. दर्शनदिग्दर्शन पृ० ४९६-९७।

दोनोंके मिलानेसे मालूम होगा कि जैनोंने सजयके पहले वाले तीन वाक्यों (प्रश्न और उत्तर दोनों) को अलग करके अपने स्याद्वादकी छह भङ्गियां बनाई हैं, और उसके चौथे वाक्य "न है और न नहीं है" को छोड़कर 'स्याद्' भी अवक्तव्य है यह सातवां भङ्ग तैयार कर अपनी सप्तभङ्गी पूरी की।

उपलभ्य सामग्रीसे मालूम होता है कि संजय अनेकान्तवादका प्रयोग परलोक, देवता, कर्मफल, मुक्त पुरुष जैसे—परोक्ष विषयोंपर करता था। जैन संजयकी युक्तिको प्रत्यक्ष वस्तुओंपर लागू करते हैं। उदाहरणार्थ सामने मौजूद घटकी सत्ताके बारेमें यदि जैन-दर्शनसे प्रश्न पूछा जाय, तो उत्तर निम्न प्रकार मिलेगा—

१. घट यहां है ?—हो सकता है (=स्यादस्ति)।

२. घट यहां नहीं है ?—नहीं भी हो सकता है (=स्याद् नास्ति)।

३. क्या घट यहां है भी और नही भी है ?—है भी और नही भी हो सकता है (=स्याद् अस्ति च नास्ति च)।

४. 'हो सकता है' (=स्याद्) क्या यह कहा जा सकता है ?—नही, 'स्याद्' यह अ-वक्तव्य है।

५. घट यहां 'हो सकता है' (=स्यादस्ति) क्या यह कहा जा सकता है ?—नही, 'घट यहां हो सकता है' यह नही कहा जा सकता है।

६. घट यहां 'नही हो सकता है' (=स्यान् नास्ति) क्या यह कहा जा सकता है ?—नहीं, 'घट यहां नहीं हो सकता' यह नहीं कहा जा सकता।

७. घट यहां 'हो भी सकता है', नहीं भी हो सकता है', क्या यह कहा जा सकता है ? नही, 'घट' यहां हो भी सकता है, नही भी हो सकता है' यह नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार एक भी सिद्धान्त (=वाद) की स्थापना न करना, जो कि संजयका वाद था, उसीको संजयके अनुयायियोके लुप्त हो जानेपर जैनोने अपना लिया, और उसके चतुर्भंगी न्यायको सप्तभङ्गीमे परिणत कर दिया।"

उक्त भ्रान्तियोंका निराकरण

मालूम होता है कि इन विद्वानोंने जैनदर्शनके स्याद्वाद-सिद्धान्तको निष्पक्ष होकर समझनेका प्रयत्न नहीं किया और परम्परासे जो जानकारी उन्हे मिली उसीके आधारपर उन्होंने उक्त कथन किया है। अच्छा होता, यदि वे किसी जैन विद्वान् अथवा दार्शनिक जैन ग्रन्थसे जैनदर्शनके स्याद्वादको समझकर उसपर कुछ लिखते। हमे आश्चर्य है कि दर्शनों और उनके इतिहासका अपनेको अधिकारी विद्वान् माननेवाला राहुलजी जैसा महापण्डित जैनदर्शन और उसके इतिहासको छिपाकर यह कैसे लिख गया कि "संजयके वादको ही संजयके अनुयायियोंके लुप्त हो जानेपर जैनोंने अपना लिया।" क्या वे यह मानते हैं कि जैनधर्म व जैनदर्शन और उनके माननेवाले जैन सजयके पहले नहीं थे ? यदि नहीं, तो उनका उक्त लिखना असम्बद्ध और भ्रान्त है। और यदि मानते हैं, तो उनकी यह बड़ी भारी ऐतिहासिक भूल है, जिसे स्वीकार करके उन्हे तुरन्त ही अपनी भूलका परिमार्जन करना चाहिये। यह अब सर्व विदित हो गया है और प्रायः सभी निष्पक्ष ऐतिहासिक भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानोंने स्वीकार भी कर लिया है कि जैनधर्म व जैनदर्शनके प्रवर्त्तक भगवान् महावीर नही थे, अपितु उनसे पूर्व हो गये ऋषभदेव आदि २३ तीर्थङ्कर उनके प्रवर्त्तक हैं, जो विभिन्न समयोंमें हुए हैं और जिनमें पहले तीर्थङ्कर ऋषभदेव, २२वें तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि (कृष्णके समकालीन और उनके चचेरे भाई) तथा २३वें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ तो ऐतिहासिक महापुरुष भी सिद्ध हो चुके हैं। अतः भगवान् महावीरके समकालीन सजय और उसके अनुयायियोंके पूर्व जैनधर्म व जैनदर्शन और

उनके माननेवाले जैन विद्यमान थे और इसलिये उनके द्वारा संजयके वादको अपनानेका राहुलजीका आक्षेप सर्वथा निराधार और असंगत है। ऐसा ही एक भारी आक्षेप अपने बौद्ध ग्रन्थकारोंकी प्रशंसाकी धुनमें वे समग्र भारतीय विद्वानोंपर भी कर गये, जो अक्षम्य है। वे इसी 'दर्शन दिग्दर्शन' (पृ० ४९८) में लिखते हैं—

"नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु दिङ्नाग, धर्मकीर्ति—भारतके अप्रतिम दार्शनिक इसी धारामें पैदा हुए थे। उन्हींके ही उच्छिष्ट-भोजी पीछेके प्रायः सारे ही दूसरे भारतीय दार्शनिक दिखलाई पड़ते हैं।"

राहुलजी जैसे कलमशूरोंको हरेक बातको और प्रत्येक पदवाक्यादिको नाप-जोखकर ही कहना और लिखना चाहिए। उनका यह लिखना बहुत ही भ्रान्त और आपत्तिजनक है।

अब संजयका वाद क्या है और जैनोंका स्याद्वाद क्या है? तथा उक्त विद्वानोंका उक्त कथन क्या संगत एवं अभ्रान्त है? इन बातोंपर संक्षेपमें विचार किया जाता है।

संजयवेलट्ठिपुत्तका वाद (मत)

भगवान् महावीरके समकालमें अनेक मत-प्रवर्तक विद्यमान थे। उनमें निम्न छह मत-प्रवर्तक बहुत प्रसिद्ध और लोकमान्य थे—

१ अजितकेश कम्बल, २ मक्खलि गोशाल, ३ पूरण काश्यप, ४ प्रकुध कात्यायन, ५ सजय वेलट्ठिपुत्त और ६ गौतम बुद्ध।

इनमे अजितकेश कम्बल और मक्खलि गोशाल भौतिकवादी, पूरण काश्यप और प्रकुध कात्यायन नित्यतावादी, सञ्जय वेलट्ठिपुत्त अनिश्चिततावादी और गौतम बुद्ध क्षणिक अनात्मवादी थे।

प्रकृतमे हमे सञ्जयके मतको जानना है। अतः उनके मतको नीचे दिया जाता है। 'दीघनिकाय' में उनका मत इस प्रकार बतलाया है—

"यदि आप पूछे—'क्या परलोक है', तो यदि मैं समझता होऊँ कि परलोक है तो आपको बताऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नही कहता वैसा भी नही कहता, दूसरी तरहसे भी नही कहता। मैं यह भी नही कहता कि 'वह नही है'। मैं यह भी नही कहता कि 'वह नही नही है। परलोक नही है, परलोक नहीं नही।' देवता (=औपपादिक प्राणी) हैं····। देवता नही हैं, हैं भी और नही भी, न है और न नही है···· अच्छे बुरे कर्मके फल है, नही हैं, है भी नहीं भी, न हैं और न नही हैं। तथागत (=मुक्तपुरुष) मरनेके बाद होते है, नही होते हैं······ ?—यदि मुझसे ऐसा पूछें, तो मैं यदि ऐसा समझता होऊँ ··· ···तो ऐसा आपको कहूँ। मैं ऐसा भी नही कहता, वैसा भी नही कहता·······।"

यह बौद्धों द्वारा उल्लेखित सजयका मत है। इसमे पाठक देखेंगे कि सजय परलोक, देवता, कर्मफल और मुक्तपुरुष इन अतीन्द्रिय पदार्थोंके जाननेमे असमर्थ था और इसलिये उनके अस्तित्वादिके बारेमे वह कोई निश्चय नही कर सका। जब भी कोई इन पदार्थोंके बारेमे उससे प्रश्न करता था तब वह चतुष्कोटि विकल्पद्वारा यही कहता था कि मैं जानता होऊँ तो बतलाऊँ और इसलिये निश्चयमे कुछ भी नही कह सकता।' अतः यह तो बिलकुल स्पष्ट है कि संजय अनिश्चिततावादी अथवा संशयवादी था और उसका मत अनिश्चिततावाद या संशयवादरूप था। राहुलजीने स्वयं भी[1] लिखा है कि "संजयका दर्शन जिस रूपमें हम

१. देखो, 'दर्शन-दिग्दर्शन' पृ० ४९२।

तक पहुँचा है उससे तो उसके दर्शनका अभिप्राय है, मानवकी सहजबुद्धिको भ्रममे डाला जाये और वह कुछ निश्चय न कर भ्रान्त धारणाओंको अप्रत्यक्ष रूपसे पुष्ट करे।''

जैनदर्शनका स्याद्वाद और अनेकान्तवाद

परन्तु जैनदर्शनका स्याद्वाद संजयके उक्त अनिश्चिततावाद अथवा संशयवादसे एकदम भिन्न और निर्णय-कोटिको लिये हुए है। दोनोमें पूर्व-पश्चिम अथवा ३६ के अंकों जैसा अन्तर है। जहाँ संजयका वाद अनिश्चयात्मक है वहाँ जैनदर्शनका स्याद्वाद निश्चयात्मक है। वह मानवकी सहज बुद्धिको भ्रममें नहीं डालता, बल्कि उसमे आभासित अथवा उपस्थित विरोधों व सन्देहोंको दूर कर वस्तु-तत्त्वका निर्णय करानेमें सक्षम होता है। स्मरण रहे कि समग्र (प्रत्यक्ष और परोक्ष) वस्तु-तत्त्व अनेकधर्मात्मक है—उसमे अनेक (नाना) अन्त (धर्म-शक्ति-स्वभाव) पाये जाते हैं और इसलिये उसे अनेकान्तात्मक भी कहा जाता है। वस्तु-तत्त्वकी यह अनेकान्तात्मकता निसर्गतः है, अप्राकृतिक नही। यही वस्तुमे अनेक धर्मोका स्वीकार व प्रतिपादन जैनोंका अनेकान्तवाद है। संजयके वादको, जो अनिश्चिततावाद अथवा संशयवादके नामसे उल्लिखित होता है, अनेकान्तवाद कहना अथवा बतलाना किसी तरह भी उचित एव सङ्गत नही है, क्योंकि सजयके वादमें एक भी सिद्धान्तकी स्थापना नही है; जैसाकि उसके उपरोक्त मत-प्रदर्शन और राहुलजीके पूर्वोक्त कथनसे स्पष्ट है। किन्तु अनेकान्तवादमे अस्तित्वादि सभी धर्मोकी स्थापना और निश्चय है। जिस जिस अपेक्षासे वे धर्म उसमे व्यवस्थित एव निश्चित हैं उन सबका निरूपक स्याद्वाद है। अनेकान्तवाद व्यवस्थाप्य है तो स्याद्वाद उसका व्यवस्थापक है। दूसरे शब्दोमे अनेकान्तवाद वस्तु (वाच्य-प्रमेय) रूप है और स्याद्वाद निर्णायक (वाचक-तत्त्व) रूप है। वास्तवमे अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्वको ठीक-ठीक समझने-समझाने, प्रतिपादन करने-करानेके लिये ही स्याद्वादका आविष्कार किया गया है, जिसके प्ररूपक जैनोके सभी (२४) तीर्थकर हैं। अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीरको उसका प्ररूपण उत्तराधिकारके रूपमे २३ वे तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथसे तथा भगवान् पार्श्वनाथको कृष्णके समकालीन २२ वें तीर्थकर अरिष्टनेमिसे मिला था। इस तरह पूर्व पूर्व तीर्थंकरसे अग्रिम तीर्थंकरको परम्परया स्याद्वादका प्ररूपण प्राप्त हुआ था। इस युगके प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हैं जो इस युगके आद्य स्याद्वादप्ररूपक हैं। महान् जैन तार्किक समन्तभद्र[1] और अकलङ्कदेव[2] जैसे प्रख्यात जैनाचार्योंने सभी तीर्थंकरोंको स्पष्टतः स्याद्वादी—स्याद्वादप्रतिपादक बतलाया है और उस रूपसे उनका गुण-कीर्तन किया है। जैनोंकी यह अत्यन्त प्रामाणिक मान्यता है कि उनके हर एक तीर्थकरका उपदेश 'स्याद्वादामृतगर्भ' होता है और वे 'स्याद्वादपुण्योदधि' होते हैं। अतः केवल भगवान् महावीर ही स्याद्वादके प्रतिष्ठापक व प्रतिपादक नही है। स्याद्वाद जैनधर्मका मौलिक सिद्धान्त है और वह भगवान् महावीरके पूर्ववर्ती ऐतिहासिक एवं प्रागैतिहासिक कालसे समागत है।

स्याद्वादका अर्थ और प्रयोग

'स्याद्वाद' पद स्यात् और वाद इन दो शब्दोंसे बना है। 'स्यात्' अव्यय निपातशब्द है, क्रिया अथवा अन्य शब्द नहीं, जिसका अर्थ है कथञ्चित्, किंचित्, किसी अपेक्षा, कोई एकदृष्टि, कोई एक धर्मकी

---

१. 'बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतू बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः।
स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तं नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥१४॥'—स्वयम्भूस्तोत्रगत संभवजिनस्तोत्र।

२. ''धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमो नमः।
वृषभादिमहावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये ॥१॥''—लघीयस्त्रय

विवक्षा कोई एक ओर। और 'वाद' शब्दका अर्थ है मान्यता अथवा कथन। जो स्यात् (कथञ्चित्) का कथन करनेवाला अथवा 'स्यात्' को लेकर प्रतिपादन करनेवाला है वह स्याद्वाद है। अर्थात् जो सर्वथा एकान्तका त्यागकर अपेक्षासे वस्तुस्वरूपका विधान करता है वह स्याद्वाद है। कथञ्चिद्वाद, अपेक्षावाद आदि इसीके दूसरे नाम हैं—इन नामोंसे भी उसीका बोध होता है। जैन तार्किकशिरोमणि स्वामी समन्तभद्रने आप्त-मीमांसा और स्वयम्भूस्तोत्रमे यही कहा है—

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधिः।
सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥१०४॥—आप्तमीमांसा।
सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीहिते॥
सर्वथानियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षक.।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम्॥—स्वयम्भूस्तोत्र।

अतः 'स्यात्' शब्दको संशयार्थक, भ्रमार्थक अथवा अनिश्चयात्मक नही समझना चाहिये। वह अविवक्षित धर्मोकी गौणता और विवक्षित धर्मकी प्रधानताको सूचित करता हुआ विवक्षित हो रहे धर्मका विधान एवं निश्चय करानेवाला है। संजयके अनिश्चिततावादकी तरह वह अनिर्णीति अथवा वस्तुतत्त्वकी सर्वथा अवाच्यताकी घोषणा नही करता। उसके द्वारा जैसा प्रतिवादन होता है वह समन्तभद्रके शब्दोंमे निम्न प्रकार है—

कथञ्चित्ते सदेवेष्टं कथञ्चिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥१४॥
सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१५॥
क्रमार्पितद्वयाद् द्वैतं, सहावाच्यमशक्तितः।
अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुतः ॥१६॥

अर्थात् जैनदर्शनमें समग्र वस्तुतत्त्व कथञ्चित् सत् ही है, कथंचित् असत् ही है प्रथा कथंचित् उभय ही है और कथंचित् अवाच्य ही है, सो यह सब नयविवक्षासे है, सर्वथा नही।

स्वरूपादि (स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव इन) चारसे उसे कौन सत् ही नही मानेगा और पररूपादि (परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परभाव इन) चारसे कौन असत् ही नहीं मानेगा। यदि इस तरह उसे स्वीकार न किया जाय तो उसकी व्यवस्था नही हो सकती।

क्रमसे अर्पित दोनों (सत् और असत्) की अपेक्षासे वह कथंचित् उभय ही है, एक साथ दोनों (सत् और असत्) को कह न सकनेसे अवाच्य ही है। इसी प्रकार अवक्तव्यके बादके अन्य तीन भङ्ग (सदवाच्य, असदवाच्य, और सदसदवाच्य) भी अपनी विवक्षाओंसे समझ लेना चाहिए।

यही जैनदर्शनका सप्तभङ्गी न्याय है जो विरोधी-अविरोधी धर्मयुगलको लेकर प्रयुक्त किया जाता है और तत्तत् अपेक्षाओंसे वस्तु—धर्मोका निरूपण करता है। स्याद्वाद एक विजयी योद्धा है और सप्तभङ्गी—न्याय उसका अस्त्र-शस्त्रादि विजय-साधन है। अथवा यों कहिए कि वह एक स्वतः सिद्ध न्यायाधीश है और सप्तभङ्गी उसके निर्णयका एक साधन है। जैनदर्शनके इन स्याद्वाद, सप्तभङ्गीन्याय, अनेकान्तवाद आदिका विस्तृत और प्रामाणिक विवेचन आप्तमीमांसा, स्वयम्भूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन, सन्मतिसूत्र, अष्टशती, अष्ट-सहस्री, अनेकान्तजयपताका, स्याद्वादमञ्जरी आदि जैन दार्शनिक ग्रन्थोंमें समुपलब्ध है।

संजयके अनिश्चिततावाद और जैनदर्शनके स्याद्वादमें अन्तर

ऊपर राहुलजीने संजयकी चतुर्भङ्गी इस प्रकार बतलाई है—

१. है ?—नहीं कह सकता ।

२. नहीं है ?—नही कह सकता ।

३. है भी नहीं भी ?—नहीं कह सकता ।

४. न है और न नही है ?—नही कह सकता ।

संजयने सभी परोक्ष वस्तुओंके बारेमें 'नही कह सकता' जवाब दिया है और इसलिये उसे अनिश्चिततावादी कहा गया है ।

जैनोंकी जो सप्तभंगी है वह इस प्रकार है—

१. वस्तु है ?—कथञ्चित् (अपनी द्रव्यादि चार अपेक्षाओंसे) वस्तु है ही—स्यादस्त्येव घटादिवस्तु ।

२. वस्तु नहीं है ?—कथञ्चित् (परद्रव्यादि चार अपेक्षाओंसे) वस्तु नहीं ही है—स्यान्नास्त्येव घटादि वस्तु ।

३ वस्तु है, नही (उभय) है ?—कथञ्चित् (क्रमसे अर्पित दोनों—स्वद्रव्यादि और परद्रव्यादि चार अपेक्षाओंसे) वस्तु है, नही (उभय) ही है—स्यादस्ति नास्त्येव घटादि वस्तु ।

४ वस्तु अवक्तव्य है ?—कथंचित् (एक साथ विवक्षित स्वद्रव्यादि और परद्रव्यादि दोनों अपेक्षाओंसे कही न जा सकनेसे) वस्तु अवक्तव्य ही है—स्यादवक्तव्यमेव घटादिवस्तु ।

५. वस्तु 'है—अवक्तव्य है' ?—कथंचित् (स्वद्रव्यादिसे और एक साथ विवक्षित दोनों स्व-पर-द्रव्यादिकी अपेक्षाओसे कही न जा सकनेसे) वस्तु 'है—अवक्तव्य ही है'—स्यादस्त्यवक्तव्यमेव घटादिवस्तु ।

६. वस्तु 'नही—अवक्तव्य है' ?—कथचित् (परद्रव्यादिसे और एक साथ विवक्षित दोनों स्व-पर द्रव्यादिकी अपेक्षासे कही न जा सकनेसे) वस्तु 'नही—अवक्तव्य ही है'—स्यान्नास्त्यवक्तव्यमेव घटादिवस्तु ।

७ वस्तु 'है—नहीं—अवक्तव्य है' ?—कथचित् (क्रमसे अर्पित स्व-पर द्रव्यादिसे और एक साथ अर्पित स्वपरद्रव्यादिकी अपेक्षासे कही न जा सकनेसे) वस्तु है, नही और अवक्तव्य ही है'—स्यादस्ति नास्त्यवक्तव्यमेव घटादि वस्तु ।

जैनोंकी इस सप्तभङ्गीमे पहला, दूसरा और चौथा ये तीन भङ्ग तो मौलिक हैं और तीसरा, पाँचवाँ, और छठा द्विसंयोगी तथा सातवाँ त्रिसंयोगी भङ्ग है और इस तरह अन्य चार भङ्ग मूलभूत तीन भङ्गोंके संयोगज भङ्ग है । जैसे नमक, मिर्च और खटाई इन तीनके संयोगज स्वाद चार ही बन सकते है—नमक-मिर्च, नमक-खटाई, मिर्च-खटाई और नमक-मिर्च-खटाई—इनसे ज्यादा या कम नही । इन संयोगी चार स्वादोंमे मूल तीन स्वादोंको और मिला देनेसे कुल स्वाद सात ही बनते हैं । यही सप्तभङ्गोंकी बात है । वस्तुमे यो तो अनन्तधर्म हैं, परन्तु प्रत्येक धर्मको लेकर विधि-निषेधकी अपेक्षासे सात ही धर्म व्यवस्थित हैं—सत्त्वधर्म, असत्त्वधर्म, सत्त्वासत्त्वोभय, अवक्तव्यत्व, सत्त्वावक्तव्यत्व, असत्त्वावक्तव्यत्व और सत्त्वासत्त्वावक्तव्यत्व । इन सातसे न कम हैं और न ज्यादा । अतएव शङ्काकारोंको सात ही प्रकारके सन्देह, सात ही प्रकारकी जिज्ञासाएँ, सात ही प्रकारके प्रश्न होते हैं और इसलिये उनके उत्तरवाक्य सात ही होते हैं, जिन्हें

सप्तभङ्ग या सप्तभङ्गीके नामसे कहा जाता है। इस तरह जैनोंकी सप्तभङ्गी उपपत्तिपूर्ण ढङ्गसे सुव्य-वस्थित और सुनिश्चित है। पर संजयकी उपर्युक्त चतुर्भङ्गीमें कोई भी उपपत्ति नहीं है। उसने चारों प्रश्नोंका जवाब 'नहीं कह सकता' में ही दिया है और जिसका कोई भी हेतु उपस्थित नहीं किया और इसलिये वह उनके विषयमें अनिश्चित है।

राहुलजीने जो ऊपर जैनोंकी सप्तभङ्गी दिखाई है वह भ्रमपूर्ण है। हम पहले कह आये हैं कि जैन-दर्शनमें 'स्याद्वाद'के अन्तर्गत 'स्यात्' शब्दका अर्थ 'हो सकता है' ऐसा सन्देह अथवा भ्रमरूप नहीं है उसका तो कथञ्चित् (किसी एक अपेक्षासे) अर्थ है जो निर्णयरूप है। उदाहरणार्थ देवदत्तको लीजिये, वह पिता-पुत्रादि अनेक धर्मरूप है। यदि जैनदर्शनसे यह प्रश्न किया जाय कि क्या देवदत्त पिता है ? तो जैनदर्शन स्याद्वाद द्वारा निम्न प्रकार उत्तर देगा—

१. देवदत्त पिता है—अपने पुत्रकी अपेक्षासे—'स्यात् देवदत्तः पिता अस्ति'।

२. देवदत्त पिता नहीं है—अपने पिता-मामा आदिकी अपेक्षासे—क्योंकि उनकी अपेक्षासे तो वह पुत्र, भानजा आदि है—'स्यात् देवदत्तः पिता नास्ति'।

३. देवदत्त पिता है और नहीं है—अपने पुत्रकी अपेक्षा और अपने पिता-मामा आदिकी अपेक्षा से—'स्यात् देवदत्तः पिता अस्ति च नास्ति च'।

४. देवदत्त अवक्तव्य है—एक साथ पिता-पुत्रादि दोनों अपेक्षाओंसे कहा न जा सकनेसे—'स्यात् देवदत्तः अवक्तव्यः'।

५. देवदत्त पिता 'है—अवक्तव्य है'—अपने पुत्रकी अपेक्षा तथा एक साथ पिता-पुत्रादि दोनों अपेक्षाओंसे कहा न जा सकनेसे—'स्यात् देवदत्तः पिता अस्त्यवक्तव्यः'।

६. देवदत्त 'पिता नही है—अवक्तव्य है'—अपने पिता-मामा आदिकी अपेक्षा और एक साथ पिता पुत्रादि दोनों अपेक्षाओंसे कहा न जा सकनेसे—'स्यात् देवदत्तः नास्त्यवक्तव्यः'।

७. 'देवदत्त पिता' है और नहीं है तथा अवक्तव्य है'—क्रमसे विवक्षित पिता-पुत्रादि दोनोंकी अपेक्षासे और एक साथ विवक्षित पिता-पुत्रादि दोनों अपेक्षाओंसे कहा न जा सकनेसे—'स्यात् देवदत्तः पिता अस्ति नास्ति चावक्तव्यः'।

यह ध्यान रहे कि जैनदर्शनमें प्रत्येक वाक्यमें उसके द्वारा प्रतिपाद्य धर्मका निश्चय करानेके लिये 'एवकारका' विधान अभिहित है जिसका प्रयोग नयविशारदोंके लिये यथेच्छ है—वे करें चाहे न करें। न करनेपर भी उसका अध्यवसाय वे कर लेते हैं। राहुलजी जब 'स्यात्' शब्दके मूलार्थके समझनेमें ही भारी भूल कर गये तब स्याद्वादकी भंगियोंके मेल-जोल करनेमें भूलें कर ही सकते थे और उसीका परिणाम है कि जैनदर्शनके सप्तभंगोंका प्रदर्शन उन्होंने ठीक तरह नही किया। हमें आशा है कि वे तथा स्याद्वादके सम्बन्धमें भ्रान्त अन्य विद्वान् भी जैनदर्शनके स्याद्वाद और सप्तभंगीको ठीक तरहसे ही समझने और उल्लेख करनेका प्रयत्न करेंगे।

यदि संजयके दर्शन और चतुर्भङ्गीको ही जैन दर्शनमें अपनाया गया होता तो जैनदार्शनिक उसके दर्शनका कदापि आलोचन न करते। अष्टशती और अष्टसहस्रीमें अकलंकदेव तथा विद्यानन्दने इस दर्शनकी जैसी कुछ कड़ी आलोचना करके उसमें दोषोंका प्रदर्शन किया है वह देखते ही बनता है। यथा—

'तर्ह्यस्तीति न भणामि, नास्तीति च न भणामि, यदपि च भणामि तदपि न भणामीति दर्शनमस्त्विति कश्चित्, सोपि पापीयान् । तथा हि सद्भावेतराभ्यामनभिलापे वस्तुनः केवलं मूकत्वं जगतः स्यात्, विधिप्रतिषेधव्यवहारायोगात् । न हि सर्वात्मनानभिलाप्यस्वभावं बुद्धिरध्यवस्यति । न चानध्यवसेयं प्रमितं नाम, गृहीतस्यापि तादृशस्यागृहीतकल्पत्वात् । मूर्च्छाचैतन्यवदिति ।"—अष्टस० पृ० १२९ ।

इससे यह साफ है कि संजयकी सदोष चतुर्भंगी और उसके दर्शनको जैनदर्शनने नहीं अपनाया। उसके अपने स्याद्वादसिद्धान्त, अनेकान्त-सिद्धान्त, सप्तभंगीसिद्धान्त संजयसे बहुत पहलेसे प्रचलित हैं। जैसे उसके अहिंसा-सिद्धान्त, अपरिग्रह-सिद्धान्त, कर्म-सिद्धान्त आदि सिद्धान्त प्रचलित हैं और जिनके आद्यप्रवर्त्तक इस युगके तीर्थङ्कर ऋषभदेव हैं और अन्तिम महावीर हैं। विश्वास है उक्त विद्वान् अपनी जैनदर्शन व स्याद्वादके बारेमें हुई भ्रान्तियोंका परिमार्जन करेंगे और उसकी घोषणा कर देंगे।

जैन दर्शनके समन्वयवादी दृष्टिकोणकी ग्राह्यता

यों तो किसी भी युग और किसी भी कालमें संघटन और ऐक्यकी महत्ता और आवश्यकता है, किन्तु वर्तमानमें उसकी नितान्त अपेक्षा है। राष्ट्रों, समाजों, जातियों और धर्मों सभीको एक सूत्रमें बंधकर रहनेकी जरूरत है। यदि राष्ट्र, समाज, जातियां और धर्म सहअस्तित्वके व्यापक और उदार सिद्धान्तको स्वीकार कर उसपर आचरण करें तो न राष्ट्रोंमें, न समाजोंमें, न जातियोंमें और न धर्मोंमें परस्पर संघर्षकी नौबत आ सकती है। विश्वके मानव यह सोच लें कि मानवताके नाते हमें जैसे रहने और जीनेका अधिकार है वैसे ही दूसरे मनुष्योंको भी, चाहे वे विश्वके किसी कोनेके, किसी समाजके, किसी जातिके, किसी धर्मके या किसी वर्गके हों। आखिर मनुष्य सब हैं और पैदा हुए हैं तो उन्हें अपने ढंगसे रहने तथा जीनेका भी हक प्राप्त है। यदि हम उनके इस हकको छीनते हैं तो यह न्याय नहीं कहलायेगा—अन्याय होगा और अन्याय करना मनुष्यके लिए न उचित है और न शान्तिदाता एवं प्रेम-प्रदर्शक है। यदि मनुष्यके सामने इतना विचार रहता है तो उनमें कभी संघर्ष नहीं हो सकता। संघर्ष होता है स्वार्थ और आत्माग्रहसे—अपने ही अस्तित्वको स्वीकार कर इतरका विरोध करनेसे। विश्वमें जब-जब युद्ध हुए या होते हैं तब-तब मनुष्य जातिके एक वर्गने दूसरे वर्गका विरोध किया, उसपर हमला किया और उसे ध्वस्त करनेका प्रयास किया है। आज भी विश्व दो गुटोंमे बंटा हुआ है तथा ये दोनों गुट एक-दूसरेके विरुद्ध मोरचाबन्दी किये हुए हैं। अपनी शक्तिको विरोधीके ध्वंसमें प्रयुक्त कर रहे हैं। फलतः युद्धका भय या युद्धकी आशंका निरन्तर रहती है। यदि दोनों गुट विरोधमे नहीं, निर्माणमे अपनी सम्मिलित शक्तिका उपयोग करें तो सारा विश्व सदा निर्भय, शान्त, सुखी और समृद्ध हो सकता है।

यद्यपि एक रुचि, एक विचार और एक आचारके सब नहीं हो सकते, सबकी रुचियां, सबके विचार और सबके आचार भिन्न-भिन्न होते हैं, किन्तु रुचि-भिन्नता, विचार-भिन्नता और आचार-भिन्नताके होते हुए भी उनमें समन्वयकी संभावना निश्चय ही विद्यमान रहती है। एक परिवारमें दस सदस्य हैं और सबकी रुचि, विचार और आचार अलग-अलग होते हैं। एक सदस्यको उड़दकी दाल अच्छी लगती है, दूसरेको अरहरकी दाल प्रिय है, तीसरेको हरी शाक स्वादिष्ट लगती है। इसी तरह अन्य सदस्योंकी रुचि अलग-अलग होती है। विचार भी सबके एक-से नही होते। एक राष्ट्रकी सेवाका विचार रखता है, दूसरा समाज-सेवाको अपना कर्त्तव्य समझता है, तीसरा धर्ममे संलग्न रहता है। दूसरे सदस्योके भी विचार जुदे-जुदे होते हैं। आचार भी सबका एकसा नही होता। एक कुर्ता, धोती और टोपी लगाता है, दूसरा कोट, पतलून और नेकटाईको पसन्द करता है, तीसरा पेटीकोट, साड़ी और जम्फरको अपनी पोशाक समझता है। यह तीसरा स्त्री सदस्य है, जो उस दश संख्यक परिवारकी ही एक सदस्या है। इसी प्रकार बच्चे आदि अपना पहिनाव अलग रखते हैं। इस प्रकार उस परिवारमें रुचि-भेद, विचार-भेद और आचार-भेद होनेपर भी उसके सदस्योंमें कभी संघर्ष नही होता। सबकी रुचियों, सबके विचारों और सबके आचारोंका ध्यान रखा जाता है और इस तरह उनमे सदा समन्वयके दृष्टिकोणसे सुख और शान्ति रहती है। कदाचित् छोटा-मोटा मत-भेद होनेपर आपसी समझौते या प्रमुखकी हितावह सलाहसे वह सब मतभेद दूर हो जाता है और पूरा परि-

वार सुख-शान्तिसे जीवनयापन करता है। विश्व भी एक परिवार है और राष्ट्र उसके सदस्य हैं उनमें रुचि-भेद, विचार-भेद और आचार-भेद होना स्वाभाविक है, पर परिवारके सदस्योंकी तरह उनमें तालमेल बैठाना या समझदार राष्ट्रोंको बीचमे पडकर निष्पक्ष ढंगसे उनमे समझौता करा देना आवश्यक है। इससे विश्वके छोटे-बड़े किसी भी राष्ट्रका अन्य राष्ट्रके साथ सघर्ष नही हो सकता। 'रहो और रहने दो' और 'जिओ और जीने दो' का सिद्धान्त ही सहअस्तित्वका सिद्धान्त है तथा यह सिद्धान्त ही मनुष्यजातिकी रक्षा, समृद्धि और हित कर सकता है। यह सिद्धान्त न्याय तथा सत्यका पोषक एवं समर्थक है। इस सिद्धान्तको ध्यानमे रखनेपर कभी न्याय या सत्यकी हत्या नही हो सकती तथा सारे विश्वमे निर्भयता एवं शान्ति बनी रह सकती है।

हमारे देशमे, जिसमे भगवान महावीर, गौतम बुद्ध, महर्षि जैमिनि, कणाद, अक्षपाद, कपिल आदि धर्मोपदेशकोंने जन्म लिया और अपने विचारों द्वारा जनकल्याण किया है, अनेक जातियाँ तथा अनेक धर्म हैं। सबका अपना-अपना स्थान है और सबको पनपने-बढ़नेका स्वातन्त्र्य है। एक जाति दूसरी जातिको, एक धर्म दूसरे धर्मको और एक वर्ग दूसरे वर्गको गिराकर बढ़ नही सकता। उसकी उन्नति या वृद्धि तभी सम्भव है जब वह दूसरेके भी अस्तित्वका विरोध नही करता, अपनी कुण्ठा, बुराइयो और कारणवश आ घुसी कम-जोरियोंको ही हटानेका प्रयास करता है। सच तो यह है कि दूसरी जाति, दूसरा धर्म या दूसरा वर्ग अपनी जाति, अपने धर्म और अपने वर्गका बाधक नही होता, बाधक वे दोष होते है जो हमपर हावी होकर हमसे अनौचित्य करानेमे सफल हो जाते हैं। ऐसे दोष हैं संकीर्णता, असहिष्णुता, मूढ़ता, कदाग्रह, ईर्ष्या, अहकार और अनुदारता। यदि सतर्कता, विवेक, सहिष्णुता, सत्याग्रह, अमात्सर्य, निरहकार और उदारतासे काम लिया जाय तो जातियों, धर्मों और वर्गोमे कभी भी संघर्षकी सम्भावना नही की जा सकती है। जो हमारा है वह सत्य है और जो परका है वह असत्य है, यही दृष्टिकोण संघर्षको जन्म देता है। इस संघर्षको बचाने-के लिए अनेकान्तवादी दृष्टिकोण होना चाहिए। उस दृष्टिकोणसे ही परस्परमे सौहार्द सम्भव है। यदि कोई गलत मार्गपर है तो सही मार्ग उसके सामने रख दीजिये और उनमेसे एक मार्ग चुननेकी छूट उसे दे दीजिये। आप उसके लिए अपना आग्रह न करे। निश्चय ही वह अपने विवेकसे काम लेगा और सत्यका अनुसरण करेगा।

सत्यका आग्रह

आज विज्ञानका युग है। समझदार लोग विज्ञानके आधारसे सोचना, कहना और करना चाहते है। यह दृष्टिकोण सत्यके आग्रहका दृष्टिकोण है। लेकिन कभी-कभी आग्रही उसके माध्यमसे असत्यका भी सम-र्थन करने लगता है। अतः पूर्वाग्रहसे मुक्त होनेपर ही सत्यको कहा और पकड़ा जा सकता है। समाजके दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों वर्ग भगवान् महावीरके शासनके अनुयायी हैं। छोटे-मोटे उनमे अनेक मतभेद है और उनके गृहस्थो तथा साधुओमे आचार-भेद भी हैं। किन्तु सबको बाँधनेवाला और एकसूत्रमे रखने वाला महावीरका शासन है। जो मतभेद और आचार-भेद हो चुके है वे यदि कम हो सके तो अच्छा है और यदि कम न भी हों तब भी वे एक सूत्रमें बँधे रह सकते हैं। पिछली शताब्दियोंमे दोनों परम्पराओंमे फासला ही हुआ है, उन्हे समेटनेका दूरदर्शी सफल प्रयास हुआ हो, यह ज्ञात नही। फलतः दोनोंका साहित्य, दोनोंके आचार्य और दोनोके तीर्थ उत्तरोत्तर बढते गये है। इतना ही होता तो कोई हानि नही थी। किन्तु आज अपने साहित्य, अपने आचार्य और अपने तीर्थका आग्रह रखकर भी दूसरी परम्पराके साहित्य, आचार्य और तीर्थोंके विषयमे स्वस्थ दृष्टिकोण नही है। एक साहित्यके महारथी अपने साहित्यकी अनुशंसा करते समय

दूसरेके साहित्यको उसकी छाया या अनुसरण सिद्ध करनेमें जब अपनी शक्ति लगाते हैं तो दूसरा उसका विरोध करनेके लिए तैयार रहता है। एक आचार्य अपनी श्रेष्ठता बतलाकर दूसरे आचार्यकी समालोचनाके लिए उद्यत रहता है तो समालोच्य आचार्य भी पीछे क्यों रहेगा। समाजके तीर्थोंका प्रश्न भी ऐसा ही है। अपना प्रभुत्व और हक रहे, दूसरेका वहाँ प्रवेश न हो, यह दृष्टिकोण समाजके दोनों वर्गोको परेशान किये हुए है। फलतः संघर्ष भी होते है और उनमें विपुल धन-राशि भी व्यय होती है। यदि दोनों वर्ग महावीरके शासनमें आस्था रखते हुए समन्वयका दृष्टिकोण अपना लें तो दोनोंकी सम्मिलित शक्ति, दोनोंका सम्मिलित साहित्य और दोनोके सम्मिलित तीर्थ समाजके अपार वैभवके सूचक तो होंगे ही, दोनों अपने विचार और आचारके अनुसार अपनी आस्थाको बनाये रखेंगे तथा संख्याकी दृष्टिसे वे दुगुने कहे जायेंगे। जबतक वे अलग-अलग दो भागो या तीन भागो मे बंटे रहेंगे तबतक अन्य लोगोंको समुचित लाभ नहीं पहुँचा सकते हैं और न अहिंसा, स्याद्वाद, अनेकान्त एवं अपरिग्रह जैसे सिद्धान्तोंका विश्वको उचित मात्रामे दर्शन करा सकते है। अतः आवश्यक है कि जैन दर्शनमें अनेकान्तवादी या समन्वयवादी दृष्टिकोणपर गम्भीरतासे विचार करें और उसका आचरण कर ऐक्य एवं संघटनकी दिशामें प्रयत्न करें।
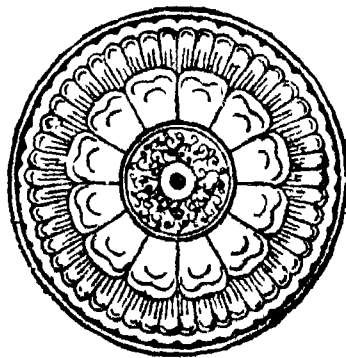
वैदिक संस्कृतिको श्रमण-संस्कृतिकी देन

[दिन और रातकी तरह अच्छाई और बुराईका, पुण्य और पापका, विचार-विभिन्नताका साथ सदासे ही रहा है। इतिहासके पन्नोंसे जहां यह स्पष्ट होता है कि श्रमणसंस्कृतिका अस्तित्व भारतमें प्राचीनतम कालसे है वहां यह भी स्पष्ट होता है कि उसका विरोध भी बहुत पुराना है। पुराणोंके अनुसार भगवान् ऋषभदेवके समयसे ही उनके विरोधी भी उत्पन्न हो गये थे। इतने दीर्घकालसे साथ-साथ रहनेके कारण दोनोंने ही एक-दूसरेसे बहुत कुछ लिया-दिया है। श्रमण-संस्कृतिने श्रमणेतर-संस्कृतिको जो कुछ दिया उसमें प्रमुख हैं अहिंसा, मूर्तिपूजा, अध्यात्म आदि।]

जिस वर्ग, समाज या राष्ट्रकी कला, साहित्य, रीति-रिवाज, रहन-सहन, खान-पान, पहनाव-ओढाव, धर्म-नीति, व्रत-पर्व आदि प्रवृत्तियां जिस विचार और आचारसे अनुप्राणित होती है या की जाती है वे उस वर्ग, समाज या राष्ट्रके उस विचार और आचार मूलक मानी जाती है। ऐसी प्रवृत्तियां ही सस्कृति कही जाती है।

भारत एक विशाल देश है। इसके भिन्न-भिन्न भागोमें सदासे ही भिन्न-भिन्न विचार और आचार रहे हैं तथा आज भी ऐसा ही है। इसलिए यहा कभी एक, व्यापक और सर्वग्राह्य संस्कृति रही हो, यह सभव नही और न ज्ञात ही है। हाँ, इतना अवश्य जान पड़ता है कि दूर अतीतमे दो संस्कृतियोंका प्राधान्य अवश्य रहा है। ये दो संस्कृतिया है-१ वैदिक और-२ अवैदिक। वैदिक संस्कृतिका आधार वेदानुसारी आचार-विचार है और अवैदिक संस्कृतिका मूल अवेदानुसारी अर्थात् पुरुष-विशेषका अनुभवाश्रित आचार-विचार है। ये दोनों सस्कृतिया जहाँ परस्परमे संघर्षशील रही है वहाँ वे परस्पर प्रभावित भी होती रही हैं।

वैदिक (ब्राह्मण) संस्कृति

१. वैदिक (ब्राह्मण) संस्कृतिमे वेदको ही सर्वोपरि मानकर वेदानुयायियोंकी सारी प्रवृत्तियां तदनुसारी रही हैं। इस संस्कृतिमें वेदप्रतिपादित यज्ञोंका प्राधान्य रहा है और उनमे अनेक प्रकारकी हिंसाको विधेय स्वीकार किया गया है। **'याज्ञिकी हिंसा हिंसा न भवति'** कहकर उस हिंसाका विधान करके उसे खुल्लम-खुल्ला छूट दे दी गयी है। उसका परिणाम यह हुआ कि उत्तर कालमे मांस-भक्षण, मद्यपान और मैथुन-सेवन जैसी निन्द्य प्रवृत्तिया भी आ घुसीं और उनमे दोषाभावका प्रतिपादन किया गया—

> 'न मांस-भक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने।
> प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला॥
>
> —मनुस्मृति।

इतना ही नहीं, उन्हें जीवोंकी प्रवृत्ति (स्वभाव) बतलाकर उन्हे स्वच्छन्द छोड़ दिया गया है—उनपर कोई नियन्त्रण नही रखा। फलतः उनसे निवृत्ति होना दुस्साध्य बतलाया है। सोमयज्ञमे एक वर्षकी लाल

गायके हवनका विधान, अन्य यज्ञोंमें श्वेत बकरेकी बलिका निर्देश जैसे सैकड़ों हिंसा-प्रतिपादक अनुष्ठानादेश वेदविहित हैं—'एक हायन्या अरुणया गवा सोमं क्रीणाति,' 'श्वेतमजमालभेत' आदि।

२. वैदिक संस्कृति मीमांसक विचार और अनुष्ठान प्रधान है। अतएव आरम्भमें इसमें ईश्वरका कोई स्थान न था। क्रिया ही अनुष्ठेय एवं उपास्य थी। किसी पुरुषविशेषको उपास्य या ईश्वर मानना इस संस्कृतिके लिए इष्ट नहीं रहा, क्योंकि उसे माननेपर वेदकी अपौरुषेयतापर आंच आती और खतरेमें, पड़ती है। इसीलिए वैदिक मन्त्रोंमे केवल इन्द्र, वरुण जैसे देवताओंका ही आह्वान हैं। राम, कृष्ण, शिव विष्णु जैसे पुरुषावतारी ईश्वरकी उपासना इस संस्कृतिमें आरम्भमे नहीं रही। वह तो उत्तर कालमें आयी और उनके लिए मन्दिर बने तथा तीर्थोंका स्थापन हुआ।

३ जहाँ तक ऐतिहासिकों और समीक्षकोंका विचार है यह संस्कृति क्रियाप्रधान है, अध्यात्म-प्रधान नही। वेदोंमे आत्माका विवेचन अनुपलब्ध है। वह उपनिषदोंके माध्यमसे इस संस्कृतिमे पीछे आया है। माण्डूक्य उपनिषद्मे कहा है कि विद्या दो प्रकारकी है—१. परा और २. अपरा। परा विद्या आत्म-विद्या है और अपरा विद्या कर्म-काण्ड है। छान्दोग्योपनिषद्मे आत्म-विद्याकी प्राप्ति क्षत्रियोंसे और क्रियाकाण्डका ज्ञान ब्राह्मणोसे बतलाया गया है। इससे प्रतीत होता है कि उस सुदूर कालमें आत्म-विद्या इस संस्कृतिमे नही थी।

४. वेदोंमें यज्ञ करनेसे स्वर्गप्राप्तिका निर्देश है, मोक्ष या निःश्रेयस की कोई चर्चा नहीं है। उसका प्रतिपादन इस संस्कृतिमे पीछे समाविष्ट हुआ है।

५. वेदोंमे तप, त्याग, ध्यान, संयम और शम जैसे आध्यात्मिक साधनोंको कोई स्थान प्राप्त नहीं है। तत्त्वज्ञानका भी प्रतिपादन नही है। उनमे केवल 'यजेत् स्वर्गकामः' जैसे निर्देशो द्वारा स्वर्गकामीके लिए यज्ञका ही विधान है।

अवैदिक (श्रमण) संस्कृति

इसके विपरीत अवैदिक (श्रमण) संस्कृतिमें, जो पुरुष-विशेषके अनुभवपर आधृत है और जो श्रमण-संस्कृति या तीर्थंकर-संस्कृतिके नामसे जानी-पहचानी जाती है, वे सभी (ईश्वर, निःश्रेयस, तप, ध्यान, संयम, शम आदि) बातें पायी जाती हैं जो वैदिक संस्कृतिमें आरम्भमें नहीं थी। यद्यपि जैन और बौद्ध दोनोंकी संस्कृतिको अवैदिक अर्थात् श्रमण-संस्कृति कहा जाता है। पर यथार्थमें आर्हत संस्कृति ही अवैदिक (श्रमण) सस्कृति है, क्योंकि उसे समण—सम + उपदेशक अर्हत्के अनुभव—केवलज्ञानमूलक माना गया है। दूसरे, बुद्ध भी आरम्भमे तीर्थंकर पार्श्वनाथकी परम्परामे हुए निर्ग्रन्थ मुनि पिहितास्रवसे दीक्षित हुए थे और वर्षो तक तदनुसार दया, समाधि, केशलुंचन, अनशनादि तप आदि प्रवृत्तियोंका आचरण करते रहे थे। बादको निर्ग्रन्थ-तप की क्लिष्टताको सहन न कर सकनेके कारण उन्होंने निर्ग्रन्थ-मार्गको छोड़ दिया और मध्यम मार्ग अपना लिया। फिर भी दया, समाधि आदि कुशल कर्मोंको नही त्यागा और बोधि प्राप्त हो जानेके बाद उन्होंने भी निर्ग्रन्थ संस्कृतिके दया, समाधि आदिका उपदेश दिया तथा वैदिक क्रियाकाण्ड-को बिना आत्मज्ञान (तत्त्वज्ञान) के थोथा बतलाया। इसीलिए उनकी विचारधारा और आचरण वैदिक संस्कृतिके अनुकूल न होने और केवलज्ञानमूलक श्रमण-संस्कृतिके कुछ अनुकूल होनेसे उसे श्रमण-संस्कृति-में समाहित कर लिया गया है।

१. विदित है कि श्रमणसंस्कृतिमें हिंसाको कहीं स्थान नहीं है। अहिंसाकी ही सर्वत्र प्रतिष्ठा है। न केवल क्रियामे, अपितु वाणी और मानसमे भी अहिंसाकी अनिवार्यता प्रतिपादित है। आचार्य समन्तभद्र-ने इसीसे अहिंसाको जगत् विदित 'परम ब्रह्म' निरूपित किया है—'**अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्**,'[1] इस अहिंसाका सर्वप्रथम विचार और आचार युगके आदि में ऋषभदेवके द्वारा प्रकट हुआ। वही अहिंसाका विचार और आचार परम्परया मध्यवर्ती तीर्थंकरों द्वारा नेमिनाथको प्राप्त हुआ। उनसे पार्श्व-नाथको और पार्श्वनाथसे तीर्थंकर महावीरको मिला। इसीसे उनके शासनको स्वामी समन्तभद्रने दया, समाधि, दम और त्यागसे ओतप्रोत बतलाया है—'**दया-दम-त्याग-समाधिनिष्ठं**।'[1] इससे यह सहजमें समझा जा सकता है कि वैदिक संस्कृतिमे अहिंसाकी उपलब्धि श्रमण-संस्कृतिकी देन है, अहिंसामूलक आचार-विचार उसीका है।

२. श्रमणसंस्कृतिकी दूसरी देन यह है कि उसने वेदके स्थानमे पुरुषविशेषका महत्त्व स्थापित किया और उसके अनुभवको प्रतिष्ठित किया। उसने बतलाया कि पुरुषविशेष अकलंक अर्थात् ईश्वर हो सकता है—**दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषास्त्यतिशायनात्। क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः॥**[2] अतएव इस संस्कृति-मे पुरुषविशेषका महत्त्व बढ़ाया गया और उन पुरुषविशेषों—तीर्थकरोंकी पूजा-उपासना प्रचलित की गयी तथा उनकी उपासनार्थ उपासनामन्दिरों एवं तीर्थोंका निर्माण हुआ। इसका इतना प्रभाव पड़ा कि अपौरुषेय वेदके अनुयायियोंमें ही कितने ही वेदको ईश्वरकृत मानने लगे और राम, कृष्ण, शिव, विष्णु जैसे पुरुषोंको ईश्वरका अवतार स्वीकार कर उनकी उपासना करने लगे। फलत वैदिक संस्कृतिमे भी उनकी उपासनाके लिए अनेकों सुन्दर मन्दिरोंका निर्माण हुआ तथा तीर्थ भी बने।

३. निःसन्देह वैदिक संस्कृति जहाँ क्रियाप्रधान है, तत्त्वज्ञान उसके लिए गौण है वहाँ श्रमण-संस्कृति तत्त्वज्ञानप्रधान है और क्रिया उसके लिए गौण है। यह भी प्रकट है कि यह संस्कृति क्षत्रियोंकी संस्कृति है, जो उनकी आत्मविद्यासे निसृत हुई। सभी तीर्थङ्कर क्षत्रिय थे। अतः वैदिक संस्कृतिमें जो आत्मविद्याका विचार उपनिषदोंके रूपमें आया और जिसने वेदान्त (वेदोंके अन्त) का प्रचार किया वह निश्चय ही श्रमण (तीर्थंकर) संस्कृतिका स्पष्ट प्रभाव है। और इसलिए वैदिक संस्कृतिको आत्मविद्याकी देन भी श्रमण संस्कृतिकी विशिष्ट एवं अनुपम देन है।

४. वेदोंमें स्वर्गसे उत्तम अन्य स्थान नही है। अतः वैदिक संस्कृतिमें यज्ञादि करनेवालेको स्वर्ग-प्राप्तिका निर्देश है। इसके विपरीत श्रमण सस्कृतिमे स्वर्गको सुखका सर्वोच्च और शाश्वत स्थान न मानकर मोक्षको माना गया है। स्वर्ग एक प्रकारका संसार ही है, जहाँसे मनुष्यको वापिस आना पड़ता है। परन्तु मोक्ष शाश्वत और स्वाभाविक सुखका स्थान है। उसे प्राप्त कर लेनेपर मनुष्य मुक्तसिद्ध परमात्मा हो जाता है और वहाँसे उसे लौटकर आना नही पड़ता। इस प्रकार मोक्ष या निःश्रेयसकी मान्यता श्रमण संस्कृतिकी है, जिसे उत्तरकालमें वैदिक संस्कृतिमें भी अपना लिया गया है।

५. श्रमणसंस्कृतिमे आत्माको उपादेय और शरीर, इन्द्रिय तथा भोगोंको हेय बतलाया गया है। संसार-बन्धनसे मुक्ति पानेके लिए दया (अहिंसा), दम (इन्द्रिय-निग्रह), त्याग (अपरिग्रह) और समाधि

१. युक्त्यनु० का० ६। २. देवागम का० ४।

(ध्यान, योग) का निरूपण इस संस्कृतिमें किया गया है। ये सब आध्यात्मिक गुण हैं। प्रमाण और नयसे तत्त्व (आत्मा) का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेका प्रतिपादन भी आरम्भसे इसी संस्कृतिमें है—'**दया-दम-त्याग-समाधिनिष्ठं नय-प्रमाणप्रकृताञ्जसार्थम्**[1]।' इससे अवगत होता है कि अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, अपरिग्रह, समाधि और तत्त्वज्ञान, जो वैदिक संस्कृतिमें आरम्भमें नहीं थे और न वेदोंमें प्रतिपादित थे, बादमें वे उसमें आदृत हुए हैं, श्रमणसंस्कृतिकी वैदिक संस्कृतिको असाधारण देन है।

यदि दोनों संस्कृतियोंके मूलका और गहराईसे अन्वेषण किया जाये तो ऐसे पर्याप्त तथ्य उपलब्ध होंगे, जो यह सिद्ध करनेमें सक्षम होंगे कि क्या किसकी देन है—किसने किसको क्या दिया-लिया है।

---
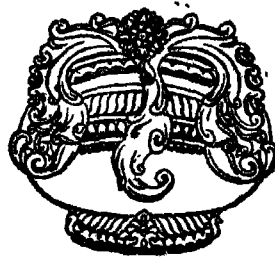
१. युक्त्यनुशा० का० ४।

डाक्टर अम्बेद्करसे भेंटवार्तामें महत्त्वपूर्ण अनेकान्त-चर्चा

१४ नवम्बर १९४८ को सिद्धार्थ कालेज बम्बईके प्रोफेसर और अनेक ग्रन्थोंके निर्माता सर्वतंत्र-स्वतंत्र पं० माधवाचार्य विद्यामार्तण्डके साथ हमें डाक्टर अम्बेडकरसे, जो स्वतन्त्र भारतको विधान-मसविदा समितिके अध्यक्ष थे और जिन्हे स्वतन्त्र भारतके विधान-निर्माता होनेसे वर्तमान भारतमें 'मनु' की संज्ञा दी जाती है तथा कानूनके विशेषज्ञ विद्वानोंमें सर्वोच्च एवं विख्यात विद्वान् माने जाते हैं, भेंट करनेका अवसर मिला था।

डाक्टर सा० कानूनके पण्डित तो थे ही, दर्शनशास्त्रके भी विद्वान् थे, यह हमे तब पता चला, जब उनसे दार्शनिक चर्चा-वार्ता हुई। उन्होंने विभिन्न दर्शनोका गहरा एवं तुलनात्मक अध्ययन किया है। बौद्ध-दर्शन और जैन दर्शनका भी अच्छा परिशीलन किया है।

जब हम उनसे मिले तब हमारे हाथमें 'अनेकान्त' के प्रथम वर्षकी फाइल थी, जिसमे उक्त प्रोफेसर सा० का एक निबन्ध 'भारतीय दर्शनशास्त्र' शीर्षक छपा था और उसमें प्रोफेसर सा० ने जैन दर्शनके स्याद्वाद और अनेकान्त सिद्धान्त पर उत्तम विचार प्रकट किये हैं। डाक्टर सा० ने बड़े सौजन्यसे हमसे कुछ प्रश्न किये और जिनका उत्तर हमने दिया। यह प्रश्नोत्तर महत्त्वका है। अतः यहाँ दे रहे हैं।

डॉक्टर सा०—आपके इस अखबारका नाम 'अनेकान्त' क्यों है ?

मैं—'अनेकान्त' जैन दर्शनका एक प्रमुख सिद्धान्त है, जिसका अर्थ नानाधर्मात्मक वस्तु है। अनेकका अर्थ नाना है और अन्तका अर्थ धर्म है और इसलिए दोनोंका सम्मिलित अर्थ नानाधर्मात्मक वस्तु है। जैन दर्शनमे विश्वकी सभी वस्तुएँ (पदार्थ) नानाधर्मात्मक प्रतिपादित हैं। एक घड़ेको लीजिए। वह मृत्तिका (मिट्टी) की अपेक्षा शाश्वत (नित्य, एक, अभेदरूप) है—उसका उस अपेक्षासे न नाश होता है और न उत्पाद होता है। किन्तु उसकी कपालादि अवस्थाओंकी अपेक्षासे वह अशाश्वत (अनित्य, अनेक, भेदरूप) है—उसका उन अवस्थाओकी अपेक्षासे नाश भी होता है, उत्पाद भी होता है। इस तरह घड़ा शाश्वत-अशाश्वत (नित्यानित्य), एकानेक और भेदाभेदरूप होनेसे अनेकान्तात्मक है। इसी प्रकार सभी वस्तुएँ विधि-प्रतिषेधरूप उभयात्मक होनेसे अनेकान्तात्मक हैं। एक सरल उदाहरण और दे रहा हूँ। जिसे हम लोग डाक्टर या वकील कहकर सम्बोधित करते है उसे उनका पुत्र 'पिताजी' कहकर पुकारता है और उनके पिताजी उसे 'बेटा' कहकर बुलाते है। इसी तरह भतीजा 'चाचा' और चाचा 'भतीजा' तथा भानजा 'मामा' और मामा 'भानजा' कहकर बुलाते हैं। यह सब व्यवहार या सम्बन्ध डाक्टर या वकील-में एक साथ एक कालमें होते या हो सकते हैं, जब जिसकी विवक्षा होगी, तब। हाँ, यह हो सकता है कि जब जिसकी विवक्षा होगी वह मुख्य और शेष सभी व्यवहार या सम्बन्ध या धर्म गौण हो जायेंगे, उनका लोप या अभाव नहीं होगा। यही विश्वकी सभी वस्तुओंके विषयमें है। वस्तुके इस नानाधर्मात्मक स्वभाव-रूप अनेकान्तसिद्धान्तका सूचन या ज्ञापन करनेके लिए इस अखबारका नाम '**अनेकान्त**' रखा गया है।

डॉक्टर सा०—दर्शनका प्रयोजन तो जगत्में शान्तिका मार्ग दिखानेका है। किन्तु जितने दर्शन हैं वे सब परस्परमें विवाद करते हैं। उनमें खण्डन-मण्डन और एक-दूसरेको बुरा कहनेके सिवाय कुछ नहीं मालूम पड़ता है ?

मैं—निःसन्देह आपका यह कहना ठीक है कि 'दर्शन' का प्रयोजन जगत्में शान्तिका मार्ग-प्रदर्शन है और इसी लिए दर्शनशास्त्रका उदय हुआ है। जब लोकमें धर्मके नामपर अन्धश्रद्धा बढ़ गयी और लोगोंका गतानुगतिक प्रवर्त्तन होने लगा, तो दर्शनशास्त्र बनाने पड़े। दर्शनशास्त्र हमें बताता है कि अपने हितका मार्ग परीक्षा करके चुनो। **'धेलेकी हंडी भी ठोक-बजाकर खरीदी जाती है'** तो धर्मका भी ग्रहण ठोक-बजाकर करो। अमुक पुस्तकमें ऐसा लिखा है अथवा अमुक व्यक्तिका यह कथन है, इतने मात्रसे उसे मत मानो। अपने विवेकसे उसकी जांच करो, युक्त हो तो मानो, अन्यथा नहीं। जैन दर्शन तो स्पष्ट कहता और घोषणा करता है—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

मूलमे सभी दर्शनकारोंका यही अभिप्राय रहा है कि मेरे इस दर्शनसे जगत्को शान्तिका मार्ग मिले। किन्तु उत्तर कालमें पक्षाग्रह आदिसे उनके अनुयायियोने उनके उस स्वच्छ अभिप्रायको सुरक्षित नहीं रखा और वे परपक्षखण्डन एवं स्वपक्षमण्डनके दल-दलमें फँस गये। इससे वे दर्शन विवादजनक हो गये। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जैन दर्शनमे विवादोंको समन्वित करने और मिटानेके लिए स्याद्वाद और अहिंसा ये दो शान्तिपूर्ण तरीके स्वीकार किये गये हैं। अहिंसाका तरीका आक्षेप और आक्रमणको रोकता है तथा स्याद्वाद उन सम्बन्धों, व्यवहारों एवं धर्मोंका समन्वय कर उनकी व्यवस्था करता है। कौन सम्बन्ध या धर्म वस्तुमें किस विवक्षासे है, यह स्याद्वाद व्यवस्थित करता है। उदाहरणार्थ द्रव्य (सामान्य) की अपेक्षा वस्तु सदा नित्य है और अवस्थाओं—परिणमनोंकी अपेक्षा वही वस्तु अनित्य है। पहलेमें द्रव्यार्थिकनयका दृष्टिकोण विवक्षित है और दूसरेमें पर्यायार्थिकनयका दृष्टिकोण है। जैन दर्शनमें असत्यार्थ—एकान्त मान्यताका अवश्य निषेध किया जाता है और यह जरूरी भी है। अन्यथा सन्देह, विपर्यय और अनध्यवसायसे वस्तुका सम्यग्ज्ञान नहीं हो पायेगा। घटमे घटका ज्ञान ही तो सत्य है, अघटमे घटका ज्ञान सत्य नहीं है। उसे कोई सत्य मानता है तो उसका निषेध तो करना ही पड़ेगा।

डाक्टर सा०—समन्वयका मार्ग तो ठीक नहीं है। उससे जनताको न शान्ति मिल सकती है और न सही मार्ग। हां, जो विरोधी है उसका निराकरण होना ही चाहिए ?

मैं—मेरा अभिप्राय यह है कि वस्तुमें सतत विद्यमान दो धर्मोंमेंसे एक-एक धर्मको ही यदि कोई मानता है और विरोधी दिखनेसे दूसरे धर्मका वह निराकरण करता है तो स्याद्वाद द्वारा यह बतलाया जाता है कि 'स्यात्'—कथंचित्—अमुक दृष्टिसे अमुक धर्म है और 'स्यात्'—कथंचित्—अमुक दृष्टिसे अमुक धर्म है और इस तरह दोनों धर्म वस्तुमे है। जैसे, वेदान्ती आत्माको सर्वथा नित्य और बौद्ध उसे सर्वथा अनित्य (क्षणिक) मानते हैं। जैन दर्शन स्याद्वाद सिद्धान्तसे बतलाता है कि द्रव्यकी विवक्षासे वेदान्तीका आत्माको नित्य मानना सही है और अवस्था—परिणमनकी अपेक्षासे आत्माको अनित्य मानना बौद्धका कथन ठीक है। किन्तु आत्मा न सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य है। अतएव दोनों—वेदान्ती और बौद्धका आत्माको कथंचित् नित्य (द्रव्य दृष्टिसे) और कथंचित् अनित्य (पर्यायदृष्टिसे) उभयात्मक स्वीकार करना ही वस्तुस्वरूपका प्रतिपादन कहा जायेगा। उसकी गलत ऐकान्तिक मान्यताका तो निषेध करना ही

चाहिए। यही समन्वयका मार्ग है। हमारा सब सच और दूसरेका सब झूठ, यह वस्तु-निर्णयकी सम्यक् नीति नही है। हिन्दुस्तान हिन्दुओंका ही है, ऐसा मानने और कहनेमे झगड़ा है। किन्तु वह उसके निवासी जैनो, बौद्धों, मुसलमानों आदि दूसरोंका भी है, ऐसा मानने तथा कहनेमे झगड़ा नही होता। स्याद्वाद यही बतलाता है। जब हम स्याद्वादको दृष्टिमें रखकर कुछ कहते हैं या व्यवहार करते है तो सत्यार्थकी प्राप्तिमे कोई भी विरोधी नहीं मिलेगा, जिसका निराकरण करना पड़े।

डाक्टर सा०—बुद्ध और महावीरकी सेवाधर्मकी नीति अच्छी है। उसे अपनानेसे ही जनताको शान्ति मिल सकती है?

मैं—सेवाधर्म अहिंसाका ही एक अङ्ग है। अहिंसकको सेवाभावी होना ही चाहिए। महावीर और बुद्धने इस अहिंसाद्वारा ही जनताको बडी शान्ति पहुँचायी थी और यही उन दोनों महापुरुषोंकी लोकोत्तर सेवा थी, जिसमे जनताके कल्याण और अभ्युदयकी भावना तथा प्रयत्न समाया हुआ था। महात्मा गाधीने भी अहिंसासे राष्ट्रको स्वतन्त्र किया। वास्तवमे सेवा, परिचर्या, वैयावृत्य आदि अहिंसाके ही रूपान्तर हैं। कोई सेवा द्वारा, कोई परिचर्या द्वारा और कोई वैयावृत्य द्वारा जनताके कष्टोको दूर करता है और यह कष्ट दूर करना ही अहिंसाकी साधना है।

डाक्टर सा०—आज आपने बहुत-सी दर्शन-सम्बन्धी गूढ बातोंकी चर्चा की, इसकी हमें प्रसन्नता है।

मैं—मुझे खुशी है कि आपने अपना बहुमूल्य समय इस वार्ताके लिए दिया, इसके लिए आपको धन्यवाद देता हूँ।

यह वार्ता बड़ी मैत्री और सौजन्यपूर्ण हुई। लगभग आधे घंटे तक यह हुई।
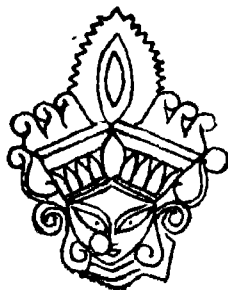
जैन दर्शनमें सल्लेखना : एक अनुशीलन

पृष्ठभूमि

जन्मके साथ मृत्युका और मृत्युके साथ जन्मका अनादि-प्रवाह सम्बन्ध है। जो उत्पन्न होता है। उसकी मृत्यु भी अवश्य होती है और जिसकी मृत्यु होती है उसका जन्म भी होता है[1]। इस तरह जन्म और मरणका प्रवाह तबतक प्रवाहित रहता है जबतक जीवकी मुक्ति नहीं होती। इस प्रवाहमें जीवोंको नाना क्लेशों और दुःखोंको भोगना पड़ता है। परन्तु राग-द्वेष और इन्द्रियविषयोंमें आसक्त व्यक्ति इस ध्रुव सत्य-को जानते हुए भी उससे मुक्ति पानेकी ओर लक्ष्य नहीं देते[2]। प्रत्युत जब कोई पैदा होता है तो उसका वे 'जन्मोत्सव' मनाते तथा हर्ष व्यक्त करते हैं। और जब कोई मरता है तो उसकी मृत्युपर आँसू बहाते एवं शोक प्रकट करते हैं।

पर संसार-विरक्त मुमुक्षु सन्तोंकी वृत्ति इससे भिन्न होती है। वे अपनी मृत्युको अच्छा मानते हैं और यह सोचते हैं कि जीर्ण-शीर्ण शरीररूपी पिंजरेसे आत्माको छुटकारा मिल रहा है[3]। अतएव जैन मनीषियोंने उनकी मृत्युको 'मृत्युमहोत्सव'के रूपमें वर्णन किया है[4]। इस वैलक्षण्यको समझना कुछ कठिन नहीं है। यथार्थमें साधारण लोग संसार (विषय-कषायके पोषक चेतनाचेतन पदार्थो) को आत्मीय समझते हैं। अत उनके छोडनेमे उन्हे दु खका अनुभव होता है और उनके मिलनेमें हर्ष होता है। परन्तु शरीर और आत्माके भेदको समझनेवाले ज्ञानी वीतरागी सन्त न केवल विषय-कषायकी पोषक बाह्य वस्तुओंको ही, अपितु अपने शरीरको भी पर—अनात्मीय मानते हैं। अतः शरीरको छोड़नेमें उन्हें दुःख न होकर प्रमोद होता है। वे अपना वास्तविक निवास इस द्वन्द्व-प्रधान दुनियाको नही मानते, किन्तु मुक्तिको समझते हैं और सद्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, त्याग, सयम आदि आत्मीय गुणोंको अपना यथार्थ परिवार मानते हैं। फलतः सन्तजन यदि अपने पौद्गलिक शरीरके त्यागपर 'मृत्यु-महोत्सव' मनायें तो कोई आश्चर्य नहीं है। वे अपने रुग्ण, अशक्त, जर्जरित, कुछ क्षणोंमें जानेवाले और विपद्-ग्रस्त जीर्ण-शीर्ण शरीरको छोड़ने तथा नये शरीरको ग्रहण करनेमे उसी तरह उत्सुक एवं प्रमुदित होते हैं जिस तरह कोई व्यक्ति अपने पुराने, मलिन, जीर्ण और काम न दे सकनेवाले वस्त्रको छोड़ने तथा नवीन वस्त्रके परिधानमे अधिक प्रसन्न होता है[5]।'

---

१ 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।'—गीता, २-२७।

२. ३. 'संसारासक्तचित्तानां मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम्।
मोदायते पुनः सोऽपि ज्ञान-वैराग्यवासिनाम्॥'—मृत्युमहोत्सव, श्लो० १७।

४. 'ज्ञानिन्! भयं भवेत्कस्मात्प्राप्ते मृत्यु-महोत्सवे।
स्वरूपस्थः पुरं याति देहाद्देहान्तरस्थितिः॥—मृत्युमहोत्सव, श्लो० १०।

५. जीर्णं देहादिकं सर्वं नूतनं जायते यतः।
स मृत्युः किं न मोदाय सतां सातोत्थितिर्यथा॥—मृत्युमहोत्सव, श्लो० १५।
गीतामें भी इसी भावको प्रदर्शित किया गया है। यथा—
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥—गीता, २-२२।

इसी तथ्यको दृष्टिमें रखकर संवेगी जैन श्रावक या जैन साधु अपना मरण सुधारनेके लिए उक्त परिस्थितियोंमें सल्लेखना ग्रहण करता है। वह नहीं चाहता कि उसका शरीर-त्याग रोते-विलपते, संक्लेश करते और राग-द्वेषकी अग्निमें झुलसते हुए असावधान अवस्थामें हो, किन्तु दृढ, शान्त और उज्ज्वल परिणामोंके साथ विवेकपूर्ण स्थितिमें वीरोंकी तरह उसका शरीर छूटे। सल्लेखना मुमुक्षु श्रावक और साधु दोनोंके इसी उद्देश्यकी पूरक है। प्रस्तुतमें उसीके सम्बन्धमें कुछ प्रकाश डाला जाता है।

सल्लेखना और उसका महत्त्व

'सल्लेखना' शब्द जैन-धर्मका पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है—'सम्यक्काय-कषाय-लेखना सल्लेखना'—सम्यक् प्रकारसे काय और कषाय दोनोको कृश करना सल्लेखना है। तात्पर्य यह कि मरण-समयमें की जानेवाली जिस क्रिया-विशेषमे बाहरी और भीतरी अर्थात् शरीर तथा रागादि दोषोका, उनके कारणोंको कम करते हुए प्रसन्नतापूर्वक बिना किसी दबावके स्वेच्छासे लेखन अर्थात् कृशीकरण किया जाता है उस उत्तम क्रिया-विशेषका नाम सल्लेखना है[1]। उसीको 'समाधिमरण' कहा गया है। यह सल्लेखना जीवनभर आचरित समस्त व्रतो, तपो और सयमकी सरक्षिका है। इसलिए इसे जैन-सस्कृतिमे 'व्रतराज' भी कहा है।

अपने परिणामोंके अनुसार प्राप्त जिन आयु, इन्द्रियो और मन, वचन, काय इन तीन बलोंके संयोगका नाम जन्म है और उन्हीके क्रमशः अथवा सर्वथा क्षीण होनेको मरण कहा गया है। यह मरण दो प्रकारका है—एक नित्यमरण और दूसरा तद्भव-मरण। प्रतिक्षण जो आयु आदिका ह्रास होता रहता है वह नित्य-मरण है तथा उत्तरपर्यायकी प्राप्तिके साथ पूर्व पर्यायका नाश होना तद्भव-मरण है[2]। नित्य-मरण तो निरन्तर होता रहता है, उसका आत्म-परिणामोंपर विशेष प्रभाव नही पड़ता। पर तद्भव-मरणका कषायों एवं विषय-वासनाओंकी न्यूनाधिकताके अनुसार आत्म-परिणामोंपर अच्छा या बुरा प्रभाव अवश्य पड़ता है। इस तद्भव-मरणको सुधारने और अच्छा बनानेके लिये ही पर्यायके अन्तमें 'सल्लेखना' रूप अलौकिक प्रयत्न किया जाता है। सल्लेखनासे अनन्त ससारकी कारणभूत कषायोका आवेग उपशमित अथवा क्षीण हो जाता है तथा जन्म-मरणका प्रवाह बहुत ही अल्प हो जाता अथवा बिलकुल सूख जाता है। जैन लेखक आचार्य शिवार्य सल्लेखनाधारण पर बल देते हुए कहते हैं[3] कि 'जो भद्र एक पर्यायमे समाधिमरण-पूर्वक मरण करता है वह संसारमें सात-आठ पर्यायसे अधिक परिभ्रमण नहीं करता—उसके बाद वह अवश्य मोक्ष पा लेता है।' आगे वे सल्लेखना और सल्लेखना-धारकका महत्त्व बतलाते हुए यहाँ तक

१ (क) 'सम्यक्काय-कषाय-लेखना सल्लेखना। कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापन-क्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना।'—पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि ७-२२।

(ख) 'मारणान्तिकी सल्लेखनां ज्योषिता'—आ० गृद्धपिच्छ, तत्त्वार्थसू० ७–२२।

२. 'स्वायुरिन्द्रियबलसक्षयो मरणम्। स्वपरिणामोपात्तस्यायुषः इन्द्रियाणां बलाना च कारणवशात् संक्षयो मरणमिति मन्यन्ते मनीषिणः। मरण द्विविधम्, नित्यमरणं तद्भवमरणं चेति। तत्र नित्यमरणं समये समये स्वायुरादीनां निवृत्तिः। तद्भवमरण भवान्तरप्राप्त्यनन्तरोपश्लिष्टं पूर्वभवविगमनम्।'—
—अकलङ्कदेव, तत्त्वार्थवा० ७-२२।

३. 'एगम्मि भवग्गहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो।
ण हु सो हिंडदि बहुसो सत्तट्ठ-भवे पमत्तूण॥'—भगवती आरा०।

लिखते हैं[1] कि 'सल्लेखना-धारक (क्षपक) का भक्तिपूर्वक दर्शन, वन्दन और वैयावृत्य आदि करनेवाला व्यक्ति भी देवगतिके सुखोंको भोगकर अन्तमें उत्तम स्थान (निर्वाण) को प्राप्त करता है।'

तेरहवीं शताब्दीके प्रौढ़ लेखक पण्डितप्रवर आशाधरजीने भी इसी बातको बड़े ही प्रांजल शब्दोंमें स्पष्ट करते हुए कहा है[2] कि 'स्वस्थ शरीर पथ्य आहार और विहार द्वारा पोषण करने योग्य है तथा रुग्ण शरीर योग्य औषधियों द्वारा उपचारके योग्य है। परन्तु योग्य आहार-विहार और औषधोपचार करते हुए भी शरीरपर उनका अनुकूल असर न हो, प्रत्युत रोग बढ़ता ही जाय, तो ऐसी स्थितिमें उस शरीरको दुष्टके समान छोड़ देना ही श्रेयस्कर है।' वे असावधानी एवं आत्मघातके दोषसे बचनेके लिए कुछ ऐसी बातोंकी ओर भी संकेत करते हैं, जिनके द्वारा शीघ्र और अवश्य मरणकी सूचना मिल जाती है। उस हालतमें व्रतीको आत्मधर्मको रक्षाके लिए सल्लेखनामे लीन हो जाना ही सर्वोत्तम है।

इसी तरह एक अन्य विद्वान्ने भी प्रतिपादन किया है कि 'जिस शरीरका बल प्रतिदिन क्षीण हो रहा है, भोजन उत्तरोत्तर घट रहा है और रोगादिकके प्रतीकार करनेकी शक्ति नहीं रही है वह शरीर ही विवेकी पुरुषोंको यथाख्यातचारित्र (सल्लेखना) के समयको इंगित करता है[3]'।

मृत्युमहोत्सवकारकी दृष्टिमें समस्त श्रुताभ्यास, घोर तपश्चरण और कठोर व्रताचरणकी सार्थकता तभी है जब मुमुक्षु श्रावक अथवा साधु विवेक जागृत हो जानेपर सल्लेखनापूर्वक शरीर त्याग करता है। वे लिखते हैं[4] :—

> 'जो फल बड़े-बड़े व्रती पुरुषोंको कायक्लेशादि तप, अहिंसादि व्रत धारण करनेपर प्राप्त होता है वह फल अन्त समयमें सावधानीपूर्वक किये गये समाधिमरणसे जीवोंको सहजमें प्राप्त हो जाता है।[5] अर्थात् जो आत्म-विशुद्धि अनेक प्रकारके तपादिसे होती है वह अन्त समयमे समाधिपूर्वक शरीर-त्यागसे प्राप्त हो जाती है।'

'बहुत कालतक किये गये उग्र तपोंका, पाले हुए व्रतोंका और निरन्तर अभ्यास किये हुए शास्त्र ज्ञानका एक-मात्र फल शान्तिके साथ आत्मानुभव करते हुए समाधिपूर्वक मरण करना है।'

---

१. 'सल्लेहणाए मूलं जो वच्चइ तिव्व-भत्ति-राएण।
भोत्तूण य देव-सुखं सो पावदि उत्तमं ठाणं ॥—भगवती आरा०।

२. 'कायः स्वस्थोऽनुवर्त्यः स्यात्प्रतिकार्यश्च रोगितः।
उपकारं विपर्यस्यंस्त्याज्यः सद्भिः खलो यथा ॥' —आशाधर, सागरधर्मा० ८–६।

३. 'देहादिवैकृतैः सम्यक्निमित्तैस्तु सुनिश्चिते।
मृत्यावाराधनामग्नमतेर्दूरे न तत्पदम् ॥—सागारधर्मा०, ८-१०।

४. प्रतिदिवसं विजहद्बलमुज्झद्भुक्तिं त्यजत्प्रतीकारम्।
वपुरेव नृणां निगदति चरमचरित्रोदयं समयम् ॥—आदर्श सल्ले०, पृ० १९।

५. यत्फलं प्राप्यते सद्भिर्व्रतायासविडम्बनात्।
तत्फलं सुखसाध्यं स्यान्मृत्युकाले समाधिना ॥
तप्तस्य तपसश्चापि पालितस्य व्रतस्य च।
पठितस्य श्रुतस्यापि फलं मृत्युः समाधिना ॥—मृत्युमहोत्सव, श्लोक २१, २३।

विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दीके विद्वान् स्वामी समन्तभद्रकी मान्यतानुसार जीवनमें आचरित तपोंका फल वस्तुतः अन्त समयमें गृहीत सल्लेखना ही है। अतः वे उसे पूरी शक्तिके साथ धारण करनेपर जोर देते हैं[1]।

आचार्य पूज्यपाद-देवनन्दि भी सल्लेखनाके महत्त्व और आवश्यकताको बतलाते हुए लिखते हैं[2] कि 'मरण किसीको इष्ट नहीं है। जैसे अनेक प्रकारके सोना-चाँदी, बहुमूल्य वस्त्रों आदिका व्यवसाय करने-वाले किसी व्यापारीको अपने उस घरका विनाश कभी इष्ट नहीं है, जिसमें उक्त बहुमूल्य वस्तुएँ रखी हुई हैं। यदि कदाचित् उसके विनाशका कारण (अग्निका लगना, बाढ़ आजाना या राज्यमें विप्लव होना आदि) उपस्थित हो जाय, तो वह उसकी रक्षाका पूरा उपाय करता है और जब रक्षाका उपाय सफल होता हुआ दिखाई नहीं देता, तो घरमे रखे हुए बहुमूल्य पदार्थोंको बचानेका भरसक प्रयत्न करता है और घरको नष्ट होने देता है। उसी तरह व्रत-शीलादि गुणोंका अर्जन करनेवाला व्रती-श्रावक या साधु भी उन व्रतादिगुण-रत्नोंके आधारभूत शरीरकी, पोषक आहार-औषधादि द्वारा, रक्षा करता है, उसका नाश उसे इष्ट नहीं है। पर दैववश शरीरमें उसके विनाश-कारण (असाध्य रोगादि) उपस्थित हो जायें, तो वह उनको दूर करनेका यथासाध्य प्रयत्न करता है। परन्तु जब देखता है कि उनका दूर करना अशक्य है और शरीरकी रक्षा अब सम्भव नहीं है, तो उन बहुमूल्य व्रत-शीलादि आत्म-गुणोंकी वह सल्लेखना-द्वारा रक्षा करता है और शरीर-को नष्ट होने देता है।'

इन उल्लेखोंसे सल्लेखनाकी उपयोगिता, आवश्यकता और महत्ता सहजमें जानी जा सकती है। ज्ञात होता है कि इसी कारण जैन-संस्कृतिमें सल्लेखनापर बड़ा बल दिया गया है। जैन लेखकोंने अकेले इसी विषयपर प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी आदि भाषाओंमें अनेकों स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे हैं। आचार्य शिवार्यकी 'भगवती आराधना' इस विषयका एक अत्यन्त प्राचीन और महत्त्वपूर्ण विशाल प्राकृत-ग्रन्थ है। इसी प्रकार 'मृत्युमहोत्सव', 'समाधिमरणोत्साहदीपक', 'समाधिमरणपाठ' आदि नामोंसे संस्कृत तथा हिन्दीमें भी इसी विषयपर अनेक कृतियाँ उपलब्ध हैं।

सल्लेखनाका काल, प्रयोजन और विधि

यद्यपि ऊपरके विवेचनसे सल्लेखनाका काल और प्रयोजन ज्ञात हो जाता है तथापि उसे यहाँ और भी अधिक स्पष्ट किया जाता है। आचार्य समन्तभद्रस्वामीने सल्लेखना-धारणका काल (स्थिति) और उसका प्रयोजन बतलाते हुए लिखा है—

> उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
> धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः॥ —रत्नकरण्डश्रावका० ५-१।

---

१. अन्तःक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्॥—रत्नकरण्डश्रा० ५-२।

२. 'मरणस्यानिष्टत्वात्। यथा वणिजो विविधपण्यदानादानसंचयपरस्य स्वगृहविनाशोऽनिष्टः। तद्विनाश-कारणे च कुतश्चिदुपस्थिते यथाशक्ति परिहरति। दुष्परिहारे च पण्यविनाशो यथा न भवति तथा यतते। एवं गृहस्थोऽपि व्रतशीलपण्यसंचये प्रवर्तमानस्तदाश्रयस्य न पातमभिवाञ्छति। तदुपप्लवकारणे चोपस्थिते स्वगुणाविरोधेन परिहरति। दुष्परिहारे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति तथा प्रयतते।'
—सर्वार्थसि० ७-२२।

'अपरिहार्य उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और रोग—इन अवस्थाओंमें आत्मधर्मकी रक्षाके लिए जो शरीरका त्याग किया जाता है वह सल्लेखना है।'

स्मरण रहे कि जैन व्रती—श्रावक या साधुकी दृष्टिमें शरीरका उतना महत्त्व नहीं है जितना आत्मा-का है; क्योंकि उसने भौतिक दृष्टिको गौण और आध्यात्मिक दृष्टिको उपादेय माना है। अतएव वह भौतिक शरीरकी उक्त उपसर्गादि संकटावस्थाओंमें, जो साधारण व्यक्तिको विचलित कर देनेवाली होती हैं, आत्म-धर्मसे च्युत न होता हुआ उसकी रक्षाके लिए साम्यभावपूर्वक शरीरका उत्सर्ग कर देता है। वास्तवमें इस प्रकारका विवेक, बुद्धि और निर्मोहभाव उसे अनेक वर्षोंके चिरन्तन अभ्यास और साधना द्वारा ही प्राप्त होता है। इसीसे सल्लेखना एक असामान्य असिधारा-व्रत है जिसे उच्च मन स्थितिके व्यक्ति ही धारण कर पाते हैं। सच बात यह है कि शरीर और आत्माके मध्यका अन्तर (शरीर जड, हेय और अस्थायी है तथा आत्मा चेतन, उपादेय और स्थायी है) जान लेनेपर सल्लेखना-धारण कठिन नहीं रहता। उस अन्तरका ज्ञाता यह स्पष्ट जानता है कि 'शरीरका नाश अवश्य होगा, उसके लिए अविनश्वर फलदायी धर्मका नाश नही करना चाहिए, क्योंकि शरीरका नाश हो जानेपर तो दूसरा शरीर पुनः मिल सकता है। परन्तु आत्म-धर्मका नाश हो जानेपर उसका पुनः मिलना दुर्लभ है[1]।' अतः जो शरीर-मोही नही होते वे आत्मा और अनात्माके अन्तरको जानकर समाधिमरण द्वारा आत्मासे परमात्माकी ओर बढ़ते हैं। जैन सल्लेखनामें यही तत्त्व निहित है। इसीसे प्रत्येक जैन देवोपासनाके अन्तमे प्रतिदिन यह पवित्र कामना करता है[2]—

'हे जिनेन्द्र ! आप जगत् बन्धु होनेके कारण मैं आपके चरणोंकी शरणमे आया हूँ। उसके प्रभावसे मेरे सब दुःखोंका अभाव हो, दुःखोंके कारण ज्ञानावरणादि कर्मोका नाश हो और कर्मनाशके कारण समाधि-मरणकी प्राप्ति हो तथा समाधिमरणके कारणभूत सम्यक्बोध (विवेक) का लाभ हो।'

जैन संस्कृतिमें सल्लेखनाका यही आध्यात्मिक उद्देश्य एवं प्रयोजन स्वीकार किया गया है। लौकिक भोग या उपभोग या इन्द्रादि पदकी उसमें कामना नहीं की गई है। मुमुक्षु श्रावक या साधुने जो अब तक व्रत-तपादि पालनका घोर प्रयत्न किया है, कष्ट सहे हैं, आत्म-शक्ति बढ़ाई है और असाधारण आत्म-ज्ञानको जागृत किया है उसपर सुन्दर कलश रखनेके लिए वह अन्तिम समयमें भी प्रमाद नही करना चाहता। अतएव वह जागृत रहता हुआ सल्लेखनामें प्रवृत्त होता है।

सल्लेखनावस्थामे उसे कैसी प्रवृत्ति करना चाहिए और उसकी विधि क्या है ? इस सम्बन्धमें भी जैन लेखकोंने विस्तृत और विशद विवेचन किया है। आचार्य समन्तभद्रने सल्लेखनाकी निम्न प्रकार विधि बतलाई है[3] :—

१. नावश्यं नाशिने हिंस्यो धर्मो देहाय कामदः।
   देहो नष्टः पुनर्लभ्यो धर्मस्त्वत्यन्तदुर्लभः ॥ —सा० ध०, ८–७।

२. दुक्ख-खओ कम्म-खओ समाहिमरणं च बोहिलाहो य।
   मम होउ जगदबंधव ! तव जिणवर ! चरणसरणेण ॥—भारतीय० ज्ञान० पू०, पृ० ८७।

३. स्नेहं संगं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः।
   स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः ॥
   आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम्।
   आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम् ॥

सल्लेखना-धारी सबसे पहले इष्ट वस्तुओंमे राग, अनिष्ट वस्तुओंमें द्वेष, स्त्री-पुत्रादि प्रियजनोंमें ममत्व और धनादिमें स्वामित्वका त्याग करके मनको शुद्ध बनाये। इसके पश्चात् अपने परिवार तथा सम्बन्धित व्यक्तियोंसे जीवनमें हुए अपराधोंको क्षमा कराये और स्वय भी उन्हें प्रिय वचन बोलकर क्षमा करे।

इसके अनन्तर वह स्वयं किये, दूसरोंसे कराये और अनुमोदना किये हिंसादि पापोंकी निश्छल भावसे आलोचना (उनपर खेद-प्रकाशन) करे तथा मृत्युपर्यन्त महाव्रतोंका अपनेमें आरोप करे।

इसके अतिरिक्त आत्माको निर्बल बनानेवाले शोक, भय, अवसाद, ग्लानि, कलुषता और आकुलता जैसे आत्म-विकारोंका भी परित्याग करे तथा आत्मबल एवं उत्साहको प्रकट करके अमृतोपम शास्त्र-वचनों द्वारा मनको प्रसन्न रखे।

इस प्रकार कषायको शान्त अथवा क्षीण करते हुए शरीरको भी कृष करनेके लिए सल्लेखनामे प्रथमतः अन्नादि आहारका, फिर दूध, छाछ आदि पेय पदार्थोंका त्याग करे। इसके अनन्तर कांजी या गर्म जल पीनेका अभ्यास करे।

अन्तमें उन्हें भी छोड़कर शक्तिपूर्वक उपवास करे। इस तरह उपवास करते एवं पंचपरमेष्ठीका ध्यान करते हुए पूर्ण विवेकके साथ सावधानीमे शरीरको छोड़े।

इस अन्तरङ्ग और बाह्य विधिसे सल्लेखनाधारी आनन्द-ज्ञानस्वभाव आत्माका साधन करता है और वर्तमान पर्यायके विनाशसे चिन्तित नही होता, किन्तु भावी पर्यायको अधिक सुखी, शान्त, शुद्ध एव उच्च बनानेका पुरुषार्थ करता है। नश्वरसे अनश्वरका लाभ हो, तो उसे कौन बुद्धिमान् छोड़ना चाहेगा ? फलतः सल्लेखना-धारक उन पाँच दोषोंसे भी अपनेको बचाता है, जिनसे उसके सल्लेखना-व्रतमें दूषण लगनेकी सम्भावना रहती है। वे पाँच दोष निम्न प्रकार बतलाये गये हैं[1] :—

सल्लेखना ले लेनेके बाद जीवित रहनेकी आकांक्षा करना, कष्ट न सह सकनेके कारण शीघ्र मरनेकी इच्छा करना, भयभीत होना, स्नेहियोंका स्मरण करना और अगली पर्यायमें सुखोंकी चाह करना ये पाँच सल्लेनाव्रतके दोष हैं, जिन्हे 'अतिचार' कहा गया है।

शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा।
सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः ॥
आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम्।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः ॥
खरपान-हापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या।
पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन ॥—रत्नक० श्रा० ५,३—७।
जीवित-मरणाशंसे भय-मित्रस्मृति-निदान-नामानः।
सल्लेखनातिचाराः पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टाः ॥—रत्नक० श्रा० ५,८।

सल्लेखनाका फल

सल्लेखना-धारक धर्मका पूर्ण अनुभव और लाभ लेनेके कारण नियमसे निःश्रेयस अथवा अभ्युदय प्राप्त करता है। समन्तभद्रस्वामीने सल्लेखनाका फल बतलाते हुए लिखा है[1] :—

'उत्तम सल्लेखना करनेवाला धर्मरूपी अमृतका पान करनेके कारण समस्त दुःखोंसे रहित होकर या तो वह निःश्रेयसको प्राप्त करता है और या अभ्युदयको पाता है, जहाँ उसे अपरिमित सुखोंकी प्राप्ति होती है।'

विद्वद्वर पण्डित आशाधरजी कहते हैं[2] कि 'जिस महापुरुषने संसार-परम्पराके नाशक समाधिमरणको धारण किया है उसने धर्मरूपी महान् निधिको परभवमें जानेके लिए अपने साथ ले लिया है, जिससे वह उसी तरह सुखी रहे जिस प्रकार एक ग्रामसे दूसरे ग्रामको जानेवाला व्यक्ति पासमें पर्याप्त पाथेय होनेपर निराकुल रहता है। इस जीवने अनन्त बार मरण किया, किन्तु समाधि-सहित पुण्य-मरण कभी नहीं किया, जो सौभाग्यसे या पुण्योदयसे अब प्राप्त हुआ है। सर्वज्ञदेवने इस समाधि-सहित पुण्य-मरणकी बडी प्रशंसा की है, क्योंकि समाधिपूर्वक मरण करनेवाला महान् आत्मा निश्चयसे संसाररूपी पिंजरेको तोड देता है—उसे फिर संसारके बन्धनमें नहीं रहना पड़ता है।'

सल्लेखनामें सहायक और उनका महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य

आराधक जब सल्लेखना ले लेता है, तो वह उसमें बड़े आदर, प्रेम और श्रद्धाके साथ संलग्न रहता है तथा उत्तरोत्तर पूर्ण सावधानी रखता हुआ आत्म-साधनामें गतिशील रहता है। उसके इस पुण्य-कार्यमें, जिसे एक '**महान्-यज्ञ**' कहा गया है, पूर्ण सफल बनाने और उसे अपने पवित्र पथसे विचलित न होने देनेके लिए निर्यापकाचार्य (समाधिमरण करानेवाले अनुभवी मुनि) उसकी सल्लेखनामें सम्पूर्ण शक्ति एवं आदरके साथ उसे सहायता पहुँचाते हैं और समाधिमरणमें उसे सुस्थिर रखते हैं। वे सदैव उसे तत्त्वज्ञान-पूर्ण मधुर उपदेश करते तथा शरीर और संसारकी असारता एवं क्षणभंगुरता दिखलाते हैं, जिससे वह उनमें मोहित न हो, जिन्हें वह हेय समझकर छोड चुका या छोडनेका सकल्प कर चुका है, उनकी पुनः चाह न करे। आचार्य शिवार्यने भगवती-आराधना (गा० ६५०–६७६) में समाधिमरण-करानेवाले इन निर्यापक मुनियोका बड़ा सुन्दर और विशद वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है :—

'वे मुनि (निर्यापक) धर्मप्रिय, दृढश्रद्धानी, पापभीरु, परीषह-जेता, देश-काल-ज्ञाता, योग्यायोग्य-विचारक, न्यायमार्ग-मर्मज्ञ, अनुभवी, स्वपरतत्व-विवेकी, विश्वासी और परम-उपकारी होते हैं। उनकी संख्या अधिकतम ४८ और न्यूनतम २ होती है।'

१. निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम्।
निःपिबति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढः ॥—रत्नक० ५-९।

२. सहगामि कृतं तेन धर्मसर्वस्वमात्मनः।
समाधिमरणं येन भव-विध्वंसि साधितम् ॥
प्राग्जन्तुनाऽमुनाऽनन्ताः प्राप्तास्तद्भवमृत्यवः।
समाधिपुण्यो न परं परमश्चरमक्षणः ॥
परं शंसन्ति माहात्म्यं सर्वज्ञाश्चरमक्षणे।
यस्मिन्समाहिता भव्या भञ्जन्ति भव-पञ्जरम् ॥—सा०ध० ७–५८, ८–२७, २८।

'४८ मुनि क्षपककी इस प्रकार सेवा करें। ४ मुनि क्षपकको उठाने-बैठाने आदिरूपसे शरीरकी टहल करें। ४ मुनि धर्म-श्रमण करायें। ४ मुनि भोजन और ४ मुनि पान करायें। ४ मुनि देख-भाल रखें। ४ मुनि शरीरके मलमूत्रादि क्षेपणमें तत्पर रहें। ४ मुनि वसतिकाके द्वारपर रहें, जिससे अनेक लोग क्षपकके परिणामोंमें क्षोभ न कर सकें। ४ मुनि क्षपककी आराधनाको सुनकर आये लोगोंको सभामें धर्मोपदेशद्वारा सन्तुष्ट करें। ४ मुनि रात्रिमें जागें। ४ मुनि देशकी ऊँच-नीच स्थितिके ज्ञानमें तत्पर रहें। ४ मुनि बाहर-से आये-गयोंसे बातचीत करें। और ४ मुनि क्षपकके समाधिमरणमें विघ्न करनेकी सम्भावनासे आये लोगोंसे वाद (शास्त्रार्थ द्वारा धर्म-प्रभावना) करें। इस प्रकार ये निर्यापक मुनि क्षपकको समाधिमें पूर्ण प्रयत्नसे सहायता करते हैं। भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें कालकी विषमता होनेसे जैसा अवसर हो और जितनी विधि बन जाये तथा जितने गुणोंके धारक निर्यापक मिल जाये उतने गुणोंवाले निर्यापकोंसे भी समाधि करायें, अतिश्रेष्ठ है। पर एक निर्यापक नहीं होना चाहिए, कम-से-कम दो होना चाहिए, क्योंकि अकेला एक निर्यापक क्षपककी २४ घण्टे सेवा करनेपर थक जायगा और क्षपककी समाधि अच्छी तरह नहीं करा सकेगा[१]।'

इस कथनसे दो बातें प्रकाशमें आती है। एक तो यह कि समाधिमरण करानेके लिए दोसे कम निर्यापक नहीं होना चाहिए। सम्भव है कि क्षपककी समाधि अधिक दिन तक चले और उस दशामे यदि निर्यापक एक हो तो उसे विश्राम नहीं मिल सकता। अतः कम-से-कम दो निर्यापक तो होना ही चाहिए। दूसरी बात यह कि प्राचीन कालमें मुनियोंकी इतनी बहुलता थी कि एक-एक मुनिकी समाधिमें ४८, ४८ मुनि निर्यापक होते थे और क्षपककी समाधिको वे निर्विघ्न सम्पन्न कराते थे। ध्यान रहे कि यह साधुओंकी समाधिका मुख्यतः वर्णन है। श्रावकोंकी समाधिका वर्णन यहाँ गौण है।

ये निर्यापक क्षपकको जो कल्याणकारी उपदेश देते तथा उसे सल्लेखनामें सुस्थिर रखते हैं, उसका पण्डित आशाधरजीने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है[२]। वह कुछ यहाँ दिया जाता है :—

'हे क्षपक ! लोकमें ऐसा कोई पुद्गल नहीं, जिसका तुमने एकसे अधिक बार भोग न किया हो, फिर भी वह तुम्हारा कोई हित नहीं कर सका। परवस्तु क्या कभी आत्माका हित कर सकती है ? आत्मा-का हित तो उसीके ज्ञान, संयम और श्रद्धादि गुण ही कर सकते हैं। अतः बाह्य वस्तुओंसे मोहको त्यागो, विवेक तथा संयमका आश्रय लो। और सदैव यह विचारो कि मैं अन्य हूँ और पुद्गल अन्य है। 'मैं चेतन हूँ, ज्ञाता-द्रष्टा हूँ और पुद्गल अचेतन है, ज्ञान-दर्शनरहित है। मैं आनन्दघन हूँ और पुद्गल ऐसा नहीं है।'

१. पिय-धम्मा दढ-धम्मा संविग्गावज्जभीरुणो धीरा।
छंदण्हू पच्चइया पच्चक्खाणम्मि य विदण्हू ॥
कप्पाकप्पे कुसला समाधिकरणज्जुदा सुद-रहस्सा।
गीदत्था भयवंतो अड़यालीसं (४८) तु णिज्जवया ॥
णिज्जवया य दोण्णि वि होंति जहण्णेण कालसंसयणा।
एक्को णिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते ॥ —शिवार्य, भगवती आराधना गा० ६६२-६७३।
२. सागारधर्मामृत ८-४८ से ८-१०७।

'हे क्षपकराज ! जिस सल्लेखनाको तुमने अब तक धारण नहीं किया था उसे धारण करनेका सुअवसर तुम्हें आज प्राप्त हुआ है। उस आत्महितकारी सल्लेखनामें कोई दोष न आने दो। तुम परीषहों—क्षुधादिके कष्टोंसे मत घबड़ाओ। वे तुम्हारे आत्माका कुछ बिगाड़ नहीं सकते। उन्हें तुम सहनशीलता एवं धीरतासे सहन करो और उनके द्वारा कर्मोंकी असंख्यगुणी निर्जरा करो।'

'हे आराधक ! अत्यन्त दुःखदायी मिथ्यात्वका वमन करो, सुखदायी सम्यक्त्वका आराधना करो, पंचपरमेष्ठीका स्मरण करो, उनके गुणोंमें सतत अनुराग रखो और अपने शुद्ध ज्ञानोपयोगमें लीन रहो। अपने महाव्रतोंकी रक्षा करो, कषायोंको जीतो, इन्द्रियोंको वशमें करो, सदैव आत्मामें ही आत्माका ध्यान करो, मिथ्यात्वके समान दुःखदायी और सम्यक्त्वके समान सुखदायी तीन लोकमें अन्य कोई वस्तु नहीं है। देखो, धनदत्त राजाका संघश्री मन्त्री पहले सम्यग्दृष्टि था, पीछे उसने सम्यक्त्वकी विराधना की और मिथ्यात्वका सेवन किया, जिसके कारण उसकी आँखें फूट गईं और संसार-चक्रमें उसे घूमना पड़ा। राजा श्रेणिक तीव्र मिथ्यादृष्टि था, किन्तु बादको उसने सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया, जिसके प्रभावसे उसने अपनी बँधी हुई नरककी स्थितिको कम करके तीर्थङ्कर-प्रकृतिका बन्ध किया और भविष्यत्कालमे वह

'इसी तरह हे क्षपक ! जिन्होंने परीषहों एवं उपसर्गोंको जीत करके महाव्रतोंका पालन किया, उन्होंने अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त किया है। सुकमालमुनिको देखो, वे जब वनमे तप कर रहे थे और ध्यानमे मग्न थे, तो शृगालिनीने उन्हें कितनी निर्दयतासे खाया। परन्तु सुकमालस्वामी जरा भी ध्यानसे विचलित नही हुए और धोर उपसर्ग सहकर उत्तम गतिको प्राप्त हुए। शिवभूति महामुनिको भी देखो, उनके सिरपर आँधीसे उड़कर घासका ढेर आपड़ा, परन्तु वे आत्म-ध्यानसे रत्तीभर भी नहीं डिगे और निश्चल भावसे शरीर त्यागकर निर्वाणको प्राप्त हुए। पाँचों पाण्डव जब तपस्या कर रहे थे, तो कौरवोंके भानजे आदिने पुरातन वैर निकालनेके लिए गरम लोहेकी साकलोंसे उन्हें बाँध दिया और कीलियाँ ठोक दीं, किन्तु वे अडिग रहे और उपसर्गोंको सहकर उत्तम गतिको प्राप्त हुए। युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन मोक्ष गये तथा नकुल और सहदेव सर्वार्थसिद्धिको प्राप्त हुए। विद्युच्चरने कितना भारी उपसर्ग सहा और उसने सद्गति पाई।'

'अतः हे आराधक ! तुम्हें इन महापुरुषोंको अपना आदर्श बनाकर धीर-वीरतासे सब कष्टोंको सहन करते हुए आत्म-लीन रहना चाहिए, जिससे तुम्हारी समाधि उत्तम प्रकारसे हो और अभ्युदय तथा निःश्रेयस-को प्राप्त करो।'

इस तरह निर्यापक मुनि क्षपकको समाधिमरणमें निश्चल और सावधान बनाये रखते हैं। क्षपकके समाधिमरणरूप महान् यज्ञकी सफलतामें इन निर्यापक साधुवरोंका प्रमुख एवं अद्वितीय सहयोग होनेकी प्रशंसा करते हुए आचार्य शिवार्यने लिखा है[1] :—

'वे महानुभाव (निर्यापक मुनि) धन्य हैं, जो अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर बड़े आदरके साथ क्षपक-की सल्लेखना कराते हैं।'

१. ते वि य महाणुभावा धण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स।
सव्वादर-सत्तीए उवविहिदाराधणा सयला।—भ० आ०, गा० २०००।

सल्लेखनाके भेद

जैन शास्त्रोंमें शरीरका त्याग तीन तरहसे बताया गया है[1]। एक च्युत, दूसरा च्यावित और तीसरा त्यक्त।

१. च्युत—जो आयु पूर्ण होकर शरीरका स्वतः छूटना है वह च्युत त्याग (मरण) कहलाता है।

२. च्यावित—जो विष-भक्षण, रक्त-क्षय, धातु-क्षय, शस्त्र-घात, संक्लेश, अग्नि-दाह, जल-प्रवेश, गिरि-पतन आदि निमित्तकारणोंसे शरीर छोडा जाता है वह च्यावित त्याग (मरण) कहा गया है।

३. त्यक्त—रोगादि हो जाने और उनकी असाध्यता तथा मरणकी आसन्नता ज्ञात होनेपर जो विवेकसहित संन्यासरूप परिणामोंसे शरीर छोडा जाता है, वह त्यक्त त्याग (मरण) है।

इन तीन तरहके शरीर-त्यागोंमें त्यक्तरूप शरीर-त्याग सर्वश्रेष्ठ और उत्तम माना गया है, क्योंकि त्यक्त अवस्थामे आत्मा पूर्णतया जागृत एवं सावधान रहता है तथा कोई संक्लेश परिणाम नही होता।

इस त्यक्त शरीर-मरणको ही समाधि-मरण, संन्यास-मरण, पण्डित-मरण, वीर-मरण और सल्लेखना-मरण कहा गया है। यह सल्लेखना-मरण (त्यक्त शरीरत्याग) भी तीन प्रकारका प्रतिपादन किया गया है;—१. भक्तप्रत्याख्यान, २. इंगिनी और ३. प्रायोपगमन।

१. भक्तप्रत्याख्यान—जिस शरीर-त्यागमे अन्न-पानको धीरे-धीरे कम करते हुए छोड़ा जाता है उसे भक्त-प्रत्याख्यान या भक्त-प्रतिज्ञा-सल्लेखना कहते हैं। इसका काल-प्रमाण न्यूनतम अन्तर्मुहूर्त है और अधिकतम बारह वर्ष है। मध्यम अन्तर्मुहूर्तसे ऊपर तथा बारह वर्षसे नीचेका काल है। इसमे आराधक आत्मातिरिक्त समस्त पर-वस्तुओंसे राग-द्वेषादि छोडता है और अपने शरीरकी टहल स्वयं भी करता है और दूसरोंसे भी कराता है।

२. इंगिनी[2]—जिस शरीर-त्यागमे क्षपक अपने शरीरकी सेवा-परिचर्या स्वयं तो करता है, पर दूसरोसे नही कराता उसे इंगिनी-मरण कहते हैं। इसमे क्षपक स्वयं उठेगा, स्वयं बैठेगा और स्वयं लेटेगा और इस तरह अपनी समस्त क्रियाएँ स्वयं ही करेगा। वह पूर्णतया स्वावलम्बनका आश्रय ले लेता है।

३. प्रायोपगमन—जिस शरीर-त्यागमे इस सल्लेखनाका धारी न स्वयं अपनी सहायता लेता है और न दूसरेकी, उसे प्रायोपगमन-मरण कहते हैं। इसमें शरीरको लकडोकी तरह छोड़कर आत्माकी ओर ही क्षपकका लक्ष्य रहता है और आत्माके ध्यानमें ही वह सदा रत रहता है। इस सल्लेखनाको साधक तभी धारण करता है जब वह अन्तिम अवस्थामें पहुँच जाता है और उसका संहनन (शारीरिक बल और आत्म-सामर्थ्य) प्रबल होता है।

भक्तप्रत्याख्यान सल्लेखनाके दो भेद

इनमे भक्त-प्रत्याख्यान सल्लेखना दो तरहकी होती है:—(१) सविचार-भक्त-प्रत्याख्यान और (२) अविचार-प्रत्याख्यान। सविचार-भक्तप्रत्याख्यानमें आराधक अपने संघको छोड़कर दूसरे संघमें जाकर सल्लेखना ग्रहण करता है। यह सल्लेखना बहुत काल बाद मरण होने तथा शीघ्र मरण न होनेकी हालतमें ग्रहण की जाती है। इस सल्लेखनाका धारी 'अर्ह' आदि अधिकारोंके विचारपूर्वक उत्साह सहित इसे धारण करता है। इसीसे इसे सविचार-भक्त प्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते है। पर जिस आराधककी आयु अधिक नही है

---

१ आ० नेमिचन्द्र, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० ५६, ५७, ५८।

२. आ० नेमिचन्द्र, गो० क० गा० ६१।

और शीघ्र मरण होनेवाला है तथा दूसरे संघमें जानेका समय नहीं है और न शक्ति है वह मुनि दूसरी अविचार-भक्त-प्रत्याख्यान-सल्लेखना लेता है। इसके भी तीन भेद हैं :—१. निरुद्ध, २. निरुद्धतर और ३. परमनिरुद्ध।

१. निरुद्ध—दूसरे संघमे जानेकी पैरोंमें सामर्थ्य न रहे, शरीर थक जाय अथवा घातक रोग, व्याधि या उपसर्गादि आ जायें और अपने संघमे ही रुक जाय तो उस हालतमें मुनि इस समाधिमरणको ग्रहण करता है। इसलिए इसे निरुद्ध-अविचार-भक्तप्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते है। यह दो प्रकारकी है—१. प्रकाश और २. अप्रकाश। लोकमें जिनका समाधिमरण विख्यात हो जाये, वह प्रकाश है तथा जिनका विख्यात न हो, वह अप्रकाश है।

२. निरुद्धतर—सर्प, अग्नि, व्याघ्र, महिष, हाथी, रीछ, चोर, व्यन्तर, मूर्च्छा, दुष्ट-पुरुषों आदिके द्वारा मारणान्तिक आपत्ति आजानेपर आयुका अन्त जानकर निकटवर्ती आचार्यादिकके समीप अपनी निन्दा, गर्हा करता हुआ साधु शरीर-त्याग करे तो उसे निरुद्धतर-अविचार-भक्तप्रत्याख्यान-समाधिमरण कहते हैं।

३. परमनिरुद्ध—सर्प, व्याघ्रादिके भीषण उपद्रवोंके आनेपर वाणी रुक जाय, बोल न निकल सके, ऐसे समयमें मनमे ही अरहन्तादि पंचपरमेष्ठियोके प्रति अपनी आलोचना करता हुआ साधु शरीर त्यागे, तो उसे परमनिरुद्ध-भक्तप्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते हैं।

सामान्य मरणकी अपेक्षा समाधिमरणकी श्रेष्ठता :

आचार्य शिवार्यने सतरह प्रकारके मरणोंका उल्लेख करके उनमे विशिष्ट पाँच[1] तरहके मरणोंका वर्णन करते हुए तीन मरणोंको प्रशंसनीय एवं श्रेष्ठ बतलाया है। वे तीन[2] मरण ये हैं :—१. पण्डितपण्डित-मरण, २. पण्डितमरण और ३. बालपण्डितमरण।

उक्त मरणोंको स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है[3] कि चउदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली भगवान्का निर्वाण-गमन 'पण्डितपण्डितमरण' है, आचाराङ्ग-शास्त्रानुसार चारित्रके धारक साधु-मुनियोंका मरण 'पण्डितमरण' है, देशव्रती श्रावकका मरण 'बालपण्डितमरण' है, अविरत-सम्यग्दृष्टिका मरण 'बालमरण' और मिथ्यादृष्टिका मरण 'बालबालमरण' है। ऊपर जो भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन—इन तीन समाधिमरणोंका कथन किया गया है वह सब पण्डितमरणका कथन है। अर्थात् वे पण्डितमरणके भेद है।

पंडिदपंडिद-मरणं पंडिदयं बाल-पंडिदं चेव।
बाल-मरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च॥ —भ० आ० गा० २६।
पंडिदपंडिद-मरणं च पंडिदं बालपंडिदं चेव।
एदाणि तिण्णि मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसंति॥ —भ० आ० गा० २७।
पंडिदपडिदमरणे खीणकसाया मरंति केवलिणो।
विरदाविरदा जीवा मरंति तदियेण मरणेण॥
पाओपगमण-मरणं भत्तप्पण्णा य इंगिणी चेव।
तिविहं पंडिदमरणं साहुस्स जहुत्तचरियस्स॥
अविरदसम्मादिट्ठी मरंति बालमरणे चउत्थम्मि।
मिच्छादिट्ठी य पुणो पंचमए बालबालम्मि॥—भ. आ. २८, २९, ३०।

समाधिमरणके कर्ता, कारयिता, अनुमोदक और दर्शकोंकी प्रशंसा :

शिवार्यने इस सल्लेखनाके करने, कराने, देखने, अनुमोदन करने, उसमें सहायक होने, आहार-औषध-स्थानादि देने तथा आदर-भक्ति प्रकट करनेवालोंको पुण्यशाली बतलाते हुए उनकी बड़ी प्रशंसा की है। वे लिखते हैं[1] :—

'वे मुनि धन्य हैं, जिन्होंने संघके मध्यमें जाकर समाधिमरण ग्रहण कर चार प्रकार (दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप) की आराधनारूपी पताकाको फहराया है।'

'वे ही भाग्यशाली और ज्ञानी है तथा उन्हीने समस्त लाभ पाया है जिन्होंने दुर्लभ भगवती आराधना (सल्लेखना) को प्राप्त किया है।'

'जिस आराधनाको संसारमे महाप्रभावशाली व्यक्ति भी प्राप्त नहीं कर पाते, उस आराधनाको जिन्होंने पूर्णरूपसे प्राप्त किया, उनकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है ?'

'वे महानुभाव भी धन्य हैं, जो पूर्ण आदर और समस्त शक्तिके साथ क्षपककी आराधना कराते हैं।'

'जो धर्मात्मा पुरुष क्षपककी आराधनामें उपदेश, आहार-पान, औषध व स्थानादिके दानद्वारा सहायक होते है, वे भी समस्त आराधनाओंको निर्विघ्न पूर्ण करके सिद्धपदको प्राप्त होते हैं।'

१. ते सूरा भयवंता आइच्चइऊण संघ-मज्झम्मि ।
आराधणा-पडाया चउप्पयारा धिदा जेहिं ॥
ते धण्णा ते णाणी लद्धो लाभो य तेहि सव्वेहि ।
आराधणा भयवदी पडिवण्णा जेहि संपुण्णा ॥
किं णाम तेहि लोगे महाणुभावेहिं हुज्ज ण य पत्तं ।
आराधणा भयवदी सयला आराधिदा जेहिं ॥
ते वि य महाणुभावा धण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स ।
सव्वादर-सत्तीए उवविहिदाराधणा सयला ॥
जो उवविधेदि सव्वादरेण आराधणं खु अण्णस्स ।
सपज्जदि णिव्विग्घा सयला आराधणा तस्स ॥
ते वि कदत्था धण्णा य हुंति जे पावकम्म-मल-हरणे ।
ण्हायंति खवय-तित्थे सव्वादर-भत्ति-संजुत्ता ॥
गिरि-णदियादिपदेसा तित्थाणि तवोधणेहिं जदि उसिदा ।
तित्थं कधं ण हुज्जो तवगुणरासी सयं खवओ ॥
पुव्व-रिसीणं पडिमाउ वंदमाणस्स होइ जदि पुण्णं ।
खवयस्य वंदओ किह पुण्ण विउलं ण पाविज्ज ॥
जो ओलग्गदि आराधयं सदा तिव्वभत्तिसजुत्तो ।
संपज्जदि णिव्विग्घा तस्स वि आराधणा सयला ॥—भ० आ० गा० १९९७–२००५ ।

'वे पुरुष भी पुण्यशाली हैं, कृतार्थ हैं, जो पापकर्मरूपी मैलको छुटानेवाले क्षपकरूपी तीर्थमें सम्पूर्ण भक्ति और आदरके साथ स्नान करते हैं। अर्थात् क्षपकके दर्शन, वन्दन और पूजनमें प्रवृत्त होते हैं।'

'यदि पर्वत, नदी आदि स्थान तपोधनोंसे सेवित होनेसे 'तीर्थ' कहे जाते हैं और उनकी सभक्ति वन्दना की जाती है तो तपोगुणकी राशि क्षपक 'तीर्थ' क्यों नहीं कहा जावेगा ? अर्थात् उसकी वन्दना और दर्शनका भी वही फल प्राप्त होता है जो तीर्थ-वन्दनाका होता है।'

'यदि पूर्व ऋषियोंकी प्रतिमाओंकी वन्दना करनेवालोंको पुण्य होता है, तो साक्षात् क्षपककी वन्दना एवं दर्शन करनेवाले पुरुषको प्रचुर पुण्यका संचय क्यों नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य होगा।'

'जो तीव्र भक्तिसहित आराधककी सदा सेवा—वैयावृत्य करता है उस पुरुषकी भी आराधना निर्विघ्न सम्पन्न होती है। अर्थात् वह भी समाधिपूर्वक मरण कर उत्तम गतिको प्राप्त होता है।'

सल्लेखना आत्म-घात नहीं है :

अन्तमें यह कह देना आवश्यक है कि सल्लेखनाको आत्म-घात न समझ लिया जाय; क्योंकि आत्म-घात तीव्र क्रोधादिके आवेशमें आकर या अज्ञानतावश शस्त्र-प्रयोग, विष-भक्षण, अग्नि-प्रवेश, जल-प्रवेश, गिरि-पात आदि घातक क्रियाओंसे किया जाता है, जब कि इन क्रियाओंका और क्रोधादिके आवेशका सल्लेखनामें अभाव है। सल्लेखना योजनानुसार शान्तिपूर्वक मरण है, जो जीवन-सम्बन्धी सुयोजनाका एक अङ्ग है।

क्या जैनेतर दर्शनोंमें यह सल्लेखना है ?

यह सल्लेखना जैन दर्शनके सिवाय अन्य दर्शनोंमें उपलब्ध नहीं होती। हाँ, योगसूत्र आदिमें ध्यानार्थक समाधिका विस्तृत कथन अवश्य पाया जाता है। पर उसका अन्त:क्रियासे कोई सम्बन्ध नहीं है। उसका प्रयोजन केवल सिद्धियोंके प्राप्त करने अथवा आत्म-साक्षात्कारसे है। वैदिक साहित्यमें वर्णित सोलह संस्कारोंमें एक 'अन्त्येष्टि-संस्कार' आता है[1], जिसे ऐहिक जीवनके अन्तिम अध्यायकी समाप्ति कहा गया है[2] और जिसका दूसरा नाम 'मृत्यु-संस्कार' है। इस संस्कारका अन्त:क्रियाके साथ सम्बन्ध हो सकता था। किन्तु मृत्यु-संस्कार सामाजिकों अथवा सामान्य लोगोंका किया जाता है, सिद्ध-महात्माओं, संन्यासियों या भिक्षुओंका नहीं, क्योंकि उनका परिवारसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता और इसीलिए उन्हें अन्त्येष्टि-क्रियाकी आवश्यकता नहीं रहती[3]। उनका तो जल-निखात या भू-निखात किया जाता है[4]। यह भी ध्यान देने योग्य है कि हिन्दूधर्ममें अन्त्येष्टिकी सम्पूर्ण क्रियाओंमें मृत व्यक्तिके विषय-भोग तथा सुख-सुविधाओंके लिए ही प्रार्थनाएँ की जाती हैं। हमें उसके आध्यात्मिक लाभ अथवा मोक्षके लिए इच्छाका बहुत कम संकेत मिलता है। जन्म-मरणके चक्रसे मुक्ति पानेके लिए कोई प्रार्थना नहीं की जाती[5]। पर जैन-सल्लेखनामें पूर्णतया आध्यात्मिक लाभ तथा मोक्ष-प्राप्तिकी भावना स्पष्ट सन्निहित रहती है, लौकिक एषणाओंकी उसमें कामना नहीं होती। इतना यहाँ ज्ञातव्य है कि निर्णय-सिन्धुकारने ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थके अतिरिक्त आतुर अर्थात् मुमूर्षु (मरणाभिलाषी) और दु:खित अर्थात् चौरव्याघ्रादिसे भयभीत व्यक्तिके लिए भी

१,२. डा० राजबली पाण्डेय, हिन्दूसंस्कार पृ० २९६।
३. डा० राजबली पाण्डेय, हिन्दूसंस्कार पृ० ३०३।
४. हिन्दूसंस्कार पृ० ३०३ तथा कमलाकरभट्टकृत निर्णयसिन्धु पृ० ४४७।
५. हिन्दूसंस्कार पृ० ३४६।

संन्यासका विधान करनेवाले कतिपय मतोंका उल्लेख किया है[1]। उनमें कहा गया है कि 'संन्यास लेनेवाला आतुर अथवा दु:खित यह संकल्प करता है कि 'मैंने जो अज्ञान, प्रमाद या आलस्य दोषसे बुरा कर्म किया उसे मैं छोड़ रहा हूँ और सब जीवोंको अभय-दान देता हूँ तथा विचरण करते हुए किसी जीवकी हिंसा नहीं करूँगा।' किन्तु यह कथन संन्यासीके मरणान्त-समयके विधि-विधानको नहीं बतलाता, केवल संन्यास लेकर आगे की जानेवाली चर्यारूप प्रतिज्ञाका दिग्दर्शन कराता है। स्पष्ट है कि यहाँ संन्यासका वह अर्थ विवक्षित नहीं है जो जैन-सल्लेखनाका अर्थ है। संन्यासका अर्थ यहाँ साधुदीक्षा—कर्मत्याग—संन्यासनामक चतुर्थ आश्रमका स्वीकार है और सल्लेखनाका अर्थ अन्त (मरण) समयमे होनेवाली क्रिया-विशेष[2] (कषाय एवं कायका कृशीकरण करते हुए आत्माको कुमरणसे बचाना तथा आचरित संयमादि आत्म-धर्मकी रक्षा करना) है। अतः सल्लेखना जैनदर्शनकी एक विशेष देन है, जिसमे पारलौकिक एवं आध्यात्मिक जीवनको उज्ज्वलतम तथा परमोच्च बनानेका लक्ष्य निहित है। इसमे रागादिसे प्रेरित होकर प्रवृत्ति न होनेके कारण वह शुद्ध आध्यात्मिक है। निष्कर्ष यह है कि सल्लेखना आत्म-सुधार एवं आत्म-संरक्षणका अन्तिम और विचार-पूर्ण प्रयत्न है।

●

१. संन्यसेद् ब्रह्मचर्याद्वा संन्यसेच्च गृहादपि।
वनाद्वा प्रव्रजेद्विद्वानातुरो वाऽथ दु:खितः॥
उत्पन्ने संकटे घोरे चौर-व्याघ्रादि-गोचरे।
भयभीतस्य संन्यासमङ्गिरा मनुरब्रवीत्॥
यत्किंचिद्बाधकं कर्म कृतमज्ञानतो मया।
प्रमादालस्यदोषाद्यत्तत्तत्संत्यक्तवानहम्॥
एवं संत्यज्य भूतेभ्यो दद्यादभयदक्षिणाम्।
पद्भ्यां कराभ्यां विहरन्नाहं वाक्कायमानसैः॥
करिष्ये प्राणिनां हिंसा प्राणिनः सन्तु निर्भयाः।—कमलाकरभट्ट, निर्णयसिन्धु पृ० ४४७।

२. वैदिक साहित्यमे यह क्रिया-विशेष भृगु-पतन, अग्नि-प्रवेश, जल-प्रवेश आदिके रूपमें मिलती है। जैसा कि माघके शिशुपालवधकी टीकामें उद्धृत निम्न पद्यसे जाना जाता है :—
अनुष्ठानासमर्थस्य वानप्रस्थस्य जीर्यतः।
भृग्वग्नि-जल-सम्पातैर्मरणं प्रविधीयते॥—शिशुपालवध ४-२३ की टीकामे उद्धृत।
किन्तु जैन संस्कृतिमें इस प्रकारकी क्रियाओंको मान्यता नहीं दी गई और उन्हें लोकमूढता बतलाया गया है :—
आपगा-सागर-स्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते॥ —समन्तभद्र, रत्नकरण्ड० १-२२।

जैन दर्शनमें सर्वज्ञता

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः ।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥

—अमृतचन्द्र, पुरुषार्थसिद्धयुपाय १ ।

पृष्ठभूमि

भारतीय दर्शनोंमें चार्वाक और मीमांसक इन दो दर्शनोंको छोड़कर शेष सभी (न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, वेदान्त, बौद्ध और जैन) दर्शन सर्वज्ञताकी सम्भावना करते तथा युक्तियों द्वारा उसकी स्थापना करते हैं। साथ ही उसके सद्भावमे आगम-प्रमाण भी प्रचुर मात्रामे उपस्थित करते हैं।

चार्वाक दर्शनका दृष्टिकोण

चार्वाक दर्शनका दृष्टिकोण है कि 'यद्दृश्यते तदस्ति, यन्न दृश्यते तन्नास्ति'—इन्द्रियोंसे जो दिखे वह है और जो न दिखे वह नही है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार भूत-तत्त्व ही दिखाई देते हैं। अतः वे हैं। पर उनके अतिरिक्त कोई अतीन्द्रिय पदार्थ दृष्टिगोचर नही होता। अतः वे नहीं हैं। सर्वज्ञता किसी भी पुरुषमें इन्द्रियों द्वारा ज्ञात नही है और अज्ञात पदार्थका स्वीकार उचित नहीं है। स्मरण रहे कि चार्वाक प्रत्यक्ष प्रमाणके अलावा अनुमानादि कोई प्रमाण नही मानते। इसलिए इस दर्शनमे अतीन्द्रिय सर्वज्ञकी सम्भावना नही है।

मीमांसक दर्शनका मन्तव्य

मीमांसकोंका मन्तव्य है कि धर्म, अधर्म, स्वर्ग, देवता, नरक, नारकी आदि अतीन्द्रिय पदार्थ है तो अवश्य, पर उनका ज्ञान वेदद्वारा ही संभव है, किसी पुरुषके द्वारा नहो[1]। पुरुष रागादि दोषोंसे युक्त हैं और रागादि दोष पुरुषमात्रका स्वभाव है तथा वे किसी भी पुरुषसे सर्वथा दूर नही हो सकते। ऐसी हालतमें रागी-द्वेषी—अज्ञानी पुरुषोंके द्वारा उन धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थोंका ज्ञान संभव नहीं है। शवर स्वामी अपने शावर-भाष्य (१-१-५) मे लिखते हैं :

'चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयितुमलं नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम् ।'

इससे विदित है कि मीमांसक दर्शन सूक्ष्मादि अतीन्द्रिय पदार्थोंका ज्ञान चोदना (वेद) द्वारा स्वीकार करता है। किसी इन्द्रियके द्वारा उनका ज्ञान सम्भव नही मानता। शवर स्वामीके परवर्ती प्रकाण्ड विद्वान् भट्ट कुमारिल भी किसी पुरुषमे सर्वज्ञताकी सम्भावनाका अपने मीमासाश्लोकवार्तिकमें विस्तारके साथ

१. तथा वेदेतिहासादिज्ञानातिशयवानपि ।
न स्वर्ग-देवताऽपूर्व-प्रत्यक्षकरणे क्षमः ॥

—भट्ट कुमारिल, मीमांसाश्लोकवा० ।

पुरजोर खण्डन करते हैं[1]। पर वे इतना स्वीकार करते हैं कि हम केवल धर्मज्ञका अथवा धर्मज्ञताका निषेध करते हैं। यदि कोई पुरुष धर्मातिरिक्त अन्य सबको जानता है तो जाने, हमें कोई विरोध नहीं है।

धर्मज्ञत्व-निषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते।
सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते॥
सर्वप्रमातृ-संबंधि-प्रत्यक्षादिनिवारणात्।
केवलाऽऽगम-गम्यत्वं लप्स्यते पुण्य-पापयोः[2]॥

किसी पुरुषको धर्मज्ञ न माननेमे कुमारिलका तर्क यह है कि पुरुषोंका अनुभव परस्पर विरुद्ध एवं बाधित देखा जाता है[3]। अतः वे उसके द्वारा धर्माधर्मका यथार्थ साक्षात्कार नही कर सकते। वेद नित्य, अपौरुषेय और त्रिकालाबाधित होनेसे उसका ही धर्माधर्मके मामलेमे प्रवेश है (धर्मे चोदनैव प्रमाणम्)। ध्यान रहे बौद्ध दर्शनमे बुद्धके अनुभव—योगिज्ञानको और जैन दर्शनमे अर्हत्के अनुभव—केवलज्ञानको धर्माधर्मका यथार्थ साक्षात्कारी बतलाया गया है। जान पड़ता है कि कुमारिलको इन दोनो दर्शनोंकी मान्यता (धर्माधर्मज्ञतास्वीकार)का निषेध करना इष्ट है। उन्हे त्रयीवित् मन्वादिका धर्माधर्मादिविषयक उपदेश मान्य

---

१. यज्जातीयैः प्रमाणैस्तु यज्जतीयार्थदर्शनम्।
दृष्टं सम्प्रति लोकस्य तथा कालान्तरेऽप्यभूत्॥११२—सू० २
यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलघनात्।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता॥११४
येऽपि सातिशया दृष्टाः प्रज्ञा-मेधादिभिर्नराः।
स्तोकस्तोकान्तरत्वेन नत्वतीन्द्रियदर्शनात्॥
प्राज्ञोऽपि हि नरः सूक्ष्मानर्थान् द्रष्टुं क्षमोऽपि सन्।
स्वजातीरनतिक्रमान्नतिशेते परान्नरान्॥
एकशास्त्रविचारे तु दृश्यतेऽतिशयो महान्।
न तु शास्त्रान्तरज्ञानं तन्मात्रेणैव लभ्यते॥
ज्ञात्वा व्याकरणं दूरं बुद्धिः शब्दापशब्दयोः।
प्रकृष्यति न नक्षत्र-तिथि-ग्रहणनिर्णये॥
ज्योतिर्विच्च प्रकृष्टोऽपि चन्द्रार्क-ग्रहणादिषु।
न भवत्यादिशब्दानां साधुत्वं ज्ञातुमर्हति॥
दशहस्तान्तरे व्योम्नि यो नामोत्प्लुत्य गच्छति।
न योजनममौ गन्तुं शक्तोऽभ्यामशतैरपि॥
तस्मादतिशयज्ञानैरतिदूरगतैरपि।
किंचिदेवाधिकं ज्ञातुं शक्यते न त्वतीन्द्रियम्॥—अनन्तकीर्ति द्वारा बृहत्सर्वज्ञसिद्धिमें उद्धृत कारिकाएँ। इन दो कारिकाओंमे पहली कारिकाको शान्तरक्षितने तत्त्वसंग्रहमें (३१२८ का०) और दोनोंको अनन्तकीर्तिने बृहत्सर्वज्ञसिद्धि (पृ० १३७) में उद्धृत किया है।
सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा।
तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः॥—अष्टस. पृ. ३, उद्धृत।

है, क्योंकि वे उसे वेद-प्रभव बतलाते हैं[1]। कुछ भी हो, वे किसी पुरुषको स्वयं धर्मज्ञ स्वीकार नहीं करते। वे मन्वादिको भी वेद द्वारा ही धर्माधर्मादिका ज्ञाता और उपदेष्टा मानते हैं।

बौद्ध दर्शनमें सर्वज्ञता

बौद्ध दर्शनमें अविद्या और तृष्णाके क्षयसे प्राप्त योगीके परम प्रकर्षजन्य अनुभव पर बल दिया गया हैं और उसे समस्त पदार्थोंका, जिनमें धर्माधर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थ भी सम्मिलित है, साक्षात्कर्ता कहा गया है। दिङ्नाग आदि बौद्ध-चिन्तकोंने सूक्ष्मादि पदार्थोंके साक्षात्करणरूप अर्थमें सर्वज्ञताको निहित प्रतिपादन किया है। परन्तु बुद्धने स्वयं अपनी सर्वज्ञतापर बल नहीं दिया। उन्होने कितने ही अतीन्द्रिय पदार्थोंको अव्याकृत (न कहने योग्य) कह कर उनके विषयमें मौन ही रखा[2]। पर उनका यह स्पष्ट उपदेश था कि धर्म जैसे अतीन्द्रिय पदार्थका साक्षात्कार या अनुभव हो सकता है। उसके लिए किसी धर्म-पुस्तककी शरणमें जानेकी आवश्यकता नही है। बौद्ध तार्किक धर्मकीर्तिने भी बुद्धको धर्मज्ञ ही बतलाया है और सर्वज्ञताको मोक्षमार्गमें अनुपयोगी कहा है :

> तस्मादनुष्ठानगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्।
> कीट-संख्यापरिज्ञाने तस्य नः क्वोपयुज्यते॥
> हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः।
> यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः॥
>
> —धर्मकीर्ति, प्रमाणवा. ३१, ३२।

उपदेशो हि बुद्धादेर्धर्माधर्मादिगोचरः।
अन्यथा चोपपद्येत सर्वज्ञो यदि नाभवत्॥
बुद्धादयो ह्यवेदज्ञास्तेषा वेदादसंभवः।
उपदेश कृतोऽतस्तैर्व्यामोहादेव केवलात्॥
येऽपि मन्वादयः सिद्धाः प्राधान्येन त्रयीविदाम्।
त्रयीविदाश्रितग्रन्थास्ते वेदप्रभवोक्तयः॥
नरः कोऽप्यस्ति सर्वज्ञः स च सर्वज्ञ इत्यपि।
साधनं यत्प्रयुज्येत प्रतिज्ञामात्रमेव तत्॥
सिसाधयिषितो योऽर्थः सोऽनया नाभिधीयते।
यस्तूच्यते न तत्सिद्धौ किंचिदस्ति प्रयोजनम्॥
यदीयागमसत्यत्वसिद्धौ सर्वज्ञतेष्यते।
न सा सर्वज्ञसामान्यसिद्धिमात्रेण लभ्यते॥
यावद्बुद्धो न सर्वज्ञस्तावत्तद्वचनं मृषा।
यत्र क्वचन सर्वज्ञे सिद्धे तत्सत्यता कुतः॥
अन्यस्मिन्न हि सर्वज्ञे वचसोऽन्यस्य सत्यता।
सामानाधिकरण्ये हि तयोरंगांगिता भवेत्॥
ये कारिकाएँ कुमारिलके नामसे अनन्तकीर्तिने बृ. स. सि. में उद्धृत की है।

[2] देखिए, मज्झिमनिकाय २-२-३ के चूलमालुंक्य सूत्रका संवाद।

'मोक्षमार्गमें उपयोगी ज्ञानका ही विचार करना चाहिए। यदि कोई जगत्के कीड़े-मकोड़ोंकी संख्या को जानता है तो उससे हमें क्या लाभ? अतः जो हेय और उपादेय तथा उनके उपायोंको जानता है वही हमारे लिए प्रमाण आप्त है, सबका जानने वाला नहीं।'

यहाँ उल्लेखनीय है कि कुमारिलने जहाँ धर्मज्ञका निषेध करके सर्वज्ञके सद्भावको इष्ट प्रकट किया है वहाँ धर्मकीर्तिने ठीक उसके विपरीत धर्मज्ञको सिद्ध कर सर्वज्ञका निषेध मान्य किया है। शान्तरक्षित और उनके शिष्य कमलशील बुद्धमें धर्मज्ञताके साथ ही सर्वज्ञताकी भी सिद्धि करते हैं[1]। पर वे भी धर्मज्ञता-को मुख्य और सर्वज्ञताको प्रासङ्गिक बतलाते हैं[2]। इस तरह हम बौद्ध दर्शनमें सर्वज्ञताकी सिद्धि देख कर भी, वस्तुतः उसका विशेष बल हेयोपादेयतत्त्वज्ञतापर ही है, ऐसा निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

न्याय-वैशेषिक दर्शनमें सर्वज्ञता

न्याय-वैशेषिक ईश्वरमें सर्वज्ञत्व माननेके अतिरिक्त दूसरे योगी आत्माओंमें भी उसे स्वीकार करते हैं[3]। परन्तु उनकी वह सर्वज्ञता अपवर्ग-प्राप्तिके बाद नष्ट हो जाती है, क्योंकि वह योग तथा आत्ममनः-संयोग-जन्य गुण अथवा अणिमा आदि ऋद्धियोंकी तरह एक विभूति मात्र है। मुक्तावस्थामें न आत्ममनः-संयोग रहता है और न योग। अतः ज्ञानादि गुणोंका उच्छेद हो जानेसे वहाँ सर्वज्ञता भी समाप्त हो जाती है। हाँ, वे ईश्वरकी सर्वज्ञता अवश्य अनादि-अनन्त मानते हैं।

सांख्य-योग दर्शनमें सर्वज्ञता

निरीश्वरवादी सांख्य प्रकृतिमें और ईश्वरवादी योग ईश्वरमें सर्वज्ञता स्वीकार करते हैं। सांख्य दर्शनका मन्तव्य है कि ज्ञान बुद्धितत्त्वका परिणाम है और बुद्धितत्त्व महत्तत्त्व और महत्तत्त्व प्रकृतिका परिणाम है। अतः सर्वज्ञता प्रकृतितत्त्वमें निहित है और वह अपवर्ग हो जानेपर समाप्त हो जाती। योगदर्शनका दृष्टिकोण है कि पुरुषविशेषरूप ईश्वरमें[4] नित्य सर्वज्ञता है और योगियोंकी सर्वज्ञता, जो सर्व विषयक 'तारक' विवेकज्ञान रूप है, अपवर्गके बाद नष्ट हो जाती है। अपवर्ग अवस्थामें पुरुष चैतन्यमात्र-में, जो ज्ञानसे भिन्न है, अवस्थित रहता है[5]। यह भी आवश्यक नहीं कि हर योगीको वह सर्वज्ञता प्राप्त हो। तात्पर्य यह कि योगदर्शनमें सर्वज्ञताकी सम्भावना तो की गई है, पर वह योगज विभूतिजन्य होनेसे अनादि-अनन्त नहीं है, केवल सादि-सान्त है।

१. स्वर्गापवर्गसम्प्राप्तिहेतुज्ञोऽस्तीति गम्यते।
साक्षान्न केवलं किन्तु सर्वज्ञोऽपि प्रतीयते ॥—तत्त्व. सं. का. ३३०।

२. 'मुख्यं हि तावत् स्वर्गमोक्षसम्प्रापकहेतुज्ञत्वसाधनं भगवतोऽस्माभिः क्रियते। यत्पुनः अशेषार्थपरिज्ञातृत्व-साधनमस्य तत् प्रासङ्गिकम्।'—तत्त्व. सं. पृ. ८६३।

३ 'अस्मद्विशिष्टानां युक्तानां योगजधर्मानुगृहीतेन मनसा स्वात्मान्तराकाशदिक्कालपरमाणुवायुमनस्सु तत्समवेतगुणकर्मसामान्यविशेषसमवाये चावितथं स्वरूपदर्शनमुत्पद्यते, वियुक्तानां पुनः...........।'
—प्रशस्तपादभाष्य, पृ० १८७।

४ 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'—योगसूत्र।

५. 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'—योगसूत्र १-१-३।

वैदान्त दर्शनमें सर्वज्ञता

वेदान्त दर्शनका मन्तव्य है कि सर्वज्ञता अन्तःकरणनिष्ठ है और वह जीवन्मुक्त दशा तक रहती है। उसके बाद वह छूट जाती है। उस समय जीवात्मा अविद्यासे मुक्त होकर विद्यारूप शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म मय हो जाता है और सर्वज्ञता आत्मज्ञतामें विलीन हो जाती है। अथवा उसका अभाव हो जाता है।

जैन दर्शनमें सर्वज्ञता-विषयक विस्तृत विमर्श :

जैन दर्शनमें ज्ञानको आत्माका स्वरूप अथवा स्वाभाविक गुण माना गया है[1] और उसे स्व-पर प्रकाशक स्वीकार किया गया है[2]। यदि आत्माका स्वभाव ज्ञत्व (जानना) न हो तो वेदके द्वारा भी सूक्ष्मादि ज्ञेयोंका ज्ञान नहीं हो सकता। आचार्य अकलङ्कदेवने लिखा है[3] कि ऐसा कोई ज्ञेय नहीं, जो ज्ञस्वभाव आत्माके द्वारा जाना न जाय। किसी विषयमें अज्ञताका होना ज्ञानावरण तथा मोहादि दोषोंका कार्य है। जब ज्ञानके प्रतिबन्धक ज्ञानावरण तथा मोहादि दोषोंका क्षय हो जाता है तो बिना रुकावटके समस्त ज्ञेयोंका ज्ञान हुए बिना नहीं रह सकता। इसीको सर्वज्ञता कहा गया है। जैन मनीषियोंने प्रारम्भसे त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती अशेष पदार्थोंके प्रत्यक्ष ज्ञानके अर्थमें इस सर्वज्ञताको पर्यवसित माना है। आगम-ग्रन्थों एवं तर्क-ग्रन्थोंमें हमें सर्वत्र सर्वज्ञताका प्रतिपादन मिलता है। षट्खण्डागमसूत्रोंमें कहा गया है कि 'केवली भगवान् समस्त लोकों, समस्त जीवों और अन्य समस्त पदार्थोंको सर्वदा एक साथ जानते व देखते हैं।[4] आचारांगसूत्रमें भी यही कथन किया गया है[5]। महान् चिन्तक और लेखक कुन्दकुन्दने भी लिखा है[6] कि 'आवरणोंके अभावसे उद्भूत केवलज्ञान वर्तमान, भूत, भविष्यत्, सूक्ष्म, व्यवहित आदि सब तरहके ज्ञेयोंको पूर्णरूपमें युगपत् जानता है। जो त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती सम्पूर्ण पदार्थोंको नहीं जानता वह अनन्त पर्यायों वाले एक द्रव्यको भी पूर्णतया नहीं जान सकता और जो अनन्त पर्याय वाले एक द्रव्यको नहीं जानता वह समस्त द्रव्योंको कैसे एक साथ जान सकता है? प्रसिद्ध विचारक भगवती आराधनाकार शिवार्य[7] और आवश्यकनिर्युक्तिकार भद्र-

१. 'उपयोगो लक्षणम्'—तत्त्वार्थसूत्र २–८।
२. 'णाणं सपरपयासयं'
३ 'न खलु ज्ञस्वभावस्य कश्चिदगोचरोऽस्ति यन्न क्रमेत, तत्स्वभावान्तरप्रतिषेधात्।'—अष्ट० श०, अष्ट० स० पृ० ४७।
४. 'सयं भयवं उप्पण्णणाणदरिसी····सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सव्वं समं जाणदि पस्सदि विहरदि त्ति' —षट्ख० पयदि० सू० ७८।
५. 'से भगवं अरिहं जिणो केवली सव्वन्नू सव्वभावदरिसी····सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वभावाइं जाणमाणे पासमाणे एवं च विहरइ।'—आचारांगसू० २–३।
६. जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं॥
जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तेकालिगे तिहुवणत्थे।
णादु तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेकं वा॥
दव्वं अणंतपज्जयमेक्कमणंताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणदि जदि जुगवं कधं सो सव्वाणि जाणादि॥—प्रवचनसा० १–४७, ४८, ४९।
७. पस्सदि जाणदि य तहा तिण्णि वि काले सपज्जए सव्वे।
तह वा लोगमसेसं भयवं विगयमोहो॥—भ० आ० गा० २१४१।

बाहु बड़े स्पष्ट और प्रांजल शब्दोंमें सर्वज्ञताका प्रबल समर्थन करते हुए कहते है कि 'वीतराग भगवान् तीनों कालों, अनन्त पर्यायोंसे सहित समस्त ज्ञेयों और समस्त लोकोंको युगपत् जानते व देखते है।'

आगमयुगके बाद जब हम तार्किक युगमें आते हैं तो हम स्वामी समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलङ्क, हरिभद्र, पात्रस्वामी, वीरसेन, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, हेमचन्द्र प्रभृति जैन तार्किकोंको भी सर्वज्ञताका प्रबल समर्थन एवं उपपादन करते हुए पाते हैं। इनमे अनेक लेखकोंने तो सर्वज्ञताकी स्थापनामें महत्त्वपूर्ण स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिखे हैं। उनमे समन्तभद्र (वि० स० दूसरी, तीसरी शती) को आप्तमीमासा, जिसे 'सर्वज्ञविशेष-परीक्षा कहा गया है,[1] अकलकदेवकी सिद्धिविनिश्चयगत 'सर्वज्ञसिद्धि', विद्यानन्दकी आप्तपरीक्षा, अनन्तकीर्तिकी लघु व बृहत्सर्वज्ञसिद्धियाँ, वादीभसिंहकी स्याद्वादसिद्धिगत 'सर्वज्ञसिद्धि' आदि कितनी ही रचनाएँ उल्लेखनीय है। यदि कहा जाय कि सर्वज्ञतापर जैन दार्शनिकोने सबसे अधिक चिन्तन और साहित्य सृजन करके भारतीय दर्शनशास्त्रको समृद्ध बनाया है तो अत्युक्ति न होगी।

सर्वज्ञताकी स्थापनामे समन्तभद्रने जो युक्ति दी है वह बड़े महत्त्वकी है। वे कहते हैं कि सूक्ष्मादि अतीन्द्रिय पदार्थ भी किसी पुरुषविशेषके प्रत्यक्ष है, क्योंकि वे अनुमेय है, जैसे अग्नि। उनकी वह युक्ति इस प्रकार है :—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरति सर्वज्ञ-संस्थिति ॥

समन्तभद्र एक दूसरी युक्तिके द्वारा सर्वज्ञताके रोकने वाले अज्ञानादि दोषों और ज्ञानावरणादि आवरणोंका किसी आत्मविशेषमे अभाव सिद्ध करते हुए कहते है कि "किसी पुरुषविशेषमे ज्ञानके प्रतिबन्धकोका पूर्णतया क्षय हो जाता है, क्योंकि उनकी अन्यत्र न्यूनाधिकता देखी जाती है। जैसे स्वर्णमे बाह्य और अन्तरग दोनों प्रकारके मेलोंका अभाव दृष्टिगोचर होता है[2]। प्रतिबन्धकोंके हट जानेपर ज्ञस्वभाव आत्माके लिए कोई ज्ञेय अज्ञेय नही रहता। ज्ञेयोंका अज्ञान या तो आत्मामे उन सब ज्ञेयोको जाननेकी सामर्थ्य न होनेपर होता है या ज्ञानके प्रतिबन्धकोके रहनेसे होता है। चूँकि आत्मा ज्ञ है और तप, संयमादिकी आराधनाद्वारा प्रतिबन्धकोका अभाव पूर्णतया सम्भव है। ऐसी स्थितिमे उस वीतराग महायोगीको कोई कारण नही कि अशेष ज्ञेयोंका ज्ञान न हो। अन्तमे इस सर्वज्ञताको अर्हत्मे सम्भाव्य बतलाया गया है। उनका प्रतिपादन इस प्रकार है—

दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषाऽस्त्यतिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः॥
स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥—आप्तमी० का० ५, ६।

---

१. संभिण्णं पासंतो लोगमलोगं च सव्वओ सव्वं।
तं णत्थि जं न पासइ भूय भव्वं भविस्स च ॥—आवश्यकनि० गा० १२७।

२. यहाँ ध्यान देने योग्य है कि समन्तभद्रने आप्तके आवश्यक ही नही, अनिवार्य तीन गुणों एवं विशेषताओंमें सर्वज्ञताको आप्तकी अनिवार्य विशेषता बतलायी है—उसके बिना वे उसमे आप्तता असम्भव बतलाते हैं :—

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्य नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥ —रत्नकरण्डश्रा० श्लोक ५।

समन्तभद्रके उत्तरवर्ती सूक्ष्म चिन्तक अकलंकदेवने सर्वज्ञताकी संभावनामें जो महत्त्वपूर्ण युक्तियाँ दी हैं वे भी यहाँ उल्लेखनीय हैं। अकलंककी पहली युक्ति यह है कि आत्मामें समस्त पदार्थोंको जाननेकी सामर्थ्य है। इस सामर्थ्यके होनेसे ही कोई पुरुषविशेष वेदके द्वारा भी सूक्ष्मादि ज्ञेयोंको जाननेमें समर्थ हो सकता है, अन्यथा नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि संसारी-अवस्थामें ज्ञानावरणसे आवृत होनेके कारण ज्ञान सब ज्ञेयोंको नहीं जान पाता। जिस तरह हम लोगोंका ज्ञान सब ज्ञेयोंको नहीं जानता, कुछ सीमितोंको ही जान पाता है। पर जब ज्ञानके प्रतिबन्धक कर्मों (आवरणों) का पूर्ण क्षय हो जाता है तो उस विशिष्ट इन्द्रियानपेक्ष और आत्ममात्र सापेक्ष ज्ञानको, जो स्वयं अप्राप्यकारी भी है, समस्त ज्ञेयोंको जाननेमें क्या बाधा है[1]?

उनकी दूसरी युक्ति यह है कि यदि पुरुषोंको धर्माधर्मादि अतीन्द्रिय ज्ञेयोंका ज्ञान न हो तो सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिर्ग्रहोंकी ग्रहण आदि भविष्यत् दशाओं और उनसे होनेवाला शुभाशुभका अविसंवादी उपदेश कैसे हो सकेगा? इन्द्रियोंकी अपेक्षा किये बिना ही उनका अतीन्द्रियार्थविषयक उपदेश सत्य और यथार्थ स्पष्ट देखा जाता है। अथवा जिस तरह सत्य स्वप्न-दर्शन इन्द्रियादिकी सहायताके बिना ही भावी राज्यादि लाभका यथार्थ बोध कराता है उसी तरह सर्वज्ञका ज्ञान भी अतीन्द्रिय पदार्थोंमें संवादी और स्पष्ट होता है और उसमें इन्द्रियोंकी आंशिक भी सहायता नही होती। इन्द्रियाँ तो वास्तवमें कम ज्ञानको ही कराती है। वे अधिक और सर्वविषयक ज्ञानमें उसी तरह बाधक है जिस तरह सुन्दर प्रासादमें बनी हुई खिड़कियाँ अधिक प्रकाशको रोकती है।

अकलंककी तीसरी युक्ति यह है कि जिस प्रकार अणुपरिमाण बढता—बढता आकाशमें महापरिमाण या विभुत्वका रूप ले लेता है, क्योंकि उसकी तरतमता देखी जाती है, उसी तरह ज्ञानके प्रकर्षमें भी तारतम्य देखा जाता है। अतः जहाँ वह ज्ञान सम्पूर्ण अवस्था (निरतिशयपने) को प्राप्त हो जाता है वहीं सर्वज्ञता आ जाती है। इस सर्वज्ञताका किसी व्यक्ति या समाजने ठेका नही लिया। वह प्रत्येक योग्य साधकको प्राप्त हो सकती है।

उनकी चौथी युक्ति यह है कि सर्वज्ञताका कोई बाधक नही है। प्रत्यक्ष आदि पाँच प्रमाण तो इसलिए बाधक नही हो सकते, क्योंकि वे विधि (अस्तित्व) को विषय करते है। यदि वे सर्वज्ञताके विषयमें दखल दें तो उनसे सद्भाव ही सिद्ध होगा। मीमांसकोंका अभाव-प्रमाण भी उसका निषेध नहीं कर सकता, क्योंकि अभाव-प्रमाणके लिए यह आवश्यक है[2] कि जिसका अभाव करना है उसका स्मरण और जहाँ

---

१. कथञ्चित् स्वप्रदेशेषु स्यात्कर्म-पटलाच्छता।
संसारिणा तु जीवानां यत्र ते चक्षुरादयः॥
साक्षात्कर्तुं विरोधः, कः सर्वथाऽऽवरणात्यये।
सत्यमर्थं यथा सर्वं यथाऽभूद्वा भविष्यति॥
सर्वार्थग्रहणसामर्थ्याच्चैतन्यप्रतिबन्धिनाम्।
कर्मणां विगमे कस्मात् सर्वान्नर्थान् न पश्यति॥
ग्रहादिगतयः सर्वाः सुखःदुःखादिहेतवः।
येन साक्षात्कृतास्तेन किन्न साक्षात्कृतं जगत्॥
ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते।
अप्राप्यकारिणस्तस्मात्सर्वार्थावलोकनम्॥—न्यायविनिश्चय, का०, ३६१, ६२, ४१०, ४१४, ४६५।

२. गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनाम्।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया॥

उसका अभाव करना है वहाँ उसका प्रत्यक्ष दर्शन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। जब हम भूतलमें घड़ेका अभाव करते हैं तो वहाँ पहले देखे गये घड़ेका स्मरण और भूतलका दर्शन होता है, तभी हम यह कहते हैं कि यहाँ घड़ा नहीं है। किन्तु तीनों (भूत, भविष्यत् और वर्तमान) कालों तथा तीनों (ऊर्ध्व, मध्य, और अधो) लोकोंके अतीत, अनागत और वर्तमानकालीन अनन्त पुरुषोंमें सर्वज्ञता नहीं थी, नहो है और न होगी, इस प्रकारका ज्ञान उसीको हो सकता है जिसने उन तमाम पुरुषोंका साक्षात्कार किया हैं। यदि किसीने किया है तो वही सर्वज्ञ हो जायगा। साथ ही सर्वज्ञताका स्मरण सर्वज्ञताके प्रत्यक्ष अनुभवके बिना संभव नहीं और जिन त्रैकालिक और त्रिलोकवर्ती अनन्त पुरुषों (आधार) में सर्वज्ञताका अभाव करना है उनका प्रत्यक्ष दर्शन भी संभव नहो। ऐसी स्थितिमें अभावप्रमाण भी सर्वज्ञताका बाधक नहीं है। इस तरह जब कोई बाधक नहीं है तो कोई कारण नही कि सर्वज्ञताका सद्भाव सिद्ध न हो[1]।

निष्कर्ष यह है कि आत्मा 'ज्ञ'—ज्ञाता है और उसके ज्ञानस्वभावको ढँकनेवाले आवरण दूर होते है। अत. आवरणोके विच्छिन्न हो जानेपर ज्ञस्वभाव आत्माके लिए फिर शेष जानने योग्य क्या रह जाता है? अर्थात् कुछ भी नही। अप्राप्यकारी ज्ञानसे सकलार्थ विषयक ज्ञान होना अवश्यम्भावी है। इन्द्रियाँ और मन सकलार्थपरिज्ञानमे साधक न होकर बाधक है। वे जहाँ नही हैं और आवरणोंका पूर्णतः अभाव है वहाँ त्रैकालिक और त्रिलोकवर्ती यावज्ज्ञेयोंका साक्षात् ज्ञान होनेमें कोई बाधा नही है।

आ. वीरसेन[2] और आ. विद्यानन्द[3] ने भी इसी आशयका एक महत्त्वपूर्ण श्लोक प्रस्तुत करके उसके द्वारा ज्ञस्वभाव आत्मामे सर्वज्ञताकी सम्भावना की है। वह श्लोक यह है—

ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने।
दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धने॥

—जयधवला पृ० ६६, अष्टस. पृ० ५०।

अग्निमें दाहकता हो और दाह्य—ईंधन सामने हो तथा बीचमें रुकावट न हो तो अग्नि अपने दाह्यको क्यों नही जलावेगी? ठीक उसी तरह आत्मा ज्ञ (ज्ञाता) हो, और ज्ञेय सामने हो तथा उनके बीचमे कोई रुकावट न रहे तो ज्ञाता उन ज्ञेयोंको क्यों नही जानेगा? आवरणोंके अभावमे ज्ञस्वभाव आत्माके लिए आसन्नता और दूरता ये दोनों भी निरर्थक हो जाती है।

उपसंहार :

जैन दर्शनमे प्रत्येक आत्मामे आवरणों और दोषोंके अभावमें सर्वज्ञताका होना अनिवार्य माना गया है। वेदान्त दर्शनमे मान्य आत्माकी सर्वज्ञतासे जैन दर्शनकी सर्वज्ञतामें यह अन्तर है कि जैन दर्शनमे सर्वज्ञताको आवृत करनेवाले आवरण और दोष मिथ्या नहो है, जब कि वेदान्त दर्शनमे अविद्याको मिथ्या कहा गया है। इसके अलावा जैन दर्शनकी सर्वज्ञता जहाँ सादि-अनन्त है और प्रत्येक मुक्त आत्मामे वह पृथक्-पृथक् विद्यमान रहती है अतएव अनन्त सर्वज्ञ है, वहाँ वेदान्तमे मुक्त-आत्माएँ अपने पृथक् अस्तित्वको न रखकर एक अद्वितीय सनातन ब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं और उनकी सर्वज्ञता अन्तःकरणसबन्ध तक रहती है, बादको वह नष्ट हो जाती है या ब्रह्ममे ही उसका समावेश हो जाता है। ●

१. 'अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात्, सुखादिवत्।'—सिद्धिवि० वृ० ८–६ तथा अष्ट० स० का० ५।
२. विशेषके लिए वीरसेनकी जयधवला (पृ० ६४ से ६६) द्रष्टव्य है।
३. विद्यानन्दके आप्तपरीक्षा, अष्टसहस्री आदि ग्रन्थ देखें।

अर्थाधिगम-चिन्तन

अन्तः और बाह्य पदार्थोंके ज्ञापक साधनोंपर प्रायः सभी भारतीय दर्शनोंमें विचार किया गया है और सबने अर्थाधिगमका साधन एकमात्र प्रमाणको स्वीकार किया है। **'प्रमाणाधीना हि प्रमेयव्यवस्था'**, **'मानाधीना हि मेयस्थितिः'**, **'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि'** जैसे प्रतिपादनों द्वारा यही बतलाया गया है कि प्रमाण ही प्रमेयकी सिद्धि अथवा व्यवस्था या ज्ञानका साधन है, अन्य कोई नहीं।

जैन दर्शनमें अर्थाधिगमके साधन

पर जैन दर्शनमें प्रमाणके अतिरिक्त नयको भी पदार्थोंके अधिगमका साधन माना गया है। दर्शनके क्षेत्रमें अधिगमके इन दो उपायोंका निर्देश हमें प्रथमतः **'तत्त्वार्थसूत्र'** में मिलता है। तत्त्वार्थ-सूत्रकारने लिखा है[1] कि तत्त्वार्थका अधिगम दो तरहसे होता है :—१. प्रमाणसे और २. नयसे। उनके परवर्ती सभी जैन विचारकोंका भी यही मत है। यहाँ उन्हींके सम्बन्धमें कुछ विचार किया जाता है।

प्रमाण

अन्य दर्शनोंमें जहाँ इन्द्रियव्यापार, ज्ञातृव्यापार, कारकसाकल्य, सन्निकर्ष आदिको प्रमाण माना गया है और उनसे ही अर्थ-प्रमिति बतलाई गई है वहाँ जैन दर्शनमें स्वार्थ-व्यवसायि ज्ञानको प्रमाण कहा गया है और उसके द्वारा अर्थ-परिच्छित्ति स्वीकार की गई है। इन्द्रिय-व्यापार आदिको प्रमाण न मानने तथा ज्ञानको प्रमाण माननेमें जैन चिन्तकोंने यह युक्ति दी है कि ज्ञान अर्थ-प्रमितिमें अव्यवहित—साक्षात् करण है और इन्द्रियव्यापार आदि व्यवहित—परम्परा करण हैं तथा अव्यवहित करणको ही प्रमाजनक मानना युक्त है, व्यवहितको नहीं। उनकी दूसरी युक्ति यह है कि प्रमिति अर्थ-प्रकाश अथवा अज्ञान-निवृत्तिरूप है वह ज्ञान द्वारा ही सम्भव है, अज्ञानरूप इन्द्रियव्यापार आदिके द्वारा नहीं। प्रकाशद्वारा ही अन्धकार दूर होता है, घटपटादिद्वारा नहीं। तात्पर्य यह कि जैनदर्शनमें प्रमाण ज्ञानरूप है और वही अर्थ-परिच्छेदक है।

प्रमाणसे दो प्रकारकी परिच्छित्ति होती है:—१. स्पष्ट (विशद) और २. अस्पष्ट (अविशद)। जिस ज्ञानमें इन्द्रिय, मन, प्रकाश आदि परकी अपेक्षा नहीं होती वह ज्ञान स्पष्ट होता है तथा असन्दिग्ध, अवि-

१. 'प्रमाणनयैरधिगमः'—तत्त्वार्थसू० १-६।

२. (क) 'तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनय-संस्कृतम्॥'
—समन्तभद्र, आप्तमी० का० १०१।

(ख) 'प्रमाणनयाभ्यां हि विवेचिता जीवादयः सम्यगधिगम्यन्ते।
तद्व्यतिरेकेण जीवाद्यधिगमे प्रकारान्तरासम्भवात्।'
—अभिनव धर्मभूषण, न्यायदी० पृ० ४

परीत एवं निर्णयात्मक होता है। जैन दर्शनमे ऐसे तीन ज्ञान स्वीकार किये गये हैं। वे हैं अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान। इन तीन ज्ञानोंको मुख्य अथवा पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा गया है।[1] पर जिन ज्ञानोंमें इन्द्रिय, मन, प्रकाश आदि परकी अपेक्षा रहती है वे ज्ञान अस्पष्ट होते हैं तथा जितने अंशोंमें वे व्यवहारा-विसंवादी होते है उतने अंशोंमें वे असंदिग्ध, अविपरीत एवं निर्णयात्मक होते हैं, शेष अंशोंमें नहीं। ऐसे ज्ञान दो हैं :—१ मति और २ श्रुत। इन दोनों ज्ञानोमें परकी अपेक्षा होनेसे उनकी परोक्ष संज्ञा है।[2] स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम जैसे परापेक्ष ज्ञानोंका समावेश इसी परोक्ष (मति और श्रुत) में किया गया है[3]। इस तरह परोक्ष और प्रत्यक्षरूप इन मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानसे अर्थाधिगम होता है। स्मरण रहे कि इन्द्रियादिकी अपेक्षासे होने वाले चाक्षुष आदि ज्ञान प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप लोकसंव्यवहारके कारण होते हैं और उन्हें लोकमें 'प्रत्यक्ष' कहा जाता है। अतः इन ज्ञानोंको लोकव्यवहार-की दृष्टिसे जैन चिन्तकोंने सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहा है। वैसे वे परोक्ष ही है।

अर्थाधिगमका हेतु नय, और प्रमाणसे उसका कथंचित् पार्थक्य

अब प्रश्न है कि नय भी यदि अर्थाधिगमका साधन है तो वह ज्ञानरूप है या नहीं? यदि ज्ञानरूप है तो वह प्रमाण है या अप्रमाण? यदि प्रमाण है तो उसे प्रमाणसे पृथक् अर्थाधिगमका उपाय बतानेकी क्या आवश्यकता थी? अन्य दर्शनोंकी भाँति एकमात्र 'प्रमाण' को ही अधिगमोपाय बताना पर्याप्त था? यदि अप्रमाण है तो उससे यथार्थ अर्थाधिगम कैसे हो सकता है, अन्यथा संशयादि मिथ्याज्ञानोंसे भी यथार्थ अर्था-धिगम होना चाहिए? और यदि नय ज्ञानरूप नही है तो उसे सन्निकर्षादिकी तरह ज्ञापक स्वीकार नही किया जा सकता?

ये कतिपय प्रश्न हैं, जो नयको अर्थाधिगमोपाय मानने वाले जैन दर्शनके सामने उठते है। जैन मनी-षियोंने इन सभी प्रश्नोंपर बड़े ऊहापोहके साथ विचार किया है।

इसमे सन्देह नहीं कि नयको अर्थाधिगमोपायके रूपमें अन्य दर्शनोंमे स्वीकार नहीं किया गया है और जैन दर्शनमें ही उसे अंगीकार किया गया है। वास्तवमे 'नय' ज्ञानका एक अंश है[4] और इसलिए वह न प्रमाण है और न अप्रमाण, किन्तु ज्ञानात्मक प्रमाणका एकदेश है। जब ज्ञाता या वक्ता ज्ञान द्वारा या वचनों द्वारा पदार्थमे अंशकल्पना करके उसे ग्रहण करता है तो उसका वह ज्ञान अथवा वचन नय कहा जाता है और जब पदार्थमे अंशकल्पना किये बिना वह उसे समग्र रूपमे ग्रहण करता है तब वह ज्ञान प्रमाण रूपसे व्यवहृत होता है। ऊपर हम देख चुके हैं कि मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पाँच ज्ञानोंको प्रमाण कहा गया है और उन्हे प्रत्यक्ष तथा परोक्ष इन दो भेदों (वर्गों) मे विभक्त किया गया है। जिन ज्ञानोंमें विषय अस्पष्ट एवं अपूर्ण झलकता है उन्हें परोक्ष तथा जिनमे विषय स्पष्ट एवं पूर्ण प्रतिबिम्बित होता है उन्हें प्रत्यक्ष निरूपित किया गया है। मति और श्रुत इन दो ज्ञानोंमे विषय अस्पष्ट एवं अपूर्ण झलकता है, इस

१-२. 'मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्', 'तत्प्रमाणे', 'आद्ये परोक्षम्', 'प्रत्यक्षमन्यत्'
—तत्त्वार्थसू० १-९, १०, ११, १२।

३. 'मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्'
—तत्त्वार्थसूत्र १-१३।

४. 'प्रमाणैकदेशाश्च नयाः………'—पूज्यपाद, सर्वार्थ० १-३२।

लिए उन्हें 'परोक्ष' कहा है तथा शेष तीन ज्ञानों (अवधि, मनःपर्यय और केवल) में विषय स्पष्ट एवं पूर्ण प्रतिफलित होता है,[1] अतः उन्हें 'प्रत्यक्ष' प्रतिपादन किया है।

प्रतिपत्ति-भेदसे भी प्रमाण-भेदका निरूपण किया गया है। यह निरूपण हमें पूज्यपाद-देवनन्दिकी सर्वार्थसिद्धिमें उपलब्ध होता है। पूज्यपादने लिखा है[2] कि प्रमाण दो प्रकारका है :—१. स्वार्थ और २. परार्थ। श्रुतज्ञानको छोड़कर शेष चारों मति, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान स्वार्थ-प्रमाण हैं, क्योंकि उनके द्वारा स्वार्थ (ज्ञाताके लिए) प्रतिपत्ति होती है, परार्थ (श्रोता या विनेय जनोंके लिए) नहीं। परार्थप्रतिपत्तिका तो एकमात्र साधन वचन है और ये चारों ज्ञान वचनात्मक नहीं हैं। किन्तु श्रुत-प्रमाण स्वार्थ और परार्थ दोनों प्रकारका है। ज्ञानात्मक श्रुत प्रमाणको स्वार्थ-प्रमाण कहते हैं और वचनात्मक श्रुत प्रमाणको परार्थ-प्रमाण कहा गया है। वस्तुतः श्रुत-प्रमाणके द्वारा स्वार्थ-प्रतिपत्ति और परार्थ-प्रतिपत्ति दोनों होती हैं। ज्ञानात्मक श्रुत-प्रमाण द्वारा स्वार्थ-प्रतिपत्ति और वचनात्मक परार्थ-श्रुत-प्रमाण द्वारा परार्थ प्रतिपत्ति होती है। ज्ञाता-वक्ता जब किसी वस्तुका दूसरेको ज्ञान करानेके लिए शब्दोच्चारण करता है तो वह अपने अभिप्रायानुसार उस वस्तुमें अंश-कल्पना—पट, घट, काला, सफेद, छोटा, बड़ा आदि भेदों द्वारा उसका श्रोता या विनेयोको ज्ञान कराता है। ज्ञाता या वक्ताका वह शब्दोच्चारण उपचारतः वचनात्मक परार्थ श्रुतप्रमाण है और श्रोताको जो वक्ताके शब्दोंसे बोध होता है वह वास्तव परार्थ श्रुत-प्रमाण है तथा ज्ञाता या वक्ताका जो अभिप्राय रहता है और जो अंशग्राही है वह ज्ञानात्मक स्वार्थ श्रुतप्रमाण है। निष्कर्ष यह कि ज्ञानात्मक स्वार्थश्रुत-प्रमाण और वचनात्मक परार्थ श्रुतप्रमाण दोनों नय हैं। यही कारण है कि जैन दर्शन-ग्रन्थोंमें ज्ञाननय और वचननयके भेदसे दो प्रकारके नयोंका भी विवेचन मिलता है[3]।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि नय श्रुत-प्रमाणका अंश है, वह मति, अवधि तथा मनःपर्ययज्ञानका अंश नहीं है, क्योंकि मत्यादि द्वारा ज्ञात सीमित अर्थके अंशमें नयकी प्रवृत्ति नहीं होती। नय तो समस्त पदार्थोंके अशोंका एकैकशः निश्चायक है, जबकि मत्यादि तीनों ज्ञान उनको विषय नहीं करते। यद्यपि केवलज्ञान उन समस्त पदार्थोंके अंशोंमें प्रवृत्त होता है और इसलिए नयको केवलज्ञानका अंश माना जा सकता है किन्तु नय तो उन्हे परोक्ष-अस्पष्ट रूपसे जानता है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष (स्पष्ट) रूपसे उनका साक्षात्कार करता है। अतः नय केवलमूलक भी नहो है। वह सिर्फ परोक्ष श्रुतप्रमाणमूलक ही है।[4]

१. 'तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥'—अमृतचन्द्र, पुरुषार्थसि० का० १।

२. "तत्र प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं प्रमाणं श्रुतवर्ज्जम्। श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च। ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम्। तद्विकल्पा नयाः।"
—पूज्यपाद, सर्वार्थसि० १-६।

३. "ततः परार्थाधिगमः प्रमाणनयैर्वचनात्मभिः कर्त्तव्यः स्वार्थ इव ज्ञानात्मभिः प्रमाणनयैः, अन्यथा कार्त्स्न्येनैकदेशेन तत्त्वार्थाधिगमानुपपत्तेः।"
—विद्यानन्द, तत्त्वार्थश्लोकवा० पृ० १४२।

४. "मतेरवधितो वापि मनःपर्ययतोऽपि वा।
ज्ञातस्यार्थस्य नांशेऽस्ति नयानां वर्तनं ननु ॥२४॥
निःशेषदेशकालार्थगोचरत्वविनिश्चयात्।
तस्येति भाषितं कैश्चिद्युक्तमेव तथेष्टितः ॥२५॥

अतएव नय न अज्ञानरूप है, न प्रमाणरूप है और न अप्रमाणरूप। अपितु प्रमाणका एकदेश है। इसीसे उसे प्रमाणसे पृथक् अधिगमोपाय निरूपित किया गया है। अंशप्रतिपत्तिका एकमात्र साधन वही है। अंशी—वस्तुको प्रमाणसे जानकर अनन्तर किसी एक अंश—अवस्था द्वारा पदार्थका निश्चय करना नय कहा गया है[1]। प्रमाण और नयके पारस्परिक अन्तरको स्पष्ट करते हुए जैन मनीषियोने कहा है[2] कि प्रमाण समग्रको विषय करता है और नय असमग्रको।

प्रखर तार्किक विद्यानन्दने तो उपर्युक्त प्रश्नोंका युक्ति एवं उदाहरण द्वारा समाधान करके प्रमाण और नयके पार्थक्यका बड़े अच्छे ढंगसे विवेचन किया है। वे जैन दर्शनके मूर्धन्य ग्रन्थ अपने तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिकमें कहते हैं[3] कि नय न प्रमाण है और न अप्रमाण, अपितु प्रमाणैकदेश है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार समुद्रसे लाया गया घड़ा भर पानी न समुद्र है और न असमुद्र, अपितु समुद्रैकदेश है। यदि उसे समुद्र मान लिया जाय तो शेष सारा पानी असमुद्र कहा जायगा, अथवा बहुत समुद्रोंकी कल्पना करनी

न हि मत्यवधिमनःपर्ययाणामन्यतमेनापि प्रमाणेन गृहीतस्यार्थस्यांशे नयाः प्रवर्तन्ते, तेषां निःशेषदेशकालार्थगोचरत्वात्, मत्यादीनां तदगोचरत्वात्। न हि मनोमतिरप्यशेषविषया करणविषये तज्जातीये वाप्रवृत्तेः।

त्रिकालगोचराशेषपदार्थांशेषु वृत्तितः।

केवलज्ञानमूलत्वमपि तेषां न युज्यते ॥२६॥

परोक्षाकारतावृत्तेः स्पष्टत्वात् केवलस्य तु।

श्रुतमूला नयाः सिद्धा वक्ष्यमाणाः प्रमाणवत् ॥२७॥

यथैव हि श्रुतं प्रमाणमधिगमजसम्यग्दर्शननिबन्धनतत्त्वार्थाधिगमोपायभूतं मत्यवधिमनःपर्ययकेवलात्मकं च वक्ष्यमाणं तथा श्रुतमूला नयाः सिद्धास्तेषां परोक्षाकारतया वृत्तेः। ततः केवलमूला नयास्त्रिकालगोचराशेषपदार्थांशेषु वर्तनादिति न युक्तमुत्पश्यामस्तद्वत्तेषां स्पष्टत्वप्रसंगात्।"

—विद्यानन्द, तत्त्वार्थश्लो० १-६, पृ० १२४।

१. (क) "एवं हि उक्तम्—"प्रगृह्य प्रमाणतः परिणतिविशेषादर्थावधारणं नयः।"

—सर्वार्थसि० १-६।

(ख) "वस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हि हेत्वर्पणात् साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवणः प्रयोगो नयः।"

—सर्वा० सि० १-३३।

२. (क) 'सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः'।—स० सि० १-६।

(ख) 'अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः।

नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्नयस्तन्निराकृतिः ॥'—अष्टस० पृ० २९०।

३. (क) नाप्रमाणं प्रमाणं वा नयो ज्ञानात्मको मतः।

स्यात्प्रमाणैकदेशस्तु सर्वथाप्यविरोधतः ॥ —त० श्लो० वा० पृ० १२३।

(ख) 'नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः।

नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते ॥

तन्मात्रस्य समुद्रत्वे शेषांशस्यासमुद्रता।

समुद्रबहुत्वं वा स्यात्तच्चेत्कोस्तु समुद्रवित् ॥ —त० श्लो० पृ० ११८।

पड़ेगी। यदि उसे असमुद्र कहा जाय तो शेषांशोंको भी असमुद्र कहा जायेगा और उस हालतमें समुद्रका व्यवहार कहीं भी नहीं होगा। ऐसी स्थितिमें किसीको 'समुद्रका ज्ञाता' नहीं कहा जायगा।

अतः नयको प्रमाणैकदेश मानकर उसे जैनदर्शनमें प्रमाणसे पृथक् अधिगमोपाय बताया गया है। वस्तुतः अल्पज्ञ ज्ञाता और श्रोताकी दृष्टिसे उसका पृथक् निरूपण अत्यावश्यक है। संसारके समस्त व्यवहार और वचन-प्रवृत्ति नयोंके आधारपर ही चलते हैं। अनन्तधर्मात्मक वस्तुके एक-एक अंशको जानना या कहकर दूसरोंको जनाना नयका काम है और उस पूरी वस्तुको जानना प्रमाणका कार्य है। यदि नय न हो तो विविध प्रश्न, उनके विविध समाधान, विविध वाद और उनका समन्वय आदि कोई भी नहीं बन सकता। स्वार्थप्रमाण गूंगा है। वह बोल नहीं सकता और न विविध वादों एवं प्रश्नोंको सुलझा सकता है। वह शक्ति नयमें ही है। अतः नयवाद जैन दर्शनकी एक विशेष उपलब्धि है और भारतीय दर्शनको उसकी अनुपम देन है।

उपसंहार

वस्तु अनेक धर्मात्मक है, उसका पूरा बोध हम इन्द्रियों या वचनों द्वारा नहीं कर सकते। हाँ, नयोंके द्वारा एक-एक धर्मका बोध करते हुए अनगिनत धर्मोंका ज्ञान कर सकते हैं। वस्तुको जब द्रव्य या पर्यायरूप, नित्य या अनित्य, एक या अनेक आदि कहते हैं तो उसके एक-एक अंशका ही कथन या ग्रहण होता है। इस प्रकारका ग्रहण नय द्वारा ही संभव है, प्रमाण द्वारा नहीं। प्रसिद्ध जैन तार्किक सिद्धसेनने नयवादकी आवश्यकतापर बल देते हुए लिखा है[1] कि जितने वचन-मार्ग है उतने ही नय हैं। मूलमें दो नय स्वीकार किये गये हैं[2]—१. द्रव्यार्थिक और २. पर्यायार्थिक। द्रव्य, सामान्य, अन्वयका ग्राहक द्रव्यार्थिक और पर्याय, विशेष, व्यतिरेकका ग्राही पर्यायार्थिक नय है। द्रव्य और पर्याय ये सब मिलकर प्रमाणका विषय हैं। इस प्रकार विदित है कि प्रमाण और नय ये दो वस्तु-अधिगमके साधन हैं और दोनों ही अपने-अपने क्षेत्रमें वस्तुके ज्ञापक एवं व्यवस्थापक हैं।

---

१. 'जावइया वयणपहा तावइया चेव होंति णयवाया' —सन्मतितर्क ३-४७।

२. 'नयो द्विविधः, द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। पर्यायार्थिकनयेन भावतत्त्वमधिगन्तव्यम्, इतरेषां त्रयाणां द्रव्यार्थिकनयेन, सामान्यात्मकत्वात्। द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ। द्रव्यार्थिकः पर्यायोऽर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ। पर्यायार्थिकः तत्सर्वं समुदितं प्रमाणेनाधिगन्तव्यम्।'—सर्वार्थसि० १-३३।

ज्ञापकतत्त्व-विमर्श

तत्त्व और उसके भेद

जैन दर्शनमें सद्, वस्तु, अर्थ और तत्त्व ये चारों शब्द एक ही अर्थके बोधक माने गये हैं। सद् या वस्तु अथवा अर्थके कहनेसे जिसकी प्रतीति होती है उसीका बोध तत्त्वके द्वारा होता है। इसके दो भेद हैं—१ उपेय और २ उपाय। प्राप्यको उपेय और प्रापकको उपाय तत्त्व कहा जाता है। उपेय तत्त्वके भी दो भेद हैं—१ कार्य और २ ज्ञेय। उत्पन्न होनेवाली वस्तु कार्य कही जाती है और ज्ञापककी विषयभूत वस्तु ज्ञेयके नामसे अभिहित होती है। इसी प्रकार उपायतत्त्व भी दो प्रकारका है—१ कारक और २ ज्ञापक। जो कार्यको उत्पन्न करता है वह कारक उपायतत्त्व कहा जाता है और जो ज्ञेयको जानता है वह ज्ञापक उपाय-तत्त्व है। तात्पर्य यह है कि वस्तुप्रकाशक ज्ञानज्ञापक उपायतत्त्व है तथा कार्योत्पादक उद्योग-दैव आदि कारक उपायतत्त्व हैं।

प्रकृतमें हमें ज्ञायकतत्त्वपर प्रकाश डालना अभीष्ट है। अतएव हम कारकतत्त्वकी चर्चा इस निबन्ध-में नहीं करेंगे। इसमें केवल ज्ञापक उपायतत्त्वका विवेचन करना अभीष्ट है।

ज्ञापक उपायतत्त्व : प्रमाण और नय

प्रमाण और नय ये दोनों वस्तुप्रकाशक है। अतः ज्ञापक उपायतत्त्व दो प्रकारका है—१ प्रमाण और २ नय। आचार्य गृद्धपिच्छने, जिन्हें उमास्वामी और उमास्वाति भी कहा जाता है, अपने तत्त्वार्थ सूत्रमें स्पष्ट कहा है कि '**प्रमाणनयैरधिगमः**' [त० सू० १-६]—प्रमाणों और नयोंके द्वारा पदार्थोंका ज्ञान होता है। अतः जैनदर्शनमें पदार्थोंको जाननेके दो ही उपाय प्रतिपादित एवं विवेचित हैं और वे हैं प्रमाण तथा नय। सम्पूर्ण वस्तुको जानने वाला प्रमाण है और वस्तुके धर्मों—अंशोंका ज्ञान कराने वाला नय है। द्रव्य और पर्याय अथवा धर्मी और धर्म। अंशी और अंश दोनोंका समुच्चय वस्तु है।

प्रमाण और नयका भेद

प्रमाण जहाँ वस्तुको अखण्ड रूपमें ग्रहण करता है वहाँ नय उसे खण्ड-खण्ड रूपमें विषय करता है। यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि ज्ञापक तो ज्ञानरूप ही होता है और प्रमाण ज्ञानको कहा गया है। '**स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञान प्रमाणम्**', '**सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्**' आदि सिद्धान्तवचनों द्वारा ज्ञानको प्रमाण ही बतलाया गया है, तब नयको ज्ञापक—प्रकाशक कैसे कहा ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि प्रमाण और नय ये दो भेद विषयभेदकी अपेक्षा किये गये हैं। वास्तवमें नय प्रमाणरूप है, प्रमाणसे वह भिन्न नहीं है। जिस समय ज्ञान पदार्थोंको अखण्ड—सकलांशरूपमें ग्रहण करता है तब वह प्रमाण कहा जाता है और जब उनके सापेक्ष एकांशको ग्रहण करता है तब वह ज्ञाननय कहलाता है। छद्मस्थ ज्ञाता जब अपने आपको वस्तुका ज्ञान करानेमें प्रवृत्त होता है तो उसका ज्ञान स्वार्थप्रमाण कहा जाता है और ऐसे ज्ञान मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल पाँचों ज्ञान हैं। किन्तु जब वह दूसरोंको समझानेके लिए वचन-प्रयोग करता है तब उसके वचनोंसे जिज्ञासुको होनेवाला वस्तुके धर्मों—अंशोंका ज्ञान परार्थश्रुत ज्ञान कहलाता है और उसके वे

वचन भी उपचारसे परार्थश्रुत ज्ञान माने जाते हैं। तथा वही प्रतिपत्ता उस वस्तुके धर्मोका स्वयं ज्ञान करता है तो उसका वह ज्ञान स्वार्थश्रुतज्ञान है। आचार्य पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धि [१-६] मे उक्त प्रश्नका अच्छा समाधान किया है। उन्होंने लिखा है कि—

'तत्र प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं प्रमाणं श्रुतवर्ज्जम्। श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च। ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम्। तद्विकल्पा नयाः।'

अर्थात् प्रमाण दो प्रकारका है—१ स्वार्थ और २ परार्थ। इनमे श्रुतको छोड़कर शेष सभी (मति, अवधि, मनःपर्यय और केवल) स्वार्थप्रमाण हैं। किन्तु श्रुत स्वार्थप्रमाण भी है और परार्थ प्रमाण भी है। ज्ञानात्मक श्रुत स्वार्थप्रमाण है और वचनात्मक श्रुत परार्थप्रमाण है। इसीके भेद नय हैं। पूज्यपादके इस विवेचनसे स्पष्ट है कि नय भी ज्ञानरूप है और श्रुतज्ञानके भेद हैं।

विद्यानन्दने भी तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक [१-६] मे उक्त प्रश्नका सयुक्तिक समाधान किया है। वे कहते हैं कि नय न प्रमाण है और न अप्रमाण, अपितु वह प्रमाणका अंश है। जिस प्रकार समुद्रसे लाया गया घड़े भर पानी न समुद्र है और न असमुद्र, अपितु समुद्रका अंश है। यथा—

नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः।
नासमुद्र समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते॥
तन्मात्रस्य समुद्रत्वे शेषांशस्यासमुद्रता।
समुद्रबहुत्वं वा स्यात्तच्चेत्क्वास्तु समुद्रवित्॥

—त० श्लो० वा० पृ० ११८।

अतः नय प्रमाणरूप एवं ज्ञानरूप होनेपर भी छद्मस्थ ज्ञाता और वक्ताओंकी दृष्टिसे उनका पृथक् निरूपण किया गया है। संसारके सभी व्यवहार नयोंको लेकर ही होते हैं। प्रमाण अशेषार्थग्राहकरूपसे वस्तुका प्रकाशक—ज्ञापक है और नय वस्तुके एक-एक अंशोंके प्रकाशक—ज्ञापक हैं और इस प्रकार नय भी प्रमाणकी तरह ज्ञापकतत्त्व है। आचार्य समन्तभद्रने भी आप्तमीमासामें प्रमाण और नय दोनोंको वस्तु-प्रकाशक कहा है—

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत् सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम्॥

'सम्पूर्ण पदार्थोंको युगपत् प्रकाशित करनेवाला तत्त्वज्ञान प्रमाणरूप है और क्रमसे होनेवाला छद्मस्थों-का ज्ञान स्याद्वादनयस्वरूप है।'

नयोंका वैशिष्ट्य

ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट है कि जैन दर्शनमें नयोंका वही महत्त्वपूर्ण स्थान है जो प्रमाणका है। प्रमाण और नय दोनों जैन दर्शनकी आत्मा हैं। यदि नयको न माना जाय तो वस्तुका ज्ञान अपूर्ण रहनेसे जैन दर्शनकी आत्मा (वस्तु-विज्ञान) अपूर्ण रहेगी। वास्तवमे नय ही विविध वादों एवं प्रश्नोंके समाधान प्रस्तुत करते हैं। वे गुत्थियोंके सुलझाने तथा सही वस्तुस्वरूप बतलानेमें समर्थ हैं। प्रमाण गूँगा है, बोल नहीं सकता और न विविध वादोंको सुलझा सकता है। अतः जैन दार्शनिकोंने मतान्तरोंका समन्वय करनेके लिए नयवादका विस्तारके साथ प्रतिपादन किया है। वचनप्रयोग और लोकव्यवहार दोनों नयाश्रित हैं। विना नयका अवलम्बन लिए वे दोनों ही सम्भव नहीं हैं। अतः सभी दर्शनोंको इस नयवादको स्वीकार

करना आवश्यक है। उसके बिना वे न अपने खण्डनका परिहार या प्रतिवाद कर सकते हैं और न अपने दर्शनको उत्कृष्ट सिद्ध कर सकते हैं। न्यायदर्शनमें यद्यपि अपने ऊपर आनेवाले आक्रमणोंका परिहार करनेके लिए छल, जाति और निग्रहस्थानोंका कथन किया है। किन्तु ऐसे प्रयत्न सद्—सम्यक् नहीं कहे जा सकते। कोई भी प्रेक्षावान् असद् प्रयत्नों द्वारा अपने पक्षका समर्थन तथा परपक्षका निराकरण नहीं कर सकता। दर्शनका उद्देश्य जगत्के लोगोंका हित करना और उन्हें उचित मार्गपर लाना है। वितण्डावादसे उक्त दोनों बातें असम्भव हैं। जैन दर्शनका नयवाद विविध मतोंके एकान्तरूप अन्धकारको दूर करनेके लिए नहीं बुझने वाले विशाल गैसोंका काम देता है। मध्यस्थ एवं उपपत्तिचक्षुः होकर उसपर विचार करें तो उसकी अनिवार्यता निश्चय ही स्वीकार्य होगी।

वस्तु अनेकधर्मात्मक है और उसका पूरा ज्ञान हम इन्द्रियों या निरपेक्ष वचनों द्वारा नहीं कर सकते हैं। हाँ, नयोसे एक-एक धर्मका बोध करते हुए उसके विवक्षित अनेक धर्मोंका ज्ञान कर सकते हैं। द्रव्यार्थिक नयसे विवक्षा करनेपर वस्तु नित्य है और पर्यायार्थिक नयसे कथन करनेपर वह अनित्य भी है। इसी प्रकार उसमे एक, अनेक, अभेद, भेद आदि विरोधी धर्मोंकी व्यवस्था नयवादसे ही होती है।

विवक्षित एवं अभिलषित अर्थकी प्राप्तिके लिए वक्ताकी जो वचनप्रवृत्ति या अभिलाषा होती है वही नय है। यह अर्थक्रियार्थियोंकी अर्थक्रियाका सम्पादक है।

जैन दर्शनमें नयवादका परिवार विशाल है। या यों कहना चाहिए कि जितने वचनमार्ग है उतने ही नय हैं। आचार्य सिद्धसेनने सन्मतिसूत्रमे कहा है—

'जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया।'

जितना वचन व्यवहार है और वह जिस-जिस तरहसे हो सकता है वह सब नयवाद है। वचनमें एक साथ एक समयमे एक ही धर्मको प्रतिपादन करनेकी सामर्थ्य है, अनेक धर्मों या अर्थोके प्रतिपादनकी सामर्थ्य उसमे नही है। **'सकृदुच्चरितः शब्दः एकमेवार्थं गमयति'**—एक बार बोला गया शब्द एक ही अर्थका बोध करा सकता है। इसीसे अनेक धर्मोंकी पिण्डरूप वस्तु प्रमाणका ही विषय होती है, नयका नही।

नयके भेद

नयके मूल दो भेद हैं—१ द्रव्यार्थिक और २ पर्यायार्थिक। जो नय मात्र द्रव्यको ग्रहण करता है और पर्यायकी सत्ताको गौण कर देता है वह द्रव्यार्थिक नय है तथा जो द्रव्यको गौण करके केवल पर्यायको विषय करता है वह पर्यायार्थिक नय है। द्रव्यार्थिकके तीन भेद हैं—१ नैगम, २ सग्रह और ३ व्यवहार। पर्यायार्थिक नयके चार भेद हैं—१ ऋजुसूत्र, २ शब्द, ३ समभिरूढ और ४ एवंभूत। द्रव्यार्थिकके तीन और पर्यायार्थिकके चार इन सात नयोंका निरूपण तत्त्वार्थसूत्रकारने निम्न सूत्र द्वारा किया है—

'नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः।' —त० सू० १-३३।

इनका विशेष विवेचन तत्त्वार्थसूत्रकी टीकाओं—सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदिमें तथा नयचक्र प्रभृति ग्रन्थोंमे किया गया है। विशेष जिज्ञासुओंको वहाँसे उनके स्वरूपादि ज्ञातव्य हैं।

यहाँ स्मरणीय है कि आध्यात्मिक दृष्टिसे निश्चय और व्यवहार नयोंका भी जैन दर्शनमे प्रतिपादन उपलब्ध है। निश्चय और व्यवहारके भेदोंका भी विशद वर्णन किया गया है। इस तरह हम देखते हैं कि नय भी प्रमाणकी तरह वस्तुके बोधक हैं और इसलिए ज्ञापक तत्त्वके अन्तर्गत उनका कथन किया गया है।

प्रमाणका स्वरूप और उसके भेद

स्व तथा अपूर्व अर्थके यथार्थ निश्चय कराने वाले ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। किसी पदार्थको जाननेका प्रयोजन यह होता है कि तद्विषयक अज्ञानकी निवृत्ति हो और उसकी जानकारी हो। जानकारी होनेके उपरान्त प्रमाता उपादेयका उपादान, हेयका त्याग और उपेक्षणीयकी उपेक्षा करता है। इस प्रकार प्रमाणका साक्षात्फल अज्ञाननिवृत्ति और परम्पराफल हानोपादानोपेक्षाबुद्धि है। यह दोनों प्रकारका फल स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान द्वारा ही संभव है। अतः जैनदर्शनमें स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञानको प्रमाण माना गया है।

इसके मूलमे दो भेद हैं—१ प्रत्यक्ष और २ परोक्ष। प्रत्यक्षके भी दो भेद हैं—१ सांव्यवहारिक और २ पारमार्थिक। परोक्ष प्रमाणके पाँच भेद हैं—१ स्मृति, २ प्रत्यभिज्ञान, ३ तर्क, ४ अनुमान और ५ आगम। प्रमाणके ये दार्शनिक भेद हैं। आगमकी अपेक्षा उसके पाँच भेद हैं—१ मति, २ श्रुत, ३ अवधि, ४ मनःपर्यय और ५ केवल।

इस प्रकार प्रमाण और नय दोनों ही वस्तुप्रतिपत्तिके अमोघ साधन हैं—उपाय हैं।

ध्यान-विमर्श

यों तो सभी धर्मों और दर्शनोंमें ध्यान, समाधि या योगका प्रतिपादन है। योगदर्शन तो उसीपर आधृत है और योगके सूक्ष्म चिन्तनको लिये हुए है। पर योगका लक्ष्य अणिमा, महिमा, वशित्व आदि ऋद्धि-सिद्धियोंकी उपलब्धि है और योगी उनकी प्राप्तिके लिये योगाराधन करता है। योगद्वारा ऋद्धि-सिद्धियोंको प्राप्त करनेका प्रयोजन भी प्रभाव-प्रदर्शन, चमत्कार-दर्शन आदि है। मुक्ति लाभ भी योगका एक उद्देश्य है, पर वह गौण है।

जैन दर्शनमे ध्यानका लक्ष्य मुख्यतया कर्म-निरोध और कर्म-निर्जरा है और इन दोनोंके द्वारा अशेष कर्ममुक्ति प्राप्त करना है। यद्यपि योगीको अनेक ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ भी उसके योग-प्रभावमे उपलब्ध होती हैं। पर वे उसकी दृष्टिमे प्राप्य नहीं हैं, मात्र आनुषंङ्गिक हैं। उनसे उसको न लगाव होता है और न उसके लिये वह ध्यान करता है। वे तथा अन्य स्वर्गादि अभ्युदय उसे उसी प्रकार मिलते हैं जिस प्रकार चावलोंके लिये खेती करनेवाले किसानको भूसा अप्रार्थित मिल जाता है। किसान भूसाको प्राप्त करनेका न लक्ष्य रखता है और न उसके लिये प्रयास ही करता है। योगी भी योगका आराधन मात्र कर्म-निरोध और कर्म-निर्जराके लिये करता है। यदि कोई योगी उन ऋद्धि-सिद्धियोंमे उलझता है—उनमे लुभित होता है तो वह योगके वास्तविक लाभसे वंचित होता है। तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वातिने[1] स्पष्ट लिखा है कि तप (ध्यान) से संवर (कर्म-निरोध) और कर्म-निर्जरा दोनों होते हैं। आचार्य रामसेन[2] भी अपने तत्त्वानुशासनमे ध्यानको संवर तथा निर्जराका कारण बतलाते हैं। इन दोनोंसे समस्त कर्मोंका अभाव होता है और समस्त कर्माभाव ही मोक्ष है।[3] इससे स्पष्ट है कि जैन दर्शनमे ध्यानका आध्यात्मिक महत्त्व मुख्य है।

ध्यानकी आवश्यकतापर बल देते हुए आचार्य नेमिचन्द्र लिखते हैं[4] कि मुक्तिका उपाय रत्नत्रय है और यह रत्नत्रय व्यवहार तथा निश्चयकी अपेक्षा दो प्रकारका है। यह दोनों प्रकारका रत्नत्रय ध्यानसे ही उपलभ्य है। अतः सम्पूर्ण प्रयत्न करके मुनिको निरन्तर ध्यानका अभ्यास करना चाहिये। तत्त्वार्थसारकार आ० अमृतचन्द्र[5] भी यही कहते हैं। यथार्थमे ध्यानमे जब योगी अपनेसे भिन्न किसी दूसरे मंत्रादि पदार्थका अवलम्बन लेकर उसे ही अपने श्रद्धान, ज्ञान और आचरणका विषय बनाता है तब वह व्यवहार-मोक्षमार्गी होता है और जब केवल अपने आत्माका अवलम्बन लेकर उसे ही श्रद्धा, ज्ञान और चर्याका विषय बनाता है

---

१. 'आस्रवनिरोधः संवरः', 'तपसा निर्जरा च'—त० सू० ९-१, ३।

२. 'तद् ध्यानं निर्जराहेतुः संवरस्य च कारणम्।'—तत्त्वानु० ५६।

३. 'बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः'—त० सू० १०-२।

४. दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह॥ —द्रव्यसंग्रह गा० ४७।

५. निश्चय-व्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम्॥—तत्त्वार्थसार।

तब वह निश्चयमोक्षमार्गी होता है। अतः मोक्ष प्राप्त करानेवाले रत्नत्रयरूप मार्गपर आरूढ़ होनेके लिये योगीको ध्यान बहुत आवश्यक और उपयोगी है।

मनुष्यके चिरन्तन संस्कार उसे विषय और वासनाओंकी ओर ही ले जाते हैं। और इन संस्कारोंकी जनिका एवं उद्बोधिका पाँचों इन्द्रियाँ तो हैं ही, मन तो उन्हें ऐसी प्रेरणा देता है कि उन्हें न जाने योग्य स्थानमें भी जाना पड़ता है। फलतः मनुष्य सदा इन्द्रियों और मनका अपनेको गुलाम बनाकर तदनुसार उचित-अनुचित सब प्रकारकी प्रवृत्ति करता है। परिणाम यह होता है कि वह निरन्तर राग-द्वेषकी भट्टीमें जलता और कष्ट उठाता है। आचार्य अमितगतिने[1] ठीक लिखा है कि आत्मा संयोगके कारण नाना दुःखोंको पाता है। अगर वह इस तथ्यको समझ ले तो उस संयोगके छोड़नेमें उसे एक क्षण भी न लगे। तत्त्वज्ञानसे क्या असम्भव है? यह तत्त्वज्ञान श्रुतज्ञान है और श्रुतज्ञान ही ध्यान है। अतः ध्यानके अभ्यासके लिये सर्वप्रथम आवश्यक है इन्द्रियों और मनपर नियंत्रण। जब तक दोनोंपर नियंत्रण न होगा तब तक मनुष्य विषय-वासनाओंमें डूबा रहेगा और उनसे कष्टोंको भोगता रहेगा। पर यह तथ्य है कि कष्ट या दुःख किसीको इष्ट नही है—सभीको सुख और शान्ति इष्ट है। जब वास्तविक स्थिति यह है तब मनुष्यको सत्संगतिसे या शास्त्रज्ञानसे उक्त तथ्यको समझकर विषय-वासनाओंमे ले जानेवाली इन्द्रियों और मनपर नियंत्रण करना जरूरी है। जब इन्द्रिय और मन नियंत्रित रहेंगे तो मनुष्यकी प्रवृत्ति आत्मोन्मुखी अवश्य होगी, क्योंकि वे निर्विषय नही रह सकते। आत्मा उनका विषय हो जानेपर स्वाधीन सुख और शान्तिकी उत्तरोत्तर अपूर्व उपलब्धि होती जायेगी।

यह सच है कि इन्द्रियों और मनपर नियंत्रण करना सरल नही है, अति दुष्कर है। परन्तु यह भी सच है कि वह असम्भव नही है। सामान्य मनुष्य और असामान्य मनुष्यमे यही अन्तर है कि जो कार्य सामान्य मनुष्यके लिए अति दुष्कर होता है वह असामान्य मनुष्यके लिए सम्भव होता है और वह उसे कर डालता है। अतः इन्द्रियों और मनपर नियंत्रण करनेमे आरम्भमे भले ही कठिनाई दिखे। पर संकल्प और दृढ़ताके साथ निरन्तर प्रयत्न करनेपर उस कठिनाईपर विजय पा ली जाती है। इन्द्रियों और मनपर काबू पानेके लिये अनेक उपाय बताये गये है। उनमे प्रधान दो उपाय हैं—१. परमात्मभक्ति और २. शास्त्रज्ञान। परमात्मभक्तिके लिए पंचपरमेष्ठीका जप, स्मरण और गुणकीर्तन आवश्यक है। उसे ही अपना शरण (**नान्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम**) माना जाय। इससे आत्मामे विचित्र प्रकारकी शुद्धि आयेगी। मन और वाणी निर्मल होंगे। और उनके निर्मल होते ही वह ध्यानकी ओर झुकेगा तथा ध्यान द्वारा उपर्युक्त द्विविध मोक्षमार्गको प्राप्त करेगा। परमात्म-भक्तिमें उन सब मंत्रोंका जाप किया जाता है जिनमें केवल अर्हत्, केवल सिद्ध, केवल आचार्य, केवल उपाध्याय, केवल मुनि और या सभीको जपा जाता है। आचार्य विद्यानन्दने[2] लिखा है कि परमेष्ठीकी भक्ति (स्मरण, कीर्तन, ध्यान) से निश्चय ही श्रेयोमार्गकी संसिद्धि होती है। इसीसे उनका स्तवन करना बड़े-बड़े मुनि श्रेष्ठोंने बतलाया है।

इन्द्रियों और मनको वशमे करनेका दूसरा उपाय श्रुतज्ञान है। यह श्रुतज्ञान सम्यक् शास्त्रोंके अनुशीलन, मनन और सतत अभ्याससे प्राप्त होता है। वास्तवमे जब मनका व्यापार शास्त्रस्वाध्यायमें लगा

१. संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा।
तस्मात्संयोगसम्बधं त्रिधा सर्वं त्यजाम्यहम्॥ —सामायिकपाठ।

२. श्रेयोमार्गसंसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः।
इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवाः॥ —आप्तप० का० २।

होगा—उसके शब्द और अर्थके चिन्तनमे संलग्न होगा तो वह अन्यत्र जायेगा ही कैसे ? और जब वह नहीं जायेगा तो इन्द्रियाँ उस अग्निकी तरह ठंडी (राख) हो जायेंगी, जो ईंधनके अभावमे राख हो जाती हैं। वस्तुतः इन्द्रियोंको मनके व्यापारसे ही खुराक मिलती है। इसीलिये मनको ही बन्ध और मोक्षका कारण कहा गया है। शास्त्रस्वाध्याय मनको नियंत्रित करनेके लिए एक अमोघ उपाय है। सम्भवतः इसीसे **'स्वाध्यायः परमं तपः'** स्वाध्यायको परम तप कहा है।

ये दो मुख्य उपाय है इन्द्रियो और मनको नियंत्रित करनेके। इनके नियंत्रित हो जानेपर ध्यान हो सकता है। अन्य सब ओरसे चित्तकी वृत्तियोको रोककर उसे एक मात्र आत्मामे स्थिर करनेका नाम ही ध्यान है। चित्तको जब तक एक ओर केन्द्रित नही किया जाता तब तक न आत्मदर्शन होता है न आत्मज्ञान होता है और न आत्मामे आत्माकी चर्या। और जब तक ये तीनों प्राप्त नही होते तब तक दोष और आवरणोंकी निवृत्ति सम्भव नही। अत योगी ध्यानके द्वारा चित् और आनन्दस्वरूप होकर स्वयं परमात्मा हो जाता है। आचार्य रामसेन[1] लिखते है कि जिस प्रकार सतत अभ्याससे महाशास्त्र भी अभ्यस्त एवं सुनिश्चित हो जाते है उसी प्रकार निरन्तरके ध्यानाभ्याससे ध्यान भी अभ्यस्त एव सुस्थिर हो जाता है। वे योगीको ध्यान करनेकी प्रेरणा करते हुए कहते हैं—

'हे योगिन्! यदि तू संसार-बंधनसे छूटना चाहता है तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र-रूप रत्नत्रयको ग्रहण करके बन्धके कारणरूप मिथ्यादर्शनादिकके त्यागपूर्वक निरन्तर सद्ध्यानका अभ्यास कर'।

''ध्यानके अभ्यासकी प्रकर्षतासे मोहका नाश करनेवाला चरम-शरीरी योगी तो उसी पर्यायमे मुक्ति प्राप्त करता है और जो चरमशरीरी नहीं है वह उत्तम देवादिकी आयु प्राप्त कर क्रमशः मुक्ति पाता है। यह ध्यानकी ही अपूर्व महिमा है।'

रत्नत्रयमुपादाय त्यक्त्वा बन्ध-निबन्धनम्।
ध्यानमभ्यस्यतां नित्यं यदि योगिन्! मुमुक्षसे॥
ध्यानाभ्यास-प्रकर्षेण त्रुस्यन्मोहस्य योगिनः।
चरमाङ्गस्य मुक्तिः स्यात्तदैवान्यस्य च क्रमात्॥
—आ. रामसेन, तत्त्वानुशासन २२३, २२४।

निःसन्देह ध्यान एक ऐसी चीज है जो परलोकके लिए उत्तम पाथेय है। इस लोकको भी सुखी, स्वस्थ और यशस्वी बनाता है। यह गृहस्थ और मुनि दोनोंके लिए अपनी-अपनी स्थितिके अनुसार उपयोगी है। यदि भारतवासी इसके महत्त्वको समझ ले तो वे पूर्व ऋषियोके प्रभावपूर्ण आदर्शको विश्वके सामने सहज ही उपस्थित कर सकते है। जितेन्द्रिय और मनस्वी सन्तानें होंगी तथा परिवार-नियोजन, आपाधापी, संग्रह-वृत्ति आदि अनेक समस्यायें इसके अनुसरणसे अनायास सुलझ सकती है।

१. यथाभ्यासेन शास्त्राणि स्थिराणि स्युर्महान्त्यपि।
तथा ध्यानमपि स्थैर्यं लभतेऽभ्यासवर्तिनाम्॥ —तत्त्वा० ८८।

न्याय

●●

१ भारतीय वाङ्मयमे अनुमान-विचार

२. न्याय-विद्यामृत

भारतीय वाङ्मयमें अनुमान-विचार

प्रास्ताविक

भारतीय तर्कशास्त्रमें अनुमानका महत्त्वपूर्ण स्थान है। चार्वाक (लौकायत) दर्शनके अतिरिक्त शेष सभी भारतीय दर्शनोंके अनुमानको प्रमाणरूपमें स्वीकार किया है और उसे परोक्ष पदार्थोंकी व्यवस्था एवं तत्त्वज्ञानका अन्यतम साधन माना है।

विचारणीय है कि भारतीय तर्कग्रन्थोंमें[1] सर्वाधिक विवेचित एवं प्रतिपादित इस महत्त्वपूर्ण और अधिक उपयोगी प्रमाणका संव्यवहार कबसे आरम्भ हुआ ? दूसरे, ज्ञात सुदूरकालमें उसे अनुमान ही कहा जाता था या किसी अन्य नामसे वह व्यवहृत होता था ? जहाँ तक हमारा अध्ययन है भारतीय वाङ्मयके निबद्धरूपमें उपलब्ध ऋग्वेद आदि संहिता-ग्रन्थोंमें अनुमान या उसका पर्याय शब्द उपलब्ध नहीं होता। हाँ, उपनिषद्-साहित्यमें एक शब्द ऐसा अवश्य आता है जिसे अनुमानका पूर्व संस्करण कहा जा सकता है और वह शब्द है 'वाकोवाक्यम्'[2]। छान्दोग्योपनिषद्के इस शब्दके अतिरिक्त ब्रह्मबिन्दूपनिषद्में[3] अनुमानके अङ्ग हेतु और दृष्टान्त तथा मैत्रायणी-उपनिषद्में[4] अनुमानसूचक 'अनुमीयते' क्रियाशब्द मिलते हैं। इसी तरह सुबालोपनिषद्में[5] 'न्याय' शब्दका निर्देश है। इन उल्लेखोंके अध्ययनसे हम यह तथ्य निकाल सकते हैं कि उपनिषद् कालमें अध्यात्म-विवेचनके लिए क्रमशः अनुमानका स्वरूप उपस्थित होने लगा था।

शाङ्कर-भाष्यमें[6] 'वाकोवाक्यम्' का अर्थ 'तर्कशास्त्र' दिया है। डा० भगवानदासने[7] भाष्यके इस अर्थको अपनाते हुए उसका तर्कशास्त्र, उत्तर-प्रत्युत्तरशास्त्र, युक्ति-प्रतियुक्तिशास्त्र व्याख्यान किया है। इन (अर्थ और व्याख्यान)के आधारपर अनुभवगम्य अध्यात्मज्ञानको अभिव्यक्त करनेके लिए छान्दोग्योपनिषद्में व्यवहृत 'वाकोवाक्यम्'को तर्कशास्त्रका बोधक मान लेनेमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। ज्ञानोत्पत्तिकी प्रक्रिया-का अध्ययन करनेसे अवगत होता है कि आदिम मानवको अपने प्रत्यक्ष (अनुभव) ज्ञानके अविसंवादित्वकी सिद्धि अथवा उसकी सम्पुष्टिके लिए किसी तर्क, हेतु या युक्तिकी आवश्यकता पड़ी होगी।

प्राचीन बौद्ध पाली-ग्रन्थ ब्रह्मजालसुत्तमें[8] तक्की और तक्क शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जो क्रमशः तर्कशास्त्री तथा तर्कविद्याके अर्थमें आये हैं। यद्यपि यहाँ तर्कका अध्ययन आत्मज्ञानके लिए अनुपयोगी बताया गया है,

१. गौतम अक्षपाद, न्यायसू० १।१।३; भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी।

२. ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि ···वाकोवाक्यमेकायनं ···अध्येमि।
—छान्दो० ७।१।२; निर्णयसागर प्रेस बम्बई, सन् १९३२।

३. 'हेतुदृष्टान्तवर्जितम्'।—ब्रह्मबिन्दू० श्लोक ९; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३२।

४. ·· बहिरात्मा गत्यन्तरात्मनानुमीयते।—मैत्रायणी० ५।१; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३२।

५. 'शिक्षा कल्पो····न्यायो मीमांसा····।'—सुबालोपनिष० खण्ड २; प्रकाशन स्थान व समय वही।

६. वाकोवाक्यं तर्कशास्त्रम्।—आ० शङ्कर, छान्दोग्यो० भाष्य ७।१।२, गीताप्रेस, गोरखपुर।

७. डा. भगवानदास, दर्शनका प्रयोजन पृ. १।

८. 'इध, भिक्खवे, एकच्चो समणो वा ब्राह्मणो वा तक्की होति वीमंसी। सो तक्कपरियाहतं वीमंसानुचरितं····।—राय डेविड (सम्पादक), ब्रह्मजालसु० १।३२।

किन्तु तर्क और तर्की शब्दोंका प्रयोग यहाँ क्रमश: कुतर्क (वितण्डावाद या व्यर्थके विवाद) और कुतर्की (वितण्डावादी)के अर्थमें हुआ ज्ञात होता है। अथवा ब्रह्मजालसुत्तका उक्त कथन उस युगका प्रदर्शक है, जब तर्कका दुरुपयोग होने लगा था। और इसीसे सम्भवत: ब्रह्मजालसुत्तकारको आत्मज्ञानके लिए तर्कविद्याके अध्ययनका निषेध करना पड़ा। जो हो, इतना तो स्पष्ट है कि उसमें तर्क और तर्की शब्द प्रयुक्त हैं और तर्कविद्याका अध्ययन आत्मज्ञानके लिए न सही, वस्तु-व्यवस्थाके लिए आवश्यक था।

न्यायसूत्र[1] और उसकी व्याख्याओंमें[2] तर्क और अनुमानमें यद्यपि भेद किया है—तर्कको अनुमान नहीं, अनुमानका अनुग्राहक कहा है। पर यह भेद बहुत उत्तरकालीन है। किसी समय हेतु, तर्क, न्याय और अन्वीक्षा ये सभी अनुमानार्थक माने जाते थे। उद्योतकरके[3] उल्लेखसे यह स्पष्ट जान पड़ता है। न्याय-कोषकारने[4] तर्कशब्दके अनेक अर्थ प्रस्तुत किये हैं। उनमें आन्वीक्षिकी विद्या और अनुमान अर्थ भी दिया है।

वाल्मीकि रामायणमें[5] आन्वीक्षिकी शब्दका प्रयोग है जो हेतुविद्या या तर्कशास्त्रके अर्थमें हुआ है। यहाँ उन लोगोंको 'अनर्थकुशल', 'बाल', 'पण्डितमानी' और 'दुर्बुध' कहा है जो प्रमुख धर्मशास्त्रोंके होते हुए भी व्यर्थ आन्वीक्षिकी विद्याका सहारा लेकर कथन करते या उसकी पुष्टि करते हैं।

महाभारतमें[6] आन्वीक्षिकीके अतिरिक्त हेतु, हेतुक, तर्कविद्या जैसे शब्दोंका भी प्रयोग पाया जाता है। तर्कविद्याको तो आन्वीक्षिकीका पर्याय ही बतलाया है। एक स्थानपर[7] याज्ञवल्क्यने विश्वावसुके प्रश्नों-का उत्तर आन्वीक्षिकीके माध्यमसे दिया और उसे परा (उच्च) विद्या कहा है। दूसरे स्थलपर[8] याज्ञवल्क्य राजर्षि जनकको आन्वीक्षिकीका उपदेश देते हुए उसे चतुर्थी विद्या तथा मोक्षके लिए त्रयी, वार्ता और दण्ड-नीति तीनों विद्याओंसे अधिक उपयोगी बतलाते हैं। इसके अतिरिक्त एक अन्य जगह[9] शास्त्रश्रवणके अनधिकारियोंके लिए 'हेतुदुष्ट' शब्द आया है, जो असत्य हेतु प्रयोग करनेवालोंके ग्रहणका बोधक प्रतीत होता है। ध्यातव्य है कि जो व्यर्थ तर्कविद्या (आन्वीक्षिकी) पर अनुरक्त हैं उन्हें महाभारतकारने[10] वाल्मीकि रामायणकी तरह पण्डितक, हेतुक, और वेदनिन्दक कहकर उनकी भर्त्सना भी की है। तात्पर्य यह कि तर्कविद्याके सदुपयोग और दुरुपयोगकी ओर उन्होंने संकेत किया है। एक अन्य प्रकरणमें[11] नारदको

---

१. अक्षपाद गौतम, न्यायसू० १।१।३,१।१।४०।

२. वात्स्यायन, न्यायभाष्य १।१।३, १।१।४०; उद्योतकर, न्यायवा. १।१।३, १।१।४०।

३. अपरे त्वनुमानं तर्क इत्याहु:। हेतुस्तर्को न्यायोऽन्वीक्षा इत्यनुमानमाख्यायत इति।—उद्योतकर, न्यायवा०, १।१।४०; चौखम्बा विद्याभवन, सन् १९१६।

४. भीमाचार्य (सम्पादक), न्यायकोश, 'तर्क' शब्द, पृ० ३२१, प्राच्यविद्यासंशोधनमन्दिर, बम्बई, सन् १९२८।

५. वाल्मीकि, रामायण, अयो० का. १००।३८,३९, गीताप्रेस, गोरखपुर, वि. स. २०१७।

६. व्यास, महाभारत, शान्तिपर्व २१०।२२; १८०।४७; गीताप्रेस, गोरखपुर, वि. सं. २०१७।

७. वही, शा० प० ३१८।३४।

८. वही, शा० प० ३१८।३५।

९. वही, अनुशा० प० १३४।१७

१०. वही, शा० प० १८०।४७।

११. व्यास, महाभा० सभापर्व ५।१,८।

पंचावयवयुक्त वाक्यके गुणदोषोंका वेत्ता और 'अनुमानविभागवित्' बतलाया है। इन समस्त उल्लेखोंसे अवगत होता है कि महाभारतमें अनुमानके उपादानों और उसके व्यवहार की चर्चा है।

आन्वीक्षिकी शब्द अनुमानका बोधक है। इसका यौगिक अर्थ है अनु—पश्चात् + ईक्षा—देखना अर्थात् फिर जाँच करना। वात्स्यायनके[१] अनुसार प्रत्यक्ष और आगमसे देखे-जाने पदार्थको विशेष रूपसे जाननेका नाम 'अन्वीक्षा' है और यह अन्वीक्षा ही अनुमान है। अन्वीक्षापूर्वक प्रवृत्ति करनेवाली विद्या आन्वीक्षिकी—न्यायविद्या—न्यायशास्त्र है। तात्पर्य यह कि जिस शास्त्रमें वस्तु-सिद्धिके लिए अनुमानका विशेष व्यवहार होता है उसे वात्स्यायनने अनुमानशास्त्र, न्यायशास्त्र, न्यायविद्या और आन्वीक्षिकी बतलाया है। इस प्रकार आन्वीक्षिकी न्यायशास्त्रकी संज्ञाको धारण करती हुई अनुमानके रूपको प्राप्त हुई है। डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषणने[२] आन्वीक्षिकीमें आत्मा और हेतु दोनों विद्याओंका समावेश किया है। उनका मत है कि सांख्य, योग और लोकायत आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि और असिद्धिमें प्राचीन कालसे ही हेतुवाद या आन्वीक्षिकीका व्यवहार करते आ रहे हैं।

कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें[३] आन्वीक्षिकीके समर्थनमें कहा गया है कि विभिन्न युक्तियों द्वारा विषयोंका बलाबल इसी विद्याके आश्रयसे ज्ञात होता है। यह लोकका उपकार करती है, दुःख-सुखमें बुद्धिको स्थैर्य प्रदान करती है, प्रज्ञा, वचन और क्रियामें कुशलता लाती है। जिस प्रकार दीपक समस्त पदार्थोंका प्रकाशक है उसी प्रकार यह विद्या भी सब विद्याओं, समस्त कार्यों और समस्त धर्मोंको प्रकाशिका है। कौटिल्यके इस विवेचन और उपर्युक्त वर्णनसे आन्वीक्षिकी विद्याको अनुमानका पूर्वरूप कहा जा सकता है[४]।

मनुस्मृतिमें[५] जहाँ तर्क और तर्की शब्दोंका प्रयोग मिलता है वहाँ हेतुक, आन्वीक्षिकी और हेतु-शास्त्र शब्द भी उपलब्ध होते हैं। एक स्थानपर[६] तो धर्मतत्त्वके जिज्ञासुके लिए प्रत्यक्ष और विविध आगम-रूप शास्त्रके अतिरिक्त अनुमानको भी जाननेका स्पष्ट निर्देश किया है। इससे प्रतीत होता है कि मनुस्मृति-कारके समयमें हेतुशास्त्र और आन्वीक्षिकी शब्दोंके साथ अनुमान शब्द भी व्यवहृत होने लगा था और उसे असिद्ध या विवादापन्न वस्तुओंकी सिद्धिके लिए उपयोगी माना जाता था।

षट्खण्डागममें[७] 'हेतुवाद', स्थानाङ्गसूत्रमें[८] 'हेतु', भगवतीसूत्रमें[९] 'अनुमान' और अनुयोगसूत्रमें[१०]

१. प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानं साऽन्वीक्षा। प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा। तया प्रवर्तत इत्यान्वी-क्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्।—वात्स्यायन, न्यायभा० १।१।१; पृ० ७।

२. A History of Indian Logice, Calcutta University 1921, page 5.

३. कौटिल्य, अर्थशास्त्र, विद्यासमुद्देश १।१, पृ० १०, ११।

४. विशेषके लिए देखिए, डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण, ए हिस्टरी ऑफ इण्डियन लॉजिक, पृ० ४०।

५. मनुस्मृति १२।१०६, १२।१११, ७।४३, २।११; चौखम्बा सं० सी०, वाराणसी।

६. प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥—वही, १२।१०५।

७. भूतबली-पुष्पदन्त, षट्ख० ५।५।५१, सोलापुर संस्करण, सन् १९६५ ई०।

८. मुनि कन्हैयालाल; स्था० सू०, पृ० ३०९, ३१०; ब्यावर संस्करण, वि० सं० २०१०।

९. मुनि कन्हैयालाल; भ० सू० ५।३।१९१-९२; धनपतसिंह, कलकत्ता।

१०. मुनि कन्हैयालाल, अनु० सू० मूलसुत्ताणि, पृ० ५३९, ब्यावर संस्करण, वि० सं० २०१०।

अनुमानके भेद-प्रभेदोंकी चर्चा समाहित है। अतः जैनागमोंमे भी अनुमानका पूर्वरूप और अनुमान प्रतिपादित हैं।

इस प्रकार भारतीय वाङ्मयके अनुशीलनसे अवगत होता है कि भारतीय तर्कशास्त्र आरम्भमें 'वाकोवाक्यम्', उसके पश्चात् आन्वीक्षिकी, हेतुशास्त्र, तर्कविद्या और न्यायशास्त्र या प्रमाणशास्त्रके रूपोंमें व्यवहृत हुआ। उत्तरकालमें प्रमाणमीमांसाका विकास होनेपर हेतुविद्यापर अधिक बल दिया गया। फलतः आन्वीक्षिकीमें अर्थसंकोच होकर वह हेतुपूर्वक होनेवाले अनुमानकी बोधक हो गयी। अतः 'वाकोवाक्यम्' आन्वीक्षिकीका और आन्वीक्षिकी अनुमानका प्राचीन मूल रूप ज्ञात होता है।

अनुमानका विकास

अनुमानका विकास निबद्धरूपमे अक्षपादके न्यायसूत्रसे आरम्भ होता है। न्यायसूत्रके व्याख्याकारों—वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति, जयन्त भट्ट, उदयन, श्रीकण्ठ, गगेश, वर्द्धमानउपाध्याय, विश्वनाथ प्रभृति ने अनुमानके स्वरूप, आधार, भेदोपभेद, व्याप्ति, पक्षधर्मता, व्याप्तिग्रहण, अवयव आदिका विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। इसके विकासमे प्रशस्तपाद, माठर, कुमारिल जैसे वैदिक दार्शनिकोके अतिरिक्त वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर, शान्तरक्षित, अर्चट आदि बौद्ध नैयायिकों तथा समन्तभद्र, सिद्धसेन, पात्रस्वामी, अकलक, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, देवसूरि, हेमचन्द्र प्रमुख जैन तार्किकोंने भी योगदान किया है। निःसन्देह अनुमानका क्रमिक विकास तर्कशास्त्रकी दृष्टिसे जितना महत्वपूर्ण एवं रोचक है उससे कहीं अधिक भारतीय धर्म और दर्शनके इतिहासकी दृष्टिसे भी। यत भारतीय अनुमान केवल कार्यकारणरूप बौद्धिक व्यायाम ही नहीं है, बल्कि निःश्रेयस-उपलब्धिके साधनोंमे वह परिगणित है[1]। यही कारण है कि भारतीय अनुमानका जितना विचार तर्कग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है उतना या उससे कुछ कम धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र और पुराणग्रन्थोंमे भी वह पाया जाता है।

प्रस्तुतमे हमारा उद्देश्य स्वतन्त्र रूपसे भारतीय तर्कग्रन्थोंमें अनुमानपर जो चिन्तन उपलब्ध होता है उसीके विकासपर यहाँ समीक्षात्मक विचार करना है।

(क) न्याय-दर्शनमें अनुमान-विकास

अक्षपादने अनुमानकी परिभाषा केवल 'तत्पूर्वकम्'[2] पद द्वारा ही उपस्थित की है। इस परिभाषामे "तत्" शब्द केवल स्पष्ट है, जो पूर्वलक्षित प्रत्यक्षके लिए प्रयुक्त हुआ है और वह बतलाता है कि प्रत्यक्ष पूर्वक अनुमान होता है, किन्तु वह अनुमान है क्या? यह जिज्ञासा अतृप्त ही रह जाती है। सूत्रके अग्रांशमे अनुमानके पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट ये तीन भेद उपलब्ध होते हैं। इनमे प्रथम दो भेदोंमे आगत 'वत्' शब्द भी विचारणीय है। शब्दार्थकी दृष्टिसे 'पूर्वके समान' और 'शेषके समान' यही अर्थ उससे उपलब्ध होता है तथा 'सामान्यतोदृष्ट' से 'सामान्यतः दर्शन' अर्थ ज्ञात होता है। इसके अतिरिक्त उनके स्वरूपका कोई प्रदर्शन नहीं होता।[3]

सोलह पदार्थोंमे एक अवयव पदार्थ परिगणित है। उसके प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निग

---

१. प्रदीपः सर्वविद्यानां····।····इह त्वध्यात्मविद्यायामात्मादितत्त्वज्ञानं ····।
—वात्स्यायन, न्यायभा० १।१।१, पृष्ठ ११।

२. गौतम अक्षपाद, न्यायसू० १।१।५,।

३. न्यायसू० १।१।५।

मन इन पाँच भेदोंका परिभाषासहित निर्देश किया है।[1] अनुमान इन पाँचसे सम्पन्न एवं सम्पूर्ण होता है। उनके बिना अनुमानका आत्मलाभ नहीं होता। अतः अनुमानके लिए उनकी आवश्यकता असन्दिग्ध है। 'हेतु' शब्दका प्रयोग अनुमानके लक्षणमें, जो मात्र कारणसामग्रीको ही प्रदर्शित करता है, हमें नहीं मिलता, किन्तु उक्त पञ्चावयवोंके मध्य द्वितीय अवयवके रूपमें 'हेतु' का और हेत्वाभासके विवेचन-सन्दर्भमें 'हेत्वाभासोंका' स्वरूप अवश्य प्राप्त होता है।[2]

अनुमान-परीक्षाके प्रकरणमें रोध, उपघात और सादृश्यसे अनुमानके मिथ्या होनेकी आशंका व्यक्त की है।[3] इस परीक्षासे विदित है कि गौतमके समयमें अनुमानकी परम्परा पर्याप्त विकसित रूपमें विद्यमान थी—'**वर्तमानाभावे सर्वाग्रहणम्, प्रत्यक्षानुपपत्तेः**'[4] सूत्रमें 'अनुपपत्ति' शब्दका प्रयोग हेतुके रूपमें किया है। वास्तवमें 'अनुपपत्ति' हेतु पंचम्यन्तकी अपेक्षा अधिक गमक है। इसीसे अनुमानके स्वरूपको भी निर्धारित किया जा सकता है। एक बात और स्मरणीय है कि '**व्याहतत्वात् अहेतु**'[5] सूत्रमें 'अहेतु' शब्दका प्रयोग सामान्यार्थक मान लिया जाए तो गौतमकी अनुमान-सारणिमें हेतु, अहेतु और हेत्वाभास शब्द भी उपलब्ध हो जाते हैं। अतएव निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गौतम अनुमानके मूलभूत प्रतिज्ञा, साध्य और हेतु इन तीनों ही अंगोंके स्वरूप और उनके प्रयोगसे सुपरिचित थे। वास्तवमें अनुमानकी प्रमुख आधार-शिला गम्य-गमक (साध्य-साधन) भाव योजना ही है। इस योजनाका प्रयोगात्मक रूप साधर्म्य और वैधर्म्य दृष्टान्तोंमें पाया जाता है।[6] पञ्चावयवावाक्यकी साधर्म्य और वैधर्म्यरूप प्रणालीके मूललेखक गौतम अक्षपाद जान पड़ते हैं। इनके पूर्व कणादके वैशेषिकसूत्रमें अनुमानप्रमाणका निर्देश 'लैंगिक' शब्दद्वारा किया गया है,[7]। पर उसका विवेचन न्यायसूत्रमे ही प्रथमतः दृष्टिगोचर होता है। अतः अनुमानका निबद्धरूपमे ऐतिहासिक विकासक्रम गौतमसे आरम्भकर रुद्रनारायण पर्यन्त अंकित किया जा सकता है। रुद्रनारायणने अपनी तत्त्वगौद्रीमे गंगेश उपाध्याय द्वारा स्थापित अनुमानकी नव्यन्यायपरम्परामे प्रयुक्त नवीन पदावलीका विशेष विश्लेषण किया है। यद्यपि मूलभूत सिद्धान्त तत्त्वचिन्तामणिके ही हैं, पर भाषाका रूप अधुनातन है और अवच्छेदकावच्छिन्न, प्रतियोगिताका भाव आदिको नवीन लक्षणावलीमें स्पष्ट किया है।

गौतमका न्यायसूत्र अनुमानका स्वरूप, उसकी परीक्षा, हेत्वाभास, अवयव एवं उसके भेदोंको ज्ञात करनेके लिए महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यद्यपि यह सत्य है कि अनुमानके निर्धारक तथ्य पक्षधर्मता, व्याप्ति और परामर्शका उल्लेख इसमे नहीं पाया जाता, तो भी अनुमानकी प्रस्तुत की गयी समीक्षासे अनुमानका पूरा रूप खड़ा हो जाता है। गौतमके समयमें अनुमान-सम्बन्धी जिन विशेष बातोंमे विवाद था उनका उन्होंने स्वरूप-विवेचन अवश्य किया है।[8] यथा—प्रतिज्ञाके स्वरूप-निर्धारणके सम्बन्धमें विवाद था—कोई साध्यको प्रतिज्ञा मानता था, तो कोई केवल धर्मीको प्रतिज्ञा कहता था। उन्होने साध्यके निर्देशको प्रतिज्ञा कहकर उस

१. न्यायसू०, १।१।३२-३९।
२. वही, १।२।५-९।
३. वही, २।१।३८।
४. वही, २।१।४३।
५. वही, २।१।२९।
६. साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्। तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम्।—वही १।१।३६, ३७।
७. तयोर्निष्पत्तिः प्रत्यक्षलैंगिकाभ्याम्। अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैंगिकम्।—वैशेषिक सू० १०।१।३, ९।२।१।
८. साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा।—न्यायसू० १।१।३३।

विवादका निरसन किया ।[1] इसी प्रकार अवयवों, हेतुओं, हेत्वाभासों एवं अनुमान-प्रकारोंके सम्बन्धमें वर्तमान विप्रतिपत्तियोंका भी उन्होंने समाधान प्रस्तुत किया और एक सुदृढ़ परम्परा स्थापित की ।

न्यायसूत्रके भाष्यकार वात्स्यायनने सूत्रोमे निर्दिष्ट अनुमानसम्बन्धी सभी उपादानोंकी परिभाषाएँ अंकित की और अनुमानको पुष्ट और सम्बद्ध रूप प्रदान किया है । यथार्थमें वात्स्यायनने गौतमको अमर बना दिया है । व्याकरणके क्षेत्रमे जो स्थान भाष्यकार पतंजलिका है, न्यायके क्षेत्रमें वही स्थान वात्स्यायन-का है । वात्स्यायनने सर्वप्रथम 'तत्पूर्वकम्' पदका विस्तार कर **'लिंगलिंगिनोः सम्बन्धदर्शनपूर्वकमनुमानम्**[2]**'** परिभाषा अंकित की । और लिंग-लिंगीके सम्बन्धदर्शनको अनुमानका कारण बतलाया ।

गौतमने अनुमानके त्रिविध भेदोंका मात्र उल्लेख किया था । पर वात्स्यायनने उनकी सोदाहरण परि-भाषाएँ भी निबद्ध की है ।[3] वे एक प्रकारका परिष्कार देकर ही सन्तुष्ट नही हुए, अपितु प्रकारान्तरसे दूसरे परिष्कार भी ग्रथित किये है ।[4] इन व्याख्यामूलक परिष्कारोंके अध्ययन बिना गौतमके अनुमानरूपोंको अवगत करना असम्भव है । अत. अनुमानके स्वरूप और उसकी भेदव्यवस्थाके स्पष्टीकरणका श्रेय बहुत कुछ वात्स्या-यनको है ।

अपने समयमें प्रचलित दशावयवकी समीक्षा करके न्यायसूत्रकार द्वारा स्थापित पचावयव-मान्यताका युक्तिपुरस्सर समर्थन करना भी उनका उल्लेखनीय वैशिष्टच है ।[5] न्यायभाष्यमें[6] साधर्म्य और वैधर्म्य प्रयुक्त हेतुरूपोंकी व्याख्या भी कम महत्त्वकी नही है । द्विविध उदाहरणका विवेचन भी बहुत सुन्दर और विशद है । ध्यातव्य है कि वात्स्यायनने **'पूर्वस्मिन् दृष्टान्ते यौ तौ धर्मौ साध्यसाधनभूतौ पश्यति, साध्येऽपि तयोः साध्यसाधनभावमनुमिनोति** ।'[7] कहकर साधर्म्यदृष्टान्तको अन्वयदृष्टान्त कहने और अन्वय एवं अन्वयव्याप्ति दिखानेका सकेत किया जान पडता है । इसी प्रकार '**उत्तरस्मिन् दृष्टान्ते तयोर्धर्मयोरेकस्याभा-वादितरस्याभावं पश्यति, 'तयोरेकस्याभावादितरस्याभावं साध्येऽनुमिनोतीति** ।'[8] शब्दों द्वारा उन्होने वैधर्म्य-दृष्टान्तको व्यतिरेकदृष्टान्त प्रतिपादन करने तथा व्यतिरेक एवं व्यतिरेकव्याप्ति प्रदर्शित करनेकी ओर भी इंगित किया है । यदि यह ठीक हो तो यह वात्स्यायनकी एक नयी उपलब्धि है । सूत्रकारने हेतुका सामान्य-लक्षण ही बतलाया है ।[9] पर वह इतना अपर्याप्त है कि उससे हेतुके सम्बन्धमे स्पष्टत. जानकारी नही हो पाती । भाष्यकारने हेतु-लक्षणको उदाहरण द्वारा[10] स्पष्ट करनेका सफल प्रयास किया है । उनका अभिमत है कि **'साध्यसाधनं हेतुः'** तभी स्पष्ट हो सकता है जब साध्य (पक्ष) तथा उदाहरणमे धर्म (पक्षधर्म हेतु) का प्रतिसन्धान कर उसमे साधनता बतलायी जाए । हेतु समान और असमान दोनों ही प्रकारके उदाहरण बतलाने पर साध्यका साधक होता है । यथा—न्यायसूत्रकारके प्रतिज्ञालक्षण[11] को स्पष्ट करनेके लिए उदा-हरणस्वरूप कहे गये **'शब्दोऽनित्यः'** को **'उत्पत्तिधर्मकत्वात्'**[12] हेतुका प्रयोग करके सिद्ध किया गया है । तात्पर्य यह कि भाष्यकारने हेतुस्वरूपबोधक सूत्रकी उदाहरणद्वारा विशद व्याख्या तो की ही है, पर **'साध्ये**

---

१. न्यायभा०, १।१।५, पृष्ठ २१ ।

२, ३, ४. वही, १।१।५, पृष्ठ २१, २२ ।

५. न्यायभा० १।१।३२, पृष्ठ ४७ ।

६. वही, १।१।३४, ३५, पृष्ठ ४८ ।

७. वही, १।१।३७, पृष्ठ ५० ।

८. वही, १।१।३७, पृष्ठ ५० ।

९. न्यायसू० १।१।३४, ३५ ।

१०. 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्' इति । उत्पत्तिधर्मकमनित्यं दृष्टमिति । —न्यायभा० १।१।३४, ३५, पृष्ठ ४८, ४९ ।

११. साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा—न्यासू० १।१।३३ ।

१२. न्यायभा० १।१।३३, ३५, पृष्ठ ४८, ४९ ।

प्रतिसन्धाय धर्ममुदाहरणे च प्रतिसन्धाय तस्य साधनतावचनं हेतुः'[1] कथन द्वारा साध्यके साथ नियत सम्बन्धी-को हेतु कहा है। अतः जिस प्रकार उदाहरणके क्षेत्रमे उनकी देन है उसी प्रकार हेतुके क्षेत्रमें भी।

अनुमानकी प्रामाणिकता या सत्यता लिंग-लिंगीके सम्बन्धपर आश्रित है। वह सम्बन्ध नियत साहचर्यरूप है। सूत्रकार गौतम उसके विषयमे मौन हैं। पर भाष्यकारने[2] उसका स्पष्ट निर्देश किया है। उन्होंने लिंगदर्शन और लिंगस्मृतिके अतिरिक्त लिंग (हेतु) और लिंगी (हेतुमान्-साध्य) के सम्बन्ध दर्शनको भी अनुमितिमे आवश्यक बतला कर उस सम्बन्धके मर्मका उद्घाटन किया है। उसका मत है कि सम्बद्ध हेतु तथा हेतुमान्के मिलनेसे हेतुस्मृतिका अभिसम्बन्ध होता है और स्मृति एवं लिंगदर्शनसे अप्रत्यक्ष (अनुमेय) अर्थका अनुमान होता है। भाष्यकारके इस प्रतिपादनसे प्रतीत होता है कि उन्होंने 'सम्बन्ध' शब्दसे व्याप्ति-सम्बन्धका और '**लिंगलिंगिनोः सम्बद्धयोर्दर्शनम्**' पदोंसे उस व्याप्ति-सम्बन्धके ग्राहक भूयोदर्शन या सहचारदर्शनका सकेत किया है जिसका उत्तरवर्ती आचार्योंने स्पष्ट कथन किया तथा उसे महत्त्व दिया है।[3] वस्तुतः लिंगलिंगीको सम्बद्ध देखनेका नाम ही सहचारदर्शन या भूयोदर्शन है, जिसे व्याप्तिग्रहणमे प्रयोजक माना गया है। अतः वात्स्यायनके मतसे अनुमानकी कारण-सामग्री केवल प्रत्यक्ष (लिंगदर्शन) ही नहीं है, किन्तु लिंगदर्शन, लिंग-लिंगीसम्बन्धदर्शन और तत्सम्बन्धस्मृति ये तीनों हैं। तथा सम्बन्ध (व्याप्ति) का ज्ञान उन्होने प्रत्यक्ष द्वारा प्रतिपादन किया है, जिसका अनुसरण उत्तरवर्ती तार्किकोंने भी किया है।[4]

वात्स्यायनकी[5] एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि और उल्लेख्य है। उन्होंने अनुमानपरीक्षा प्रकरणमे त्रिविध अनुमानोंके मिथ्यात्वकी आशका प्रस्तुत कर उनकी सत्यताकी सिद्धिके लिए कई प्रकारसे विचार किया है। आपत्तिकार कहता है कि 'ऊपरके प्रदेशमे वर्षा हुई है, क्योकि नदीमे बाढ़ आयी है;[6] वर्षा होगी, क्योकि चीटियाँ अण्डे लेकर जा रही[7] है ये दोनों अनुमान सदोष है, क्योंकि कहीं नदीकी धारामें रुकावट होनेपर भी नदीमें बाढ़ आ सकती है। इसी प्रकार चीटियोंका अण्डों सहित सचार चींटियोंके बिलके नष्ट होनेपर भी हो सकता है। इसी तरह सामान्यतोदृष्ट अनुमानका उदाहरण—'मोर बोल रहे हैं, अतः वर्षा होगी'—भी मिथ्यानुमान है, क्योंकि पुरुष भी परिहास या आजीविकाके लिए मोरकी बोली बोल सकता है।[8] इतना ही नहीं मोरके बोलनेपर भी वर्षा नहीं हो सकती; क्योंकि वर्षा और मोरके बोलनेमें कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है। वात्स्यायन[9] इन समस्त आपत्तियों (व्यभिचार-शंकाओं) का निराकरण करते हुए कहते हैं कि उक्त आपत्तियाँ ठीक नही हैं, क्योंकि उक्त अनुमान नही है, अनुमानाभास हैं और अनुमानाभासोंको अनुमान समझ लिया गया है। तथ्य यह है कि विशिष्ट हेतु ही विशिष्ट साध्यका अनुमापक होता

१. न्यायभा०, १।१।३४, ३५, पृष्ठ ४८, ४९।

२. लिंगलिंगिनोः सम्बन्धदर्शनं लिंगदर्शनं चाभिसम्बद्धयते। लिंगलिंगिनोः सम्बद्धयोर्दर्शनेन लिंग-स्मृतिरभि-सम्बद्धयते। स्मृत्या लिंगदर्शनेन चाप्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते।—न्यायभा० १।१।५, पृ० २१।

३. यथास्वं भूयोदर्शनसहायानि स्वाभाविकसम्बन्धग्रहणे प्रमाणान्युन्नेतव्यानि—वाचस्पति, न्याय० ता० टी० १।१।५, पृ० १६७।

४. उद्योतकर, न्यायवा० १।१।५, पृ० ४४। न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृ० १६७। उदयन, न्यायवा० ता० टी० परिशु० १।१।५, पृ० ७०१। गंगेश, तत्त्वचिन्तामणि जागदी० पृ० ३७८, आदि।

५. ६. ७. न्यायभा० २।१।३८, पृ० ११४।

८. न्यायभा० २।१।३८, पृष्ठ ११४।

९. वही, २।१।३९, पृष्ठ ११४, ११५।

है[1]। अतः अनुमानकी सत्यताका आधार विशिष्ट (साध्याविनाभावी) हेतु ही है, जो कोई नही। यहाँ वात्स्यायनके प्रतिपादन और उनके 'विशिष्ट हेतु' पदसे अव्यभिचारी हेतु अभिप्रेत है जो नियमसे साध्यका गमक होता है। वे कहते हैं[2] कि यह अनुमाताका ही अपराध माना जाएगा कि वह अर्थविशेषवाले अनुमेय अर्थको सामान्य अर्थसे जाननेकी इच्छा करता है, अनुमानका नहीं।

इस प्रकार वात्स्यायनने अनुमानके उपादानोंके परिष्कार एवं व्याख्यामूलक विशदीकरणके साथ कितना ही नया चिन्तन प्रस्तुत किया है।

अनुमानके क्षेत्रमें वात्स्यायनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य उद्योतकरका[3] है। उन्होंने लिंगपरामर्शको[4] अनुमान कहा है। अब तक अनुमानकी परिभाषा कारणसामग्रीपर निर्भर थी। किन्तु उन्होंने उसका स्वतन्त्र स्वरूप देकर नयी परम्परा स्थिर की। व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मताका ज्ञान ही परामर्श है। उद्योतकरकी[5] दृष्टिमें लिंगलिंगिसम्बन्धस्मृतिसे युक्त लिंगपरामर्श अभीष्टार्थ (अनुमेयार्थ) का अनुमापक है। वे कहते हैं[6] कि अनुमान वस्तुतः उसे कहना चाहिए, जिसके अनन्तर उत्तरकालमें शेषार्थ (अनुमेयार्थ) प्रतिपत्ति (अनुमिति) हो और ऐसा केवल लिंगपरामर्श ही है, क्योंकि उसके अनन्तर नियमतः अनुमिति उत्पन्न होती है। लिंग-लिंगिसम्बन्धस्मृति आदि लिंगपरामर्शसे व्यवहित हो जानेसे अनुमान नहीं हैं। उद्योतकरकी यह अनुमान-परिभाषा इतनी दृढ एवं बद्धमूल हुई कि उत्तरवर्ती प्रायः सभी व्याख्याकारोंने[7] अपने व्याख्या-ग्रन्थोंमें उसे अपनाया है। नव्यनैयायिकोंने[8] तो उसमें प्रभूत परिष्कार भी उपस्थित किये हैं, जिससे तर्कशास्त्रके क्षेत्रमें अनुमानने व्यापकता प्राप्त की है। और नया मोड़ लिया है।

न्यायवार्तिककारने[9] गौतमोक्त पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट इन तीनों अनुमान-भेदोंकी व्याख्या करनेके अतिरिक्त अन्वयी, व्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी इन तीन नये अनुमान-भेदोंकी भी सृष्टि की है, जो उनसे पूर्व न्यायपरम्परामें नहीं थे। 'त्रिविधम्' सूत्रके इन्होंने कई व्याख्यान प्रस्तुत किये हैं।[10] निश्चयतः उनका यह सब निरूपण उनकी मौलिक देन है। परवर्ती नैयायिकोंने उनके द्वारा रचित व्याख्याओंका ही स्पष्टीकरण किया है।

उद्योतकर द्वारा बौद्धसन्दर्भमें की गयी हेतुलक्षणसमीक्षा भी महत्त्व की है। बौद्ध[11] हेतुका लक्षण त्रिरूप

१, २. वही० २।१।३९, पृष्ठ ११५।

३. न्यायवा० १।१।५, पृष्ठ ४५ आदि।

४. वही १।१।५, पृष्ठ ४५।

५ तस्मात् स्मृत्यनुगृहीतो लिंगपरामर्शोऽभीष्टार्थप्रतिपादकः—वही, १।१।५, पृ० ४५।

६ यस्माल्लिंगपरामर्शादनन्तर शेषार्थप्रतिपत्तिरिति। तस्माल्लिंगपरामर्शो न्याय्य इति।
स्मृतिर्न प्रधानम्। किं कारणम्? स्मृत्यनन्तरमप्रतिपत्तेः·····।—वही, १।१।५, पृ० ५।

७. वाचस्पति, न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृ० १६९। तथा उदयन, ता० टी० परिशु० १।१।५, पृ० ७०७।

८. गंगेश उपाध्याय, तत्त्वचिन्तामणि, जागदीशी, पृ० १३, ७१। विश्वनाथ, सिद्धान्तमु० पृष्ठ ५० आदि।

९. न्यायवा० १।१।५, पृ० ४६।

१०. वही, १।१।५, पृ० ४६-४९।

११. दिग्नागशिष्य शङ्कर, न्यायप्रवेश, पृ० १।

मानते हैं। पर उद्योतकर न केवल उसकी ही आलोचना करते हैं, अपितु द्विलक्षणकी भी मीमांसा करते हैं।[1] किन्तु सूत्रकारोक्त एवं भाष्यकार समर्थित द्विलक्षण, त्रिलक्षणके साथ चतुर्लक्षण और पंचलक्षण हेतु उन्हें इष्ट[2] है। अन्वयव्यतिरेकीमें पंचलक्षण और केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकीमें चतुर्लक्षण घटित होता है। यहाँ उद्योतकरकी विशेषता यह है कि वे न्यायभाष्यकारकी आलोचना करनेसे भी नहीं चूकते। वात्स्यायनने[3] **'तथा वैधर्म्यात्'**[4] इस वैधर्म्य प्रयुक्त हेतुलक्षणका उदाहरण साधर्म्य प्रयुक्त हेतुलक्षणके उदाहरण **'उत्पत्तिधर्मकत्वात्'** को ही प्रस्तुत किया है। इसे वे[5] युक्तिसंगत न मानते हुए कहते हैं कि यह तो मात्र प्रयोगभेद है। और प्रयोगभेदसे वस्तु (हेतु) भेद नहीं हो सकता। अथवा वह केवल उदाहरणभेद है—आत्मा और घट। यदि उदाहरण-भेदसे भेद हो तो 'तथा वैधर्म्यात्' यह सूत्र नहीं होना चाहिए, क्योंकि उदाहरणके भेदसे ही हेतुभेद अवगत हो जाता है और भेदक उदाहरणसूत्र **'तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम्'** सूत्रकारने कहा ही है। अतः 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्' यह वैधर्म्यप्रयुक्त हेतुका उदाहरण ठीक नहीं है। किन्तु **'नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरं अप्राणादिमत्त्वप्रसंगादिति'** यह उदाहरण उचित है। इस प्रकार न्यायभाष्यकारकी मीमांसा सूत्रकारद्वारा प्रतिपादित हेतुद्वयकी पुष्टिमें ही की गयी है। अतएव उद्योतकर अन्तिम निष्कर्ष निकालते हुए लिखते हैं[6] कि परोक्त हेतुलक्षण सम्भव नहीं है, यही आर्ष (सूत्रकारोक्त) हेतुलक्षण संगत है।

न्यायभाष्यकारके[7] समय तक अनुमानावयवोंकी मान्यता दो रूपोंमें उपलब्ध होती है—(१) पंचावयव और (२) दशावयव। वात्स्यायनने दशावयवमान्यताकी मीमांसा करके सूत्रकार प्रतिपादित पंचावयव-मान्यताकी संपुष्टि की है। पर उद्योतकरने[8] त्र्यवयवमान्यताकी भी समीक्षा की है। यह मान्यता बौद्ध तार्किक दिङ्नागकी है, क्योंकि दिङ्नागने[9] ही अधिक-से-अधिक तीन अवयव स्वीकार किये हैं। सांख्य विद्वान् माठरने[10] भी अनुमानके तीन अवयव प्रतिपादित किये हैं। यदि माठर दिङ्नागसे पूर्ववर्ती हैं तो त्र्यवयव-मान्यता उनकी समझना चाहिए। इस प्रकार कितनी ही स्थापनाओं और समीक्षाओंके रूपमें उद्योतकरकी उपलब्धियाँ हम उनके न्यायवार्तिकमें पाते हैं।

वाचस्पतिकी[11] भी अनुमानके लिए महत्त्वपूर्ण देन है। व्याप्तिग्रहकी सामग्रीमें तर्कका प्रवेश उनकी ऐसी देन है जिसका अनुसरण उत्तरवर्ती सभी नैयायिकोंने किया है। उद्योतकर द्वारा प्रतिपादित 'लिंग-

१. 'त्रिलक्षणं च हेतुं ब्रुवाणेन—अहेतुत्वमिति प्राप्तम्।'''तादृगविनाभाविधर्मोपदर्शनं हेतुरित्यपरे'''तादृशा बिना न भवतीत्यनेन द्वयं लभ्यते—।'—न्यायवा० १।१।३५, पृ० १३१।

२. चशब्दात् प्रत्यक्षागमाविरुद्ध चेत्येवं चतुर्लक्षणं पचलक्षणमनुमानमिति।—वही, १।१।५, पृ० ४६।

३. न्यायभा० १।१।५, पृ० ४९।

४. न्यायसू० १।१।३५।

५. एतत्तु न समंजसमिति पश्यामः प्रयोगमात्रभेदात्'''। उदाहरणमात्रभेदाच्च'''। तस्मान्नेदं उदाहरण न्याय्यमिति। उदाहरणं तु 'नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरं अप्रमाणादिमत्त्वप्रसंगादिति'''।—न्यायवा० १।१।३५, पृ० १२३।

६. न्यायवा०, १।१।३५, पृ० १३४।

७. न्यायभा० १।१।३२, पृ० ४७।

८. न्यायवा० १।१।३२, पृ० १०८।

९. न्यायप्रवेश पृ० १, २।

१०. पक्षहेतुदृष्टान्ता इति त्र्यवयवम्—माठर वृ०, का० ५।

११. न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृ० १६७, १७०, १७८, १६५ तथा १।१।३२, पृ० २६७।

परामर्शरूप' अनुमान-परिभाषाका समर्थन करके उसे पुष्ट किया है। दो अवयवकी मान्यता भी उल्लेख करके उसकी समीक्षा प्रस्तुत की है। यह दो अवयवकी मान्यता धर्मकीर्तिकी[1] है। न्यायदर्शनमें अविनाभावका सर्व-प्रथम स्वीकार या पक्षधर्मत्वादि पाँच रूपोंके अविनाभाव द्वारा संग्रहका विचार उन्हींके द्वारा प्रविष्ट हुआ है। लिंग-लिंगीके सम्बन्धको स्वाभाविक प्रतिपादन करना और उसे निरुपाधि अंगीकार करना उन्हींकी सूझ है।

जयन्तभट्टका भी अनुमानके लिए कम महत्त्वपूर्ण योगदान नहीं है। उन्होंने न्यायमंजरी और न्यायकालिकामें अनुमानका सांगोपांग निरूपण किया है। वे स्वतन्त्र चिन्तक भी रहे हैं। यहाँ हम उनके स्वतन्त्र विचारका एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। न्यायमञ्जरीमें[2] हेत्वाभासोंके प्रकरणमें उन्होंने अन्यथा-सिद्धत्व नामके एक छठे हेत्वाभासकी चर्चा की है। सूत्रकारके उल्लंघनकी बात उठनेपर वे कहते हैं कि सूत्रकारका उल्लंघन होता है तो होने दो, सुस्पष्ट दृष्ट अप्रयोजक हेत्वाभासका अपह्नव नहीं किया जा सकता। पर अन्तमें वे उसे उद्योतकरकी तरह असिद्धवर्गमें अन्तर्भूत कर लेते हैं। 'अथवा' के साथ यह भी कहा है कि अप्रयोजकत्व (अन्यथासिद्धत्व) सभी हेत्वाभासवृत्ति अनुगत सामान्यरूप है। न्यायकलिकामें[3] भी यही मत स्थिर किया है। समव्याप्ति और विषमव्याप्तिका निर्देश भी उल्लेखनीय है। अवयव-समीक्षा, हेतुसमीक्षा आदि अनुमान-सम्बन्धी विचार भी महत्त्वपूर्ण हैं।

उदयनका[4] चिन्तन सामान्यतया पूर्वपरम्पराका समर्थक है, किन्तु अनेक स्थलोंपर उनकी स्वस्थ और सूक्ष्मविचारधारा उनकी मौलिकताका स्पष्ट प्रकाशन करती है। उपाधि और व्याप्तिकी जो परि-भाषाएँ उन्होंने प्रस्तुत कीं उत्तरकालमें उन्हींको केन्द्र बनाकर पुष्कल विचार हुआ है।

अनुमानके विकासमें अभिनव क्रान्ति उदयनसे आरम्भ होती है। सूत्र और व्याख्यापद्धतिके स्थानमें प्रकरण-पद्धतिका जन्म होता है और स्वतन्त्र प्रकरणों द्वारा अनुमानके स्वरूप, आधार, अवयव, परामर्श, व्याप्ति, उपाधि, हेतु एवं पक्ष-सम्बन्धी दोषोंका इस कालमें सूक्ष्म विचार किया गया है।

गंगेशने तत्त्वचिन्तामणिमें अनुमानकी परिभाषा तो वही दी है जो उद्योतकरने न्यायवार्तिकमें उप-स्थित की है, पर उनका वैशिष्ट्य यह है कि उन्होंने अनुमितिकी ऐसी परिभाषा[5] प्रस्तुत की है जो न्याय-परम्परामें अब तक प्रचलित नहीं थी। उसमें प्रयुक्त व्याप्ति[6] और पक्षधर्मता[7] पदोंका उन्होंने सर्वथा अभिनव

१. 'अथवा तस्यैव साधनस्य यन्नांगं प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि....."
—वादन्याय० पृ० ६१। किन्तु धर्मकीर्ति, न्यायबिन्दु (पृ० ९१) में दृष्टान्तको हेतुसे पृथक् नहीं मानते और हेतुको ही साधनावयव बतलाते हैं। प्रमाणवार्तिक (१-१२८) में भी 'हेतुरेव हि केवलः' कहते हैं।

२. न्यायमंजरी पृष्ठ १३१, १६३-१६६।

३. अप्रयोजकत्वं च सर्वहेत्वाभासानामनुगतं रूपम्।—न्यायक० पृष्ठ १५।

४. किरणावली० पृष्ठ २६७।

५. तत्र व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्यं ज्ञानमनुमितिः, तत्करणमनुमानम्।—त० चि०, अनुमानलक्षण, पृष्ठ १३।

६. नन्वनुमितिहेतुव्याप्तिज्ञाने का व्याप्तिः। न तावदव्यभिचरितत्वम्।....नापि....। अत्रोच्यते। प्रतियोग्य-सामानाधिकरण्यत्सामानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नं यन्न भवति तेन समं तस्य सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः।
—त० चि०, अनुमानलक्षण, पृष्ठ ७७, ८६, १७१, १७८, १८१, १८६-२०९।

७. वही, पृष्ठ ६३१।

तथा विस्तृत स्वरूप प्रदर्शित किया है। व्याप्तिग्रहके साधनोंमें सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिपर[1] उन्होंने सर्वाधिक बल दिया है। उनका अभिमत है कि यदि सामान्यलक्षणा न हो तो अनुकूल तर्कादिके बिना धूमादिमें आशंकित व्यभिचार नहीं बन सकेगा, क्योंकि प्रसिद्ध धूममें वह्निसम्बन्धका ज्ञान हो जानेसे कालान्तरीय एवं देशान्तरीय धूमके सद्भावका साधक प्रमाण न होनेसे उसका ज्ञान नहीं होता। सामान्यलक्षणा द्वारा तो समस्त धूमोंकी उपस्थिति हो जाने और धूमान्तरका विशेष दर्शन न होनेसे व्यभिचारकी आशंका सम्भव है। तात्पर्य यह कि व्यभिचारशंकाके लिए सामान्यलक्षणाका मानना आवश्यक है और व्यभिचारशंकाके होने पर ही तर्कादिकी उपयोगिता प्रमाणित होती है। इसी प्रकार गंगेशने अनुमानके सम्बन्धमे मौलिक विवेचन नव्यन्यायके आलोकमें कर नये सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं।

विश्वनाथ, जगदीश तर्कालंकार, मथुरानाथ तर्कवागीश, गदाधर आदि नव्यनैयायिकोंने भी अनुमान पर बहुत ही सूक्ष्म विचार करके उसे समृद्ध किया है। केशव मिश्रकी तर्कभाषा और अन्नम्भट्टकी तर्कसंग्रह प्राचीन और नवीन न्यायकी प्रतिनिधि तर्ककृतियाँ है, जिनमे अनुमानका सुबोध और सरल भाषामे विवेचन उपलब्ध है।

(ख) वैशेषिक-दर्शनमें अनुमानका विकास

वैशेषिकदर्शनसूत्रप्रणेता कणादने[2] स्वतन्त्र दर्शनका प्रणयन करके उसमे पदार्थकी सिद्धि (व्यवस्था) प्रत्यक्षके अतिरिक्त लैंगिक द्वारा भी प्रतिपादित की है और हेतु, अपदेश, लिंग, प्रमाण जैसे हेतुवाची पर्यायशब्दोंका प्रयोग तथा कार्य, कारण, सयोगि, विरोधि एवं समवायि इन पाच लैंगिकप्रकारों और त्रिविध हेत्वाभासोका निर्देश किया है। उनके इस संक्षिप्त अनुमान-निरूपणमें अनुमानका सूत्रपात मात्र दिखता है, विकसित रूप कम मिलता है। पर उनके भाष्यकार प्रशस्तपादके भाष्यमें अनुमान-समीक्षा विशेष रूपमे उपलब्ध होती है। अनुमानका लक्षण प्रशस्तपादने इस प्रकार दिया है—**'लिंगदर्शनात्संजायमानं लैंगिकम्'**[3] अर्थात् लिंगदर्शनसे होनेवाले ज्ञानको लैंगिक कहते है। इसी सन्दर्भमें उन्होंने[4] लिंगका स्वरूप बतलानेके लिए काश्यपकी दो कारिकाएँ उद्धृत की है जिनका आशय प्रस्तुत करते हुए लिखा है[5] कि जो अनुमेय अर्थके साथ किसी देशविशेष या कालविशेषमें सहचरित हो, अनुमेयधर्मसे समन्वित किसी दूसरे सभी अथवा एक स्थानमे प्रसिद्ध (विद्यमान) हो और अनुमेयसे विपरीत सभी स्थानोमे प्रमाणसे असत् (व्यावृत्त) हो वह अप्रसिद्ध अर्थका अनुमापक लिंग है। किन्तु जो ऐसा नही वह अनुमेयके ज्ञानमें लिंग नही है—लिंगाभास है। इस प्रकार प्रशस्तपादने सर्वप्रथम लिंगको त्रिरूप वर्णित किया है। बौद्ध तार्किक दिङ्नागने[6] भी हेतुको त्रिरूप बतलाया है। सम्भवत. वह प्रशस्तपादका अनुसरण है।

१. व्याप्तिग्रहश्च सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्त्या सकलधूमादिविषयकः···। यदि सामान्यलक्षणा नास्ति तदा···। —वही, पृष्ठ ४३३, ४५३।
२ वैशेषि० द० १०।१।३, तथा ९।२।१,४।
३. प्रश० भा०, पृष्ठ ९९।
४,५. वही, पृ० १००, १०१।
६. हेतुस्त्रिरूपः। किं पुनस्त्रैरूप्यम। पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं विपक्षे चासत्त्वमिति। —न्यायप्र० पृ० १।

व्याप्तिग्रहणके प्रकारका निरूपण भी हम प्रशस्तपादके भाष्यमें[1] सर्वप्रथम देखते हैं। उन्होंने उसे बतलाते हुए लिखा है कि 'जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है और अग्नि न होने पर धूम भी नहीं होता, इस प्रकारसे व्याप्तिको ग्रहण करने वाले व्यक्तिको असन्दिग्ध धूमको देखने और धूम तथा वह्निके साहचर्यका स्मरण होनेके अनन्तर अग्निका ज्ञान होता है। इसी तरह सभी अनुमानोंमें व्याप्तिका निश्चय अन्वय-व्यतिरेकपूर्वक होता है। अतः समस्त देश तथा कालमें साध्याविनाभूत लिंग साध्यका अनुमापक होता है।' व्याप्तिग्रहणके प्रकारका इस तरहका स्पष्ट निरूपण प्रशस्तपादसे पूर्व उपलब्ध नहीं होता।

प्रशस्तपादने[2] ऐसे कतिपय हेतुओंके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जिनका अन्तर्भाव सूत्रकार कणादके उक्त कार्यादि पंचविध हेतुओंमें नहीं होता। यथा—चन्द्रोदयसे समुद्रवृद्धि और कुमुदविकासका, शरद्में जलप्रसादसे अगस्त्योदयका अनुमान करना। अतएव वे सूत्रकारके हेतुकथनको अवधारणार्थक न मानकर 'अस्येदम्' इस सम्बन्धमात्रके सूचक वचनसे चन्द्रोदयादि हेतुओंका, जो कार्यादिरूप नहीं हैं, संग्रह कर लेते हैं। यह प्रतिपादन भी प्रशस्तपादकी अनुमानके क्षेत्रमें एक देन है।

अनुमानके दृष्ट और सामान्यतोदृष्टके भेदसे दो भेदों[3] तथा स्वनिश्चितार्थानुमान और परार्थानुमानके भेदसे भी दो भेदोंका[4] वर्णन, शब्द, चेष्टा, उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव और ऐतिह्यका अनुमानमें अन्तर्भाव-प्रतिपादन,[5] परार्थानुमानवाक्यके प्रतिज्ञा, अपदेश, निदर्शन, अनुसन्धान, प्रत्याम्नाय इन पाँच अवयवोंकी परिकल्पना,[6] हेत्वाभासोंका अपने ढंगका चिन्तन,[7] अनध्यवसितनामके हेत्वाभासकी कल्पना और फिर उसे असिद्धके भेदोंमें ही अन्तर्भूत करना[8] तथा निदर्शनके विवेचनप्रसंगमें निदर्शनाभासोंका कथन,[9] जो न्यायदर्शनमें उपलब्ध नहीं होता, केवल जैन और बौद्ध तर्कग्रन्थोंमें वह मिलता है, आदि अनुमान-सम्बन्धी सामग्री प्रशस्तपादभाष्यमें पर्याप्त विद्यमान है।

व्योमशिव, श्रीधर आदि वैशेषिक तार्किकोंने भी अनुमानपर विचार किया है और उसे समृद्ध बनाया है।

(ग) बौद्ध दर्शनमें अनुमानका विकास

बौद्ध तार्किकोंने तो भारतीय तर्कशास्त्रको इतना प्रभावित किया है कि अनुमानपर उनके द्वारा संख्याबद्ध ग्रन्थ लिखे गये हैं। उपलब्ध बौद्ध तर्कग्रन्थोंमें सबसे प्राचीन तर्कशास्त्र[10] और उपायहृदय[11] नामक

---

१. विधिस्तु यत्र धूमस्तत्राग्निरग्न्यभावे धूमोऽपि न भवतीति। एवं प्रसिद्धसमयस्यासन्दिग्धधूमदर्शनात् साहचर्यानुस्मरणात् तदनन्तरमग्न्यध्यवसायो भवतीति। एवं सर्वत्र देशकालाविनाभूतमितरस्य लिंगम्।
—प्रश० भा० पृष्ठ १०२, १०३

२. शास्त्रे कार्यादिग्रहणं निदर्शनार्थं कृतं नावधारणार्थम्। कस्मात्? व्यतिरेकदर्शनात्। तद्यथा—व्यवहितस्य हेतुर्लिङ्गम्, चन्द्रोदयः समुद्रवृद्धेः कुमुदविकासस्य च'.....।—वही, पृष्ठ १०४।

३. प्रश० भा० पृष्ठ १०४।

४ वही पृष्ठ १०६, ११३।

५. वही, पृष्ठ १०६-११२।

६. वही, पृष्ठ ११४-१२७।

७. वही, पृष्ठ ११६-१२१।

८. वही, पृष्ठ ११६ तथा १२०।

९. वही, पृष्ठ १२२।

१०. ओरियंटल इंस्टीट्यूट बड़ौदा द्वारा प्रकाशित Per-Dinnaga Budhlst texts on Logic Form Chinese Sources के अन्तर्गत।

११. वही।

दो ग्रन्थ माने जाते हैं। तर्कशास्त्रमें तीन प्रकरण हैं। प्रथममें परस्पर दोषापादन, खण्डनप्रक्रिया, प्रत्यक्ष-विरुद्ध, अनुमानविरुद्ध, लोकविरुद्ध तीन विरुद्धोंका कथन, हेतुफलन्याय, सापेक्षन्याय, साधनन्याय, तथतान्याय चार न्यायोंका प्रतिपादन आदि है। द्वितीयमे खण्डनभेदों और तृतीयमे उन्हीं बाईस निग्रहस्थानोंका अभिधान है, जिनका गौतमके न्यायसूत्रमें है। किन्तु गौतमकी तरह हेत्वाभास पाँच वर्णित नहीं हैं, अपितु असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक तीन अभिहित हैं।[१] जैसी युक्तियाँ और प्रत्युक्तियाँ इसमे प्रदर्शित हैं उनसे अनुमानका उपहास ज्ञात होता है। पर[२] इतना स्पष्ट है कि शास्त्रार्थमें विजय पाने और विरोधीका मुँह बन्द करनेके लिए सद्-असद् तर्क उपस्थित करना उस समयकी प्रवृत्ति रही जान पड़ती है।

उपायहृदयमें चार प्रकरण हैं। प्रथममें वादके गुण-दोषोंका वर्णन करते हुए कहा गया है[३] कि वाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि उससे वाद करनेवालोंको विपुल क्रोध और अहंकार उत्पन्न होता है तथा चित्त विभ्रान्त, मन कठोर, परपापप्रकाशक और स्वकीय पाण्डित्यका अनुमोदक बन जाता है। इसके उत्तरमें कहा गया है कि तिरस्कार, लाभ और ख्यातिके लिए वाद नहीं, अपितु सुलक्षण और दुर्लक्षण उपदेशकी इच्छासे वह किया जाना चाहिए। यदि लोकमें वाद न हो तो मूर्खोंका बाहुल्य हो जायगा और उससे मिथ्याज्ञानादिका साम्राज्य जम जाएगा। फलतः संसारकी दुर्गति तथा उत्तम कार्योंकी क्षति होगी। इस प्रकरणमें न्यायसूत्रकी तरह प्रत्यक्षादि चार प्रमाण और पूर्ववदादि तीन अनुमान वर्णित हैं। आठ प्रकारके हेत्वाभासों आदिका भी निरूपण है। द्वितीयमे वादधर्मों आदिका, तृतीयमें दूषणो आदिका और चतुर्थमे बीस प्रकारके प्रश्नोत्तर धर्मों, जिनका न्यायसूत्रमे जातियोंके रूपमे कथन है, आदिका वर्णन है।[४] उल्लेख्य है कि इसमें पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट इन अनुमानोंके जो उदाहरण दिये गये हैं[५] वे न्यायभाष्यगत उदाहरणोंसे भिन्न तथा अनुयोगसूत्र[६] और युक्तिदीपिकासे[७] अभिन्न हैं। इससे प्रतीत होता है कि इसमे किसी प्राचीन परम्पराका अनुसरण है।

यहाँ इन दोनों ग्रन्थोंके संक्षिप्त परिचयका प्रयोजन केवल अनुमानके प्राचीन स्रोतको दिखाना है। परन्तु उत्तरकालमे इन ग्रन्थोंकी परम्परा नहीं अपनायी गयी। न्यायप्रवेश[८]मे अनुमानसम्बन्धी अभिनव परम्पराएँ स्थापित की गयी हैं। साधन (परार्थानुमान) के पक्ष, हेतु और दृष्टान्त तीन अवयव, हेतुके पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व तीन रूप, पक्ष, सपक्ष और विपक्षके लक्षण तथा पक्षलक्षणमे प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध विशेषणका प्रवेश, जो प्रशस्तपादके अनुसरणका सूचक है, नवविध पक्षाभास, तीन हेत्वाभास और उनके प्रभेद, द्विविध दृष्टान्ताभास और प्रत्येकके पाँच-पाँच भेद, प्रत्यक्ष और अनुमानके भेदसे द्विविध

---

१. यथापूर्वमुक्तास्त्रिविधाः। असिद्धोऽनैकान्तिको विरुद्धश्चेति हेत्वाभासाः।—तर्कशास्त्र पृष्ठ ४०।

२. वही, पृष्ठ ३।

३. उपायहृदय पृष्ठ ३।

४. वही, पृष्ठ ६–१७, १८–२१, २२–२५, २६–३२।

५. यथा षडंगुलिं सपिडकमूर्धानं बालं दृष्ट्वा पश्चाद्वृद्धं बहुश्रुतं देवदत्तं दृष्ट्वा षडंगुलिस्मरणात् सोऽयमिति पूर्ववत्। शेषवत् यथा, सागरसलिलं पीत्वा तल्लवणं समनुभूय शेषमपि सलिलं तुल्यमेव लवणमिति····।
—वही, पृष्ठ १३।

६. सं० मुनिश्री कन्हैयालाल, मूलसुत्ताणि, अ० सू० पृष्ठ ५३९।

७. यु० दी० का० ५, पृष्ठ ४५।

८. न्या० प्र० पृष्ठ १–८।

प्रमाण, लिंगसे होनेवाले अर्थ (अनुमेय) दर्शनको अनुमान; हेत्वाभासपूर्वक होनेवाले ज्ञानको अनुमानाभास, दूषण और दूषणाभास आदि अनुमानोपयोगी तत्त्वोंका स्पष्ट निरूपण करके बौद्ध तर्कशास्त्रको अत्यधिक पुष्ट तथा पल्लवित किया गया है। इसी प्रयोजनको पुष्ट और बढ़ावा देनेके लिए दिङ्नागने न्यायद्वार, प्रमाण-समुच्चय सवृत्ति, हेतुचक्रसमर्थन आदि ग्रन्थोंकी[1] रचना करके उनमें प्रमाणका विशेषतया अनुमानका विचार किया है।

धर्मकीर्तिने प्रमाणसमुच्चयपर अपना प्रमाणवार्तिक लिखा है, जो उद्योतकरके न्यायवार्तिककी तरह व्याख्येय ग्रन्थसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण और यशस्वी हुआ। इन्होंने हेतुबिन्दु, न्यायबिन्दु आदि स्वतन्त्र प्रकरण-ग्रन्थोंकी भी रचना की है[2] और जिनसे बौद्ध तर्कशास्त्र न केवल समृद्ध हुआ, अपितु अनेक उपलब्धियाँ भी उसे प्राप्त हुई हैं। न्यायबिन्दुमें अनुमानका लक्षण और उसके द्विविध भेद तो न्यायप्रवेश प्रतिपादित ही है। पर अनुमानके अवयव धर्मकीर्तिने तीन न मानकर हेतु और दृष्टान्त ये दो[3] अथवा केवल एक हेतु[4] ही माना है। हेतुके तीन भेद (स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि), अविनाभावनियामक तादात्म्य और तदुत्पत्तिसम्बधद्वय, ग्यारह अनुपलब्धियाँ आदि चिन्तन धर्मकीर्तिकी देन है। इन्होंने जहाँ दिङ्नागके विचारोंका समर्थन किया है वहाँ उनकी कई मान्यताओंकी आलोचना भी की है। दिङ्नागने विरुद्ध हेत्वाभासके भेदोंमें इष्टविघातकृत नामक तृतीय विरुद्ध हेत्वाभास, अनेकान्तिकभेदोंमें विरुद्धाव्यभिचारी और साधनावयवोंमें दृष्टान्तको स्वीकार किया है। धर्मकीर्तिने न्यायबिन्दुमें इन तीनोंकी समीक्षा की है।[5] इनकी विचार-धाराको उनकी शिष्यपरम्परामें होनेवाले देवेन्द्रबुद्धि, शान्तभद्र, विनीतदेव, अर्चट, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर आदिने पुष्ट किया और अपनी व्याख्याओं-टीकाओं आदि द्वारा प्रवृद्ध किया है। इस प्रकार बौद्धतर्कशास्त्रके विकासने भी भारतीय अनुमानको अनेक रूपोंमें समृद्ध किया है।

(घ) मीमांसक-दर्शनमें अनुमानका विकास

बौद्धों और नैयायिकोंके न्यायशास्त्रके विकासका अवश्यम्भावी परिणाम यह हुआ कि मीमांसक जैसे दर्शनोंमें, जहाँ प्रमाणकी चर्चा गौण थी, कुमारिलने श्लोकवार्तिक, प्रभाकरने बृहती, शालिकनाथने बृहतीपर पंचिका और पार्थसारथिने शास्त्रदीपिकान्तर्गत तर्कपाद जैसे ग्रन्थ लिखकर तर्कशास्त्रको मीमांसक दृष्टिसे प्रतिष्ठित किया। श्लोकवार्तिकमें तो कुमारिलने[6] एक स्वतन्त्र अनुमान-परिच्छेदकी रचना करके अनुमानका विशिष्ट चिन्तन किया है और व्याप्य ही क्यों गमक होता है इसका सूक्ष्म विचार करते हुए उन्होंने व्याप्य एवं व्याप्तिके सम और विषम दो रूप बतलाकर अनुमानकी समृद्धि की है।

---

१. पं० दलसुखभाई मालवणिया, धर्मोत्तर-प्रदीप, प्रस्ताव० पृष्ठ ४१।

२. धर्मोत्तरप्रदीप, प्रस्तावना, पृष्ठ ४४।

३. अथवा तस्यैव साधनस्य यन्नाङ्गं प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि''''।—सपादक राहुल साकृत्यायन, वादन्या० पृष्ठ ६१।

४. धर्मकार्ति, न्यायबिन्दु, तृतीय परि०, पृष्ठ ९१।

५. (क) तत्र च तृतीयोऽपीष्टविघातकृद्विरुद्ध.। ''स इह कस्मान्नोक्तः। अनयोरेवान्तर्भावात्।
   (ख) विरुद्धाव्यभिचार्यपि संशयहेतुरुक्त.। स इह कस्मान्नोक्त। अनुमानविषयेऽसम्भवात्।
   (ग) त्रिरूपो हेतुरुक्तः। तावतैवार्थप्रतीतिरिति न पृथग्दृष्टान्तो नाम साधनावयवः कश्चित्।—न्यायबि० पृष्ठ ७९-८०, ८६, ९१।

६. मी० श्लो०, अनुमा० परि०, श्लोक ४-७ तथा ८-१७१।

(ञ) वेदान्त और सांख्यदर्शनमें अनुमान-विकास

वेदान्तमें प्रमाणशास्त्रकी दृष्टिसे वेदान्तपरिभाषा जैसे ग्रन्थ लिखे गये है । सांख्य विद्वान् भी पीछे नही रहे । ईश्वरकृष्णने अनुमानका प्रामाण्य स्वीकार करते हुए उसे त्रिविध प्रतिपादित किया है । माठर, युक्तिदीपिकाकार; विज्ञानभिक्षु और वाचस्पति आदिने अपनी व्याख्याओं द्वारा उसे सम्पुष्ट और विस्तृत किया है ।

जैनदर्शनमें अनुमान-विकास

जैन वाङ्मयमे अनुमानका क्या रूप रहा है और उसका विकास किस प्रकार हुआ, इस सम्बन्धमें विचार करेंगे ।

(क) षट्खण्डागममें हेतुवादका उल्लेख

जैन श्रुतका आलोडन करनेपर ज्ञात होता है कि षट्खण्डागममें श्रुतके पर्याय-नामोंमे एक **'हेतुवाद'**[1] नाम भी परिगणित है, जिसका व्याख्यान आचार्य वीरसेनने हेतुद्वारा तत्सम्बद्ध अन्य वस्तुका ज्ञान करना किया है और जिसपरसे उसे स्पष्टतया अनुमानार्थक माना जा सकता है, क्योंकि अनुमानका भी हेतुसे साध्यका ज्ञान करना अर्थ है । अतएव हेतुवादका व्याख्यान हेतुविद्या, तर्कशास्त्र, युक्तिशास्त्र और अनुमानशास्त्र किया जाता है । स्वामी समन्तभद्रने सम्भवतः ऐसे ही शास्त्रको **'युक्त्यनुशासन'**[2] कहा है और जिसे उन्होंने दृष्ट (प्रत्यक्ष) और आगमसे अविरुद्ध अर्थका प्ररूपक बतलाया है ।

(ख) स्थानांगसूत्रमे हेतु-निरूपण

स्थानागसूत्र[3] मे 'हेतु' शब्द प्रयुक्त है और उसका प्रयोग प्रामाणसामान्य[4] तथा अनुमानके प्रमुख अंग हेतु (साधन) दोनोंके अर्थमे हुआ है । प्रमाणसामान्यके अर्थमे उसका प्रयोग इस प्रकार है—

१. हेतु चार प्रकारका है—

१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. उपमान, ४. आगम ।

गौतमके न्यायसूत्रमे भी ये चार भेद अभिहित हैं । पर वहाँ इन्हे प्रमाणके भेद कहा है ।

हेतुके अर्थमे हेतु शब्द निम्न प्रकार व्यवहृत हुआ है—

२. हेतुके चार भेद है—

१. **विधि विधि**—(साध्य और साधन दोनों सद्भावरूप हों)
२. **विधि-निषेध**—(साध्य विधिरूप और साधन निषेधरूप)
३, **निषेध-विधि**—(साध्य निषेधरूप और हेतु विधिरूप)
४. **निषेध-निषेध**—(साध्य और साधन दोनों निषेधरूप हों)

---

१. ····हेतुवादो णयवादो परवादो मग्गवादो सुदवादो ···।
—भूतबली-पुष्पदन्त, षट्खण्डा० ५।५।५१; सोलापुर संस्करण १९६५ ।

२. दृष्टागमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपण युक्त्यनुशासनं ते ।
—समन्तभद्र, युक्त्यनुशा० का० ४८; वीरसेवामन्दिर, दिल्ली ।

३. अथवा हेऊ चउव्विहे पन्नते तं जहा—पच्चक्खे अनुमाने उवमे आगमे । अथवा हेऊ चउव्विहे पन्नते तं जहा—अत्थि तं अत्थि सो हेऊ, अत्थि तं णत्थि सो हेऊ, णत्थि तं अत्थि सो हेऊ, णत्थि तं णत्थि सो हेऊ ।—स्थानांगसू० पृष्ठ ३०९–३१० ।

४. हिनोति परिच्छिन्नत्त्यर्थमिति हेतुः ।

इन्हें हम क्रमशः निम्न नामोंसे व्यवहृत कर सकते हैं—

१. विधिसाधक विधिरूप[1] **अविरुद्धोपलब्धि**[2]

२. विधिसाधक निषेधरूप **विरुद्धानुपलब्धि**

३. निषेधसाधक विधिरूप **विरुद्धोपलब्धि**

४. प्रतिषेधसाधक प्रतिषेधरूप **अविरुद्धानुपलब्धि**

इनके उदाहरण निम्न प्रकार दिये जा सकते हैं—

१. अग्नि है, क्योंकि धूम है।

२. इस प्राणीमें व्याधिविशेष है, क्योंकि निरामय चेष्टा नहीं है।

३. यहाँ शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि उष्णता है।

४. यहाँ धूम नहीं है, क्योंकि अग्निका अभाव है।

(ग) भगवतीसूत्रमें अनुमानका निर्देश

भगवतीसूत्रमें[4] भगवान् महावीर और उनके प्रधान शिष्य गौतम (इन्द्रभूति) गणधरके संवादमें प्रमाणके पूर्वोक्त चार भेदोंका उल्लेख आया है, जिनमें अनुमान भी सम्मिलित है।

(घ) अनुयोगसूत्रमें अनुमान-निरूपण

अनुमानकी कुछ अधिक विस्तृत चर्चा अनुयोगसूत्रमें उपलब्ध होती है। इसमें अनुमानके भेदोंका निर्देश करके उनका सोदाहरण निरूपण किया गया है।

१. अनुमान-भेद :

इसमें[5] अनुमानके तीन भेद बताये हैं। यथा—

१. **पुव्ववं** (पूर्ववत्)

२. **सेसवं** (शेषवत्)

३. **दिट्ठसाहम्मवं** (दृष्टसाधर्म्यवत्)

१ **पुव्ववं**[6]—जो वस्तु पहले देखी गयी थी, कालान्तरमें किंचित् परिवर्तन होनेपर भी उसे प्रत्यभिज्ञाद्वारा पूर्वलिंगदर्शनसे अवगत करना 'पुव्ववं' अनुमान है। जैसे बचपनमें देखे गये बच्चेको युवावस्थामें किंचित् परिवर्तनके साथ देखनेपर भी पूर्व चिह्नों द्वारा ज्ञात करना कि 'वही शिशु' है। यह 'पुव्ववं' अनुमान क्षेत्र, वर्ण, लांछन, मस्सा और तिल प्रभृति चिह्नोंसे सम्पादित किया जाता है।

२. **सेसवं**[7]—इसके हेतुभेदसे पाँच भेद हैं—

---

१. धर्मभूषण, न्यायदी० पृ० ९५–९९, वीरसेवामन्दिर, दिल्ली।

२. माणिक्यनन्दि, परीक्षामु० ३।५७–५८।

३. तुलना कीजिए—

१. पर्वतोऽयमग्निमान् धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेः—धर्मभूषण, न्यायदी० पृ० ९५।

२. यथाऽस्मिन् प्राणिनि व्याधिविशेषोऽस्ति निरामयचेष्टानुपलब्धेः।

३. नास्त्यत्र शीतस्पर्श औष्ण्यात्।

४. नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः।—माणिक्यनन्दि, परीक्षामु० ३।८७, ७६, ८२।

४. गोयमा णो तिणट्ठे समट्ठे।....से किं तं पमाणं? पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—पच्चक्खे अणुमाणे ओवम्मे जहा अणुयोगद्दारे तहा णेयव्वं पमाणं।—भगवती० ५, ३, १९१-९२।

५,६,७. अणुमाणे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—१. पुव्ववं, २. सेसवं, ३. दिट्ठसाहम्मवं। से किं पुव्ववं? पुव्ववं—

१. कार्यानुमान, २. कारणानुमान, ३ गुणानुमान, ४. अवयवानुमान, ५. आश्रयी-अनुमान

१. **कार्यानुमान**—कार्यसे कारणको अवगत करना कार्यानुमान है। जैसे—शब्दसे शंखको, ताडनसे भेरीको, ढाडनेसे वृषभको, केकारवसे मयूरको, हिनहिनाने (हेषित) से अश्वको, गुलगुलायित (चिंघाड़ने) से हाथीको और घणाघणायित (घनघनाने) से रथको अनुमित करना।[1]

२. **कारणानुमान**—कारणसे कार्यका अनुमान करना कारणानुमान है। जैसे—तन्तुसे पटका, वीरणसे कटका, मृत्पिण्डसे घड़ेका अनुमान करना। तात्पर्य यह कि जिन कारणोंसे कार्योंकी उत्पत्ति होती है, उनके द्वारा उन कार्योंका अवगम प्राप्त करना 'कारण' नामका 'सेसवं' अनुमान है।[2]

३. **गुणानुमान**—गुणसे गुणीका अनुमान करना गुणानुमान है। यथा—गन्धसे पुष्पका, रससे लवणका, स्पर्शसे वस्त्रका और निकषसे सुवर्णका अनुमान करना।[3]

४. **अवयवानुमान**—अवयवसे अवयवीका अनुमान करना अवयवानुमान है। यथा—सींगसे महिषका, शिखासे कुक्कुटका, शुण्डादण्डसे हाथीका, दाढ़से वराहका, पिच्छसे मयूरका, लांगूलसे वानरका, खुरासे अश्वका, नखसे व्याघ्रका, बालाग्रसे चमरीगायका, दो पैरसे मनुष्यका, चार पैरसे गौ आदिका, बहुपादसे कनगोजर (पटार) का, केसरसे सिंहका, ककुभसे वृषभका, चूड़ीसहित बाहुसे महिलाका, बद्धपरिकरतासे योद्धाका, वस्त्रसे महिलाका, धान्यके एक कणसे द्रोण पाकका और एक गाथासे कविका अनुमान करना।[4]

५. **आश्रयी-अनुमान**—आश्रयीसे आश्रयका अनुमान करना आश्रयी-अनुमान है। यथा—धूमसे अग्निका, बलाकासे जलका, विशिष्ट मेघोंसे वृष्टिका और शील-समाचारसे कुलपुत्रका अनुमान करना।[5]

शेषवत्के इन पाँचों भेदोंमें अविनाभावी एकसे शेष (अवशेष) का अनुमान होनेसे शेषवत् कहा है।

माया पुत्तं जहा नट्ठं जुवाणं पुणरागयं।
काई पच्चभिजाणेज्जा पुव्वलिंगेण केणई।।
तं जहा—खेतेण वा, वण्णेण वा, लंछणेण वा, मसेण वा, तिलएण वा। से तं पुव्ववं। से किं तं सेसवं? सेसवं पंचविहं पण्णत्तं। तं जहा—१. कज्जेणं, २. कारणेणं, ३. गुणेणं, ४. अवयवेणं, ५ आसएणं।—मुनि श्री कन्हैयालाल, अनुयोगद्वारसूत्र मूलसुत्ताणि, पृ० ५३९।

१. कज्जेणं—संखं सद्देणं, भेरिं ताडिएणं, वसभं ढक्किएणं, मोरं किंकाइएणं, हयं हेसिएणं, गयं गुलगुलाइएणं, रहं घणघणाइएणं, से तं कज्जेणं।—अनुयोग० उपक्रमाधिकार प्रमाणद्वार, पृष्ठ ५३९।

२. कारणेणं—ततवो पडस्स कारणं ण पडो तंतुकारणं, वीरणा कडस्स कारणं ण कडो वीरणाकारणं, मिप्पिंडो घडस्स कारण ण घडो मिप्पिंडकारणं, से तं कारणेणं।—वही, पृष्ठ ५४०।

३. गुणेणं—सुवण्णं निकसेणं, पुप्फं गंधेणं, लवणं रसेणं, मइरं आसायएणं, वत्थं फासेणं, से तं गुणेणं। —वही, पृष्ठ ५४०।

४. अवयवेणं—महिसं सिंगेणं, कुक्कुडं सिहाएण, हत्थि विसाणेणं, वराहं, दाढाएणं, मोरं पिच्छेणं, आसं खुरेणं, वग्घं नहेणं, चमरिं बालग्गेणं, वाणरं लंगुलेणं, दुपयं मणुस्सादि, चउप्पयं गवमादि, बहुपयं गोमि आदि, सीहं केसरेणं, वसहं ककुहेणं, महिलं वलयबाहाए, गाहा-परिअरबंधेण भडं जाणिज्जा, महिलियं वस्सेणं, सित्थेण दोणपागं, कविं च एक्काए गाहाए, से तं अवयवेणं।—वही, पृष्ठ ५४०।

५. आसएणं—अग्गिं धूमेणं, सलिलं बलागेणं, वुट्ठिं अब्भविकारेणं, कुलपुत्तं सीलसमायारेणं। से तं आसएणं। से तं सेसवं। —अनुयोग० उपक्रमाधिकार प्रमाणद्वार, पृष्ठ ५४०-४१

३. दिट्ठसाहम्मव—इस अनुमानके दो भेद है[1]। यथा—

१. सामन्नदिट्ठ (सामान्य-दृष्ट), २. विसेसदिट्ठ (विशेषदृष्ट)।

१ किसी एक वस्तुको देखकर तत्सजातीय सभी वस्तुओंका साधर्म्य ज्ञात करना या बहुत वस्तुओंको एक-सा देखकर किसी विशेष (एक) में तत्साधर्म्यका ज्ञान करना सामान्यदृष्ट है। यथा—जैसा एक मनुष्य है, वैसे बहुतसे मनुष्य हैं। जैसे बहुतसे मनुष्य हैं वैसा एक मनुष्य है। जैसा एक करिशावक है वैसे बहुतसे करिशावाक हैं। जैसे बहुतसे करिशावक है वैसे एक करिशावक है। जैसा एक कार्षापण है वैसे अनेक कार्षापण हैं, जैसे अनेक कार्षापण हैं, वैसा एक कार्षापण है। इस प्रकार सामान्यधर्मदर्शनद्वारा ज्ञातसे अज्ञातका ज्ञान करना सामान्यदृष्ट अनुमानका प्रयोजन है।

२. जो अनेक वस्तुओंमेंसे किसी एकको पृथक् करके उसके वैशिष्टयका प्रत्यभिज्ञान कराता है वह विशेषदृष्ट है। यथा—कोई एक पुरुष बहुतसे पुरुषोके बीचमें पूर्वदृष्ट पुरुषका प्रत्यभिज्ञान करता है कि यह वही पुरुष है। या बहुतसे कार्षापणोंके मध्यमे पूर्वदृष्ट कार्षापणको देखकर प्रत्यभिज्ञा करना कि यह वही कार्षापण है। इस प्रकारका ज्ञान विशेषदृष्ट दृष्टसाधर्म्यवत् अनुमान है।

२. कालभेदसे अनुमानका त्रैविध्य[2]

कालकी दृष्टिसे भी अनुयोग-द्वारमें अनुमानके तीन प्रकारोंका प्रतिपादन उपलब्ध है। यथा—१. अतीतकालग्रहण, २. प्रत्युत्पन्नकालग्रहण और ३. अनागतकालग्रहण।

१ अतीतकालग्रहण—उत्तृणवन, निष्पन्नशस्या पृथ्वी, जलपूर्ण कुण्ड-सर-नदी-दीर्घिका-तडाक आदि देखकर अनुमान करना कि सुवृष्टि हुई है, यह अतीतकालग्रहण है।

२. प्रत्युत्पन्नकालग्रहण—भिक्षाचर्यामे प्रचुर भिक्षा मिलती देख अनुमान करना कि सुभिक्ष है, यह प्रत्युत्पन्नकालग्रहण है।

३. अनागतकालग्रहण—बादलकी निर्मलता, कृष्ण पहाड, सविद्युत् मेघ, मेघगर्जन, वातोद्भ्रम, रक्त और प्रस्निग्ध सन्ध्या, वारुण या माहेन्द्रसम्बन्धी या और कोई प्रशस्त उत्पात इनको देख कर अनुमान करना कि सुवृष्टि होगी, यह अनागतकालग्रहण अनुमान है।

उक्त लक्षणोंका विपर्यय देखने पर तीनों कालोंके ग्रहणमे विपर्यय भी हो जाता है। अर्थात् सूखी जमीन, शुष्क तालाब आदि देखने पर वृष्टिके अभावका, भिक्षा कम मिलने पर वर्तमान दुर्भिक्षका और प्रसन्न दिशाओं आदिके होने पर अनागत कुवृष्टिका अनुमान होता है, यह भी अनुयोगद्वारमे सोदाहरण अभिहित है। उल्लेखनीय है कि कालभेदसे तीन प्रकारके अनुमानोंका निर्देश चरकसूत्रस्थान (अ० ११।२१, २२) मे भी मिलता है।

न्यायसूत्र,[3] उपायहृदय[4] और साङ्ख्यकारिका[5] मे भी पूर्ववत् आदि अनुमानके तीन भेदोंका प्रतिपादन है। उनमे प्रथमके दो वही हैं जो ऊपर अनुयोगद्वारमे निर्दिष्ट हैं। किन्तु तीसरे भेदका नाम अनुयोगकी

---

१. से कि तं दिट्ठसाहम्मवं। दिट्ठसाहम्मवं दुविहं पण्णत्तं। जहा—सामन्नदिट्ठं च विसेसदिट्ठं च। —वही, पृष्ठ ५४१-४२

२. तस्स समासओ तिविहं गहणं भवइ। तं जहा—१. अतीतकालगहणं, २ पडुप्पण्णकालगहणं, ३. अणागयकालगहणं।—वही, पृष्ठ ५४१-५४२।

३. अक्षपाद, न्यायसू० १।१।५।

४. उपायहृ० पृ० १३।

५. ईश्वरकृष्ण, सां० का० ५, ६।

तरह दृष्टसाधर्म्यवत् न होकर सामान्यतोदृष्ट है। अनुयोगद्वारगत पूर्ववत् जैसा उदाहरण उपायहृदय (पृ० १३) में भी आया है।

इन अनुमानभेद-प्रभेदों और उनके उदाहरणोंके विवेचनसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गौतमके न्यायसूत्रमें जिन तीन अनुमानभेदोंका निर्देश है वे उस समयकी अनुमान-चर्चामें वर्तमान थे। अनुयोगद्वारके अनुमानोंकी व्याख्या अभिधामूलक है। पूर्ववत्का शाब्दिक अर्थ है पूर्वके समान किसी वस्तुको वर्तमानमें देखकर उसका ज्ञान प्राप्त करना। स्मरणीय है कि द्रष्टव्य वस्तु पूर्वोत्तरकालमें मूलतः एक ही है और जिसे देखा गया है उसके सामान्य धर्म पूर्वकालमें भी विद्यमान रहते हैं तथा उत्तरकालमें भी पाये जाते हैं। अतः पूर्वदृष्टके आधारपर उत्तरकालमे देखी वस्तुकी जानकारी प्राप्त करना पूर्ववत् अनुमान है। इस प्रक्रियामें पूर्वांश अज्ञात है और उत्तरांश ज्ञात। अतः ज्ञातसे अज्ञात (अतीत) अंशको जानकारी (प्रत्यभिज्ञा) की जाती है। जैसा कि अनुयोग और उपायहृदयमे दिये गये उदाहरणसे प्रकट है। शेषवत्में कार्य-कारण, गुण-गुणी, अवयव-अवयवी एवं आश्रय-आश्रयीमेंसे अविनाभावी एक अंशको ज्ञातकर शेष (अवशिष्ट) अंशको जाना जाता है। शेषवत् शब्दका अभिधेयार्थ भी यही है। साधर्म्यको देखकर तत्तुल्यका ज्ञान प्राप्त करना दृष्ट-साधर्म्यवत् अनुमान है। यह भी वाच्यार्थमूलक है। यद्यपि इसके अधिकांश उदाहरण सादृश्यप्रत्यभिज्ञानके तुल्य हैं। पर शब्दार्थके अनुसार यह अनुमान सामान्यदर्शनपर आश्रित है। दूसरे, प्राचीन कालमें प्रत्यभिज्ञानको अनुमान ही माना जाता था। उसे पृथक् माननेकी परम्परा दार्शनिकोंमें बहुत पीछे आयी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनुयोगसूत्रमें उक्त अनुमानोंकी विवेचना पारिभाषिक न होकर अभिधामूलक है।

पर न्यायसूत्रके व्याख्याकार वात्स्यायनने उक्त तीनों अनुमान-भेदोंकी व्याख्या वाच्यार्थके आधारपर नहीं की। उन्होंने उनका स्वरूप पारिभाषिक शब्दावलीमें ग्रथित किया है। इससे यदि यह निष्कर्ष निकाला जाय कि पारिभाषिक शब्दोंमें प्रतिपादित स्वरूपकी अपेक्षा अवयवार्थ द्वारा विवेचित स्वरूप अधिक मौलिक एवं प्राचीन होता है तो अयुक्त न होगा, क्योंकि अभिधाके अनन्तर ही लक्षणा या व्यंजना या रूढ़ शब्दावली द्वारा स्वरूप-निर्धारण किया जाता है। दूसरे, वात्स्यायनकी त्रिविध अनुमान-व्याख्या अनुयोगद्वारसूत्रकी अपेक्षा अधिक पुष्ट एवं विकसित है। अनुयोगद्वारसूत्रमें जिस तथ्यको अनेक उदाहरणों द्वारा उपस्थित किया है उसे वात्स्यायनने संक्षेपमें एक-दो पंक्तियोंमे ही निबद्ध किया है। अतः भाषाविज्ञान और विकास-सिद्धान्तकी दृष्टिसे अनुयोगद्वारका अनुमान-निरूपण वात्स्यायनके अनुमान-व्याख्यानसे प्राचीन प्रतीत होता है।

(ङ) अवयव-चर्चा :

अनुमानके अवयवोंके विषयमे आगमोंमें तो कोई कथन उपलब्ध नहीं होता। किन्तु उनके आधारसे रचित तत्त्वार्थसूत्रमे तत्त्वार्थसूत्रकारने[1] अवश्य अवयवोंका नामोल्लेख किये बिना पक्ष (प्रतिज्ञा), हेतु और दृष्टान्त इन तीनके द्वारा मुक्त जीवका ऊर्ध्वगमन सिद्ध किया है, जिससे ज्ञात होता है कि आरम्भमें जैन परम्परामें अनुमानके उक्त तीन अवयव मान्य रहे हैं। समन्तभद्र[2], पूज्यपाद[3] और सिद्धसेनने[4] भी इन्हीं तीन अवयवोंका निर्देश किया है। भद्रबाहुने[5] दशवैकालिकनिर्युक्तिमें अनुमानवाक्यके दो, तीन, पाँच, दस और

१. त० सू० १०।५, ६, ७।
२. आप्तमी० ५, १७, १८ तथा युक्त्यनु० ५३।
३. स० सि० १०।५, ६, ७।
४. न्यायाव० १३, १४, १७, १८, १९।
५. दशवै० नि० गा० ४९-१३७।

दश इस प्रकार पाँच तरहसे अवयवोंकी चर्चा की है। प्रतीत होता है कि अवयवोंकी यह विभिन्न संख्या विभिन्न प्रतिपाद्योंकी[1] अपेक्षा बतलायी है।

ध्यातव्य है कि वात्स्यायन द्वारा समालोचित तथा युक्तिदीपिकाकार द्वारा विवेचित जिज्ञासादि दशावयव भद्रबाहुके दशावयवोंसे भिन्न है।

उल्लेखनीय है कि भद्रबाहुने मात्र उदाहरणसे भी साध्य-सिद्धि होनेकी बात कही है जो किसी प्राचीन परम्पराकी प्रदर्शक है।[2]

इस प्रकार जैनागमोंमें हमे अनुमान-मीसांसाके पुष्कल बीज उपलब्ध होते है। यह सही है कि उनका प्रतिपादन केवल निःश्रेयसाधिगम और उसमे उपयोगी तत्त्वोंके ज्ञान एवं व्यवस्थाके लिए ही किया गया है। यही कारण है कि उनमें न्यायदर्शनकी तरह वाद, जल्प और वितण्डापूर्वक प्रवृत्त कथाओ, जातियों, निग्रह-स्थानों, छलों तथा हेत्वाभासोका कोई उल्लेख नही है।

(च) अनुमानका मूल-रूप

आगमोत्तर कालमें जब ज्ञानमीमांसा और प्रमाणमीमासाका विकास आरम्भ हुआ तो उनके विकास-के साथ अनुमानका भी विकास होता गया। आगम-वर्णित मति, श्रुत आदि पाँच ज्ञानोंको प्रमाण कहने और उन्हें प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दो भेदोंमें विभक्त करने वाले सर्वप्रथम आचार्य गृद्धपिच्छ है।[3] उन्होंने[4] शास्त्र और लोकमे व्यवहृत स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध इन चार ज्ञानोंको भी एक सूत्र द्वारा परोक्ष-प्रमाणके अन्तर्गत समाविष्ट करके प्रमाणशास्त्रके विकासका सूत्रपात किया तथा उन्हे परोक्ष प्रमाणके आद्य प्रकार मतिज्ञानका पर्याय प्रतिपादन किया। इन पर्यायोंमें अभिनिबोधका जिस क्रमसे और जिस स्थानपर निर्देश हुआ है उससे ज्ञात होता है कि सूत्रकारने[5] उसे अनुमानके अर्थमें प्रयुक्त किया है। स्पष्ट है कि पूर्व-पूर्वको प्रमाण और उत्तर-उत्तरको प्रमाण-फल बतलाना उन्हें अभीष्ट है। मति (अनुभव-धारणा) पूर्वक स्मृति, स्मृतिपूर्वक संज्ञा, संज्ञा-पूर्वक चिन्ता और चिन्तापूर्वक अभिनिबोध ज्ञान होता है, ऐसा सूत्रसे ध्वनित है। यह चिन्तापूर्वक होनेवाला अभिनिबोध अनुमानके अतिरिक्त अन्य नही है। अतएव जैन परम्परामे अनुमान-का मूलरूप 'अभिनिबोध' और 'पूर्वोक्त 'हेतुवाद' मे उसी प्रकार समाहित है जिस प्रकार वह वैदिक पर-म्परामे 'वाकोवाक्यम्' और 'आन्वीक्षिकी' मे निविष्ट है।

उपर्युक्त मीमांसासे दो तथ्य प्रकट होते हैं। एक तो यह कि जैन परम्परामे ईस्वी पूर्व शताब्दियोंसे ही अनुमानके प्रयोग, स्वरूप और भेद-प्रभेदोंकी समीक्षा की जाने लगी थी तथा उसका व्यवहार हेतुजन्य ज्ञानके अर्थमें होने लगा था। दूसरा यह कि अनुमानका क्षेत्र बहुत विस्तृत और व्यापक था। स्मृति, संज्ञा और चिन्ता, जिन्हे परवर्ती जैन तार्किकोने परोक्ष प्रमाणके अन्तर्गत स्वतन्त्र प्रमाणोका रूप प्रदान किया है,

१. प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधत:।—प्र० परी० पृ० ४९ मे उद्धृत कुमारनन्दिका वाक्य।
२. श्रीदलसुखभाई मालवणिया, आगमयुगका जैन दर्शन, प्रमाणखण्ड, पृ० १५७।
३. मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्। तत्प्रमाणे। आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्।—तत्त्वा० सू० १।९, १०, ११, १२।
४. मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।—वही, १।१३।
५. गृद्धपिच्छ, त० सू० १।१३।

अनुमान (अभिनिबोध) में ही सम्मिलित थे। वादिराजने[1] प्रमाणनिर्णयमें सम्भवतः ऐसी ही परम्पराका निर्देश किया है जो उन्हें अनुमानके अन्तर्गत स्वीकार करती थी। अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव जैसे परोक्ष ज्ञानोंका भी इसीमें समावेश किया गया है।[2]

(छ) अनुमानका तार्किक विकास

अनुमानका तार्किक विकास स्वामी समन्तभद्रसे आरम्भ होता है। आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन और स्वयम्भूस्तोत्रमें उन्होंने अनुमानके अनेकों प्रयोग प्रस्तुत किये हैं, जिनमें उसके उपादानों—साध्य, साधन, पक्ष, उदाहरण, अविनाभाव आदिका निर्देश है। सिद्धसेनका न्यायावतार न्याय (अनुमान) का अवतार ही है। इसमें अनुमानका स्वरूप, उसके स्वार्थ-परार्थ द्विविध भेद, उनके लक्षण, पक्षका स्वरूप, पक्षप्रयोगपर बल, हेतुके तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति द्विविध प्रयोगोंका निर्देश, साधर्म्य-वैधर्म्य दृष्टान्तद्वय, अन्तर्व्याप्तिके द्वारा ही साध्यसिद्धि होनेपर भार, हेतुका अन्यथानुपपन्नत्वलक्षण, हेत्वाभास और दृष्टान्ताभास जैसे अनुमानोपकरणोंका प्रतिपादन किया गया है। अकलंकके न्याय-विवेचनने तो उन्हें 'अकलंक न्याय' का संस्थापक एवं प्रवर्त्तक ही बना दिया है। उनके विशाल न्याय-प्रकरणोंमें न्यायविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह, लघीयस्त्रय और सिद्धिविनिश्चय जैन प्रमाणशास्त्रके मूर्धन्य ग्रन्थोंमें परिगणित हैं। हरिभद्रके शास्त्रवार्तासमुच्चय, अनेकान्तजयपताका आदि ग्रन्थोंमें अनुमान-चर्चा निहित है। विद्यानन्दने अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, प्रमाण-परीक्षा, पत्रपरीक्षा जैसे दर्शन एवं न्याय-प्रबन्धोंको रचकर जैन न्यायवाङ्मयको समृद्ध किया है। माणिक्यनन्दिका परीक्षामुख, प्रभाचन्द्रका प्रमेयकमलमार्त्तण्ड-न्यायकुमुदचन्द्र-युगल, अभयदेवकी सन्मतितर्कटीका, देवसूरिका प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, अनन्तवीर्यकी सिद्धिविनिश्चयटीका, वादिराजका न्यायविनिश्चयविवरण, लघु अनन्तवीर्यका प्रमेयरत्नमाला, हेमचन्द्रकी प्रमाण-मीमांसा, धर्मभूषणकी न्यायदीपिका और यशोविजयकी जैन तर्कभाषा जैन अनुमानके विवेचक प्रमाणग्रन्थ हैं।

अनुमानका स्वरूप

व्याकरणके अनुसार 'अनुमान' शब्दकी निष्पत्ति अनु + मा + ल्युट्से होती है। अनुका अर्थ है पश्चात् और मानका अर्थ है ज्ञान। अतः अनुमानका शाब्दिक अर्थ है पश्चाद्वर्ती ज्ञान। अर्थात् एक ज्ञानके बाद होनेवाला उत्तरवर्ती ज्ञान अनुमान है। यहाँ 'एक ज्ञान' से क्या तात्पर्य है? मनीषियोंका अभिमत है कि प्रत्यक्ष ज्ञान ही एक ज्ञान है जिसके अनन्तर अनुमानकी उत्पत्ति या प्रवृत्ति पायी जाती है। गौतमने इसी कारण अनुमानको '**तत्पूर्वकम्**[3]—**प्रत्यक्षपूर्वकम्**' कहा है। वात्स्यायनका[4] भी अभिमत है कि प्रत्यक्षके बिना कोई अनुमान सम्भव नहीं। अतः अनुमानके स्वरूप-लाभमें प्रत्यक्षका सहकार पूर्वकारणके रूपमें अपेक्षित होता है। अतएव तर्कशास्त्री ज्ञात—प्रत्यक्षप्रतिपन्न अर्थसे अज्ञात—परोक्ष वस्तुकी जानकारी अनुमान द्वारा करते हैं।[5]

---

१. अनुमानमपि द्विविधं गौणमुख्यविकल्पात्। तत्र गौणमनुमानं त्रिविधं स्मरणं प्रत्यभिज्ञा तर्कश्चेति।—।
—वादिराज, प्र० नि०, पृष्ठ ३३; माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई।

२. अकलंकदेव, त० वा० १।२०, पृष्ठ ७८; भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

३. अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्।—न्यायसू० १।१।५।

४. अथवा पूर्ववदिति—यत्र यथापूर्वं प्रत्यक्षभूतयोरन्यतरदर्शनेनान्यतरस्याप्रत्यक्षस्यानुमानम्। यथा धूमेनाग्निरिति।—न्यायभा० १।१।५, पृष्ठ २२।

५. यथा धूमेन प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य वह्नेर्ग्रहणमनुमानम्।—वही, २।१।४७, पृष्ठ १२०।

कभी-कभी अनुमानका आधार प्रत्यक्ष न रहने पर आगम भी होता है। उदाहरणार्थ शास्त्रों द्वारा आत्माकी सत्ताका ज्ञान होनेपर हम यह अनुमान करते हैं कि 'आत्मा शाश्वत है, क्योंकि वह सत् है।' इसी कारण वात्स्यायनने[1] 'प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानम्' अनुमानको प्रत्यक्ष या आगमपर आश्रित कहा है। अनुमानका पर्यायशब्द अन्वीक्षा[2] भी है, जिसका शाब्दिक अर्थ एक वस्तुज्ञानकी प्राप्तिके पश्चात् दूसरी वस्तुका ज्ञान प्राप्त करना है। यथा—धूमका ज्ञान प्राप्त करनेके बाद अग्निका ज्ञान करना।

उपर्युक्त उदाहरणमें धूमद्वारा वह्निका ज्ञान इसी कारण होता है कि धूम वह्निका साधन है। धूमको अग्निका साधन-हेतु[3] माननेका भी कारण यह है कि धूमका अग्निके साथ नियत साहचर्य सम्बन्ध—अविनाभाव है। जहाँ धूम रहता है वहाँ अग्नि अवश्य रहती है। इसका कोई अपवाद नहीं पाया जाता। तात्पर्य यह है कि एक अविनाभावी वस्तुके ज्ञान द्वारा तत्सम्बद्ध इतर वस्तुका निश्चय करना अनुमान है।[4]

अनुमानके अंग

अनुमानके उपर्युक्त स्वरूपका विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि धूमसे अग्निका ज्ञान करनेके लिए दो तत्त्व आवश्यक हैं—१. पर्वतमें धूमका रहना और २. धूमका अग्निके साथ नियत साहचर्य सम्बन्ध होना। प्रथमको पक्षधर्मता और द्वितीयको व्याप्ति कहा गया है। यही दो अनुमानके आधार अथवा अंग हैं।[5] जिस वस्तुसे जहाँ सिद्धि करना है उसका वहाँ अनिवार्य रूपसे पाया जाना पक्षधर्मता है। जैसे धूमसे पर्वतमें अग्निकी सिद्धि करना है तो धूमका पर्वतमें अनिवार्य रूपसे पाया जाना आवश्यक है। अर्थात् व्याप्यका पक्षमें रहना पक्षधर्मता है।[6] तथा साधनरूप वस्तुका साध्यरूप वस्तुके साथ ही सर्वदा पाया जाना व्याप्ति है। जैसे धूम अग्निके होनेपर ही पाया जाता है—उसके अभावमें नहीं, अत: धूमकी वह्निके साथ व्याप्ति है। पक्षधर्मता और व्याप्ति दोनों अनुमानके आधार हैं। पक्षधर्मताका ज्ञान हुए बिना अनुमानका उद्भव सम्भव नहीं है। उदाहरणार्थ—पर्वतमें धूमकी वृत्तिताका ज्ञान न होने पर वहाँ उससे अग्निका अनुमान नहीं किया जा सकता। अत: पक्षधर्मताका ज्ञान आवश्यक है। इसी प्रकार व्याप्तिका ज्ञान भी अनुमानके लिए परमावश्यक है। यत: पर्वतमें धूमदर्शनके अनन्तर भी तब तक अनुमानकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, जब तक धूमका अग्निके साथ अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित न हो जाए। इस अनिवार्य सम्बन्धका नाम ही नियत साहचर्य सम्बन्ध या व्याप्ति है।[7] इसके अभावमें अनुमानकी उत्पत्तिमें धूमज्ञानका कुछ भी महत्त्व नहीं है। किन्तु व्याप्तिज्ञानके होनेपर अनुमानके लिए उक्त धूमज्ञान महत्त्वपूर्ण बन जाता है और वह अग्नि-

१. वही, १।१।१। पृष्ठ ७।
२. वही, १।१।१, पृष्ठ ७।
३. साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः।—माणिक्यनन्दि, परीक्षामु० ३।१५।
४. व्याप्यस्य ज्ञानेन व्यापकस्य निश्चयः, यथा वह्निर्धूमस्य व्यापक इति धूमस्तस्य व्याप्त इत्येवं तयोर्भूयः सहचारं पाकस्थानादौ दृष्ट्वा पश्चात्पर्वतादौ उद्धूयमानशिखस्य धूमस्य दर्शने तत्र वह्निरस्तीति निश्चीयते।—वाचस्पत्यम्, अनुमानशब्द, प्रथम जिल्द पृष्ठ १८१, चौखम्बा, वाराणसी, सन् १९६२ ई०।
५. अनुमानस्य द्वे अंगे व्याप्तिः पक्षधर्मता च।—केशवमिश्र, तर्कभाषा, अनु० निरू०, पृष्ठ ८८, ८९।
६. व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता।—अन्नंभट्ट, तर्कसं० अनु० नि०, पृष्ठ ५७।
७. यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः।—तर्कसं०, पृष्ठ ५४। तथा केशवमिश्र, तर्कभा० पृष्ठ ७२।

ज्ञानको उत्पन्न कर देता है। अतः अनुमानके लिए पक्षधर्मता और व्याप्ति इन दोनोंके संयुक्त ज्ञानकी आवश्यकता है। स्मरण रहे कि जैन तार्किकोंने[१] व्याप्तिज्ञानको ही अनुमानके लिए आवश्यक माना है, पक्षधर्मताके ज्ञानको नहीं; क्योंकि अपक्षधर्म कृत्तिकोदय आदि हेतुओंसे भी अनुमान होता है।

(क) पक्षधर्मता :

जिस पक्षधर्मताका अनुमानके आवश्यक अंगके रूपमें ऊपर निर्देश किया गया है उसरा व्यवहार न्यायशास्त्रमें कबसे आरम्भ हुआ, इसका यहाँ ऐतिहासिक विमर्श किया जाता है।

कणादके वैशेषिकसूत्र और अक्षपादके न्यायसूत्रमें न पक्ष शब्द मिलता है और न पक्षधर्मता शब्द। न्यायसूत्रमें[२] साध्य और प्रतिज्ञा शब्दोंका प्रयोग पाया जाता है, जिनका न्यायभाष्यकारने[३] प्रज्ञापनीय धर्मसे विशिष्ट धर्मी अर्थ प्रस्तुत किया है और जिसे पक्षका प्रतिनिधि कहा जा सकता है, पर पक्षशब्द प्रयुक्त नहीं है। प्रशस्तपादभाष्यमें[४] यद्यपि न्यायभाष्यकारकी तरह धर्मी और न्यायसूत्रकी तरह प्रतिज्ञा दोनों शब्द एकत्र उपलब्ध हैं। तथा लिंगको त्रिरूप बतलाकर उन तीनों रूपोंका प्रतिपादन काश्यपके नामसे दो कारिकाएँ उद्धृत करके किया है।[५] किन्तु उन तीन रूपोंमें भी पक्ष और धर्मपक्षता शब्दोंका प्रयोग नहीं है।[६] हाँ, 'अनुमेय सम्बद्धलिंग' शब्द अवश्य पक्षधर्मका बोधक है। पर 'पक्षधर्म' शब्द स्वयं उपलब्ध नहीं है।

पक्ष और पक्षधर्मता शब्दोंका स्पष्ट प्रयोग, सर्वप्रथम सम्भवतः बौद्ध तार्किक शंकरस्वामीके न्यायप्रवेशमें[७] हुआ है। इसमें पक्ष, सपक्ष, विपक्ष, पक्षवचन, पक्षधर्म, पक्षधर्मवचन और पक्षधर्मत्व ये सभी शब्द प्रयुक्त हुए हैं। साथमें उनका स्वरूप-विवेचन भी किया है। जो धर्मीके रूपमें प्रसिद्ध है वह पक्ष है। 'शब्द अनित्य है' ऐसा प्रयोग पक्षवचन है। 'क्योंकि वह कृतक है' ऐसा वचन पक्षधर्म (हेतु) वचन है। 'जो कृतक होता है वह अनित्य होता है, यथा घटादि' इस प्रकारका वचन सपक्षानुगम (सपक्षसत्त्व) वचन है। 'जो नित्य होता है वह अकृतक देखा गया है, यथा आकाश' यह व्यतिरेक (विपक्षासत्त्व) वचन है। इस प्रकार हेतुको त्रिरूप प्रतिपादन करके उसके तीनों रूपोंका भी स्पष्टीकरण किया है। वे तीन रूप है—१ पक्षधर्मत्व,

१. पक्षधर्मत्वहीनोऽपि गमकः कृत्तिकोदयः।
अन्तर्व्याप्तेरतः सैव गमकत्वप्रसाधनी ॥ —वादीभसिंह, स्या० सि० ४।८३-८४।

२. साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा। —अक्षपाद, न्यायसू० १।१।३३।

३. प्रज्ञापनीयेन धर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्य परिग्रहवचनं प्रतिज्ञा साध्यनिर्देशः अनित्यः शब्द इति।—वात्स्यायन, न्यायभा० १।१।३३ तथा १।१।३४।

४. अनुमेयोद्देशोऽविरोधी प्रतिज्ञा। प्रतिपिपादयिषितधर्मविशिष्टस्य धर्मिणोऽपदेश-विषयमापादयितुमुद्देशमात्रं प्रतिज्ञा।''''।—प्रशस्तपाद, वैशि० भाष्य पृष्ठ ११४।

५. यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते।
तदभावे च नास्त्येव तल्लिंगमनुमापकम् ॥ —वही, पृष्ठ १००।

६. प्रश० भा०, पृ० १००।

७. पक्षः प्रसिद्धो धर्मी....। हेतुस्त्रिरूपः। किं पुनस्त्रैरूप्यम्? पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं विपक्षे चासत्त्वमिति।... तद्यथा। अनित्यः शब्द इति पक्षवचनम्। कृतकत्वादिति पक्षधर्मवचनम्। यत्कृतकं तदनित्यं दृष्टं तथा घटादिरिति सपक्षानुगमवचनम्। यन्नित्यं तदकृतकं दृष्टं तथाऽऽकाशमिति व्यतिरेकवचनम्। —शंकरस्वामी, न्यायप्र० पृष्ठ १-२।

२ सपक्षसत्त्व, और ३ विपक्षासत्त्व। ध्यान रहे, यहाँ 'पक्षधर्मत्व' पक्षधर्मताके लिए ही आया है। प्रशस्तपादने जिस तथ्यको 'अनुमेयसम्बद्धत्व' शब्दसे प्रकट किया है उसे न्यायप्रवेशकारने 'पक्षधर्मत्व' शब्द द्वारा बतलाया है। तात्पर्य यह कि प्रशस्तपादके मतसे हेतुके तीन रूपोमे परिगणित प्रथम रूप 'अनमेय-सम्बद्धत्व' है और न्यायप्रवेशके अनुसार 'पक्षधर्मत्व'। दोनोंमे केवल शब्दभेद है, अर्थभेद नहीं। उत्तरकालमें तो प्राय सभी भारतीय तार्किकोंके द्वारा तीन रूपों अथवा पाँच रूपोंके अन्तर्गत पक्षधर्मत्वका बोधक पक्ष-धर्मत्व या पक्षधर्मता पद ही अभिप्रेत हुआ है। उद्योतकर[1], वाचस्पति[2], उदयन,[3] गगेश[4], केशव[5] प्रभृति वैदिक नैयायिकों तथा धर्मकीर्ति[6], धर्मोत्तर[7], अर्चट[8] आदि बौद्ध तार्किकोंने अपने ग्रन्थोमे उसका प्रतिपादन किया है। पर जैन नैयायिकोंने[9] पक्षधर्मतापर उतना बल नही दिया, जितना व्याप्तिपर दिया है। सिद्धसेन[10], अकलंक[11], विद्यानन्द[12], वादीभसिंह[13] आदिने तो उसे अनावश्यक एवं व्यर्थ भी बतलाया है। उनका मन्तव्य[14] है कि 'कल सूर्यका उदय होगा, क्योंकि वह आज उदय हो रहा है', 'कल शनिवार होगा, क्योकि आज शुक्रवार है', 'ऊपर देशमे वृष्टि हुई है, क्योंकि अधोदेशमें प्रवाह दृष्टिगोचर हो रहा है', 'अद्वैतवादीको भी प्रमाण इष्ट हैं, क्योंकि इष्टका साधन और अनिष्टका दूषण अन्यथा नही हो सकता' जैसे प्रचुर हेतु पक्ष-धर्मताके अभावमे भी मात्र अन्तर्व्याप्तिके बलपर साध्यके अनुमापक है।

(ख) व्याप्ति :

अनुमानका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य अग व्याप्ति है। इसके होनेपर ही साधन साध्यका गमक होता है, उसके अभावमें नही। अतएव इसका दूसरा नाम 'अविनाभाव' भी है। देखना है कि इन दोनों शब्दोंका प्रयोग कबसे आरम्भ हुआ है।

अक्षपादके[15] न्यायसूत्र और वात्स्यायनके[16] न्यायभाष्यमे न व्याप्ति शब्द उपलब्ध होता है और न अविनाभाव। न्यायभाष्यमें[17] मात्र इतना मिलता है कि लिंग और लिंगीमे सम्बन्ध होता है अथवा वे सम्बद्ध

---

१. उद्योतकर, न्यायवा० १।१।३५, पृष्ठ १२९, १३१।
२. वाचस्पति, न्यायवा० ता० टी० १।१।१५, पृष्ठ १७१।
३. उदयन, किरणा०, पृष्ठ २९०, २९४।
४. त० चि० जागदी० टी० पृ० १३, ७१।
५. केशव मिश्र, तर्कभा०, अनु० निरू०, पृष्ठ ८८, ८९।
६-७. धर्मकीर्ति, न्यायबि०, द्वि० परि० पृष्ठ २२।
८. अर्चट, हेतुबि० टी०, पृष्ठ २४।
९. न्यायवि० १।१७६।
१०. सिद्धसेन, न्यायाव० का० २०।
११. न्यायवि० २।२२१।
१२. प्रमाणपरी० पृष्ठ ४९।
१३. वादीभसिंह, स्या० सि० ४।८७।
१४. अकलंक, लघीय० १।३।१४।
१५. न्यायसू० १।१।५, ३४, ३५।
१६. न्यायभा० १।१।५, ३४, ३५।
१७. लिंगलिंगिनोः सम्बन्धदर्शनं लिंगदर्शनं चाभिसम्बध्यते। लिंगलिंगिनोः सम्बद्धयोर्दर्शनेन लिंगस्मृतिरभिसम्बध्यते। —न्यायभा० १।१।५।

होते हैं। पर वह सम्बन्ध व्याप्ति अथवा अविनाभाव है, इसका वहाँ कोई निर्देश नहीं है। गौतमके हेतु-लक्षणप्रदर्शक सूत्रोंसे[1] भी केवल यही ज्ञात होता है कि हेतु वह है जो उदाहरणके साधर्म्य अथवा वैधर्म्यसे साध्यका साधन करे। तात्पर्य यह कि हेतुको पक्षमें रहनेके अतिरिक्त सपक्षमे विद्यमान और विपक्षसे व्यावृत्त होना चाहिए, इतना ही अर्थ हेतुलक्षणसूत्रसे ध्वनित होता हैं, हेतुको व्याप्त (व्याप्तिविशिष्ट या अविनाभावी) भी होना चाहिए, इसका उनसे कोई संकेत नहीं मिलता। उद्योतकरके[2] न्यायवार्तिकमें अविनाभाव और व्याप्ति दोनों शब्द प्राप्त हैं। पर उद्योतकरने उन्हे परमतके रूपमें प्रस्तुत किया है तथा उनकी आलोचना भी की है। इससे प्रतीत होता है कि न्यायवार्तिककारको भी न्यायसूत्रकार और न्यायभाष्यकारकी तरह अविनाभाव और व्याप्ति दोनों अमान्य हैं। उल्लेख्य है कि उद्योतकर अविनाभाव और व्याप्तिकी आलोचना (न्यायवा० १।१।५, पृष्ठ ५४, ५५) कर तो गये। पर स्वकीय सिद्धान्तकी व्यवस्थामे उनका उपयोग उन्होंने असन्दिग्ध रूपमे किया है[3]। उनके परवर्ती वाचस्पति मिश्रने[4] अविनाभावको हेतुके पाँच रूपोंमें समाप्त कहकर उसके द्वारा ही समस्त हेतुरूपोंका सग्रह किया है। किन्तु उन्होंने भी अपने कथनको परम्परा-विरोधी समझकर अविनाभावका परित्याग कर दिया है और उद्योतकरके अभिप्रायानुसार पक्षधर्मत्वादि पाँच हेतुरूपोको ही महत्त्व दिया है, अविनाभावको नहीं। जयन्त भट्टने[5] अविनाभावको स्वीकार करते हुए भी उसे पक्षधर्मत्वादि पाँच रूपोंमें समाप्त बतलाया है।

इस प्रकार वाचस्पति और जयन्त भट्टके द्वारा स्पष्टतया अविनाभाव और व्याप्तिका प्रवेश न्याय-परम्परामें हो गया तो उत्तरवर्ती न्यायग्रन्थकारोंने उन्हें अपना लिया और उनकी व्याख्याएँ आरम्भ कर दी। यही कारण है कि बौद्ध तार्किकों द्वारा मुख्यतया प्रयुक्त अनन्तरीयक (या नान्तरीयक) तथा प्रतिबन्ध और जैन तर्कग्रन्थकारों द्वारा प्रधानतया प्रयोगमे आने वाले अविनाभाव एवं व्याप्ति जैसे शब्द उद्योतकरके

१ उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः। तथा वैधर्म्यात्। —न्यायसू० १।१।३४, ३५।

२. (क) अविनाभावेन प्रतिपादयतीति चेत्। अथापीदं स्यात् अविनाभावोऽग्निधूमयोरतो धूमदर्शनादग्निं प्रतिपद्यत इति। तन्न। विकल्पानुपपत्तेः। अग्निधूमयोरविनाभाव इति कोऽर्थः? किं कार्यकारणभावः उतैकार्थसमवायः तत्सम्बन्धमात्रं वा।....।—उद्योतकर, न्यायवा० १।१।५, पृष्ठ ५०, चौखम्भा, काशी, १९१६ ई०।

(ख) अथोत्तरमवधारणमवगम्यते तस्य व्याप्तिरर्थः तथाप्यनुमेयमवधारितं व्याप्त्या न धर्मो, यत एव करणं ततोऽन्यत्रावधारणमिति। सम्भवव्याप्त्या चानुमेयं नियतं....।—वही, १।१।५, पृष्ठ ५५, ५६।

३. (क) सामान्यतोदृष्टं नाम अकार्यकारणीभूतेन यत्राविनाभाविना विशेषणेन विशेष्यमाणो धर्मी गम्यते तत् सामान्यतोदृष्ट यथा बलाकया सलिलानुमानम्।—न्यायवा० १।१।५, पृ० ४७।

(ख) प्रसिद्धमिति पक्षे व्यापक, सदिति सजातीयेऽस्ति, असन्दिग्धमिति सजातीयाविनाभावि।—वही, १।१।१५, पृष्ठ ४९।

४. यद्यप्यविनाभावः पंचसु चतुर्षु वा रूपेषु लिंगस्य समाप्यते इत्यविनाभावेनैव सर्वाणि लिंगरूपाणि संगृह्यन्ते, तथापीह प्रसिद्धसच्छब्दाभ्यां द्वयोः संग्रहे गोवलीबर्दन्यायेन तत्परित्यज्य विपक्षव्यतिरेकासत्प्रतिपक्षत्वाबाधितविषयत्वानि संगृह्णाति।—न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृष्ठ १७८, चौखम्भा. १९२५ ई०।

५. एतेषु पंचलक्षणेषु अविनाभावः समाप्यते। —न्यायकलिका पृष्ठ २।

बाद न्यायदर्शनमें समाविष्ट हो गये एवं उन्हे एक-दूसरेका पर्याय माना जाने लगा। जयन्त भट्टने[1] अविनाभावका स्पष्टीकरण करनेके लिए व्याप्ति, नियम, प्रतिबन्ध और साध्याविनाभावित्वको उसीका पर्याय बतलाया है। वाचस्पति मिश्र[2] कहते हैं कि हेतुका कोई भी सम्बन्ध हो उसे स्वाभाविक एवं नियत होना चाहिये और स्वाभाविकका अर्थ वे उपाधिरहित बतलाते हैं। इस प्रकारका हेतु ही गमक होता है और दूसरा सम्बन्धी (साध्य) गम्य। तात्पर्य यह कि उनका अविनाभाव या व्याप्तिशब्दोंपर जोर नहीं है। पर उदयन[3], केशव मिश्र[4], अन्नम्भट्ट[5], विश्वनाथ पंचानन[6] प्रभृति नैयायिकोंने व्याप्ति शब्दको अपनाकर उसीका विशेष व्याख्यान किया है तथा पक्षधर्मताके साथ उसे अनुमानका प्रमुख अंग बतलाया हैं। गंगेश और उनके अनुवर्ती वर्द्धमान उपाध्याय, पक्षधरमिश्र, वासुदेव मिश्र, रघुनाथ शिरोमणि, मथुरानाथ तर्कवागीश, जगदीश तर्कालंकार, गदाधर भट्टाचार्य आदि नव्य नैयायिकोंने[7] व्याप्तिपर सर्वाधिक चिन्तन और निबन्धन किया है। गङ्गेशने तत्त्वचिन्तामणिमें अनुमानलक्षण[8] प्रस्तुत करके उसके व्याप्ति[9] और पक्षधर्मता[10] दोनों अंगोंका नव्यपद्धतिसे विवेचन किया है।

प्रशस्तपाद-भाष्यमें[11] भी अविनाभावका प्रयोग उपलब्ध होता है। उन्होंने अविनाभूत लिंगको लिंगीका गमक बतलाया है। पर वह उन्हे त्रिलक्षणरूप ही अभिप्रेत है।[12] यही कारण है कि टिप्पणकारने[13] अविनाभावका अर्थ 'व्याप्ति' एवं 'अव्यभिचरित सम्बन्ध' दे करके भी शंकरमिश्र द्वारा किये गये अविनाभावके खण्डनसे सहमति प्रकट की है और '**वस्तुतस्त्वनौपाधिकसम्बन्ध एव व्याप्ति**.'[14] इस उदयनोक्त[15] व्याप्तिलक्षणको ही मान्य किया है। इससे प्रतीत होता है कि अविनाभावकी मान्यता वैशेषिकदर्शनकी भी स्वोपज्ञ एवं मौलिक नहीं है।

---

१. अविनाभावो व्याप्तिर्नियमः प्रतिबन्धः साध्याविनाभावित्वमित्यर्थः।—न्यायकलि० पृ० २।

२. तस्माद्यो वा स वाऽस्तु, सम्बन्धः, केवलं यस्यासौ स्वाभाविको नियतः स एव गमको गम्यश्चेतरः सम्बन्धीति युज्यते। तथा हि धूमादीनां वह्न्यादिसम्बन्धः स्वाभाविकः न तु वह्न्यादीनां धूमादिभिः।.... तस्मादुपाधि प्रयत्नेनान्विष्यन्तोऽनुपलभमाना नास्तीत्यवगम्य स्वाभाविकत्वं सम्बन्धस्य निश्चिनुमः। —न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृ० १६५।

३. किरणा० पृ० २९०, २९४, २९५-३०२।

४. तर्कभा० पृ० ७२, ७८, ८२, ८३, ८८।

५. तर्कसं० पृ० ५२-५७।

६. सि० मु० का० ६८, पृ० ५१-५५।

७. इनके ग्रन्थोद्धरण विस्तारभयसे यहाँ अप्रस्तुत है।

८. त० चि० अनु० खण्ड, पृ० १३।

९. वही, पृ० ७७-८२, ८६-८९, १७१-२०८, २०९-४३२।

१०. वही, अनु० ख० पृ० ६२३-६३१।

११-१२. प्र० भा०, पृ० १०३ तथा १००।

१३. वही, दुण्ढिराज शास्त्री, टिप्प० पृ० १०३।

१४. प्र० भा० टिप्प० पृ० १०३।

१५. किरणा० पृ० २९७।

कुमारिलके मीमांसाश्लोकवार्तिकमें[1] व्याप्ति और अविनाभाव दोनों शब्द मिलते हैं। पर उनके पूर्व न जैमिनिसूत्रमें वे हैं और न शाबर-भाष्यमें।

बौद्ध तार्किक शंकरस्वामीके न्यायप्रवेशमें[2] भी अविनाभाव और व्याप्ति शब्द नहीं हैं। पर उनके अर्थका बोधक नान्तरीयक (अनन्तरीयक) शब्द पाया जाता है। धर्मकीर्ति[3], धर्मोत्तर[4], अर्चट[5] आदि बौद्ध नैयायिकोंने अवश्य प्रतिबन्ध और नान्तरीयक शब्दोंके साथ इन दोनोंका भी प्रयोग किया है। इनके पश्चात् तो उक्त शब्द बौद्ध तर्कग्रन्थोंमें बहुलतया उपलब्ध हैं।

तब प्रश्न है कि अविनाभाव और व्याप्तिका मूल स्थान क्या है? अनुसन्धान करनेपर ज्ञात होता है कि प्रशस्तपाद और कुमारिलसे पूर्व जैन तार्किक समन्तभद्रने[6], जिनका समय[7] विक्रमकी २री, ३री शती माना जाता है, अस्तित्वको नास्तित्वका और नास्तित्वको अस्तित्वका अविनाभावी बतलाते हुए अविनाभावका व्यवहार किया है। एक-दूसरे स्थलपर[8] भी उन्होंने उसे स्पष्ट स्वीकार किया है। और इस प्रकार अविनाभावका निर्देश मान्यताके रूपमें सर्वप्रथम समन्तभद्रने किया जान पड़ता है। प्रशस्तपादकी तरह उन्होंने उसे त्रिलक्षणरूप स्वीकार नहीं किया। उनके पश्चात् तो वह जैन परम्परामें हेतुलक्षणरूपमें ही प्रतिष्ठित हो गया। पूज्यपादने[9], जिनका अस्तित्व-समय ईसाकी पाँचवी शताब्दी है, अविनाभाव और व्याप्ति दोनों शब्दोंका प्रयोग किया है। सिद्धसेन[10], पात्रस्वामी[11], कुमारनन्दि[12], अकलंक[13], माणिक्यनन्दि[14] आदि जैन तर्कग्रंथकारोंने अविनाभाव, व्याप्ति और अन्यथानुपपत्ति या अन्यथानुपपन्नत्व तीनोंका व्यवहार पर्याय-शब्दोंके रूपमें किया है। जो (साधन) जिस (साध्य)के बिना उपपन्न न हो उसे अन्यथानुपपन्न कहा गया है।[15] असम्भव नहीं कि शाबरभाष्यगत[16] अर्थापत्त्युत्थापक अन्यथानुपपद्यमान और प्रभाकरकी बृहतीमें[17] उसके लिए प्रयुक्त अन्यथानुपपत्ति शब्द अर्थापत्ति और अनुमानको अभिन्न मानने वाले जैन तार्किकोंसे अप-

१. मी० श्लोक अनु० खं० श्लो० ४, १२, ४३ तथा १६१।
२. न्या० प्र० पृ० ४, ५।
३. प्रमाणवा० १.३, १।३२ तथा न्यायबि० पृ० ३०, ९३। हेतुबि० पृ० ५४।
४. न्यायबि० टी० पृ० ३०।
५ हेतुबि० टी० पृ० ७, ८, १०, ११ आदि।
६. श्री जुगलकिशोर मुख्तार, स्वामी समन्तभद्र पृ० १६६।
७. अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि। नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि।
—आप्तमी० का० १७, १८।
८. धर्मधर्म्यविनाभावः सिद्धयत्यन्योन्यवीक्षया।—वही, का० ७५।
९. स० सि० ५।१८, १०।४।
१०. न्यायाव० १३, १८, २०, २२।
११ तत्त्वसं० प० ४०६ पर उद्धृत 'अन्यथानुपपन्नत्वं' आदि कारि०।
१२. प्र० प० पृ० ४९ में उद्धृत 'अन्यथानुपपत्त्येकलक्षण' आदि कारि०।
१३. न्या० वि० २।१८७, ३२३, ३२७, ३२९।
१४ परी० मु० ३।११, १५, १६, ९४, ९५, ९६।
१५. साधन प्रकृताभावेऽनुपपन्नं—।—न्यायवि० २।६९, तथा प्रमाणसं० २१।
१६. अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थकल्पना।—शाबरभा० १।१।५, बृहती पृ० ११०।
१७. केयमन्यथानुपपत्तिर्नाम? ''न हि अन्यथानुपपत्तिः प्रत्यक्षसमधिगम्या।—बृहती पृ० ११०, १११।

नाये गये हों, क्योंकि ये शब्द जैन न्यायग्रंथोंमें अधिक प्रचलित एवं प्रयुक्त मिलते हैं और शान्तरक्षित[1] आदि प्राचीन तार्किकोंने उन्हें पात्रस्वामीका मत कह कर उद्धृत तथा समालोचित किया है। अतः उनका उद्गम जैन तर्कग्रन्थोंसे बहुत कुछ सम्भव है।

प्रस्तुत अनुशीलनसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि न्याय, वैशेषिक और बौद्ध दर्शनोंमें आरम्भमें पक्षधर्मता (सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति सहित) को तथा मध्यकाल और नव्ययुगमें पक्षधर्मता और व्याप्ति दोनोंको अनुमानका आधार माना गया है। पर जैन तार्किकोंने आरम्भसे अन्त तक पक्षधर्मता (अन्य दोनों रूपों सहित) को अनावश्यक तथा एकमात्र व्याप्ति (अविनाभाव, अन्यथानुपपन्नत्व) को अनुमानका अपरिहार्य अंग बतलाया है।

अनुमान-भेद

प्रश्न है कि यह अनुमान कितने प्रकारका माना गया है? अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि सर्व प्रथम कणादने[2] अनुमानके प्रकारोंका निर्देश किया है। उन्होंने उसकी कण्ठतः सख्याका तो उल्लेख नहीं किया, किन्तु उसके प्रकारोंको गिनाया है। उनके परिगणित प्रकार निम्न हैं—(१) कार्य, (२) कारण, (३) सयोगी, (४) विरोधि और (५) समवायि। यतः हेतुके पाँच भेद हैं, अतः उनसे उत्पन्न अनुमान भी पाँच हैं।

न्यायसूत्र[3], उपायहृदय[4], चरक[5] 'सांख्यकारिका[6] और अनुयोगद्वारसूत्रमें[7] अनुमानके पूर्वोल्लिखित पूर्ववत् आदि तीन भेद बताये हैं। विशेष यह कि चरकमें त्रित्वसंख्याका उल्लेख है, उनके नाम नही दिये। सांख्यकारिकामें भी त्रिविधत्वका निर्देश है और केवल तीसरे सामान्यतोदृष्टका नाम है।[8] किन्तु माठर[9] तथा युक्तिदीपिकाकार[10] ने तीनोंके नाम दिये हैं और वे उपर्युक्त ही हैं। अनुयोगद्वारमे प्रथम दो भेद तो वही हैं, पर तीसरेका नाम सामान्यतोदृष्ट न होकर दृष्टसाधर्म्यवत् नाम है।

इस विवेचनसे ज्ञात होता है कि तार्किकोंने उस प्राचीन कालमें कणादकी पंचविध अनुमान-परम्पराको नहीं अपनाया, किन्तु पूर्ववदादि त्रिविध अनुमानकी परम्पराको स्वीकार किया है। इस परम्पराका मूल क्या है? न्यायसूत्र है या अनुयोगसूत्र आदिमेंसे कोई एक? इस सम्बन्धमें निर्णयपूर्वक कहना कठिन है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उस समय पूर्वागत त्रिविध अनुमानकी कोई सामान्य परम्परा रही है जो अनुमान-चर्चामें वर्तमान थी और जिसके स्वीकारमे किसीको सम्भवतः विवाद नही था।

पर उत्तरकालमें यह त्रिविध अनुमान-परम्परा भी सर्वमान्य नही रह सकी। प्रशस्तपादने[11] दो तरहसे

१. तत्त्वस० पृ० ४०५-४०८।
२. वैशे० सू० ९।२।१।
३. न्यायसू० १।१।५।
४. उपायहृ० पृ० १३।
५. चरकसूत्रस्थान ११।२१, २२।
६. सां० का०, का० ५।
७. मुनि कन्हैयालाल, अनुयो० सू० पृ० ५३९।
८. सां० का०, का० ६।
९. माठरवृ०, का० ५।
१०. युक्तिदी०, का० ५, पृ० ४३, ४४।
११. प्रश० भा०, पृ० १०४, १०६, ११३।

अनुमान-भेद बतलाये हैं—१ दृष्ट और २ सामान्यतोदृष्ट। अथवा १. स्वनिश्चितार्थानुमान और परार्थानुमान। मीमांसादर्शनमें शबरने[1] प्रशस्तपादके प्रथमोक्त अनुमानद्वैविध्यको ही कुछ परिवर्तनके साथ स्वीकार किया है—१ प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्ध और २ सामान्यतोदृष्टसम्बन्ध। सांख्यदर्शनमें वाचस्पतिके[2] अनुसार वीत और अवीत ये दो भेद भी मान लिये हैं। वीतानुमानको उन्होंने पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट द्विविधरूप और अवीतानुमानको शेषवत्‌रूप मानकर उक्त अनुमानत्रैविध्यके साथ समन्वय भी किया है। ध्यातव्य है कि सांख्योंकी सप्तविध अनुमान-मान्यताका भी उल्लेख उद्योतकर[3], वाचस्पति[4] और प्रभाचन्द्रने[5] किया है। पर वह हमें सांख्यदर्शनके उपलब्ध ग्रन्थोंमें प्राप्त नहीं हो सकी। प्रभाचन्द्रने तो प्रत्येकका स्वरूप और उदाहरण देकर उन्हें स्पष्ट भी किया है।

आगे चलकर जो सर्वाधिक अनुमानभेद-परम्परा प्रतिष्ठित हुई वह है प्रशस्तपादकी उक्त—१ स्वार्थ और २ परार्थभेदवाली परम्परा। उद्योतकरने[6] पूर्ववदादि अनुमानत्रैविध्यकी तरह केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी इन तीन नये अनुमानभेदोंका भी प्रदर्शन किया है। किन्तु उन्होंने और उनके उत्तरवर्ती वाचस्पति तकके नैयायिकोंने प्रशस्तपादनिर्दिष्ट उक्त स्वार्थ-परार्थके अनुमानद्वैविध्यको अंगीकार नहीं किया। पर जयन्तभट्ट[7] और उनके पश्चात्‌वर्ती केशव मिश्र[8] आदिने उक्त अनुमानद्वैविध्यको मान लिया है।

बौद्ध दर्शनमें दिङ्नागसे पूर्व उक्त द्वैविध्यको परम्परा नहीं देखी जाती। परन्तु दिङ्नागने[9] उसका प्रतिपादन किया है। उनके पश्चात् तो धर्मकीर्ति[10] आदिने इसीका निरूपण एवं विशेष व्याख्यान किया है।

जैन तार्किकोंने[11] इसी स्वार्थ-परार्थ अनुमानद्वैविध्यको अंगीकार किया है और अनुयोगद्वारादिप्रतिपादित अनुमानत्रैविध्यको स्थान नहीं दिया, प्रत्युत उसकी समीक्षा की है।[12]

इस प्रकार अनुमान-भेदोंके विषयमें भारतीय तार्किकोंकी विभिन्न मान्यताएँ तर्कग्रन्थोंमें उपलब्ध होती हैं। तथ्य यह कि कणाद जहाँ साधनभेदसे अनुमानभेदका निरूपण करते हैं वहाँ न्यायसूत्र आदिमें

---

१ शाबरभा० १।१।५, पृष्ठ ३६।
२ सां० त० कौ० का० ५, पृ० ३०-३२।
३. न्यायवा० १।१।५, पृष्ठ ५७।
४. न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृष्ठ १६५।
५. न्यायकु० च० ३।१४, पृष्ठ ४६२।
६. न्यायवा० १।१।५, पृष्ठ ४६।
७. न्यायमं पृष्ठ १३०, १३१।
८. तर्कभा० पृ० ७९।
९. प्रमाणसमु० २।१।
१०. न्यायबि० पृ० २१, द्वि० परि०।
११. सिद्धसेन, न्यायाव० का० १०। अकलंक, सि० वि० ६।२, पृष्ठ ३७३,। विद्यानन्द, प्र० प० पृ० ५८। माणिक्यनन्दि, परी० मु० ३।५२, ५३। देवसूरि, प्र० न० त० ३।९, १०,। हेमचन्द्र, प्रमाणमी० १।२।८, पृष्ठ ३९ आदि।
१२. अकलंक, न्यायविनि० ३४१, ३४२,। स्याद्वादर० पृष्ठ ५२७। आदि।

विषयभेद तथा प्रशस्तपादभाष्य आदिमें प्रतिपत्ताभेदसे अनुमान-भेदका प्रतिपादन ज्ञात होता है। साधन अनेक हो सकते हैं, जैसा कि प्रशस्तपादने[1] कहा है, अतः अनुमानके भेदोंकी संख्या पाँचसे अधिक भी हो सकती है। न्यायसूत्रकार आदिकी दृष्टिमें चूँकि अनुमेय या तो कार्य होगा, या कारण या अकार्यकारण। अतः अनुमेयके त्रैविध्यसे अनुमान त्रिविध है। प्रशस्तपाद द्विविध प्रतिपत्ताओंकी द्विविध प्रतिपत्तियोंकी दृष्टिसे अनुमानके स्वार्थ और परार्थ दो ही भेद मानते हैं, जो बुद्धिको लगता है, क्योंकि अनुमान एक प्रकारकी प्रतिपत्ति है और वह स्व तथा पर दोके द्वारा की जाती है। सम्भवतः इसीसे उत्तरकालमें अनुमानका स्वार्थ-परार्थद्वैविध्य सर्वाधिक प्रतिष्ठित और लोकप्रिय हुआ।

अनुमानावयव :

अनुमानके तीन उपादान हैं,[2] जिनसे वह निष्पन्न होता है—१, साधन, २. साध्य और ३ धर्मी। अथवा[3] १. पक्ष और २. हेतु ये दो उसके अंग हैं, क्योंकि साध्यधर्म विशिष्ट धर्मीको पक्ष कहा गया है। अतः पक्षको कहनेसे धर्म और धर्मी दोनोंका ग्रहण हो जाता है। साधन गमकरूपसे उपादान है, साध्य गम्यरूपसे और धर्मी साध्यधर्मके आधाररूपसे, क्योंकि किसी आधार-विशेषमें साध्यकी सिद्धि करना अनुमानका प्रयोजन है। सच यह है कि केवल धर्मकी सिद्धि करना अनुमानका ध्येय नहीं है, क्योंकि वह व्याप्ति-निश्चयकालमें ही अवगत हो जाता है और न केवल धर्मीकी सिद्धि अनुमानके लिये अपेक्षित है, क्योंकि वह सिद्ध रहता है। किन्तु 'पर्वत अग्निवाला है' इस प्रकार पर्वतमें रहने वाली अग्निका ज्ञान करना अनुमानका लक्ष्य है। अतः धर्मी भी साध्यधर्मके आधाररूपसे अनुमानका अंग है। इस तरह साधन, साध्य और धर्मी ये तीन अथवा पक्ष और हेतु ये दो स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान दोनोंके अंग हैं। कुछ अनुमान ऐसे भी होते हैं जहाँ धर्मी नहीं होता। जैसे—सोमवारसे मंगलवारका अनुमान आदि। ऐसे अनुमानोंमें साधन और साध्य दो ही अंग हैं।

उपर्युक्त अंग स्वार्थानुमान और ज्ञानात्मक परार्थानुमानके कहे गये हैं। किन्तु वचनप्रयोग द्वारा प्रतिवादियों या प्रतिपाद्योंको अभिधेय-प्रतिपत्ति कराना जब अभिप्रेत होता है तब वह वचनप्रयोग परार्थानुमान-वाक्यके नामसे अभिहित होता है और उसके निष्पादक अंगोंको अवयव कहा गया है। परार्थानुमान-वाक्यके कितने अवयव होने चाहिए, इस सम्बन्धमें तार्किकोंके विभिन्न मत हैं। न्यायसूत्रकार[4] का मत है कि परार्थानुमान वाक्यके पाँच अवयव हैं—१. प्रतिज्ञा २. हेतु, ३. उदाहरण, ४. उपनय और ५. निगमन। भाष्यकारने[5] सूत्रकारके इस मतका न केवल समर्थन ही किया है, अपितु अपने कालमें प्रचलित दशावयव-मान्यताका निरास भी किया है। वे दशावयव हैं—उक्त ५ तथा ६. जिज्ञासा, ७. संशय, ८ शक्यप्राप्ति, ९. प्रयोजन और १०. संशयव्युदास।

यहाँ प्रश्न है कि ये दश अवयव किनके द्वारा माने गये हैं? भाष्यकारने उन्हें **'दशावयवानेके नैयायिका वाक्ये सञ्चक्षते[6]'** शब्दों द्वारा 'किन्हीं नैयायिकों' की मान्यता बतलाई है। पर मूल प्रश्न असमाधेय ही रहता है।

हमारा अनुमान है कि भाष्यकारको 'एके नैयायिकाः' पदसे प्राचीन सांख्यविद्वान् युक्तिदीपिकाकार

---

१. प्रश० भा० पृ० १०४।

२. धर्मभूषण, न्यायदी० तृ० प्रकाश पृ० ७२।

३. वही, पृष्ठ ७२–७३।

४. न्यायसू० १।१।३२।   ५-६. न्याभा० १।१।३२, पृष्ठ ४७।

अभिप्रेत हैं, क्योंकि युक्तिदीपिकामें[1] उक्त दशावयवोंका न केवल निर्देश है किन्तु स्वमतरूपमें उनका विशद एवं विस्तृत व्याख्यान भी है। युक्तिदीपिकाकार उन अवयवोंको बतलाते हुए प्रतिपादन करते हैं[2] कि 'जिज्ञासा, संशय, प्रयोजन, शक्यप्राप्ति और संशयव्युदास ये पाँच अवयव व्याख्यांग हैं तथा प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपसंहार और निगमन ये पाँच परप्रतिपादनांग। तात्पर्य यह कि अभिधेयका प्रतिपादन दूसरोंके लिए प्रतिज्ञादि द्वारा होता है और व्याख्या जिज्ञासादि द्वारा। पुनरुक्ति, वैयर्थ्य आदि दोषोंका निरास करते हुए युक्तिदीपिकामें कहा गया है[3] कि विद्वान् सबके अनुग्रहके लिए जिज्ञासादिका अभिधान करते हैं। यतः व्युत्पाद्य अनेक तरहके होते हैं—सन्दिग्ध, विपर्यस्त और अव्युत्पन्न। अतः इन सभीके लिए सन्तोंका प्रयास होता है। दूसरे, यदि प्रतिवादी प्रश्न करे कि क्या जानना चाहते हो ? तो उसके लिए जिज्ञासादि अवयवोंका वचन आवश्यक है। किन्तु प्रश्न न करे तो उसके लिए वे नहीं भी कहे जाएँ। अन्तमें निष्कर्ष निकालते हुए युक्तिदीपिकाकार[4] कहते हैं कि इसीसे हमने जो वीतानुमानके दशावयव कहे वे सर्वथा उचित हैं। आचार्य[5] (ईश्वरकृष्ण) उनके प्रयोगको न्याय-संगत मानते हैं।' इससे अवगत होता है कि दशावयवकी मान्यता युक्ति-दीपिकाकारकी रही है। यह भी सम्भव है कि ईश्वरकृष्ण या उनसे पूर्व किसी साख्य विद्वान्ने दशावयवोंको माना हो और युक्तिदीपिकाकारने उनका समर्थन किया हो।

जैन विद्वान् भद्रबाहुने[6] भी दशावयवोका उल्लेख किया है। जैसा कि पूर्वमें लिखा गया है। किन्तु उनके वे दशावयव उपर्युक्त दशावयवोसे कुछ भिन्न है।

प्रशस्तपादने[7] पाँच अवयव माने है। पर उनके अवयवनामो और न्यायसूत्रकारके अवयवनामोंमे कुछ अन्तर है। प्रतिज्ञाके स्थानमे तो प्रतिज्ञा नाम ही है। किन्तु हेतुके लिए अपदेश, दृष्टान्तके लिए निदर्शन, उपनयके स्थानमे अनुसन्धान और निगमनकी जगह प्रत्याम्नाय नाम दिये हैं। यहाँ प्रशस्तपादकी[8] एक विशेषता उल्लेखनीय है। न्यायसूत्रकारने जहाँ प्रतिज्ञाका लक्षण '**साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा**' यह किया है कि वहाँ प्रशस्तपादने '**अनुमेयोद्देशोऽविरोधी प्रतिज्ञा**' यह कहकर उसमें '**अविरोधी**' पदके द्वारा प्रत्यक्ष-विरुद्ध आदि

१-२. तस्य पुनरवयवाः—जिज्ञासा-संशय-प्रयोजन-शक्यप्राप्ति-संशयव्युदासलक्षणाश्च व्याख्यांगम् प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टान्तोपसहार-निगमनानि परप्रतिपादनागमिति। —युक्तिदी० का० ६, पृष्ठ ४७।

३. अत्र ब्रूमः—न, उक्तत्वात्। उक्तमेतत् पुरस्तात् व्याख्यागं जिज्ञासादयः। सर्वस्य चानुग्रहः कर्तव्य इत्येवमर्थं च शास्त्रव्याख्यान विपश्चिद्भिः प्रत्याय्यते, न स्वार्थं शब्दवदज्ञबुद्ध्यर्थं वा —वही, का० ६, पृष्ठ ४९।

४. 'तस्मात् सूक्तं दशावयवो वीतः। तस्य पुरस्तात् प्रयोगं न्याय्यमाचार्या मन्यन्ते।' —यु० दी० का० ६, पृष्ठ ५१।
अवयवाः पुनर्जिज्ञासादयः प्रतिज्ञादयश्च। तत्र जिज्ञासादयो व्याख्यांगम् प्रतिज्ञादयः परप्रत्यायनांगम्। तानुत्तरत्र वक्ष्यामः।' —वही० का० १ की भूमिका पृष्ठ ३।

५. युक्तिदीपिकाकारने इसी बातको आचार्य (ईश्वरकृष्ण) की कारिकाओं—१,१५, १६, ३५ और ५७ के प्रतीकों द्वारा समर्पित किया है। —यु. दी. का० १ की भूमिका पृष्ठ ३।

६. दशवै० नि० गा० ४९-१३७।

७. अवयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः। —प्रश० भा० पृ० ११४।

८. वही, पृ० ११४, ११५।

पाँच विरुद्धसाध्यों (साध्याभासों) का भी निरास किया है। न्यायप्रवेशकारने[1] भी प्रशस्तपादका अनुसरण करते हुए स्वकीय पक्षलक्षणमें 'अविरोधी' जैसा ही 'प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध' विशेषण दिया है और उसके द्वारा प्रत्यक्षविरुद्धादि साध्याभासोका परिहार किया है।

न्यायप्रवेश[2] और माठरवृत्तिमें[3] पक्ष, हेतु और दृष्टान्त ये तीन अवयव स्वीकार किये हैं। धर्मकीर्तिने[4] उक्त तीन अवयवोंमेसे पक्षको निकाल दिया है और हेतु तथा दृष्टान्त ये दो अवयव माने हैं। न्यायबिन्दु और प्रमाणवार्तिकमें उन्होंने केवल हेतुको ही अनुमानावयव माना है।[5]

मीमांसक विद्वान् शालिकानाथने[6] प्रकरणपंचिकामे, नारायण भट्टने[7] मानमेयोदयमे और पार्थसारथिने[8] न्यायरत्नाकरमे प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवोंके प्रयोगको प्रतिपादित किया है।

जैन तार्किक समन्तभद्रका संकेत तत्त्वार्थसूत्रकारके अभिप्रायानुसार पक्ष, हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवोंको माननेका ओर प्रतीत होता है। उन्होंने आप्तमीमासा (का० ६, १७, १८, २७ आदि) मे उक्त तीन अवयवोंसे साध्य-सिद्धि प्रस्तुत की है। सिद्धसेनने[9] भी उक्त तीन अवयवोका प्रतिपादन किया है। पर अकलंक[10] और उनके अनुवर्ती विद्यानन्द[11], माणिक्यनन्दि[12], देवसूरि[13], हेमचन्द्र[14], धर्मभूषण[15], यशोविजय[16] आदिने पक्ष और हेतु ये दो ही अवयव स्वीकार किये हैं और दृष्टान्तादि अन्य अवयवोंका निरास किया है। देवसूरिने[17] अत्यन्त व्युत्पन्नकी अपेक्षा मात्र हेतुके प्रयोगको भी मान्य किया है। पर साथ ही वे यह भी बतलाते हैं कि बहुलतासे एकमात्र हेतुका प्रयोग न होनेसे उसे सूत्रमे ग्रथित नहीं किया। स्मरण रहे कि जैन न्यायमें उक्त दो अवयवोंका प्रयोग व्युत्पन्न प्रतिपाद्यकी दृष्टिसे अभिहित है। किन्तु अव्युत्पन्न प्रतिपाद्योंकी

---

१. न्यायप्र० पृ० १।
२. वही, पृ० १, २।
३. माठरवृ० का० ५।
४. वादन्या० पृ० ६१। प्रमाणवा० १।१२८। न्यायबि० पृ० ९१।
५. प्रमाणवा० १,१२८। न्यायबि० पृष्ठ ९१।
६. प्र० पं० पृ० २२०।
७. मा० मे० पृ० ६४।
८. न्यायरत्ना० पृष्ठ ३६१ (मी० श्लोक० अनु० परि० श्लोक ५३)
९. न्यायाव० १३-१९।
१०. न्या० वि०, का० ३८१।
११. पत्रपरी०, पृ० १८।
१२. परीक्षामु० ३।३७।
१३. प्र० न० त० ३। २८, २३।
१४. प्र० मी० २।१।९।
१५. न्याय० दी० पृष्ठ ७६।
१६. जैनत० पृ० १६।
१७. प्र० न० त० ३।२३, पृ० ५४८।

अपेक्षासे तो दृष्टान्तादि अन्य अवयवोंका भी प्रयोग स्वीकृत है।[1] देवसूरि[2], हेमचन्द्र[3] और यशोविजयने[4] भद्रबाहुकथित पक्षादि पाँच शुद्धियोंके भी वाक्यमें समावेशका कथन किया और भद्रबाहुके दशावयवोंका समर्थन किया है।

अनुमान-दोष :

अनुमान-निरूपणके सन्दर्भमें भारतीय तार्किकोंने अनुमानके सम्भव दोषोंपर भी विचार किया है। यह विचार इसलिए आवश्यक रहा है कि उससे यह जानना शक्य है कि प्रयुक्त अनुमान सदोष है या निर्दोष? क्योंकि जब तक किसी ज्ञानके प्रामाण्य या अप्रामाण्यका निश्चय नहीं होता तब तक वह ज्ञान अभिप्रेत अर्थकी सिद्धि या असिद्धि नहीं कर सकता। इसीसे यह कहा गया है[5] कि प्रमाणसे अर्थसंसिद्धि होती है और प्रमाणाभाससे नहीं। और यह प्रकट है कि प्रामाण्यका कारण गुण हैं और अप्रामाण्यका कारण दोष। अतएव अनुमानप्रामाण्यके हेतु उसकी निर्दोषताका पता लगाना बहुत आवश्यक है। यही कारण है कि तर्कग्रन्थोंमें प्रमाण-निरूपणके परिप्रेक्ष्यमें प्रमाणाभास-निरूपण भी पाया जाता है। न्यायसूत्रमें[6] प्रमाणपरीक्षा प्रकरणमें अनुमानकी परीक्षा करते हुए उसमें दोषाशंका और उसका निरास किया गया है। वात्स्यायनने[7] अननुमान (अनुमानाभास) को अनुमान समझनेकी चर्चा द्वारा स्पष्ट बतलाया है कि दूषितानुमान भी सम्भव है।

अब देखना है कि अनुमानमें क्या दोष हो सकते हैं और वे कितने प्रकारके सम्भव हैं? स्पष्ट है कि अनुमानका गठन मुख्यतया दो अङ्गों पर निर्भर है—१ साधन और २ साध्य (पक्ष)। अतएव दोष भी साधनगत और साध्यगत दो ही प्रकारके हो सकते हैं और उन्हे क्रमशः साधनाभास तथा साध्याभास (पक्षाभास) नाम दिया जा सकता हैं। साधन अनुमान-प्रासादका वह प्रधान एवं महत्त्वपूर्ण स्तम्भ है जिसपर उसका भव्य भवन निर्मित होता है। यदि प्रधान स्तम्भ निर्बल हो तो प्रासाद किसी भी क्षण क्षतिग्रस्त एवं धराशायी हो सकता है। सम्भवतः इसीसे गौतमने[8] साध्यगत दोषोंका विचार न कर मात्र साधनगत दोषोंका विचार किया और उन्हे अवयवोंकी तरह सोलह पदार्थोंके अन्तर्गत स्वतन्त्र पदार्थका स्थान प्रदान किया है। इससे गौतमको दृष्टिमे उनकी अनुमानमे प्रमुख प्रतिबन्धकता प्रकट होती है। उन्होंने[9] उन साधनगत दोषोंको, जिन्हें हेत्वाभासके नामसे उल्लिखित किया गया है, पाँच बतलाया है। वे हैं—१. सव्यभिचार, २. विरुद्ध, ३. प्रकरणसम, ४. साध्यसम और ५. कालातीत। हेत्वाभासोंकी पाँच संख्या सम्भवतः हेतुके पाँच रूपोंके अभावपर आधारित जान पड़ती है। यद्यपि हेतुके पाँच रूपोंका निर्देश न्यायसूत्रमे उपलब्ध नहीं है। पर उसके व्याख्याकार उद्योतकर प्रभृतिने उनका उल्लेख किया है। उद्योतकरने[10]

---

१. परी० मु० ३।४६। प्र० न० त० ३।४२। प्र० मी० २।१।१०।

२. प्र० न० त० ३।४२, पृ० ५६५।

३. प्र० मी० २।१।१०, पृष्ठ ५२।

४. जैनत० भा० पृष्ठ १६।

५. प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः।—माणिक्यनन्दि, परी० मु०, प्रतिज्ञाश्लो० १।

६. न्यायसू० २।१।३८, ३९।

७. न्यायभा० २।१।३९।

८. न्यायसू० १।२।४-९।

९. सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः।—न्यायसू० १।२।४।

१०. समस्तलक्षणोपपत्तिरसमस्तलक्षणोपपत्तिश्च।—न्यायवा० १।२।४, पृष्ठ १६३।

हेतुका प्रयोजक समस्तरूपसम्पत्तिको और हेत्वाभासका प्रयोजक असमस्तरूपसम्पत्तिको बतलाकर उन रूपोंका संकेत किया है। वाचस्पतिने[1] उनकी स्पष्ट परिगणना भी कर दी है। वे पाँच रूप हैं—पक्षधर्मत्व, सपक्ष-सत्त्व, विपक्षासत्त्व, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व। इनके अभावसे हेत्वाभास पाँच ही सम्भव हैं। जयन्तभट्टने[2] तो स्पष्ट लिखा है कि एक-एक रूपके अभावमें पाँच हेत्वाभास होते हैं। न्यायसूत्रकारने एक-एक पृथक् सूत्र द्वारा उनका निरूपण किया है। वात्स्यायनने[3] हेत्वाभासका स्वरूप देते हुए लिखा है कि जो हेतुलक्षण (पंचरूप) रहित हैं परन्तु कतिपय रूपोंके रहनेके कारण हेतु-सादृश्यसे हेतुकी तरह आभासित होते हैं उन्हें अहेतु अर्थात् हेत्वाभास कहा गया है। सर्वदेवने[4] भी हेत्वाभासका यही लक्षण दिया है।

कणादने[5] अप्रसिद्ध, विरुद्ध और सन्दिग्ध ये तीन हेत्वाभास प्रतिपादित किये हैं। उनके भाष्यकार प्रशस्तपादने[6] उनका समर्थन किया है। विशेष यह है कि उन्होंने[7] काश्यपकी दो कारिकाएँ उद्धृत करके पहली द्वारा हेतुको त्रिरूप और दूसरी द्वारा उन तीन रूपोंके अभावसे निष्पन्न होनेवाले उक्त विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्ध तीन हेत्वाभासोंको बताया है। प्रशस्तपादका[8] एक वैशिष्ट्य और उल्लेख्य है। उन्होंने निदर्शनके निरूपण-सन्दर्भमें बारह निदर्शनाभासोंका भी प्रतिपादन किया है, जबकि न्यायसूत्र और न्यायभाष्यमें उनका कोई निर्देश प्राप्त नहीं है। पाँच प्रतिज्ञाभासों (पक्षाभासों) का भी कथन प्रशस्तपादने[9] किया है, जो बिल्कुल नया है। सम्भव है न्यायसूत्रमें हेत्वाभासोंके अन्तर्गत जिस कालातीत (बाधितविषय-कालात्ययापदिष्ट) का निर्देश है उसके द्वारा इन प्रतिज्ञाभासोंका संग्रह न्यायसूत्रकारको अभीष्ट हो। सर्व-देवने[10] छह हेत्वाभास बताये हैं।

उपायहृदयमें[11] आठ हेत्वाभासोंका निरूपण है। इनमें चार (कालातीत, प्रकरणसम, सव्यभिचार और विरुद्ध) हेत्वाभास न्यायसूत्र जैसे ही हैं तथा शेष चार (वाक्छल, सामान्यछल, संशयसम और वर्ण्य-सम) नये हैं। इनके अतिरिक्त इसमें अन्य दोषोंका प्रतिपादन नहीं है। पर न्यायप्रवेशमें[12] पक्षाभास, हेत्वा-भास और दृष्टान्ताभास इन तीन प्रकारके अनुमान-दोषोंका कथन है। पक्षाभासके नौ[13], हेत्वाभासके[14] तीन, दृष्टान्ताभासके[15] दश भेदोंका सोदाहरण निरूपण है। विशेष यह कि अनैकान्तिक हेत्वाभासके छह भेदोंमें

---

१. न्यायवा० ता० टी० १।२।४, पृष्ठ ३३०।

२. हेतोः पंचलक्षणानि पक्षधर्मत्वादीनि उक्तानि। तेषामेकैकापाये पंच हेत्वाभासा भवन्ति असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिक-कालात्ययापदिष्ट-प्रकरणसमाः।—न्यायकलिका पृ० १४। न्यायमं० पृ० १०१।

३. हेतुलक्षणाभावादहेतवो हेतुसामान्याद्धेतुवदाभासमानाः।—न्यायभा० १।२।४ की उत्थानिका, पृ० ६३।

४. प्रमाणमं० पृष्ठ ९।

५. वै० सू० ३।१।१५।

६. प्रश० भा० पृ० १००-१०१।

७. प्रश० भा० पृ० १००।

८. प्र० भा०, पृ० १२२, १२३।

९. वही, पृ० ११५।

१०. प्रमाणमं० पृष्ठ ९।

११. उ० हृ० पृ० १४।

१२. एषां पक्षहेतुदृष्टान्ताभासाना वचनानि साधनाभासम्।—न्या० प्र०, पृ० २-७।

१३, १४, १५. वही, २,३-७।

एक विरुद्धाव्यभिचारीका[1] भी कथन उपलब्ध होता है, जो तार्किकों द्वारा अधिक चर्चित एवं समालोचित हुआ है। न्यायप्रवेशकारने[2] दश दृष्टान्ताभासोंके अन्तर्गत उभयासिद्ध दृष्टान्ताभासको द्विविध वर्णित किया है और जिससे प्रशस्तपाद जैसी ही उनके दृष्टान्ताभासोंकी संख्या द्वादश हो जाती है। पर प्रशस्तपादोक्त द्विविध आश्रयासिद्ध उन्हें अभीष्ट नहीं है।

कुमारिल[3] और उनके व्याख्याकार पार्थसारथिने[4] मीमांसक दृष्टिसे छह प्रतिज्ञाभासों, तीन हेत्वाभासों और दृष्टान्तदोषोंका प्रतिपादन किया है। प्रतिज्ञाभासोंमें प्रत्यक्षविरोध, अनुमानविरोध और शब्दविरोध ये तीन प्रायः प्रशस्तपाद तथा न्यायप्रवेशकारकी तरह ही हैं। हाँ, शब्दविरोधके प्रतिज्ञातविरोध, लोक-प्रसिद्धिविरोध और पूर्वसंजल्पविरोध ये तीन भेद किये हैं। तथा अर्थापत्तिविरोध, उपमानविरोध और अभावविरोध ये तीन भेद सर्वथा नये हैं, जो उनके मतानुरूप हैं। विशेष[5] यह कि इन विरोधोंको धर्म, धर्मी और उभयके सामान्य तथा विशेष स्वरूपगत बतलाया गया है। त्रिविध हेत्वाभासोंके अवान्तर भेदोंका भी प्रदर्शन किया है और न्यायप्रवेशकी भाँति कुमारिलने[6] विरुद्धाव्यभिचारी भी माना है।

सांख्यदर्शनमे युक्तिदीपिका आदिमें तो अनुमानदोषोंका प्रतिपादन नही मिलता। किन्तु माठरने[7] असिद्धादि चउदह हेत्वाभासों तथा साध्यविकलादि दश साधर्म्य-वैधर्म्य निदर्शनाभासोंका निरूपण किया है। निदर्शनाभासोंका प्रतिपादन उन्होंने प्रशस्तपादके अनुसार किया है। अन्तर इतना ही है कि माठरने प्रशस्तपादके बारह निदर्शनाभासोमें दशको स्वीकार किया है और आश्रयासिद्ध नामक दो साधर्म्य-वैधर्म्य निदर्शनाभासोंको छोड़ दिया है। पक्षाभास भी उन्होंने नौ निर्दिष्ट किये हैं।

जैन परम्पराके उपलब्ध न्यायग्रन्थोंमें सर्वप्रथम न्यायावतारमें अनुमान-दोषोंका स्पष्ट कथन प्राप्त होता है। इसमे पक्षादि तीनके वचनको परार्थानुमान कहकर उसके दोष भी तीन प्रकारके बतलाए हैं[8]—१. पक्षाभास, २. हेत्वाभास और ३. दृष्टान्ताभास। पक्षाभासके सिद्ध और बाधित ये दो[9] भेद दिखाकर बाधितके प्रत्यक्षबाधित, अनुमानबाधित, लोकबाधित और स्ववचनबाधित—ये चार[10] भेद गिनाये हैं। असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक तीन[11] हेत्वाभासों तथा छह साधर्म्य और छह[12] वैधर्म्य कुल बारह दृष्टान्ताभासोका भी कथन किया है। ध्यातव्य है कि साध्यविकल, साधनविकल और उभयविकल ये तीन साधर्म्य-दृष्टान्ताभास तथा साध्याव्यावृत्त साधनाव्यावृत्त और उभयाव्यावृत्त ये तीन वैधर्म्यदृष्टान्ताभास तो प्रशस्त-

---

१. वही, पृ० ४।
२. न्यायप्र०, पृ० ७।
३. मी० श्लोक, अनु०, श्लोक० ५८-६९, १०८।
४. न्यायरत्ना०, मी० श्लोक०, अनु०, ५८-६९, १०८।
५. मी० श्लो०, अनु० परि०, श्लोक ७०, तथा व्याख्या।
६. वही, अनु० परि०, श्लोक ९२ तथा व्याख्या।
७. माठरवृ० का० ५।
८. न्यायाव० का० १३, २१-२५।
९-१०. वही, का० २१।
११. वही, का० २२, २३।
१२. वही, का० २४, २५।

पादभाष्य और न्यायप्रवेश जैसे ही हैं किन्तु सन्दिग्धसाध्य, सन्दिग्धसाधन और सन्दिग्धोभय ये तीन साधर्म्यदृष्टान्ताभास तथा सन्दिग्धसाध्यव्यावृत्ति, सन्दिग्धसाधनव्यावृत्ति और सन्दिग्धोभयव्यावृत्ति ये तीन वैधर्म्यदृष्टान्ताभास न प्रशस्तपादभाष्यमें हैं[1] और न न्यायप्रवेशमें।[2] प्रशस्तपादभाष्यमें आश्रयासिद्ध, अननुगत और विपरीतानुगत ये तीन साधर्म्य तथा आश्रयासिद्ध, अव्यावृत्त और विपरीतव्यावृत्त ये तीन वैधर्म्य-निदर्शनाभास हैं। और न्यायप्रवेशमें अनन्वय तथा विपरीतान्वय ये दो साधर्म्य और अव्यतिरेक तथा विपरीतव्यतिरेक ये दो वैधर्म्य दृष्टान्ताभास उपलब्ध हैं। पर हाँ, धर्मकीर्तिके न्यायबिन्दुमें[3] उनका प्रतिपादन मिलता है। धर्मकीर्तिने सन्दिग्धसाध्यादि उक्त तीन साधर्म्यदृष्टान्ताभासों और सन्दिग्धव्यतिरेकादि तीन वैधर्म्यदृष्टान्ताभासोंका स्पष्ट निरूपण किया है। इसके अतिरिक्त धर्मकीर्तिने न्यायप्रवेशगत अनन्वय, विपरीतान्वय, अव्यतिरेक और विपरीतव्यतिरेक इन चार साधर्म्य-वैधर्म्य दृष्टान्ताभासोंको अपनाते हुए अप्रदर्शितान्वय और अप्रदर्शितव्यतिरेक इन दो नये दृष्टान्ताभासोंको और सम्मिलित करके नव-नव साधर्म्य-वैधर्म्य दृष्टान्ताभास प्रतिपादित किये हैं।

अकलंकने[4] पक्षाभासके उक्त सिद्ध और बाधित दो भेदोंके अतिरिक्त अनिष्ट नामक तीसरा पक्षाभास भी वर्णित किया है। जब साध्य शक्य (अबाधित), अभिप्रेत (इष्ट) और असिद्ध होता है तो उसके दोष भी बाधित, अनिष्ट और सिद्ध ये तीन कहे जाएँगे। हेत्वाभासोंके सम्बन्धमें उनका मत है कि जैन न्यायमें हेतु न त्रिरूप है और न पाँच-रूप, किन्तु एकमात्र अन्यथानुपपन्नत्व (अविनाभाव) रूप है। अतः उसके अभावमें हेत्वाभास एक ही है और वह है अकिंचित्कर। असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक ये उसीका विस्तार हैं। दृष्टान्तके विषयमें उनकी मान्यता है कि वह सर्वत्र आवश्यक नहीं है। जहाँ वह आवश्यक है वहाँ उसका और उसके साध्यविकलादि दोषोंका कथन किया जाना योग्य है।

माणिक्यनन्दि[5], देवसूरि[6], हेमचन्द्र[7] आदि जैन तार्किकोंने प्रायः सिद्धसेन और अकलंकका ही अनुसरण किया है।

इस प्रकार भारतीय तर्कग्रन्थोंके साथ जैन तर्कग्रन्थोंमें भी अनुमानस्वरूप, अनुमानभेदों, अनुमानांगों, अनुमानावयवों और अनुमानदोषोंपर पर्याप्त चिन्तन उपलब्ध है।

जैन अनुमानकी उपलब्धियां

यहाँ जैन अनुमानकी उपलब्धियोंका निर्देश किया जायेगा, जिससे भारतीय अनुमानको जैन तार्किकों की क्या देन है, उन्होंने उसमें क्या अभिवृद्धि या संशोधन किया है, यह समझनेमें सहायता मिलेगी।

अध्ययनसे अवगत होता है कि उपनिषद् कालमें अनुमानकी आवश्यकता एवं प्रयोजनपर भार दिया जाने लगा था, उपनिषदोंमें '**आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**'[8] आदि वाक्यों द्वारा आत्माके श्रवणके साथ मननपर भी बल दिया गया है, जो उपपत्तियों

१. प्रश० भा०, पृ० १२३।
२. न्यायप्र०, पृ० ५-७।
३. न्याय० बि०, तृ० परि० पृष्ठ ९४-१०२।
४. न्यायविनि०, का० १७२, २९९, ३६५, ३६६, ३७०, ३८१।
५. परीक्षामु० ६।१२-५०।
६. प्रमाणन०, ६।३८-८२।
७. प्रमाणमी०, १।२।१४, २।१।१६-२७।
८. बृहदारण्य० २।४।५।

(युक्तियों) के द्वारा किया जाता था।[1] इससे स्पष्ट है कि उस कालमें अनुमानको भी श्रुतिकी तरह ज्ञानका एक साधन माना जाता था—उसके बिना दर्शन अपूर्ण रहता था। यह सच है कि अनुमानका 'अनुमान' शब्दसे व्यवहार होनेकी अपेक्षा 'वाकोवाक्यम्' 'आन्वीक्षिकी', 'तर्कविद्या', हेतुविद्या' जैसे शब्दों द्वारा अधिक होता था।

प्राचीन जैन वाङ्मयमें ज्ञानमीमांसा (ज्ञानमार्गणा) के अन्तर्गत अनुमानका 'हेतुवाद' शब्दसे निर्देश किया गया है और उसे श्रुतका एक पर्याय (नामान्तर) बतलाया गया है। तत्त्वार्थसूत्रकारने उसे **अभिनिबोध** नामसे उल्लेखित किया है। तात्पर्य यह है कि जैन दर्शनमें भी अनुमान अभिमत है तथा प्रत्यक्ष (सांव्यवहारिक और पारमार्थिक ज्ञानों) की तरह उसे भी प्रमाण एवं अर्थनिश्चायक माना गया है। अन्तर केवल उनमें वैशद्य और अवैशद्यका है। प्रत्यक्ष विशद है और अनुमान अविशद (परोक्ष)।

अनुमानके लिए किन घटकोंकी आवश्यकता है, इसका आरम्भिक प्रतिपादन कणादने किया प्रतीत होता है। उन्होंने अनुमानका 'अनुमान' शब्दसे निर्देश न कर 'लैङ्गिक' शब्दसे किया है, जिससे ज्ञात होता है कि अनुमानका मुख्य घटक लिङ्ग है। सम्भवतः इसी कारण उन्होंने मात्र लिङ्गों, लिङ्गरूपों और लिङ्गाभाषोंका निरूपण किया है, उसके और भी कोई घटक हैं इसका कणादने कोई उल्लेख नहीं किया। उनके भाष्यकार प्रशस्तपादने अवश्य प्रतिज्ञादि पाँच अवयवोंको उसका घटक प्रतिपादित किया है।

तर्कशास्त्रका निबद्धरूपमें स्पष्ट विकास अक्षपादके न्यायसूत्रमें उपलब्ध होता है। अक्षपादने अनुमानको 'अनुमान' शब्दसे ही उल्लेखित किया तथा उसकी कारणसामग्री, भेदों, अवयवों और हेत्वाभासोंका स्पष्ट विवेचन किया है। साथ ही अनुमानपरीक्षा, वाद, जल्प, वितण्डा, छल, जाति, निग्रहस्थान जैसे अनुमानसहायक तत्त्वोंका प्रतिपादन करके अनुमानको शास्त्रार्थोपयोगी और एक स्तर तक पहुँचा दिया है। वात्स्यायन, उद्योतकर वाचस्पति, उदयन और गङ्गेशने उसे विशेष परिष्कृत किया तथा व्याप्ति, पक्षधर्मता, परामर्श जैसे तदुपयोगी अभिनव तत्त्वोंको विविक्त करके उनका विस्तृत एवं सूक्ष्म निरूपण किया है। वस्तुतः अक्षपाद और उनके अनुवर्ती तार्किकोंने अनुमानको इतना परिष्कृत किया कि उनका दर्शन न्याय (तर्क—अनुमान) दर्शनके नामसे ही विश्रुत हो गया।

असंग, बसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति प्रभृति बौद्ध तार्किकोंने न्यायदर्शनकी समालोचनापूर्वक अपनी विशिष्ट और नयी मान्यताओंके आधारपर अनुमानका सूक्ष्म और प्रचुर चिन्तन प्रस्तुत किया है। इनके चिन्तनका अवश्यम्भावी परिणाम यह हुआ कि उत्तरकालीन समग्र भारतीय तर्कशास्त्र उससे प्रभावित हुआ और अनुमानकी विचारधारा पर्याप्त आगे बढ़नेके साथ सूक्ष्म-से-सूक्ष्म एवं जटिल होती गयी। वास्तवमें बौद्ध तार्किकोंके चिन्तनने तर्कमें आयी कुण्ठाको हटाकर और सभी प्रकारके परिवेशोंको दूर कर उन्मुक्तभावसे तत्त्वचिन्तनकी क्षमता प्रदान की। फलतः सभी दर्शनोंमें स्वीकृत अनुमानपर अधिक विचार हुआ और उसे महत्त्व मिला।

ईश्वरकृष्ण, युक्तिदीपिकाकार, माठर, विज्ञानभिक्षु आदि सांख्यविद्वानों, प्रभाकर, कुमारिल, पार्थसारथि प्रभृति मीमांसकचिन्तकोंने भी अपने-अपने ढंगसे अनुमानका चिन्तन किया है। हमारा विचार है कि इन चिन्तकोंका चिन्तन-विषय प्रकृति-पुरुष और क्रियाकाण्ड होते हुए भी वे अनुमान-चिन्तनसे अछूते नहीं रहे। श्रुतिके अलावा अनुमानको भी इन्हें स्वीकार करना पड़ा और उसका कम-बढ़ विवेचन किया है।

१. श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः॥

जैन विचारक तो आरम्भसे ही अनुमानको मानते आये हैं। भले ही उसे 'अनुमान' नाम न देकर 'हेतुवाद' या 'अभिनिबोध' संज्ञासे उन्होंने उसका व्यवहार किया हो। तत्त्वज्ञान, स्वतत्त्वसिद्धि, परपक्षदूषणोद्भावनके लिए उसे स्वीकार करके उन्होंने उसका पर्याप्त विवेचन किया है। उनके चिन्तनमें जो विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं उनमें कुछका उल्लेख यहाँ किया जाता है :—

अनुमानका परोक्षप्रमाणमें अन्तर्भाव :

अनुमानप्रमाणवादी सभी भारतीय तार्किकोंने अनुमानको स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार किया है। पर जैन तार्किकोंने उसे स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना। प्रमाणके उन्होंने मूलतः दो भेद माने हैं—(१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष। हम पीछे इन दोनोंकी परिभाषाएँ अङ्कित कर आये हैं। उनके अनुसार अनुमान परोक्ष प्रमाणमें अन्तर्भूत है, क्योंकि वह अविशद ज्ञान है और उसके द्वारा अप्रत्यक्ष अर्थकी प्रतिपत्ति होती है। परोक्ष प्रमाणका क्षेत्र इतना व्यापक और विशाल है कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव और शब्द जैसे अप्रत्यक्ष अर्थके परिच्छेदक अविशद ज्ञानोंका इसीमें समावेश है। तथा वैशद्य एवं अवैशद्यके आधारपर स्वीकृत प्रत्यक्ष और परोक्षके अतिरिक्त अन्य प्रमाण मान्य नहीं है।

अर्थापत्ति अनुमानसे पृथक् नहीं :

प्राभाकर और भाट्ट मीमांसक अनुमानसे पृथक् अर्थापत्ति नामका स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। उनका मन्तव्य है कि जहाँ अमुक अर्थ अमुक अर्थके बिना न होता हुआ उसका परिकल्पक होता है वहाँ अर्थापत्ति प्रमाण माना जाता है।—जैसे **पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुंक्ते** इस वाक्यमें, उक्त '**पीनत्व**' अर्थ '**भोजन**' के बिना न होता हुआ '**रात्रिभोजन**' की कल्पना करता है, क्योंकि दिवा भोजनका निषेध वाक्यमें स्वयं घोषित है। इस प्रकारके अर्थका बोध अनुमानसे न होकर अर्थापत्तिसे होता है। किन्तु जैन विचारक उसे अनुमानसे भिन्न स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि अनुमान अन्यथानुपपन्न (अविनाभावी) हेतुसे उत्पन्न होता है और अर्थापत्ति अन्यथानुपपद्यमान अर्थसे। अन्यथानुपपन्न हेतु और अन्यथानुपपद्यमान अर्थ दोनों एक हैं—उनमें कोई अन्तर नहीं है। अर्थात् दोनों ही व्याप्तिविशिष्ट होनेसे अभिन्न हैं। डा० देवराज भी यही बात प्रकट करते हुए कहते हैं कि '**एक वस्तु द्वारा दूसरी वस्तुका आक्षेप तभी हो सकता है जब दोनोंमें व्याप्यव्यापकभाव या व्याप्तिसम्बन्ध हो**'[1]। देवदत्त मोटा है और दिनमें खाता नहीं है, यहाँ अर्थापत्ति द्वारा रात्रिभोजनकी कल्पना की जाती है। पर वास्तवमें मोटापन भोजनका अविनाभावी होने तथा दिनमें भोजनका निषेध करनेसे वह देवदत्तके रात्रिभोजनका अनुमापक है। वह अनुमान इस प्रकार है—'**देवदत्तः रात्रौ भुंक्ते, दिवाऽभोजित्वे सति पीनत्वान्यथानुपपत्तेः**।' यहाँ अन्यथानुपपत्तिसे अन्तर्व्याप्ति विवक्षित है, बहिर्व्याप्ति या सकलव्याप्ति नहीं, क्योंकि ये दोनों व्याप्तियाँ अव्यभिचरित नहीं हैं। अतः अर्थापत्ति और अनुमान दोनों व्याप्तिपूर्वक होनेसे एक ही हैं—पृथक्-पृथक् प्रमाण नहीं।

अनुमानका विशिष्ट स्वरूप :

न्यायसूत्रकार अक्षपादकी '**तत्पूर्वकमनुमानम्**', प्रशस्तपादकी '**लिङ्गदर्शनात्संजायमानं लैङ्गिकम्**' और उद्योतकरकी **लिंगपरामर्शोऽनुमानम्**' परिभाषाओंमें केवल कारणका निर्देश है, अनुमानके स्वरूपका नहीं। उद्योतकरकी एक अन्य परिभाषा '**लैङ्गिकी प्रतिपत्तिरनुमानम्**' में भी लिंगरूप कारणका उल्लेख स्वरूप

१. पूर्वी और पश्चिमी दर्शन, पृ० ७१।

का नहीं। दिङ्नागशिष्य शङ्करस्वामीकी **'अनुमानं लिङ्गादर्थदर्शनम्'** परिभाषामें यद्यपि कारण और स्वरूप दोनोंकी अभिव्यक्ति है, पर उसमें कारणके रूपमें लिंगको सूचित किया है, लिंगके ज्ञानको नहीं। तथ्य यह है कि अज्ञायमान धूमादि लिंग अग्नि आदिके अनुमापक नहीं हैं। अन्यथा जो पुरुष सोया हुआ है, मूर्च्छित है, अगृहीतव्याप्तिक है उसे भी पर्वतमें धूमके सद्भाव मात्रसे अग्निका अनुमान हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं है। अतः शंकरस्वामीके उक्त अनुमानलक्षणमें **'लिङ्गात्'** के स्थानमें **'लिङ्गदर्शनात्'** पद होनेपर ही वह पूर्ण अनुमानलक्षण हो सकता है।

जैन तार्किक अकलंकदेवने जो अनुमानका स्वरूप प्रस्तुत किया है वह उक्त न्यूनताओंसे मुक्त है। उनका लक्षण है—

लिङ्गात्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात्।
लिङ्गिधीरनुमानं तत्फलं हानादिबुद्धयः॥

इसमें अनुमानके साक्षात्कारण—लिङ्गज्ञानका भी प्रतिपादन है और उसका स्वरूप भी **'लिङ्गिधीः'** शब्दके द्वारा निर्दिष्ट है। अकलंकने स्वरूपनिर्देशमें केवल **'धी.'** या **'प्रतिपत्ति'** नहीं कहा, किन्तु **'लिंगिधीः'** कहा है, जिसका अर्थ है साध्यका ज्ञान; और साध्यका ज्ञान होना ही अनुमान है। न्यायप्रवेशकार शंकर-स्वामीने साध्यका स्थानापन्न **'अर्थ'** का अवश्य निर्देश किया है। पर उन्होंने कारणका निर्देश अपूर्ण किया है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। अकलकके इस लक्षणकी एक विशेषता और भी है। वह यह कि उन्होंने **तत्फल हानादिबुद्धयः'** शब्दो द्वारा अनुमानका फल भी निर्दिष्ट किया है। सम्भवतः इन्हीं सब बातोंमे उत्तरवर्ती सभी जैन तार्किकोंने अकलंककी इस प्रतिष्ठित और पूर्ण अनुमान-परिभाषाको ही अपनाया। इस अनुमानलक्षणसे स्पष्ट है कि वही साधन अथवा लिङ्ग लिंगि (साध्य—अनुमेय) का गमक हो सकता है जिसके अविनाभावका निश्चय है। यदि उसमे अविनाभावका निश्चय नहीं है तो वह साधन नहीं है, भले ही उसमें तीन या पाँच रूप भी विद्यमान हो। जैसे 'वज्रलोहलेख्य है, क्योकि पार्थिव है, काष्ठकी तरह' इत्यादि हेतु तीन रूपों और पाँच रूपोंसे सम्पन्न होनेपर भी अविनाभावके अभावसे सद्धेतु नहीं हैं, अपितु हेत्वाभास है और इसीसे वे अपने साध्योंके अनुमापक नहीं माने जाते। इसी प्रकार एक मुहूर्त बाद शकटका उदय होगा, क्योकि कृत्तिकाका उदय हो रहा है', 'समुद्रमें वृद्धि होना चाहिए अथवा कुमुदोंका विकास होना चाहिए, क्योकि चन्द्रका उदय है' आदि हेतुओमे पक्षधर्मत्व न होनेसे न त्रिरूपता है और न पंचरूपता। फिर भी अविनाभावके होनेस कृत्तिकाका उदय शकटोदयका और चन्द्रका उदय समुद्रवृद्धि एवं कुमुदविकासका गमक है।

हेतुका एकलक्षण (अन्यथानुपपन्नत्व) स्वरूप :

हेतुका स्वरूपका प्रतिपादन अक्षपादसे आरम्भ होता है, ऐसा अनुसन्धानसे प्रतीत होता है। उनका वह लक्षण साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों दृष्टान्तोंपर आधारित है। अत एव नैयायिक चिन्तकोंने उसे द्विलक्षण, त्रिलक्षण, चतुर्लक्षण और पंचलक्षण प्रतिपादित किया तथा उसकी व्याख्याएँ की है। वैशेषिक, बौद्ध, सांख्य आदि विचारकोंने उसे मात्र त्रिलक्षण बतलाया है। कुछ तार्किकोंने षड्लक्षण और सप्तलक्षण भी उसे कहा है, जैसा कि हम हेतुलक्षण प्रकरणमें पीछे देख आये हैं। पर जैन लेखकोंने अविनाभावको ही हेतुका प्रधान और एकलक्षण स्वीकार किया है तथा त्रैरूप्य, पांचरूप्य आदिको अव्याप्त और अतिव्याप्त बतलाया है, जैसा कि ऊपर अनुमानके स्वरूपमे प्रदर्शित उदाहरणोंसे स्पष्ट है। इस अविनाभावको ही अन्यथानुपपन्नत्व अथवा अन्यथानुपपत्ति या अन्तर्व्याप्ति कहा है। स्मरण रहे कि यह अविनाभाव या अन्यथानुपपन्नत्व जैन लेखकों-की ही उपलब्धि है, जिसके उद्भावक आचार्य समन्तभद्र है, यह हम पीछे विस्तारके साथ कह आये हैं।

अनुमानका अङ्ग एकमात्र व्याप्ति :

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसक और बौद्ध सभीने पक्षधर्मता और व्याप्ति दोनोंको अनुमानका अंग माना है। परन्तु जैन तार्किकोंने केवल व्याप्तिको उसका अंग बतलाया है। उनका मत है कि अनुमानमें पक्षधर्मता अनावश्यक है। '**उपरि वृष्टिरभूत् अधोपूरान्यथानुपपत्तेः**' आदि अनुमानोंमें हेतु पक्षधर्म नहीं है फिर भी व्याप्तिके बलसे वह गमक है। '**स श्यामस्तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवत्**' इत्यादि असद् अनुमानोंमें हेतु पक्षधर्म हैं किन्तु अविनाभाव न होनेसे वे अनुमापक नहीं हैं। अतः जैन चिन्तक अनुमानका अंग एकमात्र व्याप्ति (अविनाभाव) को ही स्वीकार करते हैं, पक्षधर्मताको नही।

पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर हेतुओंकी परिकल्पना :

अकलङ्कदेवने कुछ ऐसे हेतुओंकी परिकल्पना की है जो उनसे पूर्व नहीं माने गये थे। उनमें मुख्यतया पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर ये तीन हेतु हैं। इन्हे किसी अन्य तार्किकने स्वीकार किया हो, यह ज्ञात नहीं। किन्तु अकलङ्कने इनकी आवश्यकता एवं अतिरिक्तताका स्पष्ट निर्देश करते हुए स्वरूप प्रतिपादन किया है। अतः यह उनकी देन कही जा सकती है।

प्रतिपाद्योंकी अपेक्षा अनुमान-प्रयोग

अनुमानप्रयोगके सम्बन्धमें जहाँ अन्य भारतीय दर्शनोंमें व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न प्रतिपाद्योंकी विवक्षा किये बिना अवयवोका सामान्य कथन मिलता है वहाँ जैन विचारकोने उक्त प्रतिपाद्योंकी अपेक्षा उनका विशेष प्रतिपादन भी किया है। व्युत्पन्नोंके लिए उन्होंने पक्ष और हेतु ये दो अवयव आवश्यक बतलाये हैं। उन्हें दृष्टान्त आवश्यक नही है। '**सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्**' जैसे स्थलोंमें बौद्धोंने और '**सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वात्**' जैसे केवलान्वयिहेतुक अनुमानोंमे नैयायिकोंने भी दृष्टान्तको स्वीकार नहीं किया। अव्युत्पन्नोंके लिए उक्त दोनो अवयवोंके साथ दृष्टान्त, उपनय और निगमन इन तीन अवयवोंकी भी जैन चिन्तकोंने यथायोग्य आवश्यकता प्रतिपादित की है। इसे और स्पष्ट यों समझिए—

गृद्धपिच्छ, समन्तभद्र, पूज्यपाद और सिद्धसेनके प्रतिपादनोसे अवगत होता है कि आरम्भमें प्रतिपाद्यसामान्यकी अपेक्षासे पक्ष, हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवोंमे अभिप्रेतार्थ (साध्य) की सिद्धि की जाती थी। पर उत्तरकालमें अकलङ्कका संकेत पाकर कुमारनन्दि और विद्यानन्दने प्रतिपाद्योंको व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न दो वर्गोंमें विभक्त करके उनकी अपेक्षासे पृथक्-पृथक् अवयवोका कथन किया। उनके बाद माणिक्यनन्दि, देवसूरि आदि परवर्ती जैन ग्रन्थकारोंने उनका समर्थन किया और स्पष्टतया व्युत्पन्नोके लिए पक्ष और हेतु ये दो तथा अव्युत्पन्नोंके बोधार्थ उक्त दोके अतिरिक्त दृष्टान्त, उपनय और निगमन ये तीन सब मिलाकर पाँच अवयव निरूपित किये। भद्रबाहुने प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञाशुद्धि आदि दश अवयवोंका भी उपदेश दिया, जिसका अनुसरण देवसूरि, हेमचन्द्र और यशोविजयने किया है।

व्याप्तिका ग्राहक एकमात्र तर्क :

अन्य भारतीय दर्शनोंमें भूयोदर्शन, सहचारदर्शन और व्यभिचाराग्रहको व्याप्तिग्राहक माना गया है। न्यायदर्शनमें वाचस्पति और सांख्यदर्शनमे विज्ञानभिक्षु इन दो तार्किकोंने व्याप्तिग्रहकी उपर्युक्त सामग्रीमें तर्कको भी सम्मिलित कर लिया। उनके बाद उदयन, गंगेश, वर्द्धमान प्रभृति तार्किकोंने भी उसे व्याप्तिग्राहक मान लिया। पर स्मरण रहे, जैन परम्परामे आरम्भसे तर्कको, जिसे चिन्ता, ऊहा आदि शब्दोसे व्यवहृत किया गया है, अनुमानकी एकमात्र सामग्रीके रूपमे प्रतिपादित किया है। अकलङ्क ऐसे जैन

तार्किक हैं जिन्होंने वाचस्पति और विज्ञानभिक्षुसे पूर्व सर्व प्रथम तर्कको व्याप्तिग्राहक समर्थित एवं सम्पुष्ट किया तथा सबलतासे उसका प्रामाण्य स्थापित किया। उनके पश्चात् सभीने उसे व्याप्तिग्राहक स्वीकार कर लिया।

तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति :

यद्यपि बहिर्व्याप्ति, सकलव्याप्ति और अन्तर्व्याप्तिके भेदसे व्याप्तिके तीन भेदों, समव्याप्ति और विषमव्याप्तिके भेदसे उसके दो प्रकारों तथा अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति इन दो भेदोंका वर्णन तर्कग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है किन्तु तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति इन दो व्याप्तिप्रकारों (व्याप्तिप्रयोगों) का कथन केवल जैन तर्कग्रंथोंमें पाया जाता है। इनपर ध्यान देनेपर जो विशेषता ज्ञात होती है वह यह है कि अनुमान एक ज्ञान है उसका उपादान कारण ज्ञान ही होना चाहिए। तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति ये दोनों ज्ञानात्मक हैं, जब कि उपर्युक्त व्याप्तियाँ ज्ञेयात्मक (विषयात्मक) हैं। दूसरी बात यह है कि उक्त व्याप्तियोंमें एक अन्तर्व्याप्ति ही ऐसी व्याप्ति है, जो हेतुकी गमकतामें प्रयोजक है, अन्य व्याप्तियाँ अन्तर्व्याप्तिके बिना अव्याप्त और अतिव्याप्त हैं, अतएव वे साधक नहीं है। तथा यह अन्तर्व्याप्ति ही तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्तिरूप है अथवा उनका विषय है। इन दोनोंमेंसे किसी एकका ही प्रयोग पर्याप्त है। इनका विशेष विवेचन अन्यत्र किया गया है।

साध्याभास :

अकलङ्कने अनुमानाभासोंके विवेचनमें पक्षाभास या प्रतिज्ञाभासके स्थानमें साध्याभास शब्दका प्रयोग किया है। अकलङ्कके इस परिवर्तनके कारणपर सूक्ष्म ध्यान देनेपर अवगत होता है कि चूँकि साधनका विषय (गम्य) साध्य होता है और साधनका अविनाभाव (व्याप्तिसम्बन्ध) साध्यके ही साथ होता है, पक्ष या प्रतिज्ञाके साथ नहीं, अतः साधनाभास (हेत्वाभास) का विषय साध्याभास होनेसे उसे ही साधनाभासोंकी तरह स्वीकार करना युक्त है। विद्यानन्दने अकलङ्ककी इस सूक्ष्म दृष्टिको परखा और उनका सयुक्तिक समर्थन किया। यथार्थमें अनुमानके मुख्य प्रयोजक साधन और साध्य होनेसे तथा साधनका सीधा सम्बन्ध साध्यके साथ ही होनेसे साधनाभासकी भाँति साध्याभास ही विवेचनीय है। अकलङ्कने शक्य, अभिप्रेत और असिद्धको साध्य तथा अशक्य, अनभिप्रेत और सिद्धको साध्याभास प्रतिपादित किया है—(**साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततोऽपरम्। साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः॥**)

अकिञ्चित्कर हेत्वाभास :

हेत्वाभासोंके विवेचन-सन्दर्भमें सिद्धसेनने कणाद और न्यायप्रवेशकारकी तरह तीन हेत्वाभासोंका कथन किया है, अक्षपादकी भाँति उन्होंने पाँच हेत्वाभास स्वीकार नहीं किये। प्रश्न हो सकता है कि जैन तार्किक हेतुका एक (अविनाभाव—अन्यथानुपपन्नत्व) रूप मानते हैं, अतः उसके अभावमें उनका हेत्वाभास एक ही होना चाहिए। वैशेषिक, बौद्ध और सांख्य तो हेतुको त्रिरूप तथा नैयायिक पंचरूप स्वीकार करते हैं, अतः उनके अभावमें उनके अनुसार तीन और पाँच हेत्वाभास तो युक्त हैं। पर सिद्धसेनका हेत्वाभास-त्रैविध्य प्रतिपादन कैसे युक्त है? इसका समाधान सिद्धसेन स्वयं करते हुए कहते हैं कि चूँकि अन्यथानुपपन्नत्वका अभाव तीन तरहसे होता है—कहीं उसकी प्रतीति न होने, कहीं उसमें सन्देह होने और कहीं उसका विपर्यास होनेसे; प्रतीति न होनेपर असिद्ध, सन्देह होनेपर अनैकान्तिक और विपर्यास होनेपर विरुद्ध ये तीन हेत्वाभास होते हैं।

अकलङ्क कहते हैं कि यथार्थमें हेत्वाभास एक ही है और वह है अकिञ्चित्कर, जो अन्यथानुपपन्नत्व-के अभावमें होता है। वास्तवमें अनुमानका उत्थापक अविनाभावी हेतु ही है, अतः अविनाभाव (अन्यथानु-पपन्नत्व) के अभावमें हेत्वाभासकी सृष्टि होती है। यतः हेतु एक अन्यथानुपपन्नरूप ही है, अतः उसके अभावमें मूलतः एक ही हेत्वाभास मान्य है और वह है अन्यथा उपपन्नत्व अर्थात् अकिञ्चित्कर। असिद्धादि उसीका विस्तार है। इस प्रकार अकलङ्कके द्वारा 'अकिञ्चित्कर' नामके नये हेत्वाभासकी परिकल्पना उनकी अन्यतम उपलब्धि है।

बालप्रयोगाभास :

माणिक्यनन्दिने आभासोंका विचार करते हुए अनुमानाभाससन्दर्भमें एक '**बालप्रयोगाभास**' नामके नये अनुमानाभासकी चर्चा प्रस्तुत की है। इस प्रयोगाभासका तात्पर्य यह है कि जिस मन्दप्रज्ञको समझानेके लिए तीन अवयवोंकी आवश्यकता है उसके लिए दो ही अवयवोंका प्रयोग करना, जिसे चारकी आवश्यकता है उसे तीन और जिसे पाँचकी जरूरत है उसे चारका ही प्रयोग करना अथवा विपरीत क्रमसे अवयवोंका कथन करना बालप्रयोगाभास हैं और इस तरह वे चार (द्वि-अवयवप्रयोगाभास, त्रि-अवयवप्रयोगाभास, चतुरवयवप्रयोगाभास और विपरीतावयवप्रयोगाभास) सम्भव हैं। माणिक्यनन्दिसे पूर्व इनका कथन दृष्टि-गोचर नहीं होता। अतः इनके पुरस्कर्ता माणिक्यनन्दि प्रतीत होते हैं।

अनुमानमें अभिनिबोध-मतिज्ञानरूपता और श्रुतरूपता :

जैन वाङ्मयमें अनुमानको अभिनिबोधमतिज्ञान और श्रुत दोनों निरूपित किया है। तत्त्वार्थसूत्रकारने उसे अभिनिबोध कहा है जो मतिज्ञानके पर्यायोंमें पठित है। षट्खण्डागमकार भूतबलि-पुष्पदन्तने उसे 'हेतुवाद' नामसे व्यवहृत किया है और श्रुतके पर्यायनामोंमें गिनाया है। यद्यपि इन दोनों कथनोंमें कुछ विरोध-सा प्रतीत होगा। पर विद्यानन्दने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि तत्त्वार्थसूत्रकारने स्वार्थानुमानको अभिनि-बोध कहा है, जो वचनात्मक नहीं है और षट्खण्डागमकार तथा उनके व्याख्याकार वीरसेनने परार्थानुमानको श्रुतरूप प्रतिपादित किया है, जो वचनात्मक होता है। विद्यानन्दका यह समन्वयात्मक सूक्ष्म चिन्तन जैन तर्कशास्त्रमें एक नया विचार है जो विशेष उल्लेख्य है। इस उपलब्धिका सम्बन्ध विशेषतया जैन ज्ञान-मीमांसाके साथ है।

इस तरह जैन चिन्तकोंकी अनुमानविषयमें अनेक उपलब्धियाँ हैं। उनका अनुमान-सम्बन्धी चिन्तन भारतीय तर्कशास्त्रके लिए कई नये तत्त्व देता है।

●

न्याय-विद्यामृत

न्याय एक विद्या है, जिसे न्यायशास्त्र, तर्कशास्त्र, आन्वीक्षिकी विद्या और हेतुविद्या या हेतुवाद कहा गया है। आचार्य अनन्तवीर्यने तो इस न्याय-विद्याको अमृत कहा है। परीक्षा-मुखकी व्याख्याके आरम्भमें मङ्गलाचरणके बाद वे लिखते हैं[1]--

अकलङ्कवचोऽम्भोधेरुद्दध्रे येन धीमता।
न्याय-विद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ॥

'विद्वत्तासे ओतप्रोत जिन विद्वान् आचार्य माणिक्यनन्दिने अकलङ्कके वचन-समुद्रका अवगाहन कर उससे न्यायविद्यारूप अमृतको निकाला अर्थात् परीक्षामुख लिखा उन माणिक्यनन्दिके लिए विनम्रतापूर्वक नमस्कार (प्रणाम) करता हूँ।'

यहाँ अनन्तवीर्यने माणिक्यनन्दिके परीक्षामुखको '**न्यायविद्यामृत**' कहा है, जो जैन न्यायका आद्यसूत्र ग्रन्थ है। अमृत जिस प्रकार अमरत्व प्रदान करता है उसी प्रकार न्यायविद्या तत्त्वज्ञानको प्रदान कर आत्माको अमर (मिथ्याज्ञानादि संसार-बन्धनसे मुक्त) कर देती है। निश्चय ही यह न्याय-विद्याके प्रभावकी उद्-घोषणा है।

प्रत्यक्षादि प्रमाणको अथवा प्रमाणनयात्मक युक्तिको न्याय कहा है[2]। निपूर्वक 'इण्' गमनार्थक धातुसे 'करण' अर्थमें 'घञ्' प्रत्यय करनेपर 'न्याय' शब्दकी सिद्धि होती है, जिसका यह अर्थ होता है कि जिसके द्वारा पदार्थोंका ज्ञान निश्चित रूपमें होता है। तत्त्वार्थसूत्रकारने भी यही लिखा है[3]। वे कहते हैं कि प्रमाण और नयसे जीवादि तत्त्वोंका ज्ञान होता है। अतः तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिए प्रमाण-नयात्मक न्यायविद्याका अध्ययन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है[4]। इसलिए ऐसी विद्याको 'अमृत' कहा जाना उपयुक्त है।

सभी दर्शनोंमें इस विद्याका प्रतिपादन और विशेष विवेचन किया गया है। जैन दर्शनमें इस विद्याके प्रचुर बीज आचार्य गृद्धपिच्छके[5] तत्त्वार्थसूत्रमें उपलब्ध होते हैं। स्वामी समन्तभद्रके देवागम[6] (आप्तमीमांसा), युक्त्यनुशासन और स्वयम्भूस्तोत्रमें न्यायका विकासारम्भ प्राप्त है।

१ प्रमेयरत्नमाला, प्रथम समुद्देश, श्लोक २।
२. प्रत्यक्षादिप्रमाणं न्यायः। अथवा नयप्रमाणात्मिका युक्तिर्न्यायः। निपूर्वादिण्गतावित्यस्माद्धातोः करणे घञ्प्रत्ययः, तेन न्यायशब्दसिद्धिः। नितरां ईयते ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति न्यायः।'—वही, टिप्पण पृ० ४।
३. त० सू० १-६।
४. न्यायदी० पृ० ५, मूल व टिप्प०।
५. 'तत्त्वार्थसूत्रमें न्यायशास्त्रके बीज' शीर्षक निबन्ध, जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, पृ० ७०।
६. इन्होंने अपने ग्रन्थोंमें न्यायशास्त्रकी एक उत्तम एवं योग्य भूमिका प्रस्तुत की है, जिसे जैन न्यायके विकासका आदिकाल कह सकते हैं। देखो, जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, पृ० ७ से ११।

स्वामी समन्तभद्रने भारतीय दार्शनिक क्षेत्रके जैन दर्शन क्षेत्रमे युग-प्रवर्त्तकका कार्य किया है । उनके पहले जैन दर्शनके प्राणभूत तत्त्व 'स्याद्वाद' को प्रायः आगमरूप ही प्राप्त था और उसका आगमिक तत्त्वोंके निरूपणमे ही उपयोग होता था तथा सीधी-साधी विवेचना कर दी जाती थी । विशेष युक्तिवाद देनेकी आवश्यकता नही होती थी । किन्तु समन्तभद्रके समयमें उस युक्तिवादकी आवश्यकता महसूस हुई । दूसरी-तीसरी शताब्दीका समय भारतवर्षके सांस्कृतिक इतिहासमें अपूर्व दार्शनिक क्रान्तिका रहा है, इस समय सभी दर्शनोंमें अनेक क्रान्तिकारी विद्वान् पैदा हुए हैं । यह हम उस समयके दार्शनिक ग्रन्थोसे ज्ञात कर सकते हैं । समन्तभद्रकी आप्तमीमासा इसकी साक्षी है, जिसमें भावैकान्त, अभावैकान्त आदि अनेक एकान्तोंकी चर्चा और उनकी समालोचना उपलब्ध है । इसीलिए समन्तभद्रके कालको जैन न्यायके विकासका आदिकाल कहा जाता है । इस तरह इस आदिकाल अथवा समन्तभद्रकालमे जैन न्यायकी एक योग्य और उत्तम भूमिका तैयार हो गयी थी ।

उक्त भूमिकापर जैन न्यायका उत्तुंग और सर्वांगपूर्ण महान् प्रासाद जिस कुशल और तीक्ष्णबुद्धि तार्किक-शिल्पीने खड़ा किया, वह है अकलक । अकलंकके कालमें भी समन्तभद्रसे कही अधिक जबर्दस्त दार्शनिक मुठभेड हो रही थी । एक तरफ शब्दाद्वैतवादी भर्तृहरि, प्रसिद्ध मीमासक कुमारिल, न्यायनिष्णात उद्योतकर प्रभृति वैदिक विद्वान् अपने पक्षोपर आरूढ़ थे, तो दूसरी ओर धर्मकीर्ति और उनके तर्कपटु शिष्य एवं व्याख्याकार प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर, कर्णकगोमि आदि बौद्ध तार्किक अपने पक्षपर दृढ़ थे । शास्त्रार्थों और शास्त्रनिर्माणकी पराकाष्ठा थी । प्रत्येक दार्शनिकका प्रयत्न था कि वह जिस किसी तरह अपने पक्षको सिद्ध करे और परपक्षका निराकरण कर विजय प्राप्त करे । इतना हो नहीं, परपक्षको असद् प्रकारोसे पराजित एवं तिरस्कृत भी किया जाता था । विरोधीको 'पशु', 'अह्रीक' जैसे गर्हित शब्दोंसे व्यवहृतकर उसके सिद्धान्तोंको तुच्छ प्रकट किया जाता था । यह काल जहाँ तर्कके विकासका मध्याह्न माना जाता है वहाँ इस कालमे न्यायका बड़ा उपहास भी हुआ है । तत्त्वके संरक्षणके लिए छल, जाति, निग्रहस्थान जैसे असद् उपायोंका खुलकर प्रयोग करना और उन्हे शास्त्रार्थका अंग मानना इस कालकी देन बन गयी[1] । क्षणिकवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि पक्षोंका समर्थन इस कालमे धड़ल्लेसे किया गया और कट्टरतासे इतरका निरास किया गया ।

तीक्ष्णदृष्टि अकलङ्कने इस स्थितिका अध्ययन किया और सभी दर्शनोंका गहरा एवं सूक्ष्म अभ्यास किया । इसके लिए उन्हें कांची, नालन्दा आदिके तत्कालीन विद्यापीठोंमे प्रच्छन्न वेषमें रहना पड़ा । समन्तभद्र द्वारा स्थापित स्याद्वादन्यायकी भूमिकाको ठीक तरह न समझनेके कारण दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, उद्योतकर, कुमारिल आदि बौद्ध-वैदिक विद्वानोने पक्षाग्रही दृष्टिका ही समर्थन किया था तथा जैन दर्शनके स्याद्वाद, अनेकान्त आदि सिद्धान्तोंपर आक्षेप किये थे । अतः अकलङ्कने महाप्रयास करके तीन अपूर्व कार्य किये । एक तो शास्त्रार्थों द्वारा जैन दर्शनके सही रूपको प्रस्तुत किया और आक्षेपोंका निराकरण किया । दूसरा कार्य यह किया कि स्याद्वादन्यायपर आरोपित दूषणोंको दूर कर उसे स्वच्छ बनाया और तीसरा कितना ही नया निर्माण किया । यही कारण है कि उनके द्वारा निर्मित ग्रन्थोंमे चार ग्रन्थ केवल न्यायशास्त्रपर ही लिखे गये हैं, जिनमे विभिन्न वादियों द्वारा दिये गये सभी दूषणोंका परिहार कर उनके एकान्त सिद्धान्तों की कड़ी समीक्षा की गयी है और जैन न्यायके जिन आवश्यक उपादानोंका जैन दर्शनमें विकास नही हो सका था, उनका उन्होंने विकास किया अथवा उनकी प्रतिष्ठा की है । उनके वे महत्त्वपूर्ण न्यायग्रन्थ निम्न

१. न्यायसू० १।१।१, ४।२।५०, १।२।२, ३, ४ आदि और उनकी व्याख्याएँ ।

प्रकार हैं—१. न्यायविनिश्चय (स्वोपज्ञवृत्ति सहित) २. सिद्धि-विनिश्चय, ३. प्रमाणसंग्रह और ४. लघीयस्त्रय (स्वोपज्ञवृत्ति सहित)। ये चारों ग्रन्थ कारिकात्मक हैं।

अकलङ्कने जैन न्यायको जो रूपरेखा और दिशा निर्धारित की, उसीका अनुसरण उत्तरवर्ती सभी जैन तार्किकोंने किया है। हरिभद्र, वीरसेन, कुमारनन्दि विद्यानन्द, अनन्तवीर्य प्रथम, वादिराज, माणिक्यनन्दि आदि मध्ययुगीन आचार्योंने उनके कार्यको आगे बढ़ाया और उसे यशस्वी बनाया है। उनके सूत्रात्मक एवं दुरूह कथनको इन आचार्योंने अपनी रचनाओं द्वारा सुविस्तृत और सुपुष्ट किया है। हरिभद्रकी अनेकान्तजयपताका, शास्त्रवार्तासमुच्चय, वीरसेनकी तर्कबहुल धवला-जयधवला टीकाएँ, कुमारनन्दिका वादन्याय, विद्यानन्दके विद्यानन्दमहोदय, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, आप्तपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, अनन्तवीर्यकी सिद्धिविनिश्चयटीका, प्रमाणसंग्रहभाष्य, वादिराजके न्यायविनिश्चयविवरण, प्रमाण-निर्णय और माणिक्यनन्दिका परीक्षामुख इस कालकी अनूठी न्याय-रचनाएँ हैं।

जैन न्यायके विकासका उत्तरकाल प्रभाचन्द्रका काल माना जा सकता है, क्योंकि प्रभाचन्द्रने इस कालमे अपने पूर्वज आचार्योंका अनुगमन करते हुए जो विशालकाय व्याख्याग्रन्थ लिखे हैं वैसे व्याख्याग्रन्थ उनके बाद नही लिखे गये। अकलंकके लघीयस्त्रयपर लघीयस्त्रयालंकार, जिसका दूसरा नाम न्यायकुमुदचन्द्र है और माणिक्यनन्दिके परीक्षामुखपर प्रमेयकमलमार्त्तण्ड नामकी प्रमेयबहुल एवं तर्कपूर्ण टीकाएँ रची है, जो प्रभाचन्द्रकी अमोघ तर्कणा और उज्ज्वल यशको प्रसृत करती है। अभयदेवकी सन्मतितर्कटीका और वादि-देवसूरिका स्याद्वादरत्नाकर (प्रमाणनय-तत्त्वालोकालंकारटीका) ये दो टीकाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं, जो प्रभाचन्द्रकी तर्क-पद्धतिसे प्रभावित हैं।

इस कालमें मौलिक ग्रन्थोंके निर्माणकी क्षमता प्रायः कम हो गयी और व्याख्याग्रन्थोंका निर्माण हुआ। लघु अनन्तवीर्यने परीक्षामुखकी लघुवृत्ति—प्रमेयरत्नमाला, अभयदेवने सन्मतितर्कटीका, देवसूरिने प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार और उसकी स्वोपज्ञ टीका स्याद्वादरत्नाकर, अभयचन्द्रने लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्ति, हेमचन्द्रने प्रमाणमीमासा, मल्लिषेणने स्याद्वादमजरी, आशाधरने प्रमेयरत्नाकर, भावसेनने विश्वतत्त्वप्रकाश, अजितसेनने न्यायमणिदीपिका, धर्मभूषणने न्यायदीपिका, चारुकीर्तिने अर्थप्रकाशिका और प्रमेयरत्नालंकार, विमलदासने सप्तभङ्गि-तरगिणी, नरेन्द्रसेनने प्रमाणप्रमेयकलिका और यशोविजयने अष्टसहस्रीविवरण, ज्ञानबिन्दु और जैन तर्कभाषाकी रचना की, जो विशेष उल्लेखयोग्य न्यायग्रन्थ हैं। इसके बाद जैन न्यायकी धारा प्रायः बन्द हो गयी। हाँ, बीसवी शताब्दीमें श्री गणेशप्रसाद वर्णी न्यायाचार्य, पं० माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य, पं० सुखलालजी प्रज्ञाचक्षु, पं० दलसुखभाई मालवणिया और पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यके भी नाम उल्लेख योग्य हैं, जिन्होंने न्यायशास्त्रका गहरा अध्ययन किया और न्यायग्रन्थोंका सम्पादनकर उनके साथ शोधपूर्ण प्रस्तावनाएँ निबद्ध की हैं।

इस न्याय-विद्याके अध्ययनकी विद्वत्ता और पाण्डित्य प्राप्त करनेके लिए बहुत आवश्यकता है। उससे बुद्धि पैनी एवं तर्कप्रवण होती है। न्यायशास्त्रका अध्येता परीक्षा-चक्षु होता है।

न्यायविद्याके अध्ययनसे लाभ

१. हरेक व्यक्तिकी बुद्धि स्वभावतः कुछ न कुछ तर्कशील रहती है। न्यायशास्त्रके अध्ययनसे उस तर्कमे विकास होता है, बुद्धि परिमार्जित होती है, प्रश्न करने और उसे जमा कर उपस्थित करनेका बुद्धिमे माद्दा आता है। बिना तर्कको बुद्धि कभी-कभी उटपटांग—चीको स्पर्श न करने वाले प्रश्न कर बैठती है, जिससे व्यक्ति हास्यका पात्र बनता है।

२. न्याय-ग्रन्थोंका पढ़ना व्यवहारकुशलताके लिये भी उपयोगी है। उससे हमें यह मालूम हो जाता है कि दुनियामें भिन्न-भिन्न विचारोंके लोग हमेशासे रहे हैं और रहेंगे। यदि हमारे विचार ठीक और सत्य हैं और दूसरेके विचार ठीक एवं सत्य नही हैं तो दर्शनशास्त्र हमें दिशा दिखाता है कि हम सत्यके साथ सहिष्णु भी बनें और अपनेसे विरोधी विचार वालोंको अपने तर्कों द्वारा ही सत्यकी ओर लानेका प्रयत्न करें, जोर-जबरदस्तीसे नहीं। जैन दर्शन सत्यके साथ सहिष्णु है। इसीलिये वह और उसका सम्प्रदाय भारतमें टिका चला आ रहा है, अन्यथा बौद्ध आदि दर्शनोंकी तरह उसका टिकना अशक्य था। अन्धश्रद्धाको हटाने, वस्तु-स्थितिको समझने और विभिन्न विचारोंका समन्वय करनेके लिये न्याय एवं दार्शनिक ग्रन्थोंका पढ़ना, मनन करना, चिन्तन करना जरूरी है। न्याय-ग्रन्थोंमे जो आलोचना पाई जाती है उसका उद्देश्य केवल इतना ही है कि सत्यका प्रकाशन और सत्यका ग्रहण हो। न्यायालयमे भी झूठे पक्षकी आलोचनाकी ही जाती है।

३. न्यायशास्त्रका प्रभावक्षेत्र व्यापक है। व्याकरण, साहित्य, राजनीति, इतिहास, सिद्धान्त आदि सबपर इसका प्रभाव है। कोई भी विषय ऐसा नहीं है जो न्यायके प्रभावसे अछूता हो। व्याकरण और साहित्यके उच्च ग्रन्थोंमें न्यायसूर्यका तेजस्वी और उज्ज्वल प्रकाश सर्वत्र फैला हुआ मिलेगा। मैं उन मित्रोंको जानता हूँ जो व्याकरण और साहित्यके अध्ययनके समय न्यायके अध्ययनकी अपनेमें महसूस करते हैं और उसकी आवश्यकतापर जोर देते हैं। इससे स्पष्ट है कि न्यायका अध्ययन कितना उपयोगी और लाभ-दायक है।

४. किसी भी प्रकारकी विद्वत्ता प्राप्त करने और किसी भी प्रकारके साहित्य-निर्माण करनेके लिये चलता दिमाग़ चाहिये। यदि चलता दिमाग़ नही है तो वह न तो विद्वान बन सकता है और न किसी तरहके साहित्यका निर्माण ही कर सकता है। और यह प्रकट है कि चलता दिमाग मुख्यत: न्यायशास्त्रसे होता है। उसे दिमाग़को तीक्ष्ण एवं द्रुत गतिसे चलता करनेके लिए उसका अवलम्बन जरूरी है। सोनेमे चमक कसौटीपर ही की जाती है। अतः साहित्यसेवी और विद्वान बननेके लिए न्यायका अभ्यास उतना ही जरूरी है जितना आज राजनीति और इतिहासका अध्ययन।

५. न्यायशास्त्रमें कुशल व्यक्ति सब दिशाओंमें जा सकता है और सब क्षेत्रोंमे अपनी विशिष्ट उन्नति कर सकता है—वह असफल नही हो सकता। सिर्फ शर्त यह कि वह न्यायग्रन्थोंका केवल भारवाही न हो। उसके रससे पूर्णतः अनुप्राणित हो।

६. निसर्गज तर्क कम लोगोंमें होता है। अधिकांश लोगोंमें तो अधिगमज तर्क ही होता है, जो साक्षात् अथवा परम्परया न्यायशास्त्र—तर्कशास्त्रके अभ्याससे प्राप्त होता है। अतएव जो निसर्गत. तर्कशील नहीं हैं उन्हें कभी भी हताश नहीं होना चाहिए और न्यायशास्त्रके अध्ययन द्वारा अधिगमज तर्क प्राप्त करना चाहिए। इससे वे न केवल अपना ही लाभ उठा सकते हैं किन्तु वे साहित्य और समाजके लिए भी अपूर्व देनकी सृष्टि कर सकते हैं।

७. समन्तभद्र, अकलंक, विद्यानन्द आदि जो बड़े-बड़े दिग्गज प्रभावशाली विद्वानाचार्य हुए हैं वे सब न्यायशास्त्रके अभ्याससे ही बने हैं। उन्होंने न्यायशास्त्र-रत्नकारका अच्छी तरह अवगाहन करके ही उत्तम-उत्तम ग्रन्थरत्न हमें प्रदान किये हैं, जिनका प्रकाश आज प्रकट है और जो हमें धरोहरके रूपमें सौभाग्यसे प्राप्त हैं। हमारा कर्तव्य है कि हम उन रत्नोकी आभाको अधिकाधिक रूपमें दुनियाके कोने-कोनेमें फैलायें, जिससे जैन शासनकी महत्ता और जैन दर्शनका प्रभाव लोकमें व्याप्त हो।

वस्तुत. न्याय-विद्या एक बहुत उपयोगी और लाभदायक विद्या है, जिसका अध्ययन लौकिक और पारमार्थिक दोनों दृष्टियोंसे आवश्यक है। ■

इतिहास और साहित्य

■ ■

स्याद्वादसिद्धि और वादीभसिंह

स्याद्वादसिद्धि

(क) ग्रन्थ-परिचय

इस ग्रन्थरत्नका नाम 'स्याद्वादसिद्धि' है। यह दार्शनिकशिरोमणि वादीभसिंहसूरिद्वारा रची गई महत्त्वपूर्ण एवं उच्चकोटिकी दार्शनिक कृति है। इसमे जैनदर्शनके मौलिक और महान् सिद्धान्त 'स्याद्वाद' का प्रतिपादन करते हुए उसका विभिन्न प्रमाणों तथा युक्तियोंसे साधन किया गया है। अतएव इसका 'स्याद्वाद-सिद्धि' यह नाम भी सार्थक है। यह प्रख्यात जैन तार्किक अकलंकदेवके न्यायविनिश्चय आदि जैसा ही कारिकात्मक प्रकरणग्रन्थ है। किन्तु दुःख है कि यह विद्यानन्दकी 'सत्यशासनपरीक्षा' और हेमचन्द्रकी 'प्रमाण-मीमांसा' की तरह खण्डित एवं अपूर्ण ही उपलब्ध होती है। मालूम नही, यह अपने पूरे रूपमें और किसी शास्त्रभण्डारमे पायी जाती है या नही, । अथवा ग्रन्थकारके अन्तिम जीवनकी यह रचना है जिसे वे स्वर्गवास हो जानेके कारण पूरा नही कर सके ? मूडबिद्रीके जैनमठसे जो इसकी एक अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण और प्राचीन ताडपत्रीय प्रति प्राप्त हुई है तथा जो बहुत ही खण्डित दशामे विद्यमान है—जिसके अनेक पत्र मध्यमें और किनारोंपर टूटे हुए हैं और सात पत्र तो बीचमें बिल्कुल ही गायब हैं उससे जान पड़ता है कि ग्रन्थकारने इसे सम्भवतः पूरे रूपमें ही रचा है। यदि यह अभी नष्ट नही हुई है तो असम्भव नहीं कि इसका अनु-सन्धान होनेपर यह किसी दूसरे जैन या जैनेतर शास्त्रभण्डारमे मिल जाय।

यह प्रसन्नताकी बात है कि जितनी रचना उपलब्ध है उसमे १३ प्रकरण तो पूरे और १४ वाँ तथा अगले २ प्रकरण अपूर्ण और इस तरह पूर्ण-अपूर्ण १६ प्रकरण मिलते हैं। और इन सब प्रकरणोंमें (२४ + + ४४ + ७४ + ८९½ + ३२ + २२ + २२ + २१ + २३ + ३९ + २८ + १६ + २१ + ७० + १३८ + ६½ =)६७० जितनी कारिकाएँ सन्निबद्ध हैं। इससे ज्ञात हो सकता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ कितना महान् और विशाल है। दुर्भाग्यसे अब तक यह विद्वत्संसारके समक्ष शायद नही आया और इसलिए अभी तक अपरिचित तथा अप्रकाशित दशामे पड़ा चला आया।

(ख) भाषा और रचनाशैली

दार्शनिक होनेपर भी इसकी भाषा विशद और बहुत कुछ सरल है। ग्रन्थको सहजभावसे पढ़ते जाइये, विषय समझमे आता जायेगा। हाँ, कुछ ऐसे भी स्थल है जहाँ पाठकको अपना पूरा उपयोग लगाना पड़ता है और जिससे ग्रन्थकी प्रौढता, विशिष्टता एवं अपूर्वताका भी कुछ अनुभव हो जाता है। यह ग्रन्थकारकी मौलिक स्वतन्त्र पद्यात्मक रचना है—किसी दूसरे गद्य या पद्यरूप मूलकी व्याख्या नहीं है। इस प्रकारकी रचनाको रचनेकी प्रेरणा उन्हें अकलंकदेवके न्यायविनिश्चयादि और शान्तरक्षितादिके तत्त्वसंग्रहादिसे मिली जान पड़ती है।

धर्मकीर्ति (६२५ ई०) ने सन्तानांतरसिद्धि, कल्याणरक्षित (७०० ई०) ने बाह्यार्थसिद्धि, धर्मोत्तर (ई० ७२५) ने परलोकसिद्धि और क्षणभङ्गसिद्धि तथा शङ्करानन्द (ई० ८००) ने अपोहसिद्धि और प्रतिब-न्धसिद्धि जैसे नामोंवाले ग्रन्थ बनाये हैं और इनसे भी पहले स्वामी समन्तभद्र (विक्रमकी २ री, ३ री शती)

और पूज्यपाद-देवनन्दि (विक्रमकी ६ ठी शती) ने क्रमशः जीवसिद्धि तथा सर्वार्थसिद्धि जैसे सिद्ध्यन्त नामके ग्रन्थ रचे हैं। सम्भवतः वादीभसिंहने अपनी यह 'स्याद्वादसिद्धि' भी उसी तरह सिद्ध्यन्त नामसे रची है।

(ग) विषय-परिचय

ग्रन्थके आदिमे ग्रन्थकारने प्रथमत. पहली कारिकाद्वारा मङ्गलाचरण और दूसरी कारिकाद्वारा ग्रन्थ बनानेका उद्देश्य प्रदर्शित किया है। इसके बाद उन्होंने विवक्षित विषयका प्रतिपादन आरम्भ किया है। वह विवक्षित विषय है स्याद्वादकी सिद्धि और उसीमे तत्त्वव्यवस्थाका सिद्ध होना। इन्ही दो बातोंका इसमे कथन किया गया है और प्रसङ्गतः दर्शनान्तरीय मन्तव्योंकी समीक्षा भी की गई है।

इसके लिये ग्रन्थकारने प्रस्तुत ग्रन्थमें अनेक प्रकरण रखे हैं। उपलब्ध प्रकरणोंमे विषय-वर्णन इस प्रकार है :—

१. जीवसिद्धि—इसमें चार्वाकको लक्ष्य करके सहेतुक जीव (आत्मा) की सिद्धि की गई है और उसे भूतसंघातका कार्य माननेका निरसन किया गया है। इस प्रकरणमें २४ कारिकाएँ हैं।

२. फलभोक्तृत्वाभावसिद्धि—इसमे बौद्धोके क्षणिकवादमे दूषण दिये गये हैं। कहा गया है कि क्षणिक चित्तसन्तानरूप आत्मा धर्मादिजन्य स्वर्गादि फलका भोक्ता नहीं बन सकता, क्योंकि धर्मादि करनेवाला चित्त क्षणध्वंसी है—वह उसी समय नष्ट हो जाता है और यह नियम है कि 'कर्त्ता ही फलभोक्ता होता है' अतः आत्माको कथंचित् नाशशील—सर्वथा नाशशील नही—स्वीकार करना चाहिए। और उस हालतमें कर्त्तृत्व और फलभोक्तृत्व दोनों एक (आत्मा) में बन सकते है। यह प्रकरण ४४ कारिकाओंमें पूरा हुआ है।

३. युगपदनेकान्तसिद्धि—इसमें वस्तुको युगपत्—एक साथ वास्तविक अनेकधर्मात्मक सिद्ध किया गया है और बौद्धाभिमत अपोह, सन्तान, सादृश्य तथा संवृति आदिकी युक्तिपूर्ण समीक्षा करते हुए चित्तक्षणोंको निरन्वय एव निरश स्वीकार करनेमे एक दूषण यह दिया गया है कि जब चित्तक्षणोमें अन्वय (व्यापिद्रव्य) नही है—वे परस्पर सर्वथा भिन्न है तो 'दाताको ही स्वर्ग और वधकको ही नरक हो' यह नियम नहीं बन सकता। प्रत्युत इसके विपरीत भी सम्भव है—दाताको नरक और वधकको स्वर्ग क्यों न हो ? इस प्रकरणमें ७४ कारिकाएँ हैं।

४. क्रमानेकान्तसिद्धि—इसमे वस्तुको क्रमसे वास्तविक अनेक धर्मोवाली सिद्ध किया है। यह प्रकरण भी तीसरे प्रकरणको तरह क्षणिकवादी बौद्धोंको लक्ष्य करके लिखा गया है। इसमे कहा गया है कि यदि पूर्व और उत्तर पर्यायोंमें एक अन्वयी द्रव्य न हो तो न तो उपादानोपादेयभाव बन सकता है, न प्रत्यभिज्ञा बनती है, न स्मरण बनता है और न व्याप्तिग्रहण ही बनता है, क्योंकि क्षणिकैकान्तमे उन (पूर्व और उत्तर पर्यायों) में एकता सिद्ध नही होती, और ये सब उसी समय उपपन्न होते हैं जब उनमे एकता (अनुस्यूतरूपसे रहनेवाला एकपना) हो। अतः जिस प्रकार मिट्टी क्रमवर्ती स्थास-कोश-कुशूल-कपाल-घटादि अनेक पर्याय-धर्मोंसे युक्त है उसी प्रकार समस्त वस्तुएँ भी क्रमसे नानाधर्मात्मक हैं और वे नाना धर्म उनके उसी तरह वास्तविक हैं जिस तरह मिट्टीके स्थासादिक।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि वादीभसिंहकी तरह विद्यानन्दने[1] भी अनेकान्तके दो भेद बतलाये

१. गुणवद्द्रव्यमित्युक्तं सहानेकान्तसिद्धये।
तथा पर्यायवद्द्रव्यं क्रमानेकान्तवित्तये ॥—तत्त्वार्थश्लो० श्लो० ४३८

हैं—एक सहानेकान्त और दूसरा क्रमानेकान्त। और इन दोनों अनेकान्तोंकी प्रसिद्धि एवं मान्यताको उन्होंने श्रीगृद्धपिच्छाचार्यके 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' [त० सू० ५-३७] इस सूत्रकथनसे समर्थित किया है अथवा सूत्रकारके कथनको उक्त दो अनेकान्तोंकी दृष्टिसे सार्थक बतलाया है। अतः युगपदेनकान्त और क्रमानेकान्तरूप दो अनेकान्तोंकी प्रस्तुत चर्चा जैन दर्शनकी एक बहुत प्राचीन चर्चा मालूम होती है जिसका स्पष्ट उल्लेख इन दोनों आचार्यों द्वारा ही हुआ जान पड़ता है। यह प्रकरण ८९½ कारिकाओंमें समाप्त है।

५. भोक्तृत्वाभावसिद्धि—इसमें सर्वथा नित्यवादीको लक्ष्य करके उसके नित्यैकान्तकी समीक्षा की गई है। कहा गया है कि यदि आत्मादि वस्तु सर्वथा नित्य—कूटस्थ—सदा एक-सी रहने वाली—अपरिवर्तनशील हो तो वह न कर्ता बन सकती है और न भोक्ता। कर्ता माननेपर भोक्ता और भोक्ता माननेपर कर्ताके अभावका प्रसङ्ग आता है, क्योंकि कर्तापन और भोक्तापन ये दोनों क्रमवर्ती परिवर्तन हैं और वस्तु नित्यवादियोंद्वारा सर्वथा अपरिवर्तनशील—नित्य मानी गई है। यदि वह कर्तापनका त्यागकर भोक्ता बने तो वह नित्य नहीं रहती—अनित्य हो जाती है, क्योंकि कर्तापन आदि वस्तुसे अभिन्न हैं। यदि भिन्न हों तो वे आत्माके सिद्ध नहीं होते, क्योंकि उनमें समवायादि कोई सम्बन्ध नहीं बनता। अतः नित्यैकान्तमें आत्माके भोक्तापन आदिका अभाव सिद्ध है। इस प्रकरणमें ३२ कारिकाएँ हैं।

६. सर्वज्ञाभावसिद्धि—इसमें नित्यवादी नैयायिक, वैशेषिक और मीमांसकोंको लक्ष्य करके उनके स्वीकृत नित्यैकान्त प्रमाण (आत्मा-ईश्वर अथवा वेद) में सर्वज्ञताका अभाव प्रतिपादन किया गया है। इसमें २२ कारिकाएँ हैं।

७. जगत्कर्तृत्वाभावसिद्धि—इसमें ईश्वर जगत्कर्ता सिद्ध नहीं होता, यह बतलाया गया है। इसमें भी २२ कारिकाएँ हैं।

८. अर्हत्सर्वज्ञसिद्धि—इसमें सप्रमाण अर्हन्तको सर्वज्ञ सिद्ध किया गया है और विभिन्न बाधाओंका निरसन किया गया है। इसमें २१ कारिकाएँ हैं।

९. अर्थापत्तिप्रामाण्यसिद्धि—नवाँ प्रकरण अर्थापत्तिप्रामाण्यसिद्धि है। इसमें सर्वज्ञादिकी साधक अर्थापत्तिको प्रमाण सिद्ध करते हुए उसे अनुमान प्रतिपादित किया गया है और उसे माननेकी खास आवश्यकता बतलाई गई है। कहा गया है कि जहाँ अर्थापत्ति (अनुमान) का उत्थापक अन्यथानुपपन्नत्व-अविनाभाव होता है वहीं साधन साध्यका गमक होता है। अत एव उसके न होने और अन्य पक्षधर्मत्वादि तीन रूपोंके होने पर भी 'वह श्याम होना चाहिये, क्योंकि उसका पुत्र है, अन्य पुत्रोंकी तरह' इस अनुमानमें प्रयुक्त 'उसका पुत्र होना' रूप साधन अपने 'श्यामत्व' रूप साध्यका गमक नहीं है। अतः अर्थापत्ति अप्रमाण नहीं है—प्रमाण है और वह अनुमानस्वरूप है। इस प्रकरणमें २३ कारिकाएँ हैं।

१०. वेदपौरुषेयत्वसिद्धि—दशवां प्रकरण वेदपौरुषेयत्वसिद्धि है। इसमें वेदको सयुक्तिक पौरुषेय सिद्ध किया गया है। और उसकी अपौरुषेय-मान्यताकी मार्मिक मीमांसा की गई है। यह प्रकरण ३९ कारिकाओंमे समाप्त है।

११. परतः प्रामाण्यसिद्धि—ग्यारहवाँ प्रकरण परतः प्रामाण्यसिद्धि है। इसमें मीमांसकोंके स्वतः प्रामाण्य मतकी कुमारिलके मीमांसाश्लोकवार्तिक ग्रन्थके उद्धरणपूर्वक कड़ी आलोचना करते हुए प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द (आगम) प्रमाणोंमें गुणकृत प्रामाण्य सिद्ध किया गया है। इस प्रकरणमें २८ कारिकाएँ है।

१२ **अभावप्रमाणदूषणसिद्धि**—बारहवां प्रकरण अभावप्रमाणदूषणसिद्धि है। इसमें सर्वज्ञका अभाव बतलानेके लिये भाट्टोंद्वारा प्रस्तुत अभावप्रमाणमें दूषण प्रदर्शित किये गये हैं और उसकी अतिरिक्त प्रमाणताका निराकरण किया गया है। इसमें १६ कारिकाएँ निबद्ध हैं।

१३. **तर्कप्रामाण्यसिद्धि**—तेरहवां प्रकरण तर्कप्रामाण्यसिद्धि है। इसमें अविनाभावरूप व्याप्तिका निश्चय करानेवाले तर्कको प्रमाण सिद्ध किया गया है और यह बतलाया गया है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अविनाभावका ग्रहण नहीं हो सकता। इसमें २१ कारिकाएँ हैं।

१४.………चौदहवां प्रकरण अधूरा है और इसलिये इसका अन्तिम समाप्तिपुष्पिकावाक्य उपलब्ध न होनेसे यह ज्ञात नहीं होता कि इसका नाम क्या है? इसमें प्रधानतया वैशेषिकके गुण-गुणीभेदादि और समवायादिकी समालोचना की गई है। अतः सम्भव है इसका नाम 'गुण-गुणीअभेदसिद्धि' हो। इसमें ७० कारिकाएँ उपलब्ध हैं। इसकी अन्तिम कारिका, जो खण्डित एवं त्रुटित रूपमें है, इस प्रकार है—

तद्विशेषणभावाख्यसम्बन्धे तु न च (चा?) स्थितः।
समवा………………………………॥ ७० ॥

ब्रह्मदूषणसिद्धि—उपलब्ध रचनामें उक्त प्रकरणके बाद यह प्रकरण पाया जाता है। मूडबिद्रीकी ताडपत्र-प्रतिमें उक्त प्रकरणकी उपर्युक्त 'तद्विशेषण' आदि कारिकाके बाद इस प्रकरणकी 'तन्नो चेद्ब्रह्म-निर्णीति' आदि ५२वीं कारिकाके पूर्वार्द्ध तक सात पत्र त्रुटित हैं। इन सात पत्रोंमें मालूम नहीं कितनी कारिकाएँ और प्रकरण नष्ट हैं। एक पत्रमें लगभग ५० कारिकाएँ पाई जाती हैं और इस हिसाबसे सात पत्रोंमें ५० × ७ = ३५० के करीब कारिकाएँ होनी चाहिये और प्रकरण कितने होंगे, यह कहा नहीं जा सकता। अतएव यह '**ब्रह्मदूषणसिद्धि**' प्रकरण कौनसे नम्बर अथवा संख्यावाला है, यह बतलाना भी अशक्य है। इसका ५१½ कारिकाओं जितना प्रारम्भिक अंश नष्ट है। ब्रह्मवादियोंको लक्ष्य करके इसमें उनके अभिमत ब्रह्ममें दूषण दिखाये गये हैं। यह १८९ (त्रुटित ५१½ + उपलब्ध १३७½ =) कारिकाओंमें पूर्ण हुआ है और उपलब्ध प्रकरणोंमें सबसे बड़ा प्रकरण है।

अन्तिम प्रकरण—उक्त प्रकरणके बाद इसमें एक प्रकरण और पाया जाता है और जो खण्डित है तथा जिसमें सिर्फ आरम्भिक ६½ कारिकाएँ उपलब्ध हैं। इसके बाद ग्रन्थ खण्डित और अपूर्ण हालतमें विद्यमान है। चौदहवें प्रकरणकी तरह इस प्रकरणका भी समाप्तिपुष्पिकावाक्य अनुपलब्ध होनेसे इसका नाम ज्ञात नहीं होता। उपलब्ध कारिकाओंसे मालूम होता है कि इसमें स्याद्वादका प्ररूपण और बौद्धदर्शनके अपोहादिका खण्डन होना चाहिए।

अन्य ग्रन्थकारों और उनके ग्रन्थवाक्योंका उल्लेख

ग्रन्थकारने इस रचनामें अन्य ग्रन्थकारों और उनके ग्रंथवाक्योंका भी उल्लेख किया है। प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् कुमारिल भट्ट और प्रभाकरका नामोल्लेख करके उनके अभिमत भावना और नियोगरूप वेदवाक्यार्थका निम्न प्रकार खण्डन किया है—

नियोग-भावनारूपं भिन्नमर्थद्वयं तथा
भट्ट-प्रभाकराभ्यां हि वेदार्थत्वेन निश्चितम् ॥६-१९॥

इसी तरह अन्य तीन जगहोंपर कुमारिल भट्टके मीमांसाश्लोकवार्तिकसे 'वार्तिक' नामसे अथवा उसके बिना नामसे भी तीन कारिकाएँ उद्धृत करके समालोचित हुई हैं और जिन्हें ग्रन्थका अङ्ग बना लिया गया है। वे कारिकाएँ ये हैं—

(क) 'यद्वेदाध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम्
तदध्ययनवाच्यत्वादधुनेव भवेदिति ॥'—मी० श्लो० अ० ७, का० ३५५।
इत्यस्मादनुमानात्स्याद्वेदस्यापौरुषेयता ।१०-३७।
(ख) 'स्वत सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम् ।
न हि स्ततोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते ॥'
—मी० श्लो० सू० २, का० ४७।
इति वार्तिकसद्भावात्.................. ....—१-११।
(ग) 'शब्दे दोषोद्भवस्तावद्वक्त्र्यधीन इति स्थितिः ।
तदभावः क्वचित्तावद् गुणवद्वक्तृकत्वतः ॥'—मी०श्लो०सू० २, का० ६२।
इति वार्तिकतः शब्द · ....।—११-२०।

इसी तरह प्रशस्तकर[1], दिग्नाग[2], धर्मकीर्ति[3] जैसे प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थकारोके पाद-वाक्यादिकोंके भी उल्लेख इसमे पाये जाते है।

स्याद्वादसिद्धिः हिन्दी-सारांश

१. जीव-सिद्धि

मङ्गलाचरण—श्रीवर्द्धमानस्वामीके लिये मेरा नम्र नमस्कार है जो विश्ववेदी (सर्वज्ञ) है, नित्यानन्दस्वभाव है और भक्तोको अपने समान बनानेवाले है—उनकी जो भक्ति एवं उपासना करते है वे उन जैस उत्कृष्ट आत्मा (परमात्मा) बन जाते हैं।

---

१ 'इह शाखासु वृक्षोऽयमिति सम्बन्धपूर्विका ।
बुद्धिरिहेदबुद्धित्वात्कुण्डे दधीति बुद्धिवत् ॥'५-८॥

इसमे प्रशस्तकरके प्रशस्तपादभाष्यगत समवायलक्षणकी सिद्धि प्रदर्शित है। तथा आगेकी कारिकाओंमे उनके 'अयुतसिद्धि' विशेषणकी आलोचना भी की गई है।

२, 'विकल्पयोनय शब्दा इति बौद्धवचः श्रुतेः ।
कल्पनाया विकल्पत्वान्न हि बुद्धस्य वक्तृता ॥'७-५॥

इस कारिकामे जिस 'विकल्पयोनयः शब्दाः' वाक्यको बौद्धका वचन कहा गया है वह वाक्य निम्न कारिकाका वाक्यांश है—
'विकल्पयोनयः शब्दाः विकल्पाः शब्दयोनयः ।
तेषामन्योन्यसम्बन्धो नार्थान् शब्दाः स्पृशन्त्यमी ॥'

यह कारिका न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ५३७) आदि ग्रंथोंमे उद्धृत है। ८वी-९वी शतीके विद्वान् हरिभद्रने भी इसे अनेकान्तजयपताका (पृ० ३३७) में उद्धृत किया है और उसे भदन्त दिन्नकी बतलाई है। भदन्त दिन्न सम्भवतः दिग्नागको ही कहा गया है। इस कारिकामे प्रतिपादित सिद्धान्त (शब्द और अर्थके सम्बन्धाभाव)को दिग्नागके अनुगामी धर्मकीर्तिने भी अपने प्रमाणवार्तिक (३-२०४) मे वर्णित किया है।

३. 'विधूतकल्पनाजालगम्भीरोदारमूर्तये ।
इत्यादिवाक्यसद्भावात्स्याद्धि बुद्धेऽप्यवक्तृता ॥'७-४।

इस कारिकाका पूर्वार्ध प्रमाणवार्तिक १-१ का पूर्वार्ध है।

ग्रन्थका उद्देश्य--संसारके सभी जीव सुख चाहते हैं, परन्तु उसका उपाय नहीं जानते । अतः प्रस्तुत ग्रन्थद्वारा सुखके उपायका कथन किया जाता है क्योंकि बिना कारणके कोई भी कार्य उत्पन्न नही होता ।

ग्रन्थारम्भ--यदि प्राणियोंको प्राप्त सुख-दुखादिरूप कार्य बिना कारणके हों तो किसीको ही सुख और किसीको ही दुःख क्यों होता है, सभीको केवल सुख ही अथवा केवल दुःख ही क्यों नही होता ? तात्पर्य यह कि संसारमें जो सुखादिका वैषम्य—कोई सुखी और कोई दुखी—देखा जाता है वह कारणभेदके बिना सम्भव नही है ।

तथा कोई कफप्रकृतिवाला है, कोई वातप्रकृतिवाला है और कोई पित्तप्रकृतिवाला है सो यह कफादिकी विषमतारूप कार्य भी जीवोंके बिना कारणभेदके नहीं बन सकता है और जो स्त्री आदिके सम्पर्कसे सुखादि माना जाता है वह भी बिना कारणके असम्भव है, क्योंकि स्त्री कही अन्तक--घातकका भी काम करती हुई देखी जाती है--किसीको वह विषादि देकर मारनेवाली भी होती है ।

क्या बात है कि सर्वाङ्ग सुन्दर होनेपर भी कोई किसीके द्वारा ताड़न-वध-बन्धनादिको प्राप्त होता है और कोई तोता, मैना आदि पक्षी अपने भक्षकोंद्वारा भी रक्षित होते हुए बड़े प्रेमसे पाले-पोषे जाते है ?

अतः इन सब बातोंसे प्राणियोंके सुख-दुःखके अन्तरङ्ग कारण धर्म और अधर्म अनुमानित होते है । वह अनुमान इस प्रकार है--धर्म और अधर्म है, क्योंकि प्राणियोंको सुख अथवा दुःख अन्यथा नही हो सकता ।' जैसे पुत्रके सद्भावसे उसके पितारूप कारणका अनुमान किया जाता है ।

चार्वाक—अनुमान प्रमाण नही है, क्योंकि उसमें व्यभिचार (अर्थके अभावमे होना) देखा जाता है ?

जैन—यह बात तो प्रत्यक्षमें भी समान है, क्योंकि उसमें भी व्यभिचार देखा जाता है—सीपमे चांदीका, रज्जुमें सर्पका और बालोंमें कीड़ोंका प्रत्यक्षज्ञान अर्थके अभावमें भी देखा गया है और इसलिए प्रत्यक्ष तथा अनुमानमे कोई विशेषता नहीं है जिससे प्रत्यक्षको तो प्रमाण कहा जाय और अनुमानको अप्रमाण ।

चार्वाक—जो प्रत्यक्ष निर्बाध है वह प्रमाण माना गया है और जो निर्बाध नही है वह प्रमाण नही माना गया । अतएव सीपमें चांदीका आदि प्रत्यक्षज्ञान निर्बाध न होनेसे प्रमाण नही है ?

जैन--तो जिस अनुमानमें बाधा नही है--निर्बाध है उसे भी प्रत्यक्षकी तरह प्रमाण मानिये, क्योंकि प्रत्यक्षविशेषकी तरह अनुमानविशेष भी निर्बाध सम्भव है । जैसे हमारे सद्भावसे पितामह (बाबा) आदिका अनुमान[1] निर्बाध माना जाता है ।

इस तरह अनुमानके प्रमाण सिद्ध हो जानेपर उसके द्वारा धर्म और अधर्म सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि कार्य कर्ताकी अपेक्षा लेकर ही होता है--उसकी अपेक्षा लिये बिना वह उत्पन्न नहीं होता और तभी वे धर्माधर्म सुख-दुःखादिके जनक होते हैं । अतः अर्थापत्तिरूप अनुमान प्रमाणसे हम सिद्ध करते हैं कि--'धर्मादिका कर्ता जीव है, क्योंकि सुखादि अन्यथा नही हो सकता ।' प्रकट है कि जीवमे धर्मादिसे सुखादि होते हैं, अतः वह उनका कर्त्ता है, था और आगे भी होगा और इस तरह परलोकी नित्य आत्मा (जीव) सिद्ध होता है ।

---

१. 'हमारे पितामह, प्रपितामह आदि थे, क्योंकि हमारा सद्भाव अन्यथा नही हो सकता था ।'

जीवकी सिद्धि एक दूसरे अनुमानसे भी होती है और जो निम्न प्रकार है :—

'जीव पृथिवी आदि पंच भूतोंसे भिन्न तत्त्व है, क्योंकि वह सत् होता हुआ चैतन्यस्वरूप है और अहेतुक (नित्य) है।'

आत्माको चैतन्यस्वरूप माननेमें चार्वाकको भी विवाद नहीं है, क्योंकि उन्होंने भी भूतसंहृतिसे उत्पन्न विशिष्ट कार्यको ज्ञानरूप माना है। किंतु ज्ञान भूतसंहतिरूप शरीरका कार्य नहीं है, क्योंकि स्व-संवेदनप्रत्यक्षसे वह शरीरका कार्य प्रतीत नहीं होता। प्रकट है कि जिस इन्द्रियप्रत्यक्षसे मिट्टी आदिका ग्रहण होता है उसी इन्द्रियप्रत्यक्षसे उसके घटादिक विकाररूप कार्योंका भी ग्रहण होता है और इसलिये घटादिक मिट्टी आदिके कार्य माने जाते हैं। परन्तु यह बात शरीर और ज्ञानमें नहीं है—शरीर तो इन्द्रिय-प्रत्यक्षसे ग्रहण किया जाता है और ज्ञान स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे। यह कौन नहीं जानता कि शरीर तो आँखोंसे देखा जाता है किंतु ज्ञान आँखोसे देखनेमे नहीं आता।[1] अतः दोनोंकी विभिन्न प्रमाणोंसे प्रतीति होनेसे उनमें परस्पर कारणकार्यभाव नहीं है। जिनमें कारणकार्यभाव होता है वे विभिन्न प्रमाणोंसे गृहीत नही होते। अतः ज्ञानस्वरूप आत्मा भूतसंहतिरूप शरीरका कार्य नहीं है। और इसलिये वह अहेतुक—नित्य भी सिद्ध है।

चार्वाक—यदि ज्ञान शरीरका कार्य नही है तो न हो पर वह शरीरका स्वभाव अवश्य है और इसलिये वह शरीरसे भिन्न तत्त्व नहीं है, अतः उक्त हेतु प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध है?

जैन—नहीं, दोनोंकी पर्यायें भिन्न भिन्न देखी जाती हैं, जिस तरह शरीरसे बाल्यादि अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं उस तरह रागादिपर्यायें उससे उत्पन्न नहीं होतीं—वे चैतन्यस्वरूप आत्मासे ही उत्पन्न होती हैं किन्तु जो जिसका स्वभाव होता है वह उससे भिन्न पर्यायवाला नहीं होता। जैसे सड़े महुआ और गुडादिकसे उत्पन्न मदिरा उनका स्वभाव होनेसे भिन्न द्रव्य नहीं है और न भिन्न पर्यायवाली है। अतः सिद्ध है कि ज्ञान शरीरका स्वभाव नहीं है।

अतएव प्रमाणित होता है कि आत्मा भूतसंघातसे भिन्न तत्त्व है और वह उसका न कार्य है तथा न स्वभाव है।

इस तरह परलोकी नित्य आत्माके सिद्ध हो जानेपर स्वर्ग-नरकादिरूप परलोक भी सिद्ध हो जाता है। अतः चार्वाकोंको उनका निषेध करना तर्कयुक्त नहीं है। इसलिये जो जीव सुख चाहते है उन्हें उसके उपायभूत धर्मको अवश्य करना चाहिए, क्योंकि 'बिना कारणके कार्य उत्पन्न नहीं होता' यह सर्वमान्य सिद्धान्त है और जिसे ग्रन्थके आरम्भमे ही हम ऊपर कह आये है।

२. फलभोक्तृत्वाभावसिद्धि

बौद्ध आत्माको भूतसंघातसे भिन्न तत्त्व मानकर भी उसे सर्वथा क्षणिक—अनित्य स्वीकार करते है, परन्तु वह युक्त नहीं है; क्योंकि आत्माको सर्वथा क्षणिक माननेमें न धर्म बनता है और न धर्मफल बनता है। स्पष्ट है कि उनके क्षणिकत्वसिद्धान्तानुसार जो आत्मा धर्म करनेवाला है वह उसी समय नष्ट

---

१. शरीरे दृश्यमानेऽपि न चैतन्यं विलोक्यते।
शरीरं न च चैतन्यं यतो भेदस्तयोस्ततः॥
चक्षुषा वीक्ष्यते गात्रं चैतन्यं संविदा यतः।
भिन्नज्ञानोपलम्भेन ततो भेदस्तयोः स्फुटम्॥"' पद्मपुराण।

हो जाता है और ऐसी हालतमें वह स्वर्गादि धर्मफलका भोक्ता नहीं हो सकता। और यह नियम है कि 'कर्ता ही फलभोक्ता होता है, अन्य नहीं।'

बौद्ध—यद्यपि आत्मा, जो चित्तक्षणोंके समुदायरूप है, क्षणिक है तथापि उसके कार्यकारणरूप सन्तानके होनेसे उसके धर्म और धर्मफल दोनों बन जाते हैं और इसलिये 'कर्ता ही फलभोक्ता होता है' यह नियम उपपन्न हो जाता है?

जैन—अच्छा, तो यह बतलाइये कि कर्ताको फल प्राप्त होता है या नहीं? यदि नहीं, तो फलका अभाव आपने भी स्वीकार कर लिया। यदि कहें कि प्राप्त होता है तो कर्ताके नित्यपनेका प्रसंग आता है, क्योंकि उसे फल प्राप्त करने तक ठहरना पड़ेगा। प्रसिद्ध है कि जो धर्म करता है उसे ही उसका फल मिलता है अन्यको नहीं। किंतु जब आप आत्माको निरन्वय क्षणिक मानते हैं तो उसके नाश हो जानेपर फल दूसरा चित्त ही भोगेगा, जो कर्ता नहीं है और तब 'कर्ताको ही फल प्राप्त होता है' यह कैसे सम्भव है?

बौद्ध—जैसे पिताकी कमाईका फल पुत्रको मिलता है और यह कहा जाता है कि पिताको फल मिला उसी तरह कर्ता आत्माको भी फल प्राप्त हो जाता है?

जैन—आपका यह केवल कहना मात्र है—उससे प्रयोजन कुछ भी सिद्ध नहीं होता। अन्यथा पुत्रके भोजन कर लेनेसे पिताके भी भोजन कर लेनेका प्रसंग आवेगा।

बौद्ध—व्यवहार अथवा संवृत्तिसे कर्ता फलभोक्ता बन जाता है, अतः उक्त दोष नहीं है?

जैन—हमारा प्रश्न है कि व्यवहार अथवा संवृत्तिसे आपको क्या अर्थ विवक्षित है? धर्मकर्ताको फल प्राप्त होता है, यह अर्थ विवक्षित है अथवा धर्मकर्ताको फल प्राप्त नहीं होता, यह अर्थ इष्ट है या धर्मकर्ता-को कथंचित् फल प्राप्त होता है, यह अर्थ अभिप्रेत है? प्रथमके दो पक्षोंमे वही दूषण आते हैं जो ऊपर कहे जा चुके हैं और इस लिये ये दोनों पक्ष तो निर्दोष नहीं हैं। तीसरा पक्ष भी बौद्धोंके लिये इष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि उससे उनके क्षणिक सिद्धान्तकी हानि होती है और स्याद्वादमतका प्रसङ्ग आता है।

दूसरे, यदि संवृत्तिसे धर्मकर्ता फलभोक्ता हो तो संसार अवस्थामें जिस चित्तने धर्म किया था उसे मुक्त अवस्थामे भी संवृत्तिसे उसका फलभोक्ता मानना पड़ेगा। यदि कहा जाय कि जिस संसारी चित्तने धर्म किया था उस संसारी चित्तको ही फल मिलता है मुक्त चित्तको नहीं, तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि धर्मकर्ता संसारी चित्तको भी उसका फल नहीं मिल सकता। कारण, वह उसी समय नष्ट हो जाता है और फल भोगनेवाला संसारी चित्त दूसरा ही होता है फिर भी यदि आप उसे फलभोक्ता मानते हैं तो मुक्त चित्तको भी उसका फलभोक्ता कहिये, क्योंकि मुक्त और संसारी दोनो ही चित्त फलसे सर्वथा भिन्न तथा नाशकी अपेक्षासे परस्परमे कोई विशेषता नहीं रखते। यदि उनमें कोई विशेषता हो तो उसे बतलाना चाहिए।

बौद्ध—पूर्व और उत्तरवर्ती संसारी चित्तक्षणोंमे उपादानोपादेयरूप विशेषता है जो संसारी और मुक्त चित्तोंमे नहीं है और इसलिए उक्त दोष नहीं है?

जैन—चित्तक्षण जब सर्वथा भिन्न और प्रतिसमय नाशशील हैं तो उनमे उपादानोपादेयभाव बन ही नहीं सकता है। तथा निरन्वय होनेसे उनमे एक सन्तति भी असम्भव है। क्योंकि हम आपसे पूछते हैं कि वह सन्तति क्या है? सादृश्यरूप है या देश-काल सम्बन्धी अन्तरका न होना (नैरन्तर्य) रूप है अथवा एक कार्यको करना रूप है? पहला पक्ष तो ठीक नहीं है। कारण, निरंशवादमें सादृश्य सम्भव नहीं है—सभी

क्षण परस्पर विलक्षण और भिन्न-भिन्न माने गये हैं । अन्यथा पिता और पुत्रमें भी ज्ञानरूपसे सादृश्य होनेसे एक सन्ततिके माननेका प्रसङ्ग आवेगा । दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि बौद्धोंके यहाँ देश और काल कल्पित माने गये हैं और तब उनकी अपेक्षासे होनेवाला नैरन्तर्य भी कल्पित कहा जायगा, किन्तु कल्पितसे कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है अन्यथा कल्पित अग्निसे दाह और मिथ्या सर्पदंशसे मरणरूप कार्य भी हो जाने चाहिए, किन्तु वे नहीं होते । एक कार्यको करनारूप सन्तति भी नहीं बनती; क्योंकि क्षणिकवादमें उस प्रकारका ज्ञान ही सम्भव नही है । यदि कहा जाय कि एकत्ववासनासे उक्त ज्ञान हो सकता है अर्थात् जहाँ 'सोऽहं'—'वही मैं हूँ' इस प्रकारका ज्ञान होता है वही उपादानोपादेयरूप सन्तति मानी गई है और उक्त ज्ञान एकत्ववासनासे होता है, तो यह कथन भी ठीक नही है क्योंकि उसमें अन्योन्याश्रय नामका दोष आता है । वह इस प्रकार है—जब एकत्वज्ञान सिद्ध हो तब एकत्ववासना बने और जब एकत्ववासना बन जाय तब एकत्वज्ञान सिद्ध हो । और इस तरह दोनों ही असिद्ध रहते हैं । केवल कार्य-कारणरूपतासे सन्तति मानना भी उचित नही है, अन्यथा बुद्ध और संसारियोंमें भी एक सन्तानका प्रसङ्ग आवेगा, क्योंकि उनमे कार्य-कारणभाव है—वे बुद्धके द्वारा जाने जाते हैं और यह नियम है कि जो कारण नहीं होता वह ज्ञानका विषय भी नही होता—अर्थात् जाना नहीं जाता । तात्पर्य यह कि कारण ही ज्ञानका विषय होता है और संसारी बुद्धके विषय होनेसे वे कारण है तथा बुद्धचित्त उनका कार्य है अतः उनमें भी एक सन्ततिका प्रसंग आता है ।

अत. आत्माको सर्वथा क्षणिक और निरन्वय माननेपर धर्म तथा धर्मफल दोनों ही नहीं बनते, किन्तु उसे कथंचित् क्षणिक और अन्वयी स्वीकार करनेसे वे दोनों बन जाते हैं । 'जो मैं बाल्यावस्था मे था वही उस अवस्थाको छोड़कर अब मैं युवा हूँ ।' ऐसा प्रत्यभिज्ञान नामका निर्बाध ज्ञान होता है और जिससे आत्मा कथंचित् नित्य तथा अनित्य प्रतीत होता है और प्रतीतिके अनुसार वस्तुकी व्यवस्था है ।

३. युगपदनेकान्तसिद्धि

एक साथ तथा क्रमसे वस्तु अनेकधर्मात्मक है, क्योंकि सन्तान आदिका व्यवहार उसके बिना नही हो सकता । प्रकट है कि बौद्ध जिस एक चित्तको कार्यकारणरूप मानते हैं और उसमे एक सन्ततिका व्यवहार करते हैं वह यदि पूर्वोत्तर क्षणोंकी अपेक्षा नानात्मक न हो तो न तो एक चित्त कार्य एवं कारण दोनोंरूप हो सकता है और न उसमे सन्ततिका व्यवहार ही बन सकता है ।

बौद्ध—बात यह है कि एक चित्तमे जो कार्यकारणादिका भेद माना गया है वह व्यावृत्तिद्वारा, जिसे अपोह अथवा अन्यापोह कहते हैं, कल्पित है वास्तविक नही ?

जैन—उक्त कथन ठीक नही है, क्योंकि व्यावृत्ति अवस्तुरूप होनेसे उसके द्वारा भेदकल्पना सम्भव नही है । दूसरी बात यह है कि प्रत्यक्षादिसे उक्त व्यावृत्ति सिद्ध भी नही होती, क्योंकि वह अवस्तु है और प्रत्यक्षादिकी वस्तुमे ही प्रवृत्ति होती है ।

बौद्ध—ठीक है कि प्रत्यक्षसे व्यावृत्ति सिद्ध नही होती, पर वह अनुमानसे अवश्य सिद्ध होती है और इसलिये वस्तुमे व्यावृत्ति-कल्पित ही धर्मभेद है ?

जैन—नहीं, अनुमानसे व्यावृत्तिकी सिद्धि माननेमें अन्योन्याश्रय नामका दोष आता है । वह इस तरहसे है—व्यावृत्ति जब सिद्ध हो तो उससे अनुमानसम्पादक साध्यादि धर्मभेद सिद्ध हो और जब साध्यादि धर्मभेद सिद्ध हो तब व्यावृत्ति सिद्ध हो । अतः अनुमानसे भी व्यावृत्तिकी सिद्धि सम्भव नही है । ऐसी स्थितिमें उसके द्वारा धर्मभेदको कल्पित बतलाना असंगत है ।

बौद्ध—विकल्प व्यावृत्तिग्राहक है, अतः उक्त दोष नहीं है ?

जैन—यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि विकल्पको आपने अप्रमाण माना है। अपि च, यह कल्पनात्मक व्यावृत्ति वस्तुओंमें सम्भव नहीं है अन्यथा वस्तु और अवस्तुमे साङ्कर्य हो जायगा।

इसके सिवाय, खण्डादिमे जिस तरह अगोनिवृत्ति है उसी तरह गुल्मादिमे भी वह है, क्योंकि उसमें कोई भेद नहीं है—भेद तो वस्तुनिष्ठ है और व्यावृत्ति अवस्तु है। और उस हालतमे 'गायको लाओ' कहनेपर जिसप्रकार खण्डादिका आनयन होता है उसीप्रकार गुल्मादिका भी आनयन होना चाहिये।

यदि कहा जाय कि 'अगोनिवृत्तिका खण्डादिमें संकेत हैं, अतः 'गायको लाओ' कहनेपर खण्डादिरूप गायका ही आनयन होता है, गुल्मादिका नही, क्योंकि वे अगो है—गो नहीं हैं' तो यह कहना भी संगत नहीं है, कारण अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होता है। खण्डादिमें गोपना जब सिद्ध हो जाय तो उससे गुल्मादिमे अगोपना सिद्ध हो और उनके अगो सिद्ध होनेपर खण्डादिमें गोपनाकी सिद्धि हो।

अगर यह कहे कि 'वहनादि कार्य खण्डादिमे ही सम्भव हैं, अतः 'गो' का व्यपदेश उन्हीमे होता है, गुल्मादिकमे नही' तो यह कहना भी युक्तियुक्त नही है, क्योकि वह कार्य भी उक्त गुल्मादिमे क्यों नही होता, क्योंकि उस कार्यका नियामक अपोह ही है और वह अपोह सब जगह अविशिष्ट—समान है।

तात्पर्य यह कि अपोहकृत वस्तुमे धर्मभेदकी कल्पना उचित नही है, किन्तु स्वरूपतः ही उसे मानना संगत है। अतः जिस प्रकार एक ही चित्त पूर्व क्षणकी अपेक्षा कार्य और उत्तर क्षणकी अपेक्षा कारण होनेसे एक साथ उसमे कार्यता और कारणतारूप दोनों धर्म वास्तविक सिद्ध होते हैं उसी प्रकार सब वस्तुएँ युगपत् अनेकधर्मात्मक सिद्ध है।

४. क्रमानेकान्तसिद्धि

पूर्वोत्तर चित्तक्षणोंमें यदि एक वास्तविक अनुस्यूतपना न हो तो उनमें एक सन्तान स्वीकार नही की जा सकती है और सन्तानके अभावमें फलाभाव निश्चित है क्योंकि करनेवाले चित्तक्षणसे फलभोगनेवाला चित्तक्षण भिन्न है और इसलिये एकत्वके बिना 'कर्ताको ही फलप्राप्ति' नही हो सकती।

यदि कहा जाय कि 'पूर्व क्षण उत्तर क्षणका कारण है, अतः उसके फलप्राप्ति हो जायगी' तो यह कहना ठीक नही है; क्योंकि कारणकार्यभाव तो पिता-पुत्रमे भी है और इसलिये पुत्रकी क्रियाका फल पिताको भी प्राप्त होनेका प्रसंग आयेगा।

बौद्ध—पिता-पुत्रमे उपादानोपादेयभाव न होनेसे पुत्रकी क्रियाका फल पिताको प्राप्त नही हो सकता। किन्तु पूर्वोत्तर क्षणोमे तो उपादानोपादेयभाव मौजूद है, अत. उनके फलका अभाव नही हो सकता ?

जैन—यह उपादानोपादेयभाव सर्वथा भिन्न पूर्वोत्तर क्षणोंकी तरह पिता-पुत्रमें भी क्यों नही है, क्योंकि भिन्नता उभयत्र एक-सी है। यदि उसमे कथचिद् अभेद मानें तो जैनपनेका प्रसग आवेगा, कारण जैनोंने ही कथंचिद् अभेद उनमें स्वीकार किया है, बौद्धोंने नही।

बौद्ध—पिता-पुत्रमें सादृश्य न होनेसे उनमे उपादानोपादेयभाव नहीं है, किन्तु पूर्वोत्तर क्षणोंमे तो सादृश्य पाया जानेसे उनमें उपादानोपादेयभाव है। अतः उक्त दोष नहीं है ?

जैन—यह कथन भी संगत नहीं है, क्योंकि उक्त क्षणोंमे सादृश्य माननेपर उनमे उपादानोपादेयभाव नहीं बन सकता। सादृश्यमें तो वह नष्ट ही हो जाता है। वास्तवमें सदृशता उनमे होती है जो भिन्न होते हैं और उपादानोपादेयभाव अभिन्न (एक) में होता है।

बौद्ध—बात यह है कि पिता-पुत्रमें देश-कालकी अपेक्षासे होनेवाला नैरन्तर्य नहीं है और उसके न होनेसे उनमे उपादानोपादेयभाव नहीं है। किन्तु पूर्वोत्तर क्षणोंमे नैरन्तर्य होनेसे उपादानोपादेयभाव है ?

जैन—यह कहना भी युक्त नही है, कारण बौद्धोंके यहाँ स्वलक्षणरूप क्षणोंसे भिन्न देशकालादिको नही माना गया है और तब उनकी अपेक्षासे कल्पित नैरन्तर्य भी उनके यहाँ नहीं बन सकता है। अतः उससे उक्त क्षणोंमें उपादानोपादेयभावकी कल्पना और पिता-पुत्रमें उसका निषेध करना सर्वथा असंगत है।

अतः कार्यकारणरूपसे सर्वथा भिन्न भी क्षणोंमें कार्यकारणभावकी सिद्धिके लिये उनमे एक अन्वयी द्रव्यरूप सन्तान अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

एक बात और है। जब आप क्षणोंमें निर्बाध प्रत्ययसे भेद स्वीकार करते हैं तो उनमें निर्बाध प्रत्ययसे ही अभेद (एकत्व—एकपना) भी मानना चाहिए; क्योंकि वे दोनों ही वस्तुमें सुप्रतीत होते हैं।

यदि कहा जाय कि दोनोमे परस्पर विरोध होनेसे वे दोनों वस्तुमें, नहीं माने जा सकते हैं तो यह कहना भी सम्यक् नहीं है; क्योंकि अनुपलभ्यमानोमें विरोध होता है, उपलभ्यमानोंमें नहीं। और भेद अभेद दोनों वस्तुमें उपलब्ध होते है। अतः भेद और अभेद दोनों रूप वस्तु मानना चाहिए।

यहाँ एक बात और विचारणीय है। वह यह कि आप (बौद्धों) के यहाँ सत् कार्य माना गया है या असत् कार्य ? दोनों ही पक्षोमे आकाश तथा खरविषाणकी तरह कारणापेक्षा सम्भव नही है।

यदि कहे कि पहले असत् और पीछे सत् कार्य हमारे यहाँ माना गया है तो आपका क्षणिकत्व सिद्धान्त नही रहता; क्योंकि वस्तु पहले और पीछे विद्यमान रहनेपर ही वे दोनों (सत्त्व और असत्त्व) वस्तुके बनते हैं। किन्तु स्याद्वादी जैनोंके यहाँ यह दोष नही है, कारण वे कार्यको व्यक्ति (विशेष) रूपसे असत् और सामान्यरूपसे सत् दोनों रूप स्वीकार करते हैं और इस स्वीकारसे उनके किसी भी सिद्धान्तका घात नही होता। अतः इससे भी वस्तु नानाधर्मात्मक सिद्ध है।

बौद्धोंने जो चित्रज्ञान स्वीकार किया है उसे उन्होंने नानात्मक मानते हुए कार्यकारणतादि अनेक-धर्मात्मक प्रतिपादन किया है। इसके सिवाय, उन्होंने रूपादिका भी नानाशक्त्यात्मक बतलाया है। एक रूप-क्षण अपने उत्तरवर्ती रूपक्षणमें उपादान तथा रसादिक्षणमें सहकारी होता है और इस तरह एक ही रूपादि क्षणमे उपादानत्व और सहकारित्व दोनों शक्तियाँ उनके द्वारा मानी गई है।

यदि रूपादि क्षण सर्वथा भिन्न हों, उनमें कथंचिद् भी अभेद—एकपना न हो, तो संतान, सादृश्य साध्य, साधन और उनकी क्रिया ये एक भी नहीं बन सकते हैं। न ही स्मरण, प्रत्यभिज्ञा आदि बन सकते हैं अतः क्षणोंकी अपेक्षा अनेकान्त और अन्वयी रूपकी अपेक्षा एकान्त दोनों वस्तुमे सिद्ध है। एक ही हेतु अपने साध्यकी अपेक्षा गमक और इतरकी अपेक्षा अगमक दोनों रूप देखा जाता है। वास्तवमे यदि वस्तु एकानेकात्मक न हो तो स्मरणादि असम्भव हैं। अतः स्मरणादि अन्यथानुपपत्तिके बलसे वस्तु अनेकान्तात्मक प्रसिद्ध होती है और अन्यथानुपपत्ति ही हेतुकी गमकतामें प्रयोजक है, पक्षधर्मत्वादि नही। कृत्तिकोदय हेतुमे पक्षधर्मत्व नहीं है किंतु अन्यथानुपपत्ति है, अतः उसे गमक स्वीकार किया गया है। और तत्पुत्रत्वादि हेतुमें पक्षधर्मत्वादि तीनों हैं, पर अन्यथानुपपत्ति नहीं है और इसलिये उसे गमक स्वीकार नहीं किया गया है।

अतएव हेतु, साध्य, स्मरण, प्रत्यभिज्ञा आदि चित्तक्षणोंमें एकपनेके बिना नहीं बन सकते है, इस लिये वस्तुमें क्रमसे अनेकान्त भी सहानेकान्तकी तरह सुस्थित होता है।

५. भोक्तृत्वाभावसिद्धि

वस्तुको सर्वथा नित्य मानना भी ठीक नही है, क्योंकि उस हालतमे आत्माके कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों नहीं बन सकते हैं। कर्तृत्व माननेपर भोक्तृत्व और भोक्तृत्व माननेपर कर्तृत्वके अभावका प्रसंग आता है; क्योंकि ये दोनों धर्म आत्मामें एक साथ नही होते--क्रमसे होते है और क्रमसे उन्हें स्वीकार करनेपर वस्तु नित्य नही रहती। कारण, कर्तृत्वको छोडकर भोक्तृत्व और भोक्तृत्वको त्यागकर कर्तृत्व होता है और ये दोनों ही आत्मासे अभिन्न होते हैं। यदि उन्हें भिन्न मानें तो 'वे आत्माके है अन्यके नही' यह व्यवहार उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि उनका आत्माके साथ समवाय सम्बन्ध है और इसलिये 'वे आत्माके हैं, अन्यके नही' यह व्यपदेश हो जाता है तो यह कहना योग्य नहीं है, क्योंकि उक्त समवाय प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाणसे प्रतीत नही होता। यदि प्रत्यक्षसे प्रतीत होता तो उसमें विवाद ही नही होता, किंतु विवाद देखा जाता है।

यौग--आगमसे समवाय सिद्ध है, अतः उक्त दोष नही है ?

जैन--नही, जिस आगमसे वह सिद्ध है उसकी प्रमाणता अनिश्चित है। अतः उससे समवायकी सिद्धि बतलाना असंगत है।

यौग--समवायकी सिद्धि निम्न अनुमानसे होती है :--'इन शाखाओमें यह वृक्ष है' यह बुद्धि सम्बन्धपूर्वक है, क्योंकि वह 'इहेदं' बुद्धि है। जैसे 'इस कुण्डमें यह दही है' यह बुद्धि। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार 'इस कुण्डमे यह दही है' यह ज्ञान संयोगसम्बन्धके निमित्तसे होता है इसी प्रकार 'इन शाखाओमे यह वृक्ष है', यह ज्ञान भी समवायसम्बन्धपूर्वक होता है। अतः समवाय अनुमानसे सिद्ध है ?

जैन--नही, उक्त हेतु 'इस वनमे यह आम्रादि हैं' इस ज्ञानके साथ व्यभिचारी है क्योंकि यह ज्ञान 'इहेदं' रूप तो है किन्तु किसी अन्य सम्बन्ध-पूर्वक नही होता और न यौगोने उनमें समवाय या अन्य सम्बन्ध स्वीकार किया भी है। केवल उसे उन्होंने अन्तरालाभावपूर्वक प्रतिपादन किया है और यह प्रकट है कि अन्तरालाभाव सम्बन्ध नही है। अतः इस अन्तरालाभावपूर्वक होनेवाले 'इहेदं' रूप ज्ञानके साथ उक्त हेतु व्यभिचारी होनेसे उसके द्वारा समवायकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

ऐसी हालतमे बुद्ध्यादि एवं कर्तृत्वादिसे आत्मा भिन्न ही रहेगा और तब जड आत्मा धर्मकर्ता अथवा फल-भोक्ता कैसे बन सकता है ? अतः क्षणिकैकान्तकी तरह नित्यैकान्तका मानना भी निष्फल है।

अपि च, आप यह बतलाइये कि समवाय क्या काम करता है ? आत्मा और बुद्ध्यादिमे अभेद करता है अथवा उनके भेदको मिटाता है ? अन्य विकल्प सम्भव नही है ? प्रथम पक्षमे बुद्ध्यादिकी तरह आत्म अनित्य हो जायगा अथवा आत्माकी तरह बुद्ध्यादि नित्य हो जायेंगे; क्योंकि दोनो अभिन्न है। दूसरे पक्षमे आत्मा और बुद्ध्यादिके भेद मिटनेपर घट-पटादिकी तरह वे दोनों स्वतंत्र हो जायेंगे। अतः समवायसे पहले इनमें न तो भेद ही माना जा सकता है और न अभेद ही, क्योकि उक्त दूषण आते है। तथा भेदाभेद उनमें आपने स्वीकार नही किया तब समवायको माननेसे क्या फल है ?

यौग--भेदको हमने अन्योन्याभावरूप माना है अतः आत्मा और बुद्ध्यादिमे स्वतत्रपनेका प्रसंग नही आता ?

जैन--यह कहना भी आपका ठीक नहीं है, क्योकि अन्योन्याभावमें भी घट-पटादिकी तरह स्वतन्त्रता रहेगी--वह मिट नहीं सकती। यदि वह मिट भी जाय तो अभेद होनेसे उक्त नित्यता-अनित्यताका दोष तदवस्थित है।

यौग—पृथक्त्वगुणसे उनमें भेद बन जाता है अतः अभेद होनेका प्रसंग नहीं आता और न फिर उसमें उक्त दोष रहता है ?

जैन—नही, पृथक्त्वगुणसे भेद माननेपर पूर्ववत् आत्मा और बुद्ध्यादिमें घटादिकी तरह भेद प्रसक्त होगा ही।

एक बात और है। समवायसे आत्मामें बुद्ध्यादिका सम्बन्ध माननेपर मुक्त जीवमें भी उनका सम्बन्ध मानना पड़ेगा, क्योंकि वह व्यापक और एक है।

यौग—बुद्ध्यादि अमुक्त-प्रभव धर्म है, अतः मुक्तोंमे उनके सम्बन्धका प्रसंग खड़ा नही हो सकता है ?

जैन—नहीं, बुद्ध्यादि मुक्तप्रभव धर्म क्यों नहीं हैं, इसका क्या समाधान है ? क्योंकि बुद्ध्यादिका जनक आत्मा है और वह मुक्त तथा अमुक्त दोनों अवस्थाओंमे समान है। अन्यथा जनकस्वभावको छोड़ने और अजनकस्वभावको ग्रहण करनेसे आत्माके नित्यपनेका अभाव आवेगा।

यौग—बुद्ध्यादि अमुक्त समवेतधर्म है, इसलिये वे अमुक्त-प्रभव—मुक्तप्रभव नहीं है ?

जैन—नही, क्योकि अन्योन्याश्रय दोष आता है। बुद्ध्यादि जब अमुक्तसमवेत सिद्ध हो जायें तब वे अमुक्त-प्रभव सिद्ध हों और उनके अमुक्तप्रभव सिद्ध होनेपर वे अमुक्त-समवेत सिद्ध हों। अतः समवायसे आत्मा तथा बुद्ध्यादिमे अभेदादि माननेमें उक्त दूषण आते है और ऐसी दशामें वस्तुको सर्वथा नित्य मानने-पर धर्मकर्ताके फलका अभाव सुनिश्चित है।

६ सर्वज्ञाभावसिद्धि

नित्यैकान्तका प्रणेता—उपदेशक भी सर्वज्ञ नही है; क्योकि वह समीचीन अर्थका कथन करनेवाला नही है। दूसरी बात यह है कि वह सरागी भी है। अतः हमारी तरह दूसरोंको भी उसकी उपासना करना योग्य नहीं है।

सोचनेकी बात है कि जिसने अविचारपूर्वक स्त्री आदिका अपहरण करनेवाला तथा उसका नाश करनेवाला दोनो बनाये वह अपनी तथा दूसरोंकी अन्योंसे कैसे रक्षा कर सकता है ?

साथ ही जो उपद्रव एवं झगड़े कराता है वह विचारक तथा सर्वज्ञ नही हो सकता। यह कहना युक्त नही कि वह उपद्रवरहित है, क्योंकि ईश्वरके कोपादि देखा जाता है।

अत. यदि ईश्वरको आप इन सब उपद्रवोसे दूर वीतराग एवं सर्वज्ञ मानें तो उसीको उपास्य भी स्वीकार करना चाहिये, अन्य दूसरेको नही। रत्नका पारखी काचका उपासक नही होता।

यह वीतराग—सर्वज्ञ ईश्वर भी निरुपाय नही है। अन्यथा वह न वक्ता बन सकता है और न सशरीरी। उसे वक्ता माननेपर वह सदा वक्ता रहेगा—अवक्ता कभी नहीं बन सकेगा।

यदि कहा जाय कि वह वक्ता और अवक्ता दोनों हैं, क्योंकि वह परिणामी है तो यह कहना भी ठीक नहीं है। कारण, इस तरह वह नित्यानित्यरूप सिद्ध होनेसे स्याद्वादकी ही सिद्धि करेगा—कूटस्थ नित्यकी नहीं।

अपि च, उसे कूटस्थ नित्य माननेपर उसके वक्तापन बनता भी नहीं है, क्योंकि उसको सिद्ध करनेवाला प्रत्यक्षादि कोई भी प्रमाण नही है। आगमको प्रमाण माननेपर अन्योन्याश्रय दोष होता है।

स्पष्ट है कि जब वह सर्वज्ञ सिद्ध हो जाय तो उसका उपदेशरूप आगम प्रमाण सिद्ध हो और जब आगम प्रमाण सिद्ध हो तब वह सर्वज्ञ सिद्ध हो।

इसी तरह शरीर भी उसके नहीं बनता है।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि वेदरूप आगम प्रमाण नहीं है क्योंकि उसमे परस्पर-विरोधी अर्थोका कथन पाया जाता है। सभी वस्तुओंको उसमें सर्वथा भेदरूप अथवा सर्वथा अभेदरूप बतलाया गया है। इसी प्रकार प्राभाकर वेदवाक्यका अर्थ नियोग, भाट्ट भावना और वेदान्ती विधि करते हैं और ये तीनों परस्पर सर्वथा भिन्न हैं। ऐसी हालतमें यह निश्चय नहीं हो सकता कि अमुक अर्थ प्रमाण है और अमुक नहीं।

अतः वेद भी निरुपाय एवं अशरीरी सर्वज्ञका साधक नही है और इसलिये नित्यैकान्तमें सर्वज्ञका भी अभाव सुनिश्चित है।

७. जगत्कर्त्तृत्वाभावसिद्धि

किन्तु हाँ, सोपाय वीतराग एवं हितोपदेशी सर्वज्ञ हो सकता है क्योंकि उसका साधक अनुमान है। वह अनुमान यह है—

'कोई पुरुष समस्त पदार्थोका साक्षात्कर्ता है, क्योंकि ज्योतिषशास्त्रादिका उपदेश अन्यथा नहीं हो सकता।' इस अनुमानसे सर्वज्ञकी सिद्धि होती है।

पर ध्यान रहे कि यह अनुमान अनुपायसिद्ध सर्वज्ञका साधक नही है, क्योंकि वह वक्ता नही है। सोपायमुक्त बुद्धादि यद्यपि वक्ता हैं किन्तु उनके वचन सदोष होनेसे वे भी सर्वज्ञ सिद्ध नही होते।

दूसरे, बौद्धोंने बुद्धको 'विधूतकल्पनाजाल' अर्थात् कल्पनाओंसे रहित कहकर उन्हे अवक्ता भी प्रकट किया है और अवक्ता होनेसे वे सर्वज्ञ नही हैं।

तथा यौगों (नैयायिकों और वैशेषिको) द्वारा अभिमत महेश्वर भी स्व-पर-द्रोही दैत्यादिका स्रष्टा होनेसे सर्वज्ञ नहीं है।

यौग—महेश्वर जगत्का कर्त्ता है, अतः वह सर्वज्ञ है; क्योंकि बिना सर्वज्ञताके उसमे इस सुव्यवस्थित एवं सुन्दर जगत्की सृष्टि नही हो सकती है?

जैन—नही, क्योंकि महेश्वरको जगत्कर्त्ता सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नही है।

यौग—निम्न प्रमाण है—'पर्वत आदि बुद्धिमानद्वारा बनाये गये है, क्योकि वे कार्य है तथा जड-उपादान-जन्य हैं। जैसे घटादिक।' जो बुद्धिमान् उनका कर्त्ता है वह महेश्वर है। वह यदि असर्वज्ञ हो तो पर्वतादि उक्त कार्योके समस्त कारकोका उसे परिज्ञान न होनेसे वे असुन्दर, अव्यवस्थित और बेडौल भी उत्पन्न हो जायेंगे। अतः पर्वतादिका बनानेवाला सर्वज्ञ है?

जैन—यह कहना भी सम्यक् नही है, क्योकि यदि वह सर्वज्ञ होता तो वह अपने तथा दूसरोंके घातक दैत्यादि दुष्ट जीवोंकी सृष्टि न करता। दूसरी बात यह है कि उसे आपने अशरीरी भी माना है पर बिना शरीरके वह जगत्का कर्त्ता नही हो सकता। यदि उसके शरीरकी कल्पना की जाय तो महेश्वरका संसारी होना, उस शरीरके लिये अन्य-अन्य शरीरकी कल्पना करना आदि अनेक दोष आते है। अतः महेश्वर जगत्-का कर्त्ता नही है और तब उसे उसके द्वारा सर्वज्ञ सिद्ध करना अयुक्त है।

८. अर्हत्सर्वज्ञसिद्धि

इस तरह न बुद्ध सर्वज्ञ सिद्ध होता है और न महेश्वर आदि। पर ज्योतिषशास्त्रादिका उपदेश सर्वज्ञके बिना सम्भव नहीं है, अतः अन्ययोगव्यवच्छेद द्वारा अर्हन्त भगवान् ही सर्वज्ञ सिद्ध होते हैं।

मीमांसक—अर्हन्त वक्ता हैं, पुरुष हैं और प्राणादिमान् हैं, अतः हम लोगोंकी तरह वे भी सर्वज्ञ नहीं हैं ?

जैन—नहीं, क्योंकि वक्तापन आदिका सर्वज्ञपनेके साथ विरोध नहीं है। स्पष्ट है कि जो जितना अधिक ज्ञानवान् होगा वह उतना ही उत्कृष्ट वक्ता आदि होगा। आपने भी अपने मीमांसादर्शनकार जैमिनिको उत्कृष्ट ज्ञानके साथ ही उत्कृष्ट वक्ता आदि स्वीकार किया है।

मीमांसक—अर्हन्त वीतराग हैं, इसलिये उनके इच्छाके बिना वचनप्रवृत्ति नहीं हो सकती है ?

जैन—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इच्छाके बिना भी सोते समय अथवा गोत्रस्खलन आदिमें वचनप्रवृत्ति देखी जाती है और इच्छा करनेपर भी मूर्ख शास्त्रवक्ता नहीं हो पाता। दूसरे, सर्वज्ञके निर्दोष इच्छा माननेमें भी कोई बाधा नहीं है और उस दशामें अर्हन्त भगवान् वक्ता सिद्ध है।

मीमांसक—अर्हन्तके वचन प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि वे पुरुषके वचन हैं, जैसे बुद्धके वचन ?

जैन—यह कथन भी सम्यक् नहीं है; क्योंकि दोषवान् वचनोंको ही अप्रमाण माना गया है, निर्दोष वचनोंको नहीं। अतः अर्हन्तके वचन निर्दोष होनेसे प्रमाण हैं और इसलिये वे ही सर्वज्ञ सिद्ध हैं।

९. अर्थापत्तिप्रामाण्यसिद्धि

सर्वज्ञको सिद्ध करनेके लिये जो 'ज्योतिषशास्त्रादिका उपदेश सर्वज्ञके बिना सम्भव नहीं है' यह अर्थापत्ति प्रमाण दिया गया है उसे मीमांसकोंकी तरह जैन भी प्रमाण मानते हैं, अतः उसे अप्रमाण होने अथवा उसके द्वारा सर्वज्ञ सिद्ध न होनेकी शंका निर्मूल हो जाती है। अथवा, अर्थापत्ति अनुमानरूप ही है। और अनुमान प्रमाण है।

यदि कहा जाय कि अनुमानमें तो दृष्टान्तकी अपेक्षा होती है और उसके अविनाभावका निर्णय दृष्टान्तमें ही होता है किन्तु अर्थापत्तिमे दृष्टान्तकी अपेक्षा नहीं होती और न उसके अविनाभावका निर्णय दृष्टान्तमे होता है अपितु पक्षमे ही होता है, तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि दोनोंमे कोई भेद नहीं है—दोनों ही जगह अविनाभावका निश्चय पक्षमे ही किया जाता है। सर्व विदित है कि अद्वैतवादियोके लिये प्रमाणोंका अस्तित्व सिद्ध करनेके लिये जो 'इष्टसाधन' रूप अनुमान प्रमाण दिया जाता है उसके अविनाभावका निश्चय पक्षमे ही होता है क्योंकि वहाँ दृष्टान्तका अभाव है। अतः जिस तरह यहाँ प्रमाणोंके अस्तित्वको सिद्ध करनेमे दृष्टान्तके बिना भी पक्षमे ही अविनाभावका निर्णय हो जाता है उसी तरह अन्य हेतुओंमें भी समझ लेना चाहिए। तथा इस अविनाभावका निर्णय विपक्षमे बाधक प्रमाणके प्रदर्शन एवं तर्कसे होता है। प्रत्यक्षादिसे उसका निर्णय असम्भव है और इसी लिये व्याप्ति एवं अविनाभावको ग्रहण करने रूपसे तर्कको पृथक् प्रमाण स्वीकार किया गया है। अतः अर्थापत्ति अप्रमाण नहीं है।

१०. वेदपौरुषेयत्वसिद्धि

मीमांसक—ज्योतिषशास्त्रादिका उपदेश अपौरुषेय वेदसे संभव है, अतः उसके लिये सर्वज्ञ स्वीकार करना उचित नहीं है ?

जन—नहीं, क्योंकि वेद पद-वाक्यादिरूप होनेसे पौरुषेय है, जैसे भारत आदि शास्त्र।

मीमांसक—वेदमें जो वर्ण हैं वे नित्य हैं, अत. उनके समूहरूप पद और पदोंके समूहरूप वाक्य नित्य होनेसे उनका समूहरूप वेद भी नित्य है—वह पौरुषेय नही है ?

जैन—नहीं, क्योंकि वर्ण भिन्न-भिन्न देशो और कालोंमे भिन्न-भिन्न पाये जाते हैं, इसलिये वे अनित्य हैं। दूसरे, ओठ, तालु, आदिके प्रयत्नपूर्वक वे होते हैं और जो प्रयत्नपूर्वक होता है वह अनित्य माना गया है। जैसे घटादिक।

मीमांसक—प्रदीपादिकी तरह वर्णोंकी ओठ, तालु आदिके द्वारा अभिव्यक्ति होती है—उत्पत्ति नहीं। दूसरे, 'यह वही गकारादि है' ऐसी प्रसिद्ध प्रत्यभिज्ञा होनेसे वर्ण नित्य हैं ?

जैन—नहीं; ओठ, तालु आदि वर्णोंके व्यंजक नही हैं वे उनके कारक हैं। जैसे दण्डादिक घटादिके कारक हैं। अन्यथा घटादि भी नित्य हो जायेंगे। क्योंकि हम भी कह सकते है कि दण्डादिक घटादि के व्यंजक हैं कारक नही। दूसरे, 'वही मैं हूँ' इस प्रत्यभिज्ञासे एक आत्माकी भी सिद्धिका प्रसग आवेगा। यदि इसे भ्रान्त कहा जाय तो उक्त प्रत्यभिज्ञा भी भ्रान्त क्यों नही कही जा सकती है।

मीमांसक—आप वर्णोंको पुद्गलका परिणाम मानते हैं किन्तु जड पुद्गलपरमाणुओंका सम्बन्ध स्वयं नहीं हो सकता। इसके सिवाय, वे एक श्रोताके कानमे प्रविष्ट हो जानेपर उसी समय अन्यके द्वारा सुने नहीं जा सकेंगे ?

जैन—यह बात तो वर्णोंकी व्यजक ध्वनियोमे भी लागू हो सकती है। क्योंकि वे न तो वर्णरूप हैं और न स्वयं अपनी व्यंजक हैं। दूसरे, स्वाभाविक योग्यतारूप संकेतसे शब्दोंको हमारे यहाँ अर्थप्रतिपत्ति कराने वाला स्वीकार किया गया है और लोकमे सब जगह भाषावर्गणाएँ मानी गई है जो शब्द रूप बनकर सभी श्रोताओ द्वारा सुनी जाती हैं।

मीमांसक—'वेदका अध्ययन वेदके अध्ययनपूर्वक होता है, क्योंकि वह वेदका अध्ययन है, जैसे आजकलका वेदाध्ययन।' इस अनुमानसे वेद अपौरुषेय सिद्ध होता है ?

जैन—नही, क्योंकि उक्त हेतु अप्रयोजक है—हम भी कह सकते हैं कि 'पिटकका अध्ययन पिटकके अध्ययनपूर्वक होता है, क्योंकि वह पिटकका अध्ययन है, जैसे आजकलका पिटकाध्ययन।' इस अनुमानसे पिटक भी अपौरुषेय सिद्ध होता है।

मीमांसक—बात यह है कि पिटकमे तो बौद्ध कर्त्ताका स्मरण करते है और इसलिये वह अपौरुषेय सिद्ध नही हो सकता। किन्तु वेदमे कर्त्ताका स्मरण नही किया जाता, अतः वह अपौरुषेय सिद्ध होता है ?

जैन—यह कथन भी ठीक नही है, क्योंकि यदि बौद्धोंके पिटक सम्बन्धी कर्तृस्मरणको आप प्रमाण मानते हैं तो वे वेदमें भी अष्टकादिकको कर्ता स्मरण करते है अर्थात् वेदको भी वे सकर्तृक बतलाते हैं, अतः उसे भी प्रमाण स्वीकार करिये। अन्यथा दोनोको अप्रमाण कहिए। अतः कर्त्ताके अस्मरणसे भी वेद अपौरुषेय सिद्ध नही होता और उस हालतमे वह पौरुषेय ही सिद्ध होता है।

११. परतः प्रामाण्यसिद्धि

मीमांसक—वेद स्वत प्रमाण है, क्योंकि सभी प्रमाणोंकी प्रमाणता हमारे यहां स्वतः ही मानी गई है, अतः वह पौरुषेय नही है ?

जैन—नहीं, क्योंकि अप्रमाणताकी तरह प्रमाणोंकी प्रमाणता भी स्वतः नहीं होती, गुणादि सामग्रीसे वह होती है। इन्द्रियोंके निर्दोष—निर्मल होनेसे प्रत्यक्षमें, त्रिरूपतासहित हेतुसे अनुमानमें और आप्तद्वारा कहा होनेसे आगममें प्रमाणता मानी गई है और निर्मलता आदि ही 'पर' हैं, अतः प्रमाणताकी उत्पत्ति परसे सिद्ध है और ज्ञप्ति भी अनभ्यास दशामें परसे सिद्ध है। हाँ, अभ्यासदशामें ज्ञप्ति स्वतः होती है। अतः परसे प्रमाणता सिद्ध हो जाने पर कोई भी प्रमाण स्वतः प्रमाण सिद्ध नही होता और इसलिये वेद पौरुषेय है तथा वह सर्वज्ञका बाधक नहीं है।

१२. अभावप्रमाणदूषणसिद्धि

अभाव प्रमाण भी सर्वज्ञका बाधक नहीं है, क्योंकि भावप्रमाणसे अतिरिक्त अभावप्रमाणकी प्रतीति नही होती। प्रकट है कि 'यहाँ घड़ा नही है' इत्यादि जगह जो अभावज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष, स्मरण और अनुमान इन तीन ज्ञानोंसे भिन्न नही है। 'यहां' यह प्रत्यक्ष है, 'घड़ा' यह पूर्व दृष्ट घड़ेका स्मरण है और 'नहीं है' यह अनुपलब्धिजन्य अनुमान है। यहां और कोई ग्राह्य है नही, जिसे अभावप्रमाण जाने। दूसरे, वस्तु भावाभावात्मक है और भावको जाननेवाला भावप्रमाण ही उससे अभिन्न अभावको भी जान लेता है, अतः उसको जाननेके लिये अभावप्रमाणकी कल्पना निरर्थक है। अतएव वह भी सर्वज्ञका बाधक नही है।

१३. तर्कप्रामाण्यसिद्धि

सर्वज्ञका बाधक जब कोई प्रमाण सिद्ध न हो सका तो मीमांसक एक अन्तिम शंका और उठाता है। वह कहता है कि सर्वज्ञको सिद्ध करनेके लिये जो हेतु ऊपर दिया गया है उसके अविनाभावका ज्ञान असंभव है; क्योंकि उसको ग्रहण करने वाला तर्क अप्रमाण है और उस हालतमे अन्य अनुमानसे सर्वज्ञकी सिद्धि नही हो सकती है? पर उसकी यह शंका भी निस्सार है क्योंकि व्याप्ति (अविनाभाव) को प्रत्यक्षादि कोई भी प्रमाण ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं है। व्याप्ति तो सर्वदेश और सर्वकालको लेकर होती है और प्रत्यक्षादि नियत देश और नियत कालमे ही प्रवृत्त होते हैं। अतः व्याप्तिको ग्रहण करने वाला तर्क प्रमाण है और उसके प्रमाण सिद्ध हो जानेपर उक्त सर्वज्ञ साधक हेतुके अविनाभावका ज्ञान उसके द्वारा पूर्णत. सम्भव है। अतः उक्त हेतुमें असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक आदि कोई भी दोष न होनेसे उससे सर्वज्ञकी सिद्धि भली भांति होती है।

१४. गुण-गुणीअभेदसिद्धि

वैशेषिक गुण-गुणी, आदिमें सर्वथा भेद स्वीकार करते हैं और समवाय सम्बन्धसे उनमे अभेदज्ञान मानते हैं। परन्तु वह ठीक नही है; क्योंकि न तो भिन्न रूपसे गुण-गुणी आदिकी प्रतीति होती है और न उनमे अभेदज्ञान कराने वाले समवायकी।

यदि कहा जाय कि 'इसमे यह है' इस प्रत्ययसे समवायकी सिद्धि होती है तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि 'इस गुणादिमे संख्या है' यह प्रत्यय भी उक्त प्रकारका है किन्तु इस प्रत्ययसे गुणादि और संख्यामें वैशेषिकोंने समवाय नही माना। अतः उक्त प्रत्यय समवायका प्रसाधक नही है।

अगर कहें कि दो गन्ध, छह रस, दो सामान्य, बहुत विशेष, एक समवाय इत्यादि जो गुणादिकमें संख्याकी प्रतीति होती है वह केवल औपचारिक है क्योंकि उपचारसे ही गुणादिकमें संख्या स्वीकार की गई है, तो उनमें 'पृथक्त्व' गुण भी उपचारसे स्वीकार करिए और उस दशामे अपृथक्त्व उनमें वास्तविक मानना पड़ेगा, जो वैशेषिकोंके लिये अनिष्ट है। अतः यदि पृथक्त्वको उनमें वास्तविक मानें तो संख्याको भी गुणादिमें

वास्तविक ही मानें। और तब उनमें एक तादात्म्य सम्बन्ध ही सिद्ध होता है—समवाय नहीं। अतएव गुणादिकको गुणी आदिसे कथंचित् अभिन्न स्वीकार करना चाहिए।

ब्रह्मदूषणसिद्धि

ब्रह्माद्वैतवादियों द्वारा कल्पित ब्रह्म और अविद्या न तो स्वतः प्रतीत होते है, अन्यथा विवाद ही न होता, और न प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणोंसे; क्योंकि द्वैतकी सिद्धिका प्रसग आता है। दूसरे, भेदको मिथ्या और अभेदको सम्यक् बतलाना युक्तिसंगत नही है। कारण, भेद और अभेद दोनों रूप ही वस्तु प्रमाणसे प्रतीत होती है। अतः ब्रह्मवाद ग्राह्य नहीं है।

अन्तिम उपलब्ध खण्डित प्रकरण

शंका—भेद और अभेद दोनों परस्पर विरुद्ध होनेसे वे दोनों एक जगह नही बन सकते है, अतः उनका प्रतिपादक स्याद्वाद भी ग्राह्य नहीं है?

समाधान—नही, क्योंकि भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे वे दोनो एक जगह प्रतिपादित है—पर्यायोंकी अपेक्षा भेद और द्रव्यकी अपेक्षा अभेद बतलाया गया है और इस तरह उनमें कोई विरोध नही है। एक ही रूपादिक्षणको जैसे बौद्ध पूर्व क्षणकी अपेक्षा कारण और उत्तर क्षणकी अपेक्षा कार्य दोनो स्वीकार करते हैं और इसमे वे कोई विरोध नही मानते। उसी तरह प्रकृतमे भी समझना चाहिए। अन्यापोहकृत उक्त भेद माननेमे साकर्यादि दोष आते हैं। अतः स्याद्वाद वस्तुका सम्यक् व्यवस्थापक होनेसे सभीके द्वारा उपादेय एवं आदरणीय है।

२. वादीभसिंहसूरि

(क) वादीभसिंह और उनका समय

ग्रन्थके प्रारम्भमें इस कृतिको वादीभसिंसूरिकी प्रकट किया गया है तथा प्रकरणोके अन्तमे जो समाप्तिपुष्पिकावाक्य दिये गये हैं उनमे भी उसे वादीभसिंहसूरिकी ही रचना बतलाया गया है[1], अतः यह निस्सन्देह है कि इस कृतिके रचयिता आचार्य वादीभसिंह हैं।

अब विचारणीय यह है कि ये वादीभसिंह कौनसे वादीभसिंह है और वे कब हुए हैं—उनका क्या समय है? आगे इन्हीं दोनों बातोंपर विचार किया जाता है।

१ आदिपुराणके कर्त्ता जिनसेनस्वामीने, जिनका समय ई० ८३८ है, अपने आदिपुराणमें एक 'वादिसिंह' नामके आचार्यका स्मरण किया है और उन्हें उत्कृष्ट कोटिका कवि, वाग्मी तथा गमक बतलाया है। यथा—

> कवित्वस्य परा सीमा वाग्मित्वस्य परं पदम्।
> गमकत्वस्य पर्यन्तो वादिसिंहोऽर्च्यते न कैः॥

१. यथा—'इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचितायां स्याद्वादसिद्धौ चार्वाकं प्रति जीवसिद्धिः ॥१॥ इत्यादि।

२. पार्श्वनाथचरितकार वादिराजसूरि (ई० १०२५) ने भी पार्श्वनाथचरितमें 'वादिसिंह' का समुल्लेखन किया है और उन्हें स्याद्वादवाणीकी गर्जना करनेवाला तथा दिग्नाग और धर्मकीर्तिके अभिमानको चूर-चूर करनेवाला प्रकट किया है। यथा—

स्याद्वादगिरमाश्रित्य वादिसिंहस्य गर्जिते।
दिङ्नागस्य मदध्वंसे कीर्तिभङ्गो न दुर्घटः॥

३. श्रवणबेलगोलाकी मल्लिषेणप्रशस्ति (ई० ११२८) मे एक वादीभसिंहसूरि अपरनाम गणभृत (आचार्य) अजितसेनका गुणानुवाद किया गया है और उन्हे स्याद्वादविद्याके पारगामियों द्वारा आदरपूर्वक सतत वन्दनीय और लोगोंके भारी आन्तर तमको नाश करनेके लिये पृथिवीपर आया दूसरा सूर्य बतलाया गया है। इसके अलावा, उन्हे अपनी गर्जनाद्वारा वादि-गजोंको शीघ्र चुप करके निग्रहरूपी जीर्ण गड्ढेमें पटकनेवाला तथा राजमान्य भी कहा गया है। यथा—

वन्दे वन्दितमादरादहरहरस्याद्वादविद्याविदां।
स्वान्त-ध्वान्त-वितान-धूनन-विधौ भास्वन्तमन्यं भुवि।
भक्त्या त्वाऽजितसेनमानतिकृतां यत्सन्नियोगान्मनः-
पद्मं सद्य भवेद्विकास-विभवस्योन्मुक्त-निद्राभरं॥५४॥
मिथ्या-भाषण-भूषणं परिहरेतौद्धत्यमुन्मुञ्चत,
स्याद्वादं वदतानमेत विनयाद्वादीभकण्ठीरवं।
नो चेत्तद्गुरुगर्जित-श्रुति-भय-भ्रान्ता स्थ यूयं यत-
स्तूर्णं निग्रहजीर्णकूपकुहरे वादि-द्विपाः पातिनः॥५५॥
सकल भुवनपालानम्रमूर्द्धावबद्ध-
स्फुरित-मुकुट चूडालीढ-पादारविन्दः।
मदवदखिल-वादीभेन्द्र-कुम्भप्रभेदी,
गणभृदजितसेनो भाति वादीभसिंहः॥५७॥—शिलालेख नं० ५४ (६७)।

४. अष्टसहस्रीके टिप्पणकार लघुसमन्तभद्रने भी अपने टिप्पणके प्रारम्भमें एक वादीभसिंहका उल्लेख निम्न प्रकार किया है—

'तदेवं महाभागैस्तार्किकार्कैरुपज्ञाता श्रीमता वादीभसिंहेनोपलालितामाप्तमीमांसमलञ्चिकीर्षवः स्याद्वादोद्भासिसत्यवाक्यमाणिक्यमकारिकाघटमदेकटकाराः सूरयो विद्यानन्दस्वामिनस्तदादौ प्रतिज्ञाश्लोकमेकमाह।' —अष्टसहस्री टि० पृ० १।

यहाँ लघुसमन्तभद्र (विक्रमकी १३वी शती) ने वादीभसिंहको समन्तभद्राचार्यरचित आप्तमीमांसाका उपलालन (परिपोषण) कर्ता बतलाया है। यदि लघुसमन्तभद्रका यह उल्लेख अभ्रान्त है तो कहना होगा कि वादीभसिंहने आप्तमीमांसापर कोई महत्त्वकी टीका लिखी है और उसके द्वारा आप्तमीमांसाका उन्होंने परिपोषण किया है। श्री पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने[1] भी इसकी सम्भावना की है और उसमे आचार्य विद्यानन्दके अष्टसहस्री गत 'अत्र शास्त्रपरिसमाप्तौ केचिदिदं मङ्गलवचनमनुमन्यन्ते' शब्दोके साथ उद्धृत 'जयति जगति' आदि पद्यको प्रमाणरूपमे प्रस्तुत किया है। कोई आश्चर्य नहीं कि आप्तमीमांसापर विद्यानन्दके पूर्व लघुसमन्तभद्रद्वारा उल्लिखित वादीभसिंहने टीका रची हो और जिसरो ही लघुसमन्तभद्रने उन्हें आप्तमीमांसा-

१. न्यायकु०, प्र० भा०, प्रस्ता० पृ० १११।

का उपलालनकर्ता कहा है और विद्यानन्दने 'केचित्' शब्दोंके साथ उन्हींकी टीकाके उक्त 'जयति' आदि समाप्तिमङ्गलको अष्टसहस्रीके अन्तमें अपने तथा अकलङ्कदेवके समाप्तिमङ्गलके पहले उद्धृत किया है।

५. क्षत्रचूड़ामणि और गद्यचिन्तामणि काव्यग्रन्थोंके कर्ता वादीभसिंह सूरि अतिविख्यात और सुप्रसिद्ध हैं।

६. पं० के० भुजबलीजी शास्त्री[1] ई० १०९० और ई० ११४७ के नं० ३ तथा ३७ के दो शिलालेखोंके[2] आधारसे एक वादीभसिंह (अपर नाम अजितसेन) का उल्लेख करते हैं।

७. श्रुतसागरसूरिने भी सोमदेवकृत यशस्तिलक (आश्वास २-१२६) की अपनी टीकामें एक वादीभसिंहका निम्न प्रकार उल्लेख किया है और उन्हें सोमदेवका शिष्य कहा है:—

'वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्यः
श्रीवादिराजोऽपि मदीयशिष्यः। इत्युक्तत्वाच्च।'

वादिसिंह और वादीभसिंहके ये सात उल्लेख हैं जो अब तककी खोजके परिणामस्वरूप विद्वानोंको जैन साहित्यमें मिले हैं। अब देखना यह है कि वे सातों उल्लेख भिन्न-भिन्न हैं अथवा एक? अन्तिम उल्लेखको प्रेमीजी[3], पं० कैलाशचन्द्रजी[4] आदि विद्वान् अभ्रान्त और अविश्वसनीय नहीं मानते, जो ठीक भी है, क्योंकि इसमें उनका हेतु है कि न तो वादीभसिंहने ही अपनेको सोमदेवका कहीं शिष्य प्रकट किया और न वादिराजने ही अपनेको उनका शिष्य बतलाया है। प्रत्युत वादीभसिंहने तो पुष्पसेन मुनिको और वादिराजने मतिसागरको अपना गुरु बतलाया है। दूसरे, सोमदेवने उक्त वचन किस ग्रंथ और किस प्रसङ्गमें कहा, यह सोमदेवके उपलब्ध ग्रन्थोपरसे ज्ञात नहीं होता। अत जबतक अन्य प्रमाणोंसे उसका समर्थन नहीं होता तबतक उसे प्रमाणकोटिमें नहीं रखा जा सकता।

शेष उल्लेखोंमें मेरा विचार है कि तीसरा और छठा ये दो उल्लेख अभिन्न हैं तथा उन्हें एक दूसरे वादीभसिंहके होना चाहिए, जिनका दूसरा नाम मल्लिषेणप्रशस्ति और निर्दिष्ट शिलालेखोंमें अजितसेन मुनि अथवा अजितसेन पण्डितदेव भी पाया जाता है तथा जिनके उक्त प्रशस्तिमें शान्तिनाथ और पद्मनाभ अपरनाम श्रीकान्त और वादिकोलाहल नामके दो शिष्य भी बतलाये गये हैं। इन मल्लिषेणप्रशस्ति और शिलालेखोंका लेखनकाल ई० ११२८, ई० १०९० और ई० ११४७ है और इसलिये इन वादीभसिंहका समय लगभग ई० १०६५ से ई० ११५० तक हो सकता है। बाकीके चार उल्लेख—पहला, दूसरा, चौथा और पांचवां प्रथम वादीभसिंहके होना चाहिए, जिन्हें 'वादिसिंह' नामसे भी साहित्यमें उल्लेखित किया गया है। वादीभसिंह और वादिसिंहके अर्थमें कोई भेद नहीं है—दोनोंका एक ही अर्थ है। वादिरूपी गजोंके लिये सिंह और वादियोंके लिये सिंह एक ही बात है।

अब यदि यह सम्भावना की जाय कि क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणि काव्यग्रंथोंके कर्ता वादीभसिंहसूरि ही स्याद्वादसिद्धिकार हैं और इन्होंने आप्तमीमांसापर विद्यानन्दसे पूर्व कोई टीका अथवा वृत्ति

---

१. देखो, जैनसिद्धान्तभास्कर भाग ६, कि० २ पृ० ७८।

२. देखो, ब्र० शीतलप्रसादजी द्वारा सङ्कलित तथा अनुवादित 'मद्रास व मैसूर प्रान्तके प्राचीन स्मारक' नामक पुस्तक।

३. देखो, जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ४८०।

४. देखो, न्यायकुमुद, प्र० भा०, प्रस्ता० पृ० ११२।

लिखी है जो लघुसमन्तभद्रके उल्लेख तथा विद्यानन्दके 'केचित्' शब्दके साथ उद्धृत 'जयति जगति' आदि पद्य परसे जानी जाती है तथा इन्हीं वादीभसिंहका 'वादिसिंह' नामसे जिनसेन और वादिराजसूरिने बड़े सम्मानपूर्वक स्मरण किया है। तथा 'स्याद्वादगिरमाश्रित्य वादिसिंहस्य गर्जिते' वाक्यमें वादिराजने 'स्याद्वाद-गिर' पदके द्वारा इन्हीकी प्रस्तुत स्याद्वादसिद्धि जैसी स्याद्वादविद्यासे परिपूर्ण कृतियोंकी ओर इशारा किया हैं तो कोई अनुचित मालूम नही होता। इसके औचित्यको सिद्ध करनेवाले नीचे कुछ प्रमाण भी उपस्थित किये जाते हैं।

(१) क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणिके मङ्गलाचरणोंमें कहा गया है कि जिनेन्द्र भगवान् भक्तोंके समीहित (जिनेश्वर-पदप्राप्ति) को पुष्ट करें—देवे। यथा—

(क) श्रीपतिर्भगवान्पुष्याद्भक्तानां व. समीहितम्।
यद्भक्तिः शुल्कतामेति मुक्तिकन्याकरग्रहे ॥१॥—क्षत्रचू० १-१।

(ख) श्रियः पतिः पुष्यतु वः समीहितं,
त्रिलोकरक्षानिरतो जिनेश्वरः।
यदीयपादाम्बुजभक्तिशीकरः,
सुरासुराधीशपदाय जायते॥ —गद्यचि० पृ० १।

लगभग यही स्याद्वादसिद्धिके मङ्गलाचरणमे कहा गया है—

(ग) नम. श्रीवर्द्धमानाय स्वामिने विश्ववेदिने।
नित्यानन्द-स्वभावाय भक्त-सारूप्य-दायिने ॥१-१॥

(२) जिस प्रकार क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणिके प्रत्येक लम्बके अन्तमे समाप्तिपुष्पिकावाक्य दिए है वैसे ही स्याद्वादसिद्धिके प्रकरणान्तमें वे पाये जाते हैं। यथा—

(क) 'इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचिते गद्यचिन्तामणौ सरस्वतीलम्भो नाम प्रथमो लम्बः'—क्षत्र-चूडा०।

(ख) 'इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचिते गद्यचिन्तमणौ सरस्वतीलम्भो नाम प्रथमो लम्बः।'—गद्य-चिन्तामणि।

(ग) 'इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचितायां स्याद्वादसिद्धौ चार्वाकं प्रति जीवसिद्धिः।'—स्याद्वाद-सिद्धि।

(३) जिस तरह क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणिमे यत्र क्वचित् नीति, तर्क और सिद्धान्तकी पुट उपलब्ध होती है उसी तरह वह प्रायः स्याद्वादसिद्धिमें भी उपलब्ध होती है। यथा—

(क) 'अतर्कितमिदं वृत्तं तर्करूढं हि निश्चलम् ॥१-४२॥
इत्यूहेन विरक्तोऽभूद्गत्यधीनं हि मानसम् ॥१-६५॥
—क्षत्रचूडामणि।

(ख) 'ततो हि सुधियः संसारमुपेक्षन्ते।'
—गद्यचिन्तामणि पृ० ७८।

'एवं परगतिविरोधिन्या……… चार्वाकमतसब्रह्मचारिण्या राज्यश्रिया परिगृहीताः क्षिति-पतिसुता …… नैयायिकनिर्दिष्टनिर्वाणपदप्रतिष्ठिता इव……कापिलकल्पितपुरुषा इव … प्रकृति-विकारपरं वंचनं प्रतिपादयन्ति।' —गद्यचि० पृ० ६६

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः । स च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकः । अधर्मस्तु तद्विपरीतः ।'
—गद्य० पृ० २४३ ।

(ग) 'तदुपायं ततो वक्ष्ये न हि कार्यमहेतुकम् ॥१-२॥
न ह्यवास्तवतः कार्यं कल्पिताग्नेश्च दाहवत् ।२-४८॥
न हि स्वान्यार्तिकृत्वं स्याद्विरागे विश्ववेदिनि ॥७-२२॥
सत्येवात्मनि धर्मे च सौख्योपाये सुखार्थिभिः ।
धर्मं एव सदा कार्यो न हि कार्यमकारणं ॥१-२४॥—स्याद्वा० ।

इन तुलनात्मक कुछ उद्धरणोंपरसे सम्भावना होती है कि क्षत्रचूडामणि तथा गद्यचिन्तामणिके कर्ता वादीभसिंहसूरि और स्याद्वादसिद्धिके कर्ता वादीभसिंहसूरि अभिन्न है—एक ही विद्वान्‌की ये तीनों कृतियाँ हैं । इन कृतियोंसे उनकी उत्कृष्ट कवि, उत्कृष्ट वादी और उत्कृष्ट दार्शनिककी ख्याति और प्रसिद्धि भी यथार्थ जंचती है । द्वितीय वादीभसिंहकी भी जो इसी प्रकारकी ख्याति और प्रसिद्धि शिलालेखोंमें उल्लिखित पाई जाती है और जिससे विद्वानोंको यह भ्रम हुआ है कि वे दोनो एक है वह हमे प्रथम वादीभसिंहकी छाप (अनुकृति) जान पड़ती है । इस प्रकारके प्रयत्नके जैन साहित्यमे अनेक उदाहरण मिलते है । तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक आदि महान् दार्शनिक ग्रन्थोंके कर्ता आचार्य विद्यानन्दकी जैनसाहित्यमे जो भारी ख्याति और प्रसिद्धि है वैसी ही ख्याति और प्रसिद्धि ईसाकी १६वी शताब्दामे हुए एक दूसरे विद्यानन्दिकी हुम्बुच्चके शिलालेखों और वर्द्धमानमुनीन्द्रके दशभक्त्यादिमहाशास्त्रमे वर्णित मिलती है और जिससे विद्वानोंको इन दोनोंके ऐक्यमें भ्रम हुआ है, जिसका निराकरण विद्यानन्दकी स्वोपज्ञ टीका सहित 'आप्त-परीक्षा'की प्रस्तावनामें किया गया है ।[1] हो सकता है कि प्रथम नामवाले विद्वान्‌की तरह उसी नामवाले दूसरे विद्वान् भी प्रभावशाली रहे हो । अतः ८वी-९वी शताब्दीसे १२वी शताब्दी तक विभिन्न वादीभसिंहोका अस्तित्व मानना चाहिए । यहां यह उल्लेखनीय है कि उक्त ग्रंथोके कर्ता वादीभसिंहके कवि और स्याद्वादी होनेके उनके ग्रन्थोंमे प्रचुर बीज भी मिलते हैं ।

अब इनके समयपर विचार किया जाता है ।

१. स्वामीसमन्तभद्ररचित रत्नकरण्डक और आप्तमीमांसाका क्रमश क्षत्रचूडामणि और स्याद्वाद-सिद्धिपर स्पष्ट प्रभाव है । यथा—

(क) श्वाऽपि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्म-किल्बिषात् ।
—रत्नकरण्ड०, श्लोक २९ ।

देवता भविता श्वापि देवः श्वा धर्म-पापतः ।
—क्षत्रचूडामणि ११-७७

(ख) कुशलाकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित् ॥ आप्त, मी०, श्लो० ८॥
कुशलाकुशलत्वं च न चेत्ते दातृहिंस्रयोः ॥
—स्या० ३-५० ।

अतः वादीभसिंहसूरि स्वामी समन्तभद्रके पश्चाद्वर्ती विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दीके बादके विद्वान् है ।

१. देखो, प्रस्तावना पृ० ८ ।

२. अकलङ्कदेवके न्यायविनिश्चयादि ग्रन्थोंका भी स्याद्वादसिद्धिपर असर है जिसके तीन तुलनात्मक नमूने इस प्रकार हैं—

(१) असिद्धधर्मिधर्मत्वेऽप्यन्यथानुपत्तिमान् ।
हेतुरेव यथा सन्ति प्रमाणानीष्टसाधनात् ॥

—न्यायविनि० का० १७६ ।

पक्षधर्मत्व-वैकल्येऽप्यन्यथानुपपत्तिमान् ॥
हेतुरेव यथा सन्ति प्रमाणानीष्टसाधनात् ।

—स्या०-४–८७,८८ ।

(२) समवायस्य वृक्षोऽत्र शाखास्वित्यादिसाधनैः ॥
अनन्यसाधनैः सिद्धिरहो लोकोत्तरा स्थितिः ॥

—न्यायवि० का० १०३, १०४

इह शाखासु वृक्षोऽयमिति सम्बन्धपूर्विका ।
बुद्धिरिहेदंबुद्धित्वात्कुण्डे दधीति बुद्धिवत् ॥ —स्या० ५-८ ।

(३) अप्रमत्ता विवक्षेयं अन्यथा नियमात्ययात् ।
इष्टं सत्यं हितं वक्तुमिच्छा दोषवती कथम् ॥

—न्यायवि० का० ३५६ ।

सार्वज्ञसहजेच्छा तु विरागेऽप्यस्ति, सा हि न ।
रागाद्युपहत्ता तस्माद्भवेद्वक्तैव सर्ववित् ॥ —स्या० ८-१० ।

अतः वादीभसिंह अकलङ्कदेवके अर्थात् विक्रमकी सातवी शताब्दीके उत्तरवर्ती विद्वान् है ।

३. प्रस्तुत स्याद्वादसिद्धिके छठे प्रकरणकी १९वी कारिकामे भट्ट और प्रभाकरका नामोल्लेख करके उनके अभिमत भावना-नियोगरूप वेदवाक्यार्थका निर्देश किया गया है। इसके अलावा, कुमारिलभट्टके मीमासाश्लोकवार्तिकसे कई कारिकाएँ भी उद्धृत करके उनकी आलोचना की गई है। कुमारिलभट्ट और प्रभाकर समकालीन विद्वान् है तथा ईसाकी सातवी शताब्दी उनका समय माना जाता है, अतः वादीभसिंह इनके उत्तरवर्ती हैं ।

४. बौद्ध विद्वान् शङ्करानन्दकी अपोहसिद्धि और प्रतिबन्धसिद्धिकी आलोचना स्याद्वादसिद्धिके तीसरे-चौथे प्रकरणोंमें की गई मालूम होती है। शङ्करानन्दका समय राहुल सांकृत्यायनने ई० ८१० निर्धारित किया है।[1] शङ्करानन्दके उत्तरकालीन अन्य विद्वान्की आलोचना अथवा विचार स्याद्वादसिद्धिमे पाया जाता हो, ऐसा नही जान पड़ता । अतः वादीभसिंहके समयकी पूर्वावधि शङ्करानन्दका समय जानना चाहिये । अर्थात् ईसाकी ८वीं शती इनकी पूर्वावधि माननेमे कोई बाधा नही है ।

अब उत्तरावधिके साधक प्रमाण दिये जाते है—

१. तामिल-साहित्यके विद्वान् पं० स्वामिनाथय्या और श्री कुप्पूस्वामी शास्त्रीने अनेक प्रमाणपूर्वक यह सिद्ध किया है कि तामिल भाषामें रचित तिरुत्तक्कदेव कृत 'जीवकचिन्तामणि' ग्रन्थ क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणिकी छाया लेकर रचा गया है और जीवकचिन्तामणिका उल्लेख सर्वप्रथम तामिलभाषाके पेरियपुराणमे मिलता है जिसे चोल-नरेश कुलोत्तुङ्गके अनुरोधसे शेक्किलार नामक विद्वान्ने रचा माना जाता

१. देखो, 'वादन्यायका परिशिष्ट A ।

२. देखो, जैनसाहित्य और इतिहास ।

है। कुलोत्तुङ्गका राज्यकाल वि० सं० ११३७ से ११७५ (ई० १०८० से ई० १११८) तक है।[१] अतः वादीभसिंह इससे पूर्ववर्ती हैं—बादके नहीं।

२. श्रावकके आठ मूलगुणोंके बारेमें जिनसेनाचार्यके पूर्व एक ही परम्परा थी और वह थी स्वामी समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डकश्रावकाचार प्रतिपादित। जिसमे तीन मकार (मद्य, मांस और मधु) तथा हिंसादि पाँच पापोंका त्याग विहित है। जिनसेनाचार्यने उक्त परम्परामें कुछ परिवर्तन किया और मधुके स्थानमें जुआको रखकर मद्य, मांस, जुआ तथा पाँच पापोंके परित्यागको अष्ट मूलगुण बतलाया। उसके बाद सोमदेवने तीन मकार और पाच उदुम्बर फलोंके त्यागको अष्ट मूलगुण कहा, जिसका अनुसरण पं० आशाधरजी आदि विद्वानोंने किया है। परन्तु वादीभसिंहने क्षत्रचूडामणिमें स्वामी समन्तभद्र प्रतिपादित पहली परम्पराको ही स्थान दिया है और जिनसेन आदिकी परम्पराओंको स्थान नहीं दिया। यदि वादीभसिंह जिनसेन और सोमदेवके उत्तरकालीन होते तो वे बहुत सम्भव था कि उनकी परम्पराको देते अथवा साथमें उन्हें भी देते। जैसा कि प० आशाधरजी आदि उत्तरवर्ती विद्वानोंने किया है। इसके अलावा, जिनसेन (ई० ८३८) ने आदिपुराणमें इनका स्मरण किया है, जैसाकि पूर्वमें कहा जा चुका है। अतः वादीभसिंह जिनसेन और सोमदेवसे, जिनका समय क्रमश. ईसाकी नवमी और दशमी शताब्दी है, पश्चाद्वर्ती नही हैं—पूर्ववर्ती है।

३. न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्टने कुमारिलकी मीमांसाश्लोकवार्तिक गत 'वेदस्याध्ययनं सर्वं' इस, वेदकी अपौरुषेयताको सिद्ध करनेके लिये उपस्थित की गई अनुमानकारिकाका न्यायमञ्जरीमें सम्भवतः सर्व प्रथम 'भारताध्ययन सर्वं' इस रूपसे खण्डन किया है, जिसका अनुसरण उत्तरवर्ती प्रभाचन्द्र[२], अभयदेव[३] देवसूरि[४], प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य[५] प्रभृति तार्किकोने किया है। न्यायमञ्जरीकारका वह खण्डन इस प्रकार है—

'भारतेऽप्येवमभिधातुं शक्यत्वात् भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकं।
भारताध्ययनवाच्यत्वादिदानीन्तनभारताध्ययनवदिति ॥'

—न्यायमं पृ० २१४।

परन्तु वादीभसिंहने स्याद्वादसिद्धिमे कुमारिलकी उक्त कारिकाके खण्डनके लिये अन्य विद्वानोंकी तरह न्यायमञ्जरीकारका अनुगमन नही किया। अपितु स्वरचित एक भिन्न कारिकाद्वारा उसका निरसन किया है जो निम्न प्रकार है—

पिटकाध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम्।
तदध्ययनवाच्यत्वादधुनेव भवेदिति ।।—स्या० १०-३०।

इसके अतिरिक्त वादीभसिंहने कोई पांच जगह और भी इसी स्याद्वादसिद्धिमे पिटकका ही उल्लेख किया है, जो प्राचीन परम्पराका द्योतक है। अष्टशती और अष्टसहस्री (पृ० २३७) मे अकलङ्कदेव तथा उनके अनुगामी विद्यानन्दने भी इसी (पिटकत्रय) का ही उल्लेख किया है।

---

१. अहिंसा सत्यमस्तेयं स्वस्त्री-मितवसु-ग्रहो।
मद्यमासमधुत्यागैस्तेषां मूलगुणाष्टकम् ।।—क्षत्र० ७-२३।

२. देखो, न्यायकुमुद पृ० ७३१, प्रमेयक०, पृ० ३९६।

३. देखो, सन्मतिटी०, पृ० ४१।

४. देखो, स्या० र०, पृ० ६३४।

५. देखो, प्रमेयरत्न०, पृ० १३७।

इससे हम इस नतीजेपर पहुँचते हैं कि यदि वादीभसिंह न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्टके उत्तरवर्ती होते तो सम्भव था कि वे उनका अन्य उत्तरकालीन विद्वानोंकी तरह जरूर अनुसरण करते—'भारताध्ययनं सर्वं' इत्यादिको ही अपनाते और उस हालतमें 'पिटकाध्ययनं सर्वं' इस नई कारिकाको जन्म न देते। इससे ज्ञात होता है कि वादीभसिंह न्यायमञ्जरीकारके उत्तरवर्ती विद्वान् नहीं हैं। न्यायमञ्जरीकारका समय ई० ८४० के लगभग माना जाता है[1]। अतः वादीभसिंह इनसे पहलेके हैं।

४. आ० विद्यानन्दने आप्तपरीक्षामें जगत्कर्तृत्वका खण्डन करते हुए ईश्वरको शरीरी अथवा अशरीरी माननेमें दूषण दिये हैं और उसकी विस्तृत मीमांसा की है। उसका कुछ अंश टीका सहित नीचे दिया जाता है—

'महेश्वरस्याशरीरस्य स्वदेहनिर्माणानुपपत्तेः। तथा हि—

देहान्तराद्विना तावत्स्वदेहं जनयेद्यदि।
तदा प्रकृतकार्येऽपि देहाधानमनर्थकम् ॥१८॥
देहान्तरात्स्वदेहस्य विधाने चानवस्थितिः।
तथा च प्रकृतं कार्यं कुर्यादीशो न जातुचित् ॥१९॥

यथैव हि प्रकृतकार्यजननायापूर्वशरीरमीश्वरो निष्पादयति तथैव तच्छरीरनिष्पादनायापूर्वशरीरान्तरं निष्पादयेदिति कथमनवस्थां विनिवार्येत ?

यथाऽनीशः स्वदेहस्य कर्ता देहान्तरान्मतः।
पूर्वस्मादित्यनादित्वान्नानवस्था प्रसज्यते ॥२१॥
तथेशस्यापि पूर्वस्माद्देहाद्देहान्तरोद्भवात्।
नानवस्थेति यो ब्रूयात्तस्यानीशत्वमीशितुः ॥२२॥
अनीशः कर्मदेहेनाऽनादिसन्तानवर्तिना।
यथैव हि सकर्माणस्तद्वन्न कथमीश्वरः ॥२३॥

प्रायः यही कथन वादीभसिंहने स्याद्वादसिद्धिकी सिर्फ ढाई कारिकाओंमें किया है और जिसका पल्लवन एवं विस्तार उपर्युक्त जान पड़ता है। वे ढाई कारिकाएँ ये हैं—

देहारम्भोऽप्यदेहस्य वक्तृत्ववदयुक्तिमान्।
देहान्तरेण देहस्य यद्यारम्भोऽनवस्थितिः ॥
अनादिस्तत्र बन्धश्चेत्स्यक्तोपात्तशरीरता।
अस्मादादिवदेवाऽस्य जातु नैवाशरीरता ॥
देहस्यानादिता स्यादेतस्यां च प्रमात्ययात्।—६-१०,११½।

इन दोनों उद्धरणोंका मिलान करनेसे ज्ञात होता है कि वादीभसिंहका कथन जहाँ संक्षिप्त है वहाँ विद्यानन्दका कथन कुछ विस्तारयुक्त है। इसके अलावा, वादीभसिंहने प्रस्तुत स्याद्वादसिद्धिमें अनेकान्तके युगपदनेकान्त और क्रमानेकान्त ये दो भेद प्रदर्शित करके उनका एक-एक स्वतन्त्र प्रकरण द्वारा विस्तारसे वर्णन किया है। विद्यानन्दने भी श्लोकवार्तिक (पृ० ४३८) में अनेकान्तके इन दो भेदोंका उल्लेख किया है।

१. देखो, न्यायकु०, द्वि० भा०, प्र० पृ० १६।

इन बातोंसे लगता है कि शायद विद्यानन्दने वादीभसिंहका अनुसरण किया है। यदि यह कल्पना ठीक हो तो विद्यानन्दका समय वादीभसिंहकी उत्तरावधि समझना चाहिये। यदि वे दोनों विद्वान् समकालीन हों तो भी एक दूसरेका प्रभाव एक दूसरेपर पड सकता है और एक दूसरेके कथन एवं उल्लेखका आदर एक दूसरा कर सकता है। विद्यानन्दका समय हमने अन्यत्र[1] ई० ७७५ से ८४० अनुमानित किया है।

५, गद्यचिन्तामणि (पीठिका श्लोक ६) में वादीभसिंहने अपना गुरु पुष्पषेण आचार्यको बतलाया है और ये पुष्पषेण वे ही पुष्पषेण मालूम होते हैं जो अकलंकदेवके सधर्मा और 'शत्रुभयङ्कर' कृष्ण प्रथम (ई० ७५६-७७२) के समकालीन कहे जाते हैं[2]। और इसलिये वादीभसिंह भी कृष्ण प्रथमके समकालीन है।

अतः इन सब प्रमाणोंसे वादीभसिंहसूरिका अस्तित्व-समय ईसाकी ८वी और ९वीं शताब्दीका मध्य-काल—ई० ७७० से ८६० सिद्ध होता है।

बाधकोंका निराकरण

इस समयके स्वीकार करनेमे दो बाधक प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं और वे ये है—

१. क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणिमें जीवन्धर स्वामीका चरित्र निबद्ध है जो गुणभद्राचार्यके उत्तरपुराण[3] (शक सं० ७७०, ई० ८४८) गत जीवन्धरचरितसे लिया गया है। इसका सकेत भी गद्यचिन्ता-मणिके निम्न पद्यमे मिलता है—

> निःसारभूतमपि बन्धनतन्तुजातं, मूर्ध्ना जनो वहति हि प्रसवानुषङ्गात्।
> जीवन्धरप्रभवपुण्यपुराणयोगाद्वाक्यं ममाऽप्युभयलोकहितप्रदायि ॥९॥

अतएव वादीभसिंह गुणभद्राचार्यसे पीछेके हैं।

२ सुप्रसिद्ध धारानरेश भोजकी झूठी मृत्युके शोकपर उनके समकालीन सभाकवि कालिदास, जिन्हे परिमल अथवा दूसरे कालिदास कहा जाता हैं, द्वारा कहा गया निम्न श्लोक प्रसिद्ध है—

> अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती।
> पण्डिता खण्डिताः सर्वे भोजराजे दिवंगते ॥

और इसी श्लोकके पूर्वार्धकी छाया सत्यन्धर महाराजके शोकके प्रसङ्गमे कही गई गद्यचिन्तामणिकी निम्न गद्यमें पाई जाती है—

> 'अद्य निराधारा धरा निरालम्बा सरस्वती।'

अतः वादीभसिंह राजा भोज (वि० स० १०७६ से वि० ११-१२) के बादके विद्वान् है।

ये दो बाधक हैं जिनमें पहलेके उद्भावक श्रद्धेय प० नाथूरामजी प्रेमी हैं और दूसरेके स्थापक श्रीकुप्पुस्वामी शास्त्री तथा समर्थक प्रेमीजी है। इनका समाधान इस प्रकार है—

---

१. देखो, आप्तपरीक्षाकी प्रस्तावना पृ० ५३।

२. देखो, डा० सालतोर कृत मिडियावल जैनिज्म पृ० ३६।

३. प्रेमीजीने जो इसे 'शक सं० ७०५ (वि० स० ८४०) की रचना' बतलाई है (देखो, जैनसा० और इति० पृ० ४८१) वह प्रेसादिकी गलती जान पड़ती है; क्योंकि उन्होंने उसे अन्यत्र शक सं० ७७०, ई० ८४८के लगभगकी रचना सिद्ध की है, देखो वही पृ० ५१४।

१. कवि परमेष्ठी अथवा परमेश्वरने जिनसेन और गुणभद्रके पहले 'वागर्थसंग्रह' नामका जगत्प्रसिद्ध पुराण रचा है[1] और जिसमें त्रेशठशलाका पुरुषोंका चरित वर्णित है तथा जिसे उत्तरवर्ती अनेकों पुराणकारोंने अपने पुराणोंका आधार बनाया है। खुद जिनसेन और गुणभद्रने भी अपने आदिपुराण तथा उत्तरपुराण उसीके आधारसे बनाये हैं, यह प्रेमीजी स्वयं स्वीकार करते हैं[2]। तब वादीभसिंहने भी जीवन्धरचरित, जो उक्त पुराणमें निबद्ध होगा, उसी (पुराण) से लिया है, यह कहनेमें भी कोई बाधा नहीं जान पड़ती।

गद्यचिन्तामणिका जो पद्य प्रस्तुत किया गया है उसमें सिर्फ इतना ही कहा है कि 'इसमें जीवन्धरस्वामीके चरितके उद्भावक पुण्यपुराणका सम्बन्ध होने अथवा मोक्षगामी जीवन्धरके पुण्य-चरितका कथन होनेसे यह (मेरा गद्यचिन्तामणिरूप वाक्य-समूह) भी उभय लोकके लिये हितकारी है।' और वह पुण्यपुराण उपर्युक्त कविपरमेष्ठीका वागर्थसंग्रह भी हो सकता है। इसके सिवाय, गद्यचिन्तामणिकारने उस जीवन्धचरितको गद्यचिन्तामणिमें कहनेकी प्रतिज्ञा की है जिसे गणधरने कहा और अनेक सूरियों (आचार्यों) द्वारा जगत्में ग्रन्थरचनादिके रूपमें प्रख्यापित हुआ है। यथा—

> इत्येवं गणनायकेन कथितं पुण्यास्रवं शृण्वतां
> तज्जीवन्धरवृत्तमत्र जगति प्रख्यापितं सूरिभिः।
> विद्यास्फूर्तिविधायि धर्मजननीवाणीगुणाभ्यर्थिनां
> वक्ष्ये गद्यमयेन वाङ्मयसुधावर्षेण वाक्सिद्धये ॥१५॥

दूसरे, यदि क्षत्रचूडामणि और गद्यचितामणि वादीभसिंह सूरिकी अन्तिम रचनाएँ हों तो गुणभद्र (ई० ८४८) के उत्तरपुराणका उनमें अनुसरण माननेमें भी कोई हानि नहीं है।

अत. वादीभसिंहको गुणभद्राचार्यका उत्तरवर्ती सिद्ध करनेके लिये जो उक्त हेतु दिया गया है वह वादीभसिंहके उपरोक्त समयका बाधक नही है।

२. दूसरी बाधाको उपस्थित करते हुए उसके उपस्थापक श्रीकुप्पुस्वामी शास्त्री और समर्थक प्रेमीजी दोनों विद्वानोंको कुछ भ्रान्ति हुई है। वह भ्रान्ति यह है कि गद्यचिन्तामणिकी उक्त गद्यको सत्यन्धर महाराजके शोकके प्रसङ्गमें कही गई बतलाई है किन्तु वह उनके शोकके प्रसङ्गमे नही कही गई। अपितु काष्ठाङ्गारके हाथीको जीवन्धरस्वामीने कड़ा मारा था, उससे क्रुद्ध हुए काष्ठाङ्गारके निकट जब जीवन्धरस्वामीको गन्धोत्कटने बाधकर भेज दिया और काष्ठाङ्गारने उन्हे वधस्थानमें लेजाकर फांसी देनेकी सजाका हुक्म दे दिया तो सारे नगरमे सन्नाटा छा गया और समस्त नगरवासी सन्तापमें मग्न होगये तथा शोक करने लगे। इसी समयकी उक्त गद्य है और जो पांचवे लम्बमें पाई जाती है जहाँ सत्यन्धरका कोई सम्बन्ध नही है—उनका तो पहले लम्ब तक ही सम्बन्ध है। वह पूरी प्रकृतोपयोगी गद्य इस प्रकार है—

'अद्य निराश्रया श्रीः, निराधारा धरा, निरालम्बा सरस्वती, निष्फलं लोकलोचनविधानम्, निःसारः संसारः, नीरसा रसिकता, निरास्पदा वीरता इति मिथः प्रवर्तयति प्रणयोद्गारिणीं वाणीम·····'—पृ० १३१।

इस गद्यके पद-वाक्योंके विन्यास और अनुप्रासको देखते हुए यही प्रतीत होता है कि यह गद्य मौलिक है और वादीभसिंहकी अपनी रचना है। हो सकता है कि उक्त परिमल कविने इसी गद्यके पदोंको अपने उक्त श्लोकमे समाविष्ट किया हो। यदि उल्लिखित पद्यकी इसमे छाया होती तो 'अद्य' और 'निराधारा धरा'

---

१. देखो डा० ए० एन० उपाध्येका 'कवि परमेश्वर या परमेष्ठी' शीर्षक लेख, जैनसि० भा० १३, कि. २।
२. देखो, जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ४२१।

के बीचमें 'निराश्रया श्रीः' यह पद्य फिर शायद न आता। छायामें मूल ही तो आता है। यही कारण है कि इस पद्यको शास्त्रीजी और प्रेमीजी दोनो विद्वानोने पूर्वोल्लिखित गद्यमे उद्धृत नही किया—उसे अलग करके और 'अद्य' को 'निराधारा धरा' के साथ जोड़कर उपस्थित किया है! अतः यह दूसरी बाधा भी उपरोक्त समयकी बाधक नही है।

(ख) पुष्पसेन और ओडयदेव

वादीभसिंहके साथ पुष्पसेन मुनि और ओडयदेवका सम्बन्ध बतलाया जाता है। पुष्पसेनको उनका गुरु और ओडयदेव उनका जन्म नाम अथवा वास्तव नाम कहा जाता है। इसमे निम्न पद्य प्रमाणरूपमें दिये जाते हैं—

> पुष्पसेनमुनिनाथ इति प्रतीतो, दिव्यो मनुर्हृदि सदा मम संनिदध्यात्।
> यच्छक्तितः प्रकृतमूढमतिर्जनोऽपि, वादीभसिंहमुनिपुङ्गवतामुपैति॥
> श्रीमद्वादीभसिंहेन गद्यचिन्तामणिः कृतः।
> स्थेयादोडयदेवेन चिरायास्थानभूषणः॥
> स्थेयादोडयदेवेन वादीभहरिणा कृत.।
> गद्यचिन्तामणिर्लोके चिन्तामणिरिवापरः॥

इनमे पहला पद्य गद्यचिन्तामणिकी प्रारम्भिक पीठिकाका छठा पद्य है और जो स्वयं ग्रन्थकारका रचा हुआ है। इस पद्यमें कहा गया है कि 'वे प्रसिद्ध पुष्पसेन मुनीन्द्र दिव्य मनु—पूज्य गुरु मेरे हृदयमे सदा आसन जमाये रहें—वर्तमान रहें जिनके प्रभावसे मुझ जैसा निपट मूर्ख साधारण आदमी भी वादीभसिंह मुनिश्रेष्ठ अथवा वादीभसिंहसूरि बन गया।' अतः यह असंदिग्ध है कि वादीभसिंह सूरिके गुरु पुष्पसेन मुनि थे—उन्होंने उन्हे मूर्खसे विद्वान् और साधारण जनसे मुनिश्रेष्ठ बनाया था और इसलिए वे वादीभसिंहके दीक्षा और विद्या दोनोंके गुरु थे।

अन्तिम दोनों पद्य, जिनमे ओडयदेवका उल्लेख है, मुझे वादीभसिंहके स्वयंके रचे नही मालूम होते, क्योंकि प्रथम तो जिस प्रशस्तिके रूपमें वे पाये जाते हैं वह प्रशस्ति गद्यचिन्तामणिकी सभी प्रतियोंमें उपलब्ध नहीं है—सिर्फ तञ्जोरकी दो प्रतियोंमेसे एक ही प्रतिमें वह मिलती है। इसीलिये मुद्रित गद्यचिन्तामणिके अन्तमें वे अलगसे दिए गए हैं, और श्रीकुप्पूस्वामी शास्त्रीने फुटनोटमे उक्त प्रकारकी सूचना की है। दूसरे, प्रथम श्लोकका पहला पाद और दूसरे श्लोकका दूसरा पाद, तथा पहले श्लोकका तीसरा पाद और दूसरे श्लोकका तीसरा पाद तथा पहले श्लोकका तीसरा पाद और दूसरे श्लोकका पहला पाद परस्पर अभिन्न हैं —पुनरुक्त हैं—उनसे कोई विशेषता जाहिर नही होती और इसलिये ये दोनों शिथिल पद्य वादीभसिंह जैसे उत्कृष्ट कविकी रचना ज्ञात नही होते। तीसरे, वादीभसिंहसूरिकी प्रशस्ति देनेकी प्रकृति और परिणति भी प्रतीत नहीं होती। उनकी क्षत्रचूडामणिमे भी वह नहीं है और स्याद्वादसिद्धि अपूर्ण है, जिससे उसके बारेमें कुछ कहा नहीं जा सकता। अतः उपर्युक्त दोनों पद्य हमें अन्यद्वारा रचित एव प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं और इसलिए ओडयदेव वादीभसिंहका जन्म नाम अथवा वास्तव नाम था, यह विचारणीय है। हाँ, वादीभसिंहका जन्म नाम व असली नाम कोई रहा जरूर होगा। पर वह क्या होगा, इसके साधनका कोई दूसरा पुष्ट प्रमाण ढूँढ़ना चाहिए।

(ग) वादीभसिंहकी प्रतिभा और उनकी कृतियाँ

आचार्य जिनसेन तथा वादिराज जैसे प्रतिभाशाली विद्वानों एवं समर्थ ग्रन्थकारोंने आचार्य वादीभ-सिंहकी प्रतिभा और विद्वत्तादि गुणोंका समुल्लेख करते हुए उनके प्रति अपना महान् आदरभाव प्रकट किया

है और लिखा है कि वे सर्वोत्कृष्ट कवि, श्रेष्ठतम वाग्मी और अद्वितीय गमक थे तथा स्याद्वादविद्याके पारगामी और प्रतिवादियोंके अभिमानचूरक एवं प्रभावशाली विद्वान् थे और इसलिये वे सबके सम्मान योग्य हैं। इससे जाना जा सकता है कि आचार्य वादीभसिंह एक महान् दार्शनिक, वादी, कवि और दृष्टिसम्पन्न विद्वान् थे—उनकी प्रतिभा एवं विद्वत्ता चहुँमुखी थी और उन्हें विद्वानोंमें अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त थी।

इनकी तीन कृतियाँ अबतक उपलब्ध हुई हैं। वे ये हैं—

१. स्याद्वादसिद्धि—प्रस्तुत ग्रन्थ है।

२. क्षत्रचूडामणि—यह उच्चकोटिका एक नीति काव्यग्रन्थ है। भारतीय काव्यसाहित्यमे इस जैसा नीतिकाव्यग्रन्थ और कोई दृष्टिगोचर नहीं आया। इसकी सूक्तियाँ और उपदेश हृदयस्पर्शी हैं। यह पद्यात्मक रचना है। इसमें क्षत्रियमुकुट जीवन्धरके, जो भगवान् महावीरके समकालीन और सत्यन्धर नरेशके राजपुत्र थे, चरितका चित्रण किया गया हैं। उन्होंने भगवान्से दीक्षा लेकर निर्वाण लाभ किया था और इससे पूर्व अपने शौर्य एवं पराक्रमसे शत्रुओंपर विजय प्राप्त करके नीतिपूर्वक राज्यका शासन किया था।

३. गद्यचिन्तामणि—यह ग्रन्थकारकी गद्यात्मक काव्यरचना है। इसमे भी जीवन्धरका चरित निबद्ध है। रचना बडी ही सरस, सरल और अपूर्व है। पदलालित्य, वाक्यविन्यास, अनुप्रास और शब्दावली-की छटा ये सब इसमें मौजूद है। जैन काव्यसाहित्यकी विशेषता यह है कि उसमें सरागताका वर्णन होते हुए भी वह गौण—अप्रधान रहता है और विरागता एवं आध्यात्मिकता लक्ष्य तथा मुख्य वर्णनीय होती है। यही बात इन दोनों काव्यग्रन्थोंमे है। काव्यग्रन्थके प्रेमियोंको ये दोनों काव्यग्रन्थ अवश्य ही पढने योग्य हैं।

प्रमाणनौका और नवपदार्थनिश्चय ये दो ग्रन्थ भी वादीभसिंहके माने जाते हैं। प्रमाणनौका हमे उपलब्ध नही हो सकी और इसलिये उसके बारेमे नहीं कहा जा सकता है कि वह प्रस्तुत वादीभसिंहकी ही कृति है अथवा उनके उत्तरवर्ती किसी दूसरे वादीभसिंहकी रचना है। नवपदार्थनिश्चय हमारे सामने है और जिसका परिचय अनेकान्त वर्ष १० किरण ४-५ मे दिया गया है। इस परिचयसे हम इसी निष्कर्षपर पहुँचे है कि यह रचना स्याद्वादसिद्धि जैसे प्रौढ ग्रन्थोके रचयिताकी कृति ज्ञात नही होती। ग्रन्थकी भाषा, विषय और वर्णनशैली प्रायः उतने प्रौढ़ नही है जितने उनमे है और न ग्रन्थका जैसा नाम है वैसा इसमें महत्त्वका विवेचन है—साधारण तौरसे नवपदार्थोंके मात्र लक्षणादि दिये गये हैं। अन्तःपरीक्षणपरसे यह प्रसिद्ध और प्राचीन तर्क-काव्यग्रन्थकार वादीभसिंहसूरिसे भिन्न और उत्तरवर्ती किसी दूसरे वादीभसिंहकी रचना जान पड़ती है। ग्रन्थके अन्तमें जो समाप्तिपुष्पिकावाक्य पाया जाता है उसमें इसे 'भट्टारक वादीभसिंहसूरि' की कृति प्रकट भी किया गया है[1]। यह रचना ७२ अनुष्टुप् और १ मालिनी कुल ७३ पद्योंमें समाप्त है। रचना साधारण और औपदेशिक है और प्रायः अशुद्ध है। विद्वानोंको इसके साहित्यादिपर विशेष विचार करके उसके समयादिका निर्णय करना चाहिए।

इस तरह ग्रन्थ और ग्रन्थकारके सम्बन्धमें कुछ प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया गया है।

●

---

१. 'इति श्रीभट्टारकवादीभसिंहसूरिविरचितो नवपदार्थनिश्चयः'।

द्रव्यसंग्रह और नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव

द्रव्य-संग्रह

प्रति-परिचय

यहाँ द्रव्य-संग्रहभाषामे उपयुक्त प्रतियोंका परिचय दिया जाता है—

१. ब—यह **बड़ौत** (मेरठ)के दि० जैन पंचायती मन्दिरके शास्त्र-भण्डारकी प्रति है। आरम्भमे **हमें यही** प्रति प्राप्त हुई थी। इसमे कुल पत्र ४६ हैं। प्रथम पत्रका प्रथम पृष्ठ और अन्तिम पत्रका अन्तिम पृष्ठ खाली है—उनपर कोई लिखावट नही है। शेष ४५ पत्रों अर्थात् ९० पृष्ठोंमें लिखावट है। प्रत्येक पृष्ठकी लम्बाई ९-९ इंच और चौडाई ६-६ इंच है। प्रत्येक पृष्ठमे १३ लाइनें और एक-एक लाइनमें २८ से ३० तक अक्षर हैं। जिस पंक्तिमे संयुक्त अक्षर अधिक हैं उनमे २८ अक्षर हैं और जिसमें संयुक्त अक्षर कम हैं उसमें ३० तक अक्षर है। उल्लेखनीय है कि इसमे प्रतिका लेखन-काल भी दिया हुआ है, जो इस प्रकार है—

> 'इति द्रव्यसंग्रहभाषा संपूर्ण ।। श्री ।। सवत् १८७६ माघ कृष्ण ११ भौमवासरे लिखितं मिश्र सुखलाल बड़ौतमध्ये ।। श्री शुभं मंगलं ददातु ।। श्री श्री ।।' —मुद्रित पृ० ८०।

इस अन्तिम पुष्पिका-वाक्यसे प्रकट है कि यह प्रति माघ कृष्ण ११ मंगलवार स० १८७६ मे मिश्र **सुखलालद्वारा बड़ौतमें** लिखी गई है। यह प्रतिलेखन-काल ग्रन्थलेखन-काल (सं० १८६३) से केवल १३ वर्ष अधिक है—ज्यादा बादकी लिखी यह प्रति नहीं है। फिर भी वह इतने अल्पकाल (१३ वर्ष) मे इतनी अशुद्ध कैसे लिखी गयी? इसका कारण सम्भवत: **वचनिका**की राजस्थानी भाषासे लेखकका अपरिचित होना या प्राप्त प्रतिका अशुद्ध होना जान पड़ता है, जो हो। प्रतिदाता ला० **प्रेमचन्द्रजी** सर्राफने प्रति-प्रेषक बा० **लक्ष्मीचन्द्रजी**को यह कहकर प्रति दी थी कि मूल **वचनिका** ज्यों-की-त्यो छपे—जिस भाषा और जिन शब्दोंमे **पं० जयचन्द्रजीने** टीका की है वे जरूर कायम रहे। उनकी इस भावनाको ध्यानमे रखा गया है और **पं० जयचन्द्रजीकी** भाषा एवं शब्दोंमे ही **वचनिका** छापी गई है। इस प्रतिकी **बड़ौत** अर्थ सूचक '**ब**' संज्ञा रखी है।

२. व—यह **ब्यावरके** ऐ० पन्नालाल दि० जैन सरस्वती-भवनकी प्रति है। इसमे कुल पत्र ५७ अर्थात् ११४ पृष्ठ हैं। प्रत्येक पृष्ठकी लम्बाई मय दोनों ओरके हाँसियोके १० इंच है। १,१ इंच पत्रके दोनों ओर हाँसियोंके रूपमें रिक्त है और मात्र ८ इंचकी लम्बाईमें लिखाई है। इसी तरह चौड़ाई ऊपर-नीचेके हाँसियोंसहित ५ इंच है और दोनो ओर ३/४, ३/४ इंच खाली है तथा शेष ३ १/२ इंच चौड़ाईमें लिखाई है। एक पृष्ठमें १० और एक पत्रमें २० पंक्तियाँ तथा प्रत्येक पंक्तिमे प्राय: ३०-३० अक्षर हैं प्रति पुष्ट और मजबूत है तथा शुद्ध और सुवाच्य है। इसमे **बड़ौत** प्रतिकी तरह प्रतिलेखन-काल उपलब्ध नही है। जैसाकि उसके अन्तिम पुष्पिका-वाक्यसे स्पष्ट है और जो मुद्रित पृ० ८० के फुटनोटमें दिया गया है। इस प्रतिका सांकेतिक नाम **ब्यावर-बोधक** '**व**' रखा गया है।

३. ज—यह **जयपुरके** महावीर-भवन स्थित आमेर-शास्त्रभण्डारकी प्रति है। इसमें कुल पत्र ५२ हैं, अर्थात् १०४ पृष्ठ हैं। प्रथम पत्रका प्रथम पृष्ठ खाली है और उसके दूसरे पृष्ठसे लिखावट आरम्भ है। इसी प्रकार पत्र ५२ के पहले पृष्ठमे सिर्फ चार पक्तियाँ हैं। इस पृष्ठका शेष भाग और दूसरा पृष्ठ रिक्त है। इस तरह ५०½ पत्रों अर्थात् १००½ पृष्ठोंमें लिखावट है। प्रत्येक पृष्ठकी लम्बाई मय दोनों ओरके हांसियोंके १०¼, १०½ इंच और चौड़ाई मय ऊपर-नीचेके हांसियोंसहित ४¾, ४¾ इंच है। लम्बाईमें १¾, १¾ इंचके दोनों ओर हांसिये हैं तथा चौड़ाईमे भी ऊपर-नीचे ½, ½ इंच हांसियोंकी खाली जगह है। इस प्रकार ८ इंच लम्बाई और ३¾ इंच चौड़ाईमे लिखाई है। प्रत्येक पृष्ठमें १० पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्तिमें प्रायः ३२ अथवा कम-बढ़ अक्षर पाये जाते हैं। प्रति पुष्ट, शुद्ध और सुवाच्य है। ब्यावर-प्रति और इस प्रतिके पाठ प्रायः सर्वत्र समान हैं। इसका अन्तिम पुष्पिका-वाक्य ठीक उसी प्रकार है जैसा **ब्यावर-प्रतिमें** है और जो पुस्तक (पृ० ७४) के अन्तमे मुद्रित है। हाँ, **द्रव्यसंग्रह-भाषाका** अन्तिम पुष्पिका-वाक्य भिन्न है और जो निम्न प्रकार है :—

'इति द्रव्यसग्रहभाषा संपूर्ण ।। लिपीकृतं माणिकचन्द लेखक लिखापितं सुखराम सिभूराम पापडीवाल रूपाहेडीका शुभ भूयात् ।'

इस पुष्पिका-वाक्यसे दो बातें ज्ञात होती हैं। एक यह कि इस प्रतिके लेखक **माणिकचन्द** हैं और यह **सुखराम सिभूराम पापडीवाल द्वारा लिखाई गई है**। दूसरी बात यह ध्वनित होती है कि **सुखराम सिभूराम पापडीवाल रूपाहेडीके** रहने वाले थे और सम्भवतः यह प्रति **रूपाहेडीमे** ही लिखी गयी है। मालूम पडता है कि यह **रूपाहेडी** उस समय एक अच्छा सम्पन्न कस्बा होगा, जहाँ जैनियोंके अनेक घर होंगे और उनमे धार्मिक जागृति अच्छी होगी। यह 'रूपाहेडी' **जयपुरके** दक्षिणकी ओर करीब २० मीलपर एक छोटे-से गाँवके रूपमे आज भी विद्यमान है और वहाँ ४, ५ जैन घर होंगे,' ऐसा **डा० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल** के उस पत्रसे ज्ञात हुआ जो उन्होंने २९ जुलाई ६६ को लिखा।

इस प्रतिके प्रथम पत्रके द्वितीय पृष्ठके मध्यमें एक छह पांखुडीका सुन्दर कमलका आकार लाल स्याहीसे बना हुआ है, अन्य पत्रोंमे नही है। इस प्रतिकी **जयपुर-सूचक 'ज'** संज्ञा रखी है।

. ग्रन्थ-परिचय

प्रस्तुत मूल ग्रन्थ '**द्रव्यसंग्रह**' है और उसके कर्ता श्री **नेमिचन्द्र** मुनि हैं[1]। इसमें उन्होंने जैनदर्शनमे[2]

---

१. दव्वसंगहमिण..णेमिचंदमुणिणा भणियं जं ।।

—नेमिचन्द्रमुनि, द्रव्यसंग्रह गा० ५८।

२. भारतीय दर्शनोमे वैशेषिक और मीमासक दोनों दर्शन पदार्थ तथा द्रव्य दोनोंको मानते हैं। पर उनके अभिमत पदार्थ और द्रव्य तथा उनकी सख्या जैन दर्शनके पदार्थों और द्रव्योंसे बिलकुल भिन्न है। इसी प्रकार न्यायदर्शनमें स्वीकृत केवल पदार्थ और सांख्यदर्शनमें मान्य केवल तत्त्व और उनकी संख्या भी जैन दर्शनके पदार्थों तथा तत्त्वोंसे सर्वथा अलग है। बौद्धदर्शनके चार आर्यसत्य—दुःख, समुदय, मार्ग और निरोध यद्यपि जैनदर्शनके आस्रव, बन्ध, संवर-निर्जरा और मोक्ष तत्त्वोंका स्मरण दिलाते है; पर वे भी भिन्न ही है और संख्या भी भिन्न है। वेदान्तदर्शनमे केवल एक आत्मतत्त्व ही ज्ञातव्य और उपादेय है तथा वह एकमात्र अद्वैत है। चार्वाकदर्शनमें पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ये चार भूततत्त्व है और जिनके समुदायसे चैतन्यकी उत्पत्ति होती है। चार्वाकदर्शनके ये चार भूततत्त्व भी जैन दर्शनके सात तत्त्वोंसे भिन्न हैं। इन दर्शनोंके पदार्थों, द्रव्यों और तत्त्वोंका उल्लेख अगले पाद-टिप्पणमे किया गया है, जो अवश्य जानने योग्य हैं।

मान्य छह द्रव्योंका संकलन तथा स्वरूपात्मक कथन किया है। इसके साथ ही पाँच अस्तिकायों, सात तत्त्वों, नौ पदार्थों, दो प्रकारके मोक्षमार्गों, पाँच परमेष्ठियो और ध्यानका भी सक्षेपमे प्रतिपादन किया है। द्रव्योंका कथन मुख्य अथवा आरम्भमें होनेसे ग्रन्थका नाम 'द्रव्यसंग्रह' रखा गया है। यह शब्दपरिमाणमे लघु होते हुए भी इतना व्यवस्थित, सरल, विशद और अपनेमें पूर्ण है कि जैनधर्म-सम्बन्धी प्रायः सभी मोटी बातोंका इसमें वर्णन आ गया है और उनका ज्ञान करानेमें यह पूर्णतः सक्षम है।

ध्यान रहे कि एक तत्त्वज्ञानीको निःश्रेयस अथवा सुखकी प्राप्तिके लिए जिनका सम्यक् ज्ञान आवश्यक है उन्हे सांख्यदर्शनमे[1] २५ तत्त्वों, न्यायदर्शनमे[2] १६ पदार्थों, वैशेषिकदर्शनमे[3] ६ पदार्थों तथा ९ द्रव्यों, मीमांसादर्शनमे[4] भाट्टोंके अनुसार ५ पदार्थों और ११ द्रव्यो तथा प्राभाकरोंके अनुसार ८ पदार्थों और ९ द्रव्यों, बौद्धदर्शनमे[5] ४ आर्यसत्यो एवं चार्वाकदर्शनमे ४ भूततत्त्वोंके रूपमें स्वीकार किया गया है। परन्तु जैनदर्शनमे छह द्रव्यों, पाँच अस्तिकायो, सात तत्त्वों और नौ पदार्थोंके रूपमे उन्हे माना गया है। द्रव्यसंग्रहकारने उनके दार्शनिक विवेचनमें न जाकर केवल उनका आगमिक वर्णन किया है, जो प्रस्तुत ग्रन्थमें बड़ी सरलतासे उपलब्ध है।

(क) विषय

इसमें कुल अण्ठावन (५८) गाथाएँ हैं, जो प्राकृत-भाषामें रची गई हैं। यद्यपि इसमे ग्रन्थकारद्वारा किया गया अधिकारोंका विभाजन प्रतीत नही होता, तथापि ब्रह्मदेवकी संस्कृत-टीकाके अनुसार इसमे तीन अधिकार और तीनो अधिकारोंके अन्तर्गत आठ अन्तराधिकार माने गये है। इनका विषय-वर्णन इस प्रकार है :—

१. यथा—'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः।'

—कपिल, सांख्यशास्त्र १–६१।

२. 'प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानाना (पदार्थानां) तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगम।'

—गौतम अक्षपाद, न्यायसूत्र १–१–१।

३. (अ) द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाना पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्य तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्।'

—कणाद, वैशेषिकदर्शन १–१–४।

(आ) 'पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि।' —वही १–१–५।

४. (अ) 'द्रव्यगुणकर्मसामान्याभावभेदेन पञ्चविधः पदार्थः।'
भाट्टमीमासक, P. N. Pattabhirama shastri द्वारा Journal of the benares hindu university मे प्रकाशित 'भट्टप्रभाकरयोर्मतभेदः' शीर्षक निबन्ध पृ० ३३१।

५. (आ) 'पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्मशब्दतमासि द्रव्याण्येकादश।'

—भाट्टमीमांसक, वही पृ० ३३१।

(इ) 'द्रव्यगुणकर्मसामान्यशक्तिसादृश्यसंख्यासमवायभेदेनाष्टविधः पदार्थः।'

—प्राभाकरमीमांसक, वही पृ० ३३१।

(ई) 'पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनासि नव द्रव्याणि।'—प्राभाकरमीमांसक, वही पृ० ३३१।

१. पहला अधिकार 'षड्द्रव्य-पञ्चास्तिकाय-प्रतिपादक' नामका है। इसमें तीन अन्तराधिकार हैं और सत्ताईस गाथाएँ हैं। प्रथम अन्तराधिकारमें चउदह गाथाओंद्वारा जीवद्रव्यका, द्वितीय अन्तराधिकारमें आठ गाथाओंद्वारा पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन पाँच अजीवद्रव्योंका और तीसरे अन्तराधिकारमें पाँच गाथाओंद्वारा जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश इन पाँच अस्तिकायोंका कथन है। प्रथम अन्तराधिकारकी चउदह गाथाओंमें भी पहली गाथाद्वारा मङ्गलाचरण तथा श्रीऋषभजिनेन्द्र-प्रतिपादित जीव और अजीव इन मूल दो द्रव्योंका नाम-निर्देश किया गया है। दूसरी गाथाद्वारा जीवद्रव्यके जीवत्व, उपयोगमयत्व, अमूर्तित्व, कर्त्तृत्व, स्वदेहपरिमितत्व, भोक्तृत्व, संसारित्व, सिद्धत्व और विस्रसा ऊर्ध्वगमन ये नौ अधिकार (वर्णन-प्रकार) गिनाये गये हैं। तीसरी गाथासे लेकर चउदहवी गाथा तक बारह गाथाओंद्वारा उक्त अधिकारोंके माध्यमसे जीवका स्वरूप वर्णित किया है।

२. दूसरा अधिकार 'सप्ततत्त्व-नवपदार्थप्रतिपादक' नामका है। इसमे दो अन्तराधिकार हैं तथा ग्यारह गाथाएँ हैं। प्रथम अन्तराधिकारमे अट्ठाईसवी गाथासे लेकर सैंतीसवी गाथा तक दस गाथाओं द्वारा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंका और दूसरे अन्तराधिकारमें अड़तीसवीं गाथाद्वारा उक्त सात तत्त्वोंमें पुण्य तथा पापको मिलाकर हुए नौ पदार्थोंका स्वरूप-कथन है।

३. तीसरा अधिकार 'मोक्षमार्ग-प्रतिपादक' नामका है। इसमें भी दो अन्तराधिकार है और बीस गाथाएँ हैं। प्रथम अन्तराधिकारमे उनतालीसवी गाथासे लेकर छियालीसवी गाथा तक आठ गाथाओंद्वारा व्यवहार और निश्चय दो प्रकारके मोक्षमार्गोंका प्रतिपादन है। यतः ये दोनों मोक्षमार्ग ध्यानद्वारा ही योगीको प्राप्त होते हैं, अत. इसी अधिकारके अन्तर्गत दूसरे अन्तराधिकारमें सैतालीसवीं गाथासे लेकर सत्तावनवी गाथा तक ग्यारह गाथाओंद्वारा ध्यान और ध्येय (ध्यानके आलम्बन) पाँच परमेष्ठियोका भी संक्षेपमें प्ररूपण है। अन्तिम अण्ठावनवी गाथाद्वारा, जो स्वागताछन्दमे है, ग्रन्थकर्त्ताने अपनी लघुता एवं निरहंकार-वृत्ति प्रकट की है।

इस तरह मुनि श्री नेमिचन्द्रने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थमें बहुत ही थोडे शब्दो—केवल अण्ठावन (५८) गाथाओंद्वारा विपुल अर्थ भरा है। जान पड़ता है कि इसीसे यह इतना प्रामाणिक और लोकप्रिय हुआ है कि उत्तरवर्ती लेखकोंने उसे सबहुमान अपनाया है। इसके संस्कृत-टीकाकार श्रीब्रह्मदेवने इसकी गाथाओंको 'सूत्र' और इसके कर्त्ताको 'भगवान्' कहकर उल्लेखित किया है[1]। पण्डितप्रवर आशाधरजीने अनगारधर्मामृत की स्वोपज्ञ टीकामे इसकी गाथाओंको उद्धृत करके उनसे अपने वर्ण्यविषयको प्रमाणित एवं पुष्ट किया है[2]। भाषा-वचनिकाकार पं० जयचन्दजीने भी ग्रन्थके महत्त्वको अनुभव करके उसपर संक्षिप्त, किन्तु विशद वचनिका लिखी है। पं० जयचन्दजी वचनिका लिखकर ही सन्तुष्ट नहीं हुए, उसपर द्रव्यसंग्रह-भाषा अर्थात् हिन्दी-पद्यानुवाद भी उन्होंने लिखा है, जो गाथाके पूरे अर्थको एक-एक चौपाई द्वारा बड़े अच्छे

---

१. '''भगवान् सूत्रमिदं प्रतिपादयति'—संस्कृत-टीका पृष्ठ ४; 'अत्र सूत्रे'—वही पृ० २१; 'सूत्रं गतम्'—वही पृ० २३; 'तिष्ठन्तीत्यभिप्रायो भगवतां श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवानामिति'—वही पृ० ५८; 'अत्राह सोमाभिधानो राजश्रेष्ठी। भगवन् ?'' '—वही पृ० ५८; 'भगवानाह'—वही पृ० ५९; 'अत्राह सोमनामराजश्रेष्ठी। भगवन् !''''—वही पृ० १४९; 'भगवानाह'—वही पृ० १४९; 'भगवान् सूत्रमिदं प्रतिपादयति'—वही पृ० २०९; २२३; 'भगवन्'—वही पृ० २२९, २३१।

२. देखिए, अनगारधर्मामृतटीका पृष्ठ ४, १०९, ११२, ११६, २०४ आदि। पृ० ११८ पर तो 'तथा चोक्तं द्रव्यसंग्रहेऽपि' कहकर उसकी 'सव्वस्स कम्मणो' आदि गाथा उद्धृत की गई है।

ढंगसे व्यक्त करता है। यह ग्रंथ आज भी लोकप्रिय बना हुआ है और उसपर अनेक हिन्दी-व्याख्याएँ उपलब्ध एवं प्रकाशित हैं। मराठीमें भी इसका कई बार अनुवाद छप चुका है[1]। प्रो० शरच्चन्द्र घोषालके सम्पादकत्वमें आरासे[2] सन् १९१७ में और जैन समाज पहाड़ीधीरज दिल्लीसे सन् १९५६ में अंग्रेजीमें यह दो बार प्रकाशित हो चुका है। अनेक परीक्षालयोंके पाठ्यक्रममें भी यह वर्षोंसे निहित है। इससे स्पष्ट है कि प्रस्तुत ग्रन्थ कितना महत्त्व रखता है।

(ख) लघु और बृहद् द्रव्यसंग्रह :

श्रीब्रह्मदेवने संस्कृत-टीकाके आरम्भमें लिखा है[3] कि '**श्रीनेमिचन्द्र**सिद्धान्तिदेवने पहले २६ गाथाओंमें '**लघु-द्रव्यसंग्रह**' बनाया था, पीछे विशेष तत्त्वज्ञानके लिए उन्होंने '**बृहद्-द्रव्यसंग्रह**'की रचना की थी।' **ब्रह्मदेवके** इस कथनसे जान पड़ता है कि ग्रन्थकारने द्रव्यसंग्रह लघु और बृहद् दोनों रूपमें रचा था—पहले **लघुद्रव्यसंग्रह** और पीछे कुछ विशेष कथनके लिए **बृहद्द्रव्यसंग्रह**। आश्चर्य नहीं कि उन्होंने इस प्रकारकी दो कृतियोंकी रचनाकी हो। जैन साहित्यमें हमें इस प्रकारके प्रयत्न और भी मिलते हैं। मुनि **अनन्तकीर्तिने** पहले **लघुसर्वज्ञ सिद्धि** और बादको **बृहत्सर्वज्ञसिद्धि** बनाई थी। उनकी ये दोनों कृतियाँ उपलब्ध एवं प्रकाशित हैं।

कुछ विद्वानोंका खयाल है कि **लघुद्रव्यसंग्रह**में कुछ गाथाएँ बढ़ाकर उसे ही **बृहद्द्रव्य-संग्रह** नाम दे दिया गया है। परन्तु अनुसन्धानसे ऐसी बात मालूम नहीं होती; क्योंकि न तो संस्कृत-टीकाकारके उक्त कथनपरसे प्रकट होता है[4] और न दोनों ग्रन्थोंके अन्तःपरीक्षणसे ही प्रतीत होता है। **बृहद्द्रव्यसंग्रह**को **लघुद्रव्यसंग्रह**का बृहद्रूप माननेपर उपलब्ध **बृहद्द्रव्यसंग्रह**में **लघुद्रव्यसंग्रह**की सभी गाथाएँ पायी जानी चाहिए थीं। परन्तु ऐसा नहीं है। धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्योंकी लक्षणपरक तीन गाथाओं नं० ८, ९, १० और काललक्षणप्रतिपादिका गाथा नं० ११ के पूर्वार्ध तथा गाथा नं० १२ व १४ को, जो **बृहद्द्रव्यसंग्रहमें** क्रमशः नं० १७, १८, १९, २१ (पूर्वार्ध), २२ और २७ पर पायी जाती हैं, छोड़कर इसकी शेष सब (१९½) गाथाएँ **बृहद्द्रव्यसंग्रहसे** भिन्न हैं। इससे प्रकट है कि **लघुद्रव्यसंग्रह**में कुछ गाथाओंकी वृद्धि करके उसे ही बृहद् रूप नहीं दिया गया है, अपितु दोनोंको स्वतन्त्र रूपसे रचा गया है और इसीसे दोनोंके मङ्गल-पद्य[5] तथा उपसंहारात्मक अन्तिम पद्य[6] भी भिन्न-भिन्न हैं।

१, २. पं० जुगलकिशोर मुख्तार, 'द्रव्यसंग्रह-समालोचना', जैन हितैषी, वर्ष १३, अङ्क १२, (सन् १९१८) पृ० ५४१।

३. ४. '…… श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवैः पूर्वं षड्विंशतिगाथाभिर्लघुद्रव्यसंग्रहं कृत्वा पश्चाद्विनेयतत्त्वपरिज्ञानार्थं विरचितस्य बृहद्द्रव्यसंग्रहस्याधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन वृत्तिः प्रारभ्यते।'—सं० टी० पृ० ४।

५. जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं।
देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा ॥१॥—मंगल-पद्य, बृहद्द्रव्यसं०।
छद्दव्व पंच अत्थी सत्त वि तच्चाणि णवपयत्था य।
भंगुप्पाय-धुवत्ता णिद्दिट्ठा जेण सो जिणो जयउ ॥१॥—मंगल-पद्य, लघुद्रव्यसं०।

६. दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा दोससंचयचुदा सुदपुण्णा।
सोधयंतु तणुसुत्तधरेण णेमिचंदमुणिणा भणियं जं ॥५८॥—उपसंहा० पद्य, बृहद्द्रव्यसं०।
सोमच्छलेण रइया पयत्थ-लक्खणकराउ गाहाओ।
भव्वुवयार-णिमित्तं गणिणा सिरिणेमिचंदेण ॥२५॥—उपसंहारात्मकपद्य, लघुद्रव्यसं०।

यहाँ ध्यातव्य है कि **लघुद्रव्यसंग्रहमें** उसका नाम '**द्रव्यसंग्रह**' नहीं दिया, किन्तु '**पयत्थ-लक्खण-कराओ गाहाओ**' पदोंके द्वारा उसे '**पदार्थलक्षणकारिणी गाथाएँ**' कहा है, जब कि **बृहद्द्रव्यसंग्रहमें** '**दव्वसंगह-मिणं**' पदके द्वारा उसका नाम स्पष्टरूपसे '**द्रव्यसंग्रह**' दिया है और इससे मालूम होता है कि '**द्रव्यसंग्रह**' नामकी कल्पना ग्रंथकारको अपनी पूर्व रचनाके बाद इस **द्रव्यसंग्रहको** रचते समय उत्पन्न हुई है और इसके रचे जाने तथा उसे '**द्रव्यसंग्रह**' नाम दे देनेके उपरान्त '**पदार्थलक्षणकारिणी गाथाओं**'को भी ग्रन्थकार अथवा दूसरोंके द्वारा 'लघुद्रव्यसंग्रह' नाम दिया गया है और तब यह ५८ गाथाओंवाली कृति—'द्रव्यसंग्रह' बृहद्-विशेषणके साथ सुतरां 'बृहद्द्रव्यसंग्रह'के नामसे व्यवहृत एवं प्रसिद्ध हुई जान पड़ती है। अतएव 'लघुद्रव्य-संग्रह'के अन्तमें पाये जानेवाले पुष्पिकावाक्यमें उसके 'लघुद्रव्यसंग्रह' नामका उल्लेख मिलता है[1]।

यहाँ एक प्रश्न यह उठ सकता है कि उपलब्ध '**लघुद्रव्यसंग्रह**' में २५ ही गाथाएँ पायी जाती हैं; जबकि संस्कृत-टीकाकार उसे २६ गाथाप्रमाण बतलाते हैं। अतः वास्तविकता क्या है ? इस सम्बन्धमें श्रद्धेय प० जुगलकिशोरजी मुख्तारने ऊहापोहके साथ सम्भावना की है[2] कि 'हो सकता है, एक गाथा इस ग्रन्थ-प्रतिमें छूट गई हो, और सम्भवतः १० वीं-११ वीं गाथाओंके मध्यकी वह गाथा जान पड़ती है जो '**बृहद्द्रव्यसंग्रह**' में '**धम्माधम्मा कालो**' इत्यादि रूपसे नं० २० पर दी गई है और जिसमें लोकाकाश तथा अलोकाकाशका स्वरूप वर्णित है।' इसमें युक्तिके रूपमें उन्होंने कुछ आवश्यक गाथाओंका दोनोंमें पाया जाना बतलाया है। निःसन्देह मुख्तार साहबकी सम्भावना और युक्ति दोनों बुद्धिको लगते हैं। यथार्थमें '**लघुद्रव्यसंग्रह**'में जहाँ धर्म, अधर्म, आकाश आदिकी लक्षणपरक गाथाएँ दी हुई हैं वहाँ लोकाकाश तथा अलोकाकाशके स्वरूपकी प्रतिपादिका कोई गाथा न होना खटकता है। स्मरण रहे कि **बृहद्द्रव्यसंग्रहमें** १७, १८, १९, २१ और २२ नं० पर लगातार पायी जाने वाली ये पाँचों गाथाएँ तो **लघुद्रव्यसंग्रहमें** ८, ९, १०, ११ और १२ नं० पर स्थित है, पर **बृहद्द्रव्यसंग्रहकी** १९ और २१ वीं गाथाओंके मध्यकी २० नं० वाली गाथा **लघुद्रव्यसंग्रहमें** नहीं है, जिसका भी वहाँ होना आवश्यक था। अतः **बृहद्द्रव्यसंग्रहमें** २० नं० पर पायी जाने वाली उक्त गाथा **लघुद्रव्यसंग्रहकी** उपलब्ध ग्रन्थ-प्रतिमें छूटी हुई मानना चाहिए। सम्भव है किसी अन्य ग्रन्थ-प्रतिमें वह मिल जाय। उपलब्ध २५ गाथा-प्रमाण यह '**लघुद्रव्यसंग्रह**' अपने संक्षिप्त अर्थके साथ इसी बृहद्द्रव्यसंग्रहमें मुद्रित है।

(ग) अध्यात्मशास्त्र

वस्तुके—मुख्यतया जीवके—शुद्ध और अशुद्ध स्वरूपोंका निश्चय और व्यवहार अथवा शुद्ध और अशुद्ध नयोंसे कथन करनेवाला अध्यात्मशास्त्र है। जो नय शुद्धताका प्रकाशक है वह निश्चय नय अथवा शुद्ध नय है[3]। और जो अशुद्धताका द्योतक है वह व्यवहारनय अथवा अशुद्धनय है। द्रव्यसंग्रहमें इन दोनों नयोंसे जीवके शुद्ध और अशुद्ध स्वरूपोंका वर्णन किया गया है। ग्रन्थकर्त्ताने स्पष्टतया नं० ३, ६, ७, ८, ९, १०, १३, ३० और ४५ वीं गाथाओंमें '**णिच्छयदो**', '**ववहारा**', '**सुद्धणया**' '**असुद्धणया**' जैसे पद-प्रयोगों द्वारा

---

१. इति श्रीनेमिचन्द्रसूरिकृतं लघुद्रव्यसंग्रहमिदं पूर्णम्। —अन्तिम पुष्पिकावाक्य, लघुद्रव्यसं०।

२. अनेकान्त वर्ष १२, किरण ५, पृ० १४९।

३. शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको निश्चयनयः।....अशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको व्यवहारनयः। उभावप्येतौ स्तः, शुद्धाशुद्धत्वेनोभयथा द्रव्यस्य प्रतीयमानत्वात्। किन्त्वत्र निश्चयनयः साधकतमत्वादुपात्तः। साध्यस्य हि शुद्धत्वेन द्रव्यस्य शुद्धत्वद्योतकत्वान्निश्चयनय एव साधकतमो न पुनरशुद्धत्वद्योतको व्यवहारनयः।
—अमृतचन्द्र, प्रवच० ज्ञेया० गा० ९७।

निश्चय और व्यहार अथवा शुद्ध और अशुद्ध नयोंसे जीवके शुद्ध और अशुद्ध स्वरूपोंको बताया है। इसीसे संस्कृत-टीकाकार श्रीब्रह्मदेवने इसे 'अध्यात्मशास्त्र' स्पष्ट कहा है[1] और अपनी यह टीका भी उसी अध्यात्म-पद्धतिसे लिखी है। अतः द्रव्यसंग्रह द्रव्यानुयोगका[2] शास्त्र होते हुए भी अध्यात्म-ग्रन्थ है।

(घ) संस्कृत-टीका

इसपर एकमात्र[3] श्रीब्रह्मदेवकी संस्कृत-टीका उपलब्ध है और जो चार बार प्रकाशित हो चुकी है। दो बार रायचन्द्रशास्त्रमाला बम्बईसे, तीसरी बार पहाड़ीधीरज दिल्लीसे और चौथी बार खरखरी (धनबाद) से। यह मध्यम-परिमाणकी है, न अतिविस्तृत है और न अतिलघु। टीकाकारने प्रत्येक गाथाके पदोंका मर्मोद्घाटन बड़ी विशदतासे किया है। साथ ही दूसरे ग्रन्थोंके प्रचुर उद्धरण भी दिये है। ये उद्धरण आचार्य कुन्दकुन्द, गृद्धपिच्छ, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलङ्क, वीरसेन, जिनसेन, विद्यानन्द, गुणभद्र, नेमिचन्द्रसिद्धान्त-चक्रवर्ती, शुभचन्द्र, योगीन्दुदेव और वसुनन्दिसिद्धान्तिदेव आदि कितने ही ग्रन्थकारोके ग्रन्थोसे दिये गये हैं, जिनसे टीकाकारकी बहुश्रुतता और स्वाध्यायशीलता प्रकट होती है। गुणस्थानों और मार्गणाओका विशद प्रतिपादन, सम्बद्ध कथाओंका प्रदर्शन, तत्त्वोंका सरल निरूपण और लोकभावनाके प्रकरणमे ऊर्ध्व, मध्य और अधो लोकका कथन करते हुए बीस विदेहोंका विस्तृत वर्णन उनके चारों अनुयोगोंके पाण्डित्यको सूचित करता है। गाथा नं० ३५ का उन्होंने जो ५० पृष्ठोंमे विस्तृत व्याख्यान किया है वह कम आश्चर्यजनक नहीं है। टीकाकी विशेषता यह है कि इसकी भाषा सरल और प्रसादयुक्त है तथा सर्वत्र आध्यात्मिक पद्धति अपनायी गई है। अपनी इस व्याख्याको ब्रह्मदेवने 'वृत्ति' नाम दिया है[4] और उसे तीन अधिकारो तथा आठ अन्तराधिकारोंमे विभाजित किया है।

(ङ) संस्कृत-टीकामें उल्लिखित अनुपलब्ध ग्रन्थ

इस टीकामें कुछ ऐसे ग्रन्थोंके भी उद्धरण दिये गये हैं, जो आज उपलब्ध नहीं हैं और जिनके नाम-सुने जाते हैं। उनमें एक तो 'आचाराराधनाटिप्पण' है[5], जो या तो श्रीचन्द्रका होना चाहिए और या जय-

१. 'अत्राध्यात्मशास्त्रे यद्यपि सिद्धपरमेष्ठिनमस्कार उचितस्तथापि व्यवहारनयमाश्रित्य प्रत्युपकारस्मरणार्थमर्हत्परमेष्ठिनमस्कार एव कृतः।'--ब्रह्मदेव, बृ० सं० टी० पृ० ६।

२. द्रव्यानुयोग श्रुत (आगम) के चार अनुयोगों--स्तम्भों (प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग) मेंसे अन्यतम है। यह जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन तत्त्वोंका प्रकाशन करता है। देखिए, रत्नकरण्डकश्रा० श्लोक ४६।

३. पं० नाथूरामजी प्रेमीने 'जैन साहित्य और इतिहास' (पृ० २०) में प्रभाचन्द्रकृत एक 'द्रव्यसंग्रहपञ्जिका' का उल्लेख किया है, पर वह उपलब्ध न होनेसे उसके बारेमें कुछ कहा नहीं जा सकता। प्रेमीजीने भी नामोल्लेखके सिवाय उसपर कोई प्रकाश नहीं डाला और न अपने उल्लेखका कोई आधार बताया है। इससे मालूम पडता है कि यह रचना या तो लुप्त हो गई और या किसी शास्त्रभण्डारमे अज्ञात दशामे पड़ी हुई है। यदि लुप्त नहीं हुई तो अन्वेषकोंकी उसकी अवश्य खोज करनी चाहिए।

४. '............बृहद्द्रव्यसंग्रहस्याधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन वृत्तिः प्रारभ्यते।'--बृहद्द्रव्य० सं० टी० पृ० २।

५. '.........आचाराधनाटिप्पणे कथितमास्ते।'--सं० टी० पृ० १०६।

नन्दिका[1]। दूसरा ग्रन्थ है गन्धर्वाराधना[2]। मालूम नहीं, यह ग्रन्थ कब और किसके द्वारा रचा गया। सम्भव है भगवतीआराधनाको ही गन्धर्वाराधना कहा गया हो। परन्तु जो उद्धरण दिया गया है वह उसमें नहीं है।

(च) महत्त्वपूर्ण शङ्का-समाधान

इसमें कई शङ्का-समाधान बड़े महत्त्वके हैं। एक जगह शङ्का की गई है[3] कि सम्यग्दृष्टि जीवके पुण्य और पाप दोनों ही हेय हैं, फिर वह पुण्य कैसे करता है? इसका समाधान करते हुए ब्रह्मदेव लिखते हैं कि 'जैसे कोई व्यक्ति किसी दूसरे देशमें स्थित मनोहर स्त्रीके पाससे आये पुरुषोंका उस स्त्रीकी प्राप्तिके लिए दान (भेंट), सम्मान आदि करता है, उसी तरह सम्यग्दृष्टि जीव भी उपादेयरूपसे अपने शुद्ध आत्माकी ही भावना करता है, परन्तु चारित्रमोहके उदयसे उस निज-शुद्ध-आत्म-भावनामें असमर्थ होता हुआ निर्दोष परमात्मस्वरूप अर्हन्त और सिद्धों तथा उनके आराधक आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओंकी परमात्मपदकी प्राप्तिके लिए और विषय-कषायोंको दूर करनेके लिए दान, पूजा आदिसे अथवा गुणस्तुति आदिसे परम भक्ति करता है। इससे उस सम्यग्दृष्टि जीवके भोगोकी आकांक्षा आदि निदानरहित परिणाम उत्पन्न होता है। उससे उसके बिना चाहे विशिष्ट पुण्यका आस्रव उसी प्रकार होता है जिस प्रकार कुटुम्बियों (कृषकों) को बिना चाहे पलाल मिल जाता है। उस पुण्यसे वह स्वर्गमें इन्द्र, लौकान्तिक देव आदिकी विभूति पाकर वहाँकी विमान, परिवार आदि सम्पदाको जीर्ण तृणके समान मानता हुआ पाँच महाविदेहोंमें पहुँच कर देखता है कि 'यह वह समवसरण है, ये वे वीतराग सर्वज्ञदेव हैं, और ये वे भेदाभेदरत्नत्रयके आराधक गणधरदेवादिक हैं; जिनके विषयमें हम पहले सुना करते थे। उन्हें इस समय प्रत्यक्ष देख लिया' ऐसा मानकर धर्ममें बुद्धिको विशेष दृढ करके चौथे गुणस्थानके योग्य अपनी अविरत अवस्थाको न छोडता हुआ भोगोंका अनुभव होनेपर भी धर्मध्यानपूर्वक समय यापनकर स्वर्गसे आकर तीर्थकरादि पदोंके मिलने पर भी पूर्व भवमें भावना किये विशिष्ट भेदज्ञानकी वासनाके बलसे मोह नही करता है। इसके पश्चात् जिनदीक्षा लेकर पुण्य-पापरहित निज परमात्मा-

१ पं० नाथूरामजी प्रेमी, 'जैन साहित्य और इतिहास' पृ० ८६।

२. '⋯ तर्हि ''तुसमासं घोसंतो शिवभूदी केवली जादो' इत्यादि गन्धर्वाराधनादिभणित व्याख्यानं कथं घटते।'—सं० टी० पृ० २३३।

३. 'सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य पुण्यपापद्वयमपि हेयम्। कथं पुण्यं करोतीति? तत्र युक्तिमाह—यथा कोऽपि देशान्तरस्थमनोहरस्त्रीसमीपादागतपुरुषाणां तदर्थं दानसन्मानादिकं करोति तथा सम्यग्दृष्टिरप्युपादेयरूपेण स्वशुद्धात्मानमेव भावयति। चारित्रमोहोदयात्तत्रासमर्थः सन् निर्दोषपरमात्मस्वरूपाणामर्हत्सिद्धानां तदाराधकाचार्योपाध्यायसाधूनां च परमात्मपदप्राप्त्यर्थं विषयकषायवर्जनार्थं च दानपूजादिना गुणस्तवनादिना वा परमभक्तिं करोति। तेन भोगाकाङ्क्षादिनिदानरहितपरिणामेन कुटुम्बिनां पलालमिव अनीहितवृत्त्या विशिष्टपुण्यमास्रवति, तेन च स्वर्गे देवेन्द्रलौकान्तिकादिविभूतिं प्राप्य विमानपरिवारादिसम्पदं जीर्ण-तृणमिव गणयन् पञ्चमहाविदेहेषु गत्वा पश्यति। किं पश्यतीति चेत्—तदिदं समवसरणं त एते वीतरागसर्वज्ञाः त एते भेदाभेदरत्नत्रयाराधका गणधरदेवादयो ये पूर्वं श्रूयन्ते त इदानीं प्रत्यक्षेण दृष्टा इति मत्वा विशेषेण दृढधर्ममतिर्भूत्वा चतुर्थगुणस्थानयोग्यामात्मनोऽविरतावस्थामपरित्यजन् भोगानुभवेऽपि सति धर्मध्यानेन कालं नीत्वा स्वर्गादागत्य तीर्थकरादिपदे प्राप्तेऽपि पूर्वभवभावितविशिष्टभेदज्ञानवासनाबलेन मोहं न करोति। ततो जिनदीक्षां गृहीत्वा⋯मोक्षं गच्छति। मिथ्यादृष्टिस्तु ⋯।'

—सं० टी० पृ० १५९–१६०।

का ध्यान करके मोक्षको प्राप्त करता है। पर मिथ्यादृष्टि तीव्र निदानजनित पुण्यसे भोगोंको पाकर, अर्धचक्रीरावणादिकी तरह, पीछे नरकको जाता है।'

इस शङ्का-समाधानसे सम्यग्दृष्टिकी दृष्टिसे पुण्य-पापकी हेयतापर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इसी तरह इस टीकामें ब्रह्मदेवने और भी कई शङ्का-समाधान प्रस्तुत किये है, जो टीकासे ही ज्ञातव्य हैं।

(छ) अन्य टीकाएँ

उक्त संस्कृत-टीकाके अतिरिक्त अन्य भाषाओंमें भी इसके रूपान्तर हुए हैं। मराठीमें यह गांधी नेमचन्द बालचन्द द्वारा कई बार छप चुका है। अंग्रेजीमें भी इसके दो संस्करण क्रमशः सन् १९१७ और १९५६ में निकले हैं और दोनोंके रूपान्तरकार एवं सम्पादक प्रो० घोषाल हैं। हिन्दीमें तो इसकी कई विद्वानोंद्वारा अनेक व्याख्याएँ लिखी गई हैं और वे सब प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें बा० सूरजभानजी वकील, पं० हीरालालजी शास्त्री, पं० मोहनलालजी शास्त्री और पं० भुवनेन्द्रजी 'विश्व' की टीकाएँ उल्लेखनीय हैं।

(ज) द्रव्यसंग्रह-वचनिका

ब्रह्मदेवकी संस्कृत-टीकाके बाद और उक्त टीकाओसे पूर्व पण्डित जयचन्दजी छाबड़ाने इसपर देश-भाषामय (ढूढारी-राजस्थानीमें) वचनिका लिखी है। यह वचनिका वि० स० १८६३ (सन् १८०६) मे रची गयी है,[1] जो लगभग १६० वर्ष प्राचीन है और अब पहली बार प्रकाशमे आ रही है। इसमे गाथाओका संक्षिप्त अर्थ व उनका भावार्थ दिया गया है। भाषा परिमार्जित, प्रसादपूर्ण और सरल है। स्वाध्यायप्रेमियो-के लिए यह बड़ी उपयोगी है। पं० जयचन्दजीने अपनी इस वचनिकाका आधार प्रायः ब्रह्मदेवकी संस्कृत-टीकाको बनाया है। तथा उसीके आधारसे अनेक शङ्का-समाधान भी दिये हैं। वचनिकाके अन्तमें उन्होंने स्वयं लिखा है कि '**याका विशेष व्याख्यान याकी टीका, ब्रह्मदेव आचार्यकृत है, तातै जानना।**' इसमे कई चर्चाएँ बड़े महत्त्वकी हैं और नयी जानकारी देती है।

(झ) द्रव्यसंग्रह-भाषा

उक्त वचनिकाके बाद पं० जयचन्दजीने द्रव्यसंग्रहका चौपाई-बद्ध पद्यानुवाद भी रचा है, जिसे उन्होने '**द्रव्यसंग्रह-भाषा**' नाम दिया है।[2] एक गाथाको एक ही चौपाईमे बड़े सुन्दर ढंग एवं कुशलतासे अनूदित किया गया है और इस तरह ५८ गाथाओंकी ५८ चौपाइयाँ, आदिमे एक और अन्तमे दो इस प्रकार ३ दोहे, सब मिलाकर कुल ६१ छन्दोंमें यह '**द्रव्यसंग्रह-भाषा**' समाप्त हुई है। आरम्भके दोहामें मङ्गल और छन्दोंके माध्यमसे द्रव्यसंग्रहको कहनेकी प्रतिज्ञा की है[3]। तथा अन्तके दो दोहोंमे प्रथम (नं ६०) के द्वारा अपनी

१. संवत्सर विक्रमतणूं, अठदश-शत त्रयसाठ।
श्रावणवदि चोदशि दिवस, पूरण भयो सुपाठ ॥५॥ —प्रस्तुत वचनिका, ३रा अधिकार, पृ० ७४।

२. द्रव्यसंग्रहभाषाका आदि और अन्तभाग, पृ० ७५ व ८०।

३. देव जिनेश्वर वंदि करि, वाणी सुगुरु मनाय।
करूं द्रव्यसंग्रहतणी, भाषा छंद बणाय ॥१॥

—प्रस्तुत वचनिका पृ० ८०।

लघुताको मुनि नेमिचन्द्रकी लघुतासे अधिक प्रकट किया है[१]। दूसरे दोहेके द्वारा अन्तिम मङ्गल किया है[२]। इस तरह पं० जयचन्दजीकी यह रचना भी बड़ी उपयोगी और महत्त्वकी है। बालक-बालिकाओंको वह अनायास कण्ठस्थ कराई जा सकती है।

२. नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव

(क) द्रव्यसंग्रहके कर्त्ताका परिचय

इसके कर्त्ता मुनि नेमिचन्द्र हैं। जैसा कि ग्रन्थकी अन्तिम (५८ वीं) गाथासे प्रकट है। संस्कृत-टीकाकार श्रीब्रह्मदेव भी इसे मुनि नेमिचन्द्रकी ही कृति बतलाते हैं। अब केवल प्रश्न यह है कि ये मुनि नेमिचन्द्र कौन-से नेमिचन्द्र हैं और कब हुए हैं तथा उनकी रची हुई कौन-सी कृतियाँ हैं; क्योंकि जैन परम्परामें नेमिचन्द्र नामके अनेक विद्वान् हो गये हैं? इसी सम्बन्धमें यहाँ विचार किया जाता है।

(ख) नेमिचन्द्र नामके अनेक विद्वान्

१. एक नेमिचन्द्र तो वे हैं, जिन्होंने गोम्मटसार, त्रिलोकसार, लब्धिसार-क्षपणासार जैसे मूर्द्धन्य सिद्धान्त-ग्रन्थोका प्रणयन किया है और जो **'सिद्धान्तचक्रवर्ती'** की उपाधिसे विभूषित थे[3] तथा गंगवंशी राजा राचमल्लके प्रधान सेनापति चामुण्डराय (शक सं० ९०० वि सं० १०३५) के गुरु भी थे[४]। इनका अस्तित्व-समय वि० सं० १०३५ है।

२. दूसरे नेमिचन्द्र वे हैं, जिनका उल्लेख वसुनन्दि सिद्धान्तिदेवने अपने उपासकाध्ययन (गा० ५४३) मे किया है और जिन्हे 'जिनागमरूप समुद्रकी वेला-तरङ्गोसे धुले हृदयवाला' तथा 'सम्पूर्ण जगत्में विख्यात' लिखा है[५]। साथ ही उन्हे नयनन्दिका शिष्य और अपना गुरु भी बताया है[६]।

३. तीसरे नेमिचन्द्र वे हैं, जिन्होंने प्रथम नम्बरपर उल्लिखित नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके गोम्मटसार (जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड दोनों) पर **'जीवतत्त्वप्रदीपिका'** नामकी संस्कृत-टीका, जो अभयचन्द्रकी **'मन्दप्रबोधिका'** और केशववर्णीकी संस्कृत-मिश्रित कनडी टीका **'जीवतत्त्वप्रदीपिका'** इन दोनों टीकाओंके आधारसे रची गई है, लिखी है।

४. चौथे नेमिचन्द्र प्रस्तुत द्रव्यसंग्रहके कर्त्ता नेमिचन्द्र है।

१. 'द्रव्यसंग्रह-भाषा' पद्य नं० ६०, वचनिका पृ० ८०।
२. वही, पद्य नं० ६१, पृ० ८०।
३. 'जह चक्केण य चक्की छक्खंडं साहियं अविग्घेण।
तह मइ-चक्केण मया छक्खंडं साहियं सम्मं॥ —कर्मका० गा० ३९७।
४. चामुण्डरायने इन्हींकी प्रेरणासे श्रवणबेलगोला (मैसूर) में ५७ फुट उत्तुंग, विशाल एवं संसार-प्रसिद्ध श्रीबाहुबली स्वामीकी मूर्तिका निर्माण कराया था।
५. सिस्सो तस्स जिणागम-जलणिहि-वेलातरंग-धोयमणो॥
संजाओ सयल-जए विक्खाओ णेमिचंदु त्ति॥५४३॥
६. तस्स पसाएण मए आइरिय-परंपरागयं सत्थं।
वच्छल्लयाए रइयं भवियाणमुवासयज्झयणं॥५४४॥

इन चार नेमिचन्द्रोंके सिवाय, सम्भव है, और भी नेमिचन्द्र हुए हों। पर अभीतक हमें इन चारका ही पता चला है।

अब विचारणीय है कि ये चारों नेमिचन्द्र एक ही व्यक्ति है अथवा भिन्न-भिन्न ?

१. जहाँ तक प्रथम और तृतीय नेमिचन्द्रकी बात है, ये दोनों एक व्यक्ति नहीं हैं। प्रथम नेमिचन्द्र तो मूल ग्रन्थकार हैं और तीसरे नेमिचन्द्र उनके टीकाकार है। तथा प्रथम नेमिचन्द्रका समय विक्रमकी ११ वी शताब्दी है[1] और तीसरे नेमिचन्द्रका ईसा की १६ वी शताब्दी है[2]। अतः इन दोनों नेमिचन्द्रोंके पौर्वापर्यमे प्राय. ५०० वर्षका अन्तर होनेसे वे दोनो एक नही है।

२. प्रथम तथा द्वितीय नेमिचन्द्र भी एक नही है। प्रथम नेमिचन्द्र जहाँ विक्रमकी ११ वी शताब्दी (वि० स० १०३५) मे हुए है[3] वहाँ द्वितीय नेमिचन्द्र उनसे लगभग १०० वर्ष पीछे—१२ वी शताब्दी (वि० स० ११२५) के विद्वान् हैं; क्योंकि द्वितीय नेमिचन्द्र वसुनन्दि सिद्धान्तिदेवके गुरु थे और वसुनन्दिका समय १२वी शताब्दी (वि० स० ११५०) है[4]। इसके अलावा, प्रथम नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कहे जाते हैं और दूसरे नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव।

३. प्रथम और चतुर्थ नेमिचन्द्र भी भिन्न है। चतुर्थ नेमिचन्द्र जहाँ अपनेको 'तनुसूत्रधर' (अल्पज्ञ) कहते हैं[5] वहाँ प्रथम नेमिचन्द्र चक्रवर्तीकी तरह सिद्धान्तके छह खण्डोका विजेता—'सिद्धान्तचक्रवर्ती' अपनेको प्रकट करते है[6]। संस्कृतटीकाकार ब्रह्मदेवने भी अपनी टीकामे द्रव्यसग्रहकार चौथे नेमिचन्द्रको जगह-जगह 'सिद्धान्तिदेव' ही लिखा है[7], सिद्धान्तचक्रवर्ती नही। अपि च, प्रथम नेमिचन्द्र अपने गुरुओंका उल्लेख करते हुए पाये जाते है[8], पर चौथे नेमिचन्द्र ऐसा कुछ नही करते—मात्र अपना ही नाम देत दखे जाते हैं[9]। इसके अतिरिक्त दोनोंमें मान्यताभेद भी है। प्रथम नेमिचन्द्रने भावास्रवके जो भेद (५७) गिनाये है[10] वे द्रव्यसग्रह-कार-द्वारा प्रतिपादित भावास्रवके भेदो (३२) से भिन्न है[12]। इसके अलावा, प्रथम नेमिचन्द्र दक्षिण भारतके

१. डा० ए० एन० उपाध्ये, अनेकान्त वर्ष ४, किरण १, पृ० ११३-१२०। तथा पं० जुगलकिशोर मुख्तार, पुरातन जैन वाक्य-सूचीकी प्रस्तावना पृ० ८९।
२. अनेकान्त वर्ष ४, किरण १।
३. वही।
४. पुरातन जैन वाक्यसूचीकी प्रस्तावना पृ० १९०।
५. द्रव्यसंग्रह, गाथा ५८।
६. गोम्मटसार-कर्मकाण्ड, गा० ३९७।
७. द्रव्यसंग्रह-संस्कृतटीका, पृ० २, ५, ५८ आदि।
८. कर्मकाण्ड, गाथा ४३६, ७८५, त्रिलोकसार गा० १०१८, लब्धिसार गा० ४४८।
९. बृ० द्रव्यसग्रह, गा० ५८, लघुद्रव्यसं० गा० २५।
१०. मिच्छत्तं अविरमण कसाय-जोगा य आसवा होंति।
पण वारस पणवीसं पण्णरसा होंति तब्भेया ॥—गोम्म० कर्म०, गा० ७८६।
११. मिच्छत्ताविरदि-पमाद-जोग-कोहादओऽथ विण्णेया।
पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स ॥—द्रव्यसं०, गा० ३०।
१२. टीका पृ० ४, १०९, ११२, ११६, २०४।

निवासी हैं और चतुर्थ नेमिचन्द्र उत्तर भारत (मालवा) के विद्वान् हैं। इन सब बातोंसे प्रथम नेमिचन्द्र और चतुर्थ नेमिचन्द्र एक व्यक्ति नहीं हैं—वे दोनों एक दूसरेसे पृथक् एवं स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखते हैं।

४. द्वितीय और तृतीय नेमिचन्द्र भी अभिन्न नहीं हैं, द्वितीय नेमिचन्द्र १२ वी शताब्दीके विद्वान् हैं और तृतीय नेमिचन्द्र १६ वीं शतीमे हुए हैं और इसलिए इनमें लगभग चारसौ वर्षका पौर्वापर्य है।

५. तृतीय और चतुर्थ नेमिचन्द्र भी एक नहीं हैं। १३ वी शताब्दी (वि० सं० १३००) के ग्रन्थकार पं० आशाधरजीने चौथे नेमिचन्द्रके द्रव्यसंग्रहके नामोल्लेखपूर्वक तथा बिना नामोल्लेखके उसकी अनेक गाथाओंको अनगारधर्मामृतकी स्वोपज्ञ-टीकामें उद्धृत किया है। अतः चौथे नेमिचन्द्र स्पष्टतया पं० आशाधर-जीके पूर्ववर्ती अर्थात् १३ वी शताब्दीसे पहलेके हैं, जब कि तृतीय नेमिचन्द्र उनके उत्तरकालीन अर्थात् १६ वीं शतीमे हुए हैं।

(ग) द्रव्यसंग्रहके कर्त्ता नेमिचन्द्र

अब रह जाते हैं दूसरे और चौथे नेमिचन्द्र। सो ये दोनों विद्वान् निम्न आधारोसे एक व्यक्ति ज्ञात होते हैं।

१. पं० आशाधरजी (वि० सं० १३००) ने वसुनन्दि सिद्धान्तिदेवका सागारधर्मामृत तथा अनगार-धर्मामृत दोनोकी टीकाओंमे उल्लेख किया है[1] और वसुनन्दिने द्वितीय नेमिचन्द्रका अपने गुरुरूपसे स्मरण किया है[2] तथा उन्हे श्रीनन्दिका प्रशिष्य एवं नयनन्दिका शिष्य बतलाया है[3]। ये नयनन्दि यदि वे ही नयनन्दि है, जिन्होने 'सुदंसणचरिउ' की रचना की है और जिसे उन्होने धारामे रहते हुए राजा भोजदेवके कालमे वि० सं० ११०० मे पूर्ण किया है[4], तो द्वितीय नेमिचन्द्र नयनन्दिसे कुछ ही उत्तरवर्ती और वसुनन्दिसे कुछ पूर्ववर्ती अर्थात् वि० स० ११२५के करीबके विद्वान् ठहरते है। उधर चौथे नेमिचन्द्र (द्रव्यसंग्रहकार) का भी समय पं० आशाधरजीके ग्रन्थोमे उनका उल्लेख होने तथा ब्रह्मदेव द्वारा उनके द्रव्यसंग्रहकी टीका लिखी जानेसे उनसे पूर्ववर्ती अर्थात् वि० स० की १२ वी शताब्दी सिद्ध होता है। इसलिए बहुत सम्भव है कि ये दोनो नेमिचन्द्र एक हो।

२. वसुनन्दिने अपने गुरु नेमिचन्द्रको 'समस्त जगतमें विख्यात' बतलाया है। उधर 'सुदंसणचरिउ' के कर्त्ता नयनन्दि भी अपनेको 'जगत-विख्यात' प्रकट करते है[5]। इससे ध्वनित होता है कि वसुनन्दिको अपने द्वारा नेमिचन्द्रके गुरुरूपसे उल्लिखित नयनन्दि वे ही नयनन्दि अभिप्रेत है जो 'सुदंसणचरिउ' के कर्त्ता है और उन्हींके जगत-विख्यात जैसे गुणोको वे उनके शिष्य और अपने गुरु (नेमिचन्द्र) में भी देख रहे हैं। इससे जान पड़ता है कि वसुनन्दिके उल्लिखित नयनन्दि और 'सुदंसणचरिउ' के कर्त्ता नयनन्दि अभिन्न है

१. सा० ध० टी० ४-५२, अनगा० ध० टी० ५-६६, ८-३७ और ८-८८।
२. वसुनन्दिश्रावका०, गा० ५४३, ५४४।
३. वही, गा० ५४०, ५४२।
४. णिव-विक्कम-कालहो ववगएसु। एयारह-संवच्छर-सएसु ॥
तहि केवलि-चरिउ अमयच्छरेण। णयणंदी विरयउ वित्थरेण ॥—सुदंसणचरिउ, अन्तिम प्रशस्ति।
५. पढम-सीसु तहो जायउ जगविक्खायउ मुणि णयणंदी....।
चरिउ सुदंसणणाहहो तेण अवाहहो विरइउ....।—सुदंसणचरिउ, अन्तिमप्रश० ४।

तथा उन्हींके शिष्य नेमिचन्द्रका वसुनन्दिने अपने गुरुरूपसे स्मरण किया है और ये नेमिचन्द्र वे ही नेमिचन्द्र हो, जो द्रव्यसंग्रहके कर्त्ता हैं, तो कोई आश्चर्य नही है।

३. द्रव्यसंग्रहके संस्कृत-टीकाकार ब्रह्मदेवने द्रव्यसंग्रहकार नेमिचन्द्रका '**सिद्धान्तिदेव**' उपाधिके साथ अपनी संस्कृत-टीकाके मध्यमें तथा अधिकारोंके अन्तिम पुष्पिका-वाक्योंमें उल्लेख किया है[1]। उधर वसुनन्दि और उनके गुरु नेमिचन्द्र भी '**सिद्धान्तिदेव**' की उपाधिसे भूषित मिलते हैं[2]। अतः असम्भव नहीं कि ब्रह्मदेव के अभिप्रेत नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव और वसुनन्दिके गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव एक हों।

४. ब्रह्मदेवने द्रव्यसग्रहके प्रथम अधिकारके अन्तमें और द्वितीय अधिकारसे पहले वसुनन्दि-श्रावकाचारकी दो गाथाएँ नं० २३ और नं० २४ उद्धृत करते हुए लिखा है[3] कि 'इसके आगे पूर्वोक्त छहों द्रव्योंका चूलिकारूपसे विशेष व्याख्यान किया जाता है। वह इस प्रकार है।' यह उत्थानिकावाक्य देकर उन दोनों गाथाओंको दिया गया है और द्रव्यसंग्रहकारकी गाथाओंकी तरह ही उनकी व्याख्या प्रस्तुत की है। व्याख्याके अन्तमें '**चूलिका**' शब्दका अर्थ बतलाते हुए लिखा है कि विशेष व्याख्यान, अथवा उक्तानुक्त व्याख्यान और उक्तानुक्त मिश्रित व्याख्यानका नाम चूलिका है।

आशय यह है कि ब्रह्मदेवने वसुनन्दिकी गाथाओं (नं० २३ व २४) को जिस ढंगसे यहाँ प्रस्तुत किया है और उनकी व्याख्या दी है, उससे विदित होता है कि वे वसुनन्दिके गुरु नेमिचन्द्रको ही द्रव्यसंग्रहका कर्त्ता मानते थे और इसीलिए वसुनन्दिकी उक्त विशिष्ट गाथाओं और अपनी व्याख्याद्वारा उनके गुरु (नेमिचन्द्र-द्रव्यसंग्रहकार) के संक्षिप्त कथनका उन्होंने विस्तार किया है। और यह कोई असंगत भी नही है, क्योंकि गुरुके हृदयस्थ अभिप्रायका जितना जानकार एवं उद्घाटक साक्षात्-शिष्य हो सकता है उतना प्रायः अन्य नहीं। उक्त गाथाओंकी ब्रह्मदेवने उसी प्रकार व्याख्या की है जिस प्रकार उन्होंने द्रव्यसंग्रहकी समस्त गाथाओंकी की है। स्मरण रहे कि ब्रह्मदेवने अन्य आचार्योंके भी बीसियों उद्धरण दिये है, पर उनमेसे उन्होंने किसी भी उद्धरणकी ऐसी व्याख्या नहीं की और न इस तरहसे उन्हे उपस्थित किया है—उन्हें तो उन्होंने '**तदुक्तं**', '**तथा चोक्तं**' जैसे शब्दोंके साथ उद्धृत किया है। जब कि वसुनन्दिकी उक्त गाथाओंको द्रव्यसंग्रहकारकी गाथाओंकी तरह '**अतः परं पूर्वोक्तद्रव्याणां चूलिकारूपेण विस्तर-व्याख्यानं क्रियते। तद्यथा—**' जैसे उत्थानिका-वाक्यके साथ दिया है। अतः ब्रह्मदेवके उपर्युक्त प्रतिपादनपरसे यह निष्कर्ष सहज ही निकला जा सकता है कि उन्हें वसुनन्दिके गुरु नेमिचन्द्र ही द्रव्यसग्रहके कर्त्ता अभीष्ट है—वे उन्हे उनसे भिन्न व्यक्ति नही मानते हैं।

१. '.......श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवैः पूर्वं ...'—पृ० २। '... ...तिष्ठन्तीत्यभिप्रायो भगवतां श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवानामिति।'—पृ० ५८। 'इति श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचिते द्रव्यसंग्रहग्रन्थे........प्रथमोऽधिकारः समाप्तः।' 'इति श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचिते द्रव्यसग्रहग्रन्थे ..द्वितीयोऽधिकारः समाप्त।' 'इति....श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवैर्विरचितस्य द्रव्यसंग्रहाभिधानग्रन्थस्य....श्रीब्रह्मदेवकृतवृत्तिः समाप्तः।' —पृ० २४१।

२. आशाधर, सा० ध० टी०, ४-५२; अनगा० ध० टी०, ८-८८।

३. बृहद्द्रव्यसंग्रह-संस्कृतटीका पृ० ७६।

४. बृहद्द्रव्यसंग्रह-संस्कृतटीका, पृ० ८०।

इस तरह उपर्युक्त आधारोंसे द्रव्यसंग्रहके कर्त्ता मुनि नेमिचन्द्र वे ही नेमिचन्द्र ज्ञात होते हैं, जो वसुनन्दि सिद्धान्तिदेवके गुरु और नयनन्दि सिद्धान्तिदेव (सिद्धान्तपारंगत)[1] के शिष्य हैं। सम्भवतः इसीसे —गुरु-शिष्योंको **'सिद्धान्तिदेव'** होनेसे—ब्रह्मदेव उन्हें (द्रव्यसंग्रहकार मुनि नेमिचन्द्रको) भी **'सिद्धान्तिदेव'** मानते और उल्लिखित करते हुए देखे जाते हैं। इसके प्रचुर प्रमाण उनकी द्रव्यसंग्रहवृत्तिमें उपलब्ध हैं।

(घ) समय :

हम ऊपर कह आये हैं कि नयनन्दिने अपना **'सुदंसणचरिउ'** विक्रम सं० ११०० में पूर्ण किया है। अतः नयनन्दिका अस्तित्व-समय वि० सं० ११०० है। यदि उनके शिष्य नेमिचन्द्रको उनसे अधिक-से-अधिक २५ वर्ष पीछे माना जाय तो वे लगभग वि० सं० ११२५ के ठहरते हैं। उधर इनके शिष्य वसुनन्दिका समय विक्रमकी १२ वीं शताब्दीका पूर्वार्ध अर्थात् वि० सं० ११५० माना जाता है[2], जो उचित है। इससे भी नयनन्दि (वि० सं० ११००) और वसुनन्दि (वि० सं० ११५०) के मध्य होनेवाले इन नेमिचन्द्रका समय विक्रम सं० ११२५ के आस-पास होना चाहिए।

(ङ) गुरु-शिष्य :

यद्यपि द्रव्यसंग्रहकारने न अपने किसी गुरुका उल्लेख किया है और न किसी शिष्यका। उनके उपलब्ध लघु और बृहद् दोनों द्रव्यसंग्रहोंमें उन्होंने अपना नाममात्र दिया है। इतना विशेष है कि लघुद्रव्यसंग्रहमें उनकी रचनाका निमित्त भी बताया है[3]। और वह है सोम (राजश्रेष्ठी)। उन्हींके बहानेसे भव्यजीवोंके कल्याणार्थ उन्होंने उसे रचा है। फिर भी वसुनन्दिके उल्लेखानुसार उनके गुरु नयनन्दि हैं और दादा गुरु श्रीनन्दि[4]। वसुनन्दि उनके साक्षात्‌शिष्य हैं। वसुनन्दिने अपना **'उपासकाध्ययन'**, जो अर्थतः आचार्यपरम्परासे आगत था, शब्दतः उन्हीसे सिद्धान्तका अध्ययन करके उनके प्रसादसे पूरा किया था[5]। ग्रन्थकारके और भी शिष्य रहे होंगे, पर उनके जाननेका अभी तक कोई साधन प्राप्त नहीं है।

(च) प्रभाव :

यों तो ग्रंथकारने स्वयं अपना कोई परिचय नहीं दिया, जिससे उनके प्रभावादिका पता चलता, तथापि उत्तरवर्त्ती ग्रंथकारोंद्वारा उनका स्मरण किया जाना और **'भगवान्'** जैसे सम्मानसूचक शब्दोंके साथ उनके द्रव्यसंग्रहकी गाथाओंका उद्धरण देना आदि बातोंसे उनके प्रभावका पता चलता है[6]। वसुनन्दि सिद्धान्तिदेव तो उन्हें **'जिनागमरूपी समुद्रकी बेला-तरंगोंसे धुले हृदयवाला'** तथा **'समस्त जगतमें विख्यात'** बतलाते हैं। इससे वे तत्कालीन विद्वानोंमें निश्चय ही एक प्रभावशाली एवं सिद्धान्तवेत्ता विद्वान् रहे होंगे, यह स्पष्ट ज्ञात होता है।

---

१. वसुनन्दि, उपासकाध्ययन गा० ५४२।

२. पं० जुगलकिशोर मुख्तार, पुरातन जैन वाक्य-सूची, प्रस्तावना पृ० १००।

३. सोमच्छलेण रइया पयत्थलक्खणकराउ गाहाओ।
भव्वुवयार-णिमित्तं गणिणा सिरिणेमिचंदेण॥—लघुद्रव्यसं० गा० २५।

४. वसुनन्दिसिद्धान्तिदेव, उपासकाध्ययन गा० ५४०, ५४१, ५४२।

५. वही, गा० ५४४।

६. ब्रह्मदेव, द्रव्यसंग्रह-संस्कृतटीका, पृ० ५८, १४९, २२९। तथा आशाधर, अनगारधर्मामृतटीका पृ० ४, १०९, ११६, ११८। और जयसेन, पञ्चास्तिकाय-तात्पर्यवृत्ति पृ० ६, ७, १६३, १८६।

(छ) स्थान :

ब्रह्मदेवके[१] उल्लेखानुसार ग्रन्थकारने अपने दोनों द्रव्यसंग्रहोंकी रचना **'आश्रम'** नामक नगरके श्रीमुनिसुव्रततीर्थंकरचैत्यालयमे रहते हुए की थी। यह **'आश्रम'** नगर उस समय मालवाके अन्तर्गत था और मालवासम्राट् धाराधिपति परमारवंशी भोजदेवके प्रान्तीय-प्रशासक परमारवंशीय श्रीपालद्वारा वह प्रशासित था। **'सोम'** नामक राजश्रेष्ठी उनका प्रभावशाली एवं विश्वसनीय अधिकारी था, जिसके अधिकारमें खजाना आदि कई महत्त्वपूर्ण विभाग थे। इन सोमश्रेष्ठीके अनुरोधपर ही श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवने पहले २६ गाथात्मक पदार्थलक्षणरूप **'लघुद्रव्यसंग्रह'** और फिर पीछे विशेष तत्त्वज्ञानके लिए **'बृहद्द्रव्यसंग्रह'** रचा था। ब्रह्मदेवने अपने इस उल्लेखमें सोमश्रेष्ठीको **'परम आध्यात्मिक भव्योत्तम'** बताया है, जिससे सोमश्रेष्ठीकी उत्कट आध्यात्मिक-जिज्ञासाका परिचय मिलता है। इसी उल्लेखसे जहां यह भी ज्ञात होता है कि उक्त **'आश्रम'** नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवके स्थायी अथवा अस्थायी निवासके रूपमे विश्रुत था, और सोमश्रेष्ठी जैसे आध्यात्मिक सुधारसपिपासु वहाँ पहुँचते थे, वहाँ इस पावन स्थानका महत्त्व भी प्रकट होता है। लगता है कि उन दिनों जैन परम्परामे इस स्थानकी प्रसिद्धि एव मान्यता वहांके उक्त चैत्यालयमें प्रतिष्ठित बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथकी सातिशय, मनोज्ञ एवं आकर्षक प्रतिमाके कारण रही है। मूर्तिके इस अतिशयका उल्लेख मुनि मदनकीर्तिने शासनचतुस्त्रिंशिका (पद्य २८), निर्वाणकाण्डकारने प्राकृत-निर्वाणकाण्ड (गा० २०) और मुनि उदयकीर्तिने अपभ्रंश-निर्वाणभक्ति (गा० ६) में भी किया है। इन उल्लेखोसे स्पष्ट जान पडता है कि उक्त **'आश्रम'** नगर एक प्रसिद्ध और पावन दिगम्बर तीर्थस्थान रहा है।

इस स्थानकी वर्तमान स्थितिके बारेमें प० दीपचन्द्रजी पाण्ड्या[२] और डा० दशरथ शर्माने[३] ऊहापोह एव प्रमाणपूर्वक विचार करते हुए लिखा है कि **'आश्रम'** नगर, जिसे साहित्यकारोंने आश्रमं[४], आशारम्यपट्टण[५], आश्रमपत्तन[६], पट्टण[७] और पुटभेदनके[८] नामसे उल्लेखित किया है[९], राजस्थानके अन्तर्गत कोटासे उत्तरपूर्वकी

---

१. 'अथ मालवदेशे धारानामनगराधिपतिभोजदेवाभिधानकलिकालचक्रवर्तिसम्बन्धिन· श्रीपालमण्डलेश्वरस्य सम्बन्धिन्याश्रमनामनगरे श्रीमुनिसुव्रततीर्थंकरचैत्यालये शुद्धात्मद्रव्यसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरसास्वाद-विपरीतनारकादिदुःखभयभीतस्य परमात्मभावनोत्पन्नसुखसुधारसपिपासितस्य भेदाभेदरत्नत्रयभावना-प्रियस्य भव्यवरपुण्डरीकस्य भाण्डागाराद्यनेकनियोगाधिकारिसोमाभिधानराजश्रेष्ठिनो निमित्तं श्रीनेमि-चन्द्रसिद्धान्तिदेवैः पूर्वं षड्विंशतिगाथाभिर्लघुद्रव्यसंग्रहं कृत्वा पश्चाद्विशेषतत्त्वज्ञानार्थं विरचितस्य बृहद्द्रव्यसंग्रहस्याधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन वृत्तिः प्रारभ्यते।'—ब्रह्मदेव, बृहद्द्रव्यसं० वृत्ति, पृ० १-२।

२. 'क्या पाटण-केशोराय ही प्राचीन आश्रमनगर है?' शीर्षक लेख, वीरवाणी (स्मारिका) वर्ष १८, अक १३, पृ० १०९।

३. 'आश्रमपत्तन ही केशोराय पट्टन है' शीर्षक निबन्ध, अनेकान्त (छोटेलाल स्मृति अंक) वर्ष १९, कि० १-२, पृ० ७०।

४. मदनकीर्ति, शासनचतुस्त्रिंशिका पद्य २८ तथा उदयकीर्ति अपभ्रंशनिर्वाणभक्ति गा० ६।

५. निर्वाणकाण्ड गा० २०।

६ नयचन्द्रसूरि, हम्मीरकाव्य ८-१०६।

७. ८. चन्द्रशेखर, सुर्जनचरितमहाकाव्य ११-२२, ३९।

९. जल और स्थल मार्गोंसे व्यापार करनेवाले नदी-किनारे स्थित नगरको पुटभेदन और मुख्यतः बन्दरगाह-को पत्तन या पट्टन कहा जाता है, चाहे वह समुद्रतटपर हो या नदी-तटपर। आश्रमनगरके लिए ये दोनों शब्द प्रयुक्त हो सकते हैं; क्योंकि वह चम्बलके किनारे स्थित है।

ओर लगभग ९ मीलकी दूरीपर और बूँदीसे लगभग ३ मील दूर चर्मण्वती (चम्बल) नदीपर अवस्थित वर्तमान **'केशोराय पाटन'** अथवा **'पाटण केशोराय'** ही है। प्राचीन कालमें यह राजा भोजदेवके परमार-साम्राज्यके अन्तर्गत मालवामें रहा है। निसर्गरमणीय यह स्थान आश्रम-भूमि (तपोवन) के उपयुक्त होनेके कारण वास्तवमें **'आश्रम'** कहलानेका अधिकारी है। नदीके किनारे होनेसे यह बड़ा भव्य, शान्त और मनोज्ञ है। इसकी प्राकृतिक सुषमा बहुत ही आकर्षक है। सम्भवतः इसी कारण यह जैनों (दिगम्बरों) के अतिरिक्त हिन्दुओंका भी तीर्थ है। दिगम्बर-साहित्यमें इसके दिगम्बर तीर्थ होनेके प्रचुर उल्लेख विक्रमकी १२वीं १३वीं शताब्दीसे मिलते हैं और जैनेतर-साहित्यमें इसके हिन्दू तीर्थ होनेके निर्देश विक्रमकी १५वी-१६वीं शताब्दीसे उपलब्ध होते हैं। पाण्डयाजीके कथनानुसार आज भी वहाँ (पाटण केशाराय कस्बामें) चम्बल नदीके किनारे बहुत विशाल लगभग ४० फुट ऊँचा भव्य जैन मन्दिर है। मन्दिरका एक भाग सुदृढ़ नीव है, जिससे मन्दिरको पानीसे कभी क्षति न पहुँचे। दूसरे भागमें शाला, कोठे आदि बने हुए हैं, जहाँ बहुसंख्यामें बाहरसे यात्री आते व ठहरते हैं और दर्शन, पूजन करके मनोरथ पूरा होने हेतु गण-भोज भी किया करते हैं। श्रीमुनिसुव्रतकी दिगम्बरीय प्रतिमा मन्दिरके ऊपरी भागमें भूगर्भमें विराजमान है। पृथ्वीतलसे नीचे होनेके कारण जनता इस प्राचीन मन्दिरको **'भुई देवरा'** (भौंयरा) कहती है।[1] डा० शर्माके सूचनानुसार रणथंभोरके राजा हठीले हम्मीरके पिता जैसिंहने पुत्रको राज्य देकर **आश्रमपत्तन**के पवित्र तीर्थके लिए प्रयाण किया था[2]। तथा रणथभोरेश्वर हम्मीरने राजधानीमें यज्ञ न कर इसी महान् तीर्थपर आकर **'कोटिमख'** किया था[3]। किन्तु प्रतीत होता है कि १६वीं शताब्दीकी जनता इसे आश्रमपत्तन या आश्रमनगर न कहकर पत्तन या पट्टन या पुटभेदन कहने लगी थी[4]।

इस तरह आश्रमनगर[5] जैनोंके साथ हिन्दुओंका भी पावन तीर्थस्थान है। श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव-ने ऐसे महत्त्वपूर्ण एवं प्राकृतिक सुषमासे सम्पन्न शान्त स्थानको साहित्य-सृजन, ज्ञानाराधन और ध्यान आदिके लिए चुना हो, तो कोई आश्चर्य नहीं हैं।

(ज) रचनाएँ

जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है कि श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवकी दो ही रचनाएँ उपलब्ध हैं—एक लघुद्रव्यसंग्रह और दूसरी बृहद्द्रव्यसंग्रह। इन दोके अलावा उनकी और कोई कृति प्राप्त नहीं है। उनके प्रभावको

१. डा० शर्माके उल्लिखित लेखमें उद्धृत 'आर्काएलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डियाकी १९०४-५ की प्रोग्रेस रिपोर्ट।
२. नयचन्द्रसूरि, हम्मीरमहाकाव्य ८–१०६।
३. चन्द्रशेखर, सुर्जनचरितमहाकाव्य ११–५८।
४. वही, ११–२२।
५. सन् १९४९में मदनकीर्तिकी शासनचतुस्त्रिंशिकाके सम्पादन-समय उसके उल्लेख (पद्य २८)में आये आश्रम पदसे आश्रमनगरकी ओर मेरा ध्यान नहीं गया था और उसके तृतीय चरणमें विद्यमान 'विप्रजनाव-रोधनगरे' शब्दोंपरसे अवरोधनगरकी कल्पना की थी, जो ठीक नहीं थी। वहाँ 'आश्रम' से आश्रमनगर मदनकीर्तिको इष्ट है, इसकी ओर हमारा ध्यान पं० दीपचन्द्रजी पांड्याके उस लेखने आकर्षित किया है, जो उन्होंने वीरवाणी (स्मारिका) वर्ष १८, अंक १३ में प्रकाशित किया है और जिसका जिक्र ऊपर किया गया है। इसके लिए हम उनके आभारी हैं।—लेखक।

देखते हुए यह सम्भावना अवश्य की जा सकती है कि उनने और भी कृतियोंका निर्माण किया होगा, जो या तो लुप्त हो गई या शास्त्रभण्डारोंमें अज्ञात दशामें पड़ी होंगी।

(ख) ब्रह्मदेव

ब्रह्मदेव श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवके बृहद्द्रव्यसंग्रहके संस्कृत-टीकाकार हैं और वे उनके ग्रन्थोंसे बहुत परिचित एवं प्रभावित मालूम पड़ते हैं। अतः उनके व्यक्तित्व, कृतित्व और समयके सम्बन्धमें भी यहाँ विचार करना अनुचित न होगा।

(१) व्यक्तित्व

श्रीब्रह्मदेवकी रचनाओंपरसे उनके व्यक्तित्वका अच्छा परिचय मिलता है। वे प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृत तीनों भाषाओंके पण्डित थे और तीनोंमें उनका अबाध प्रवेश दिखाई देता है। वे अध्यात्मकी चर्चा करते हुए उसके रसमें स्वयं तो निमग्न होते ही हैं, किन्तु पाठकोंको भी उसमें तन्मय कर देनेकी क्षमता रखते हैं।[1] इससे वे स्पष्टतया आध्यात्मिक विद्वान् जान पड़ते हैं। लेकिन इससे यह न समझ लिया जाय कि वे केवल आध्यात्मिक ही विद्वान् थे। वरन् द्रव्यानुयोगकी चर्चाके साथ प्रथमानुयोग, करणानुयोग और चरणानुयोगके बीसियों ग्रन्थोंके उद्धरण देकर वे अपना चारों अनुयोगोंका पाण्डित्य एवं बहुश्रुतत्व भी ख्यापित करते हैं। पंचास्तिकायकी तात्पर्यवृत्तिमें जयसेनने और परमात्मप्रकाशकी कन्नड-टीकामें मलधारी बालचन्द्रने उनका पूरा अनुकरण किया है। पदच्छेद, उत्थानिका, अधिकारों और अन्तराधिकारोंकी कल्पना इन दोनों विद्वानोंने ब्रह्मदेवसे ली है। शब्दसाम्य और अर्थसाम्य तो अनेकत्र है। समयका विचार करते समय हम आगे दिखायेंगे कि जयसेनका अनुकरण ब्रह्मदेवने नहीं किया, अपितु ब्रह्मदेवका जयसेनने किया है।

(२) कृतित्व

ब्रह्मदेवकी निम्न रचनाएँ मानी जाती हैं :—

१. परमात्मप्रकाशवृत्ति, २. बृहद्द्रव्यसंग्रहवृत्ति, ३ तत्त्वदीपक, ४ ज्ञानदीपक, ५. त्रिवर्णाचार-दीपक, ६. प्रतिष्ठातिलक, ७. विवाहपटल और ८. कथाकोश।

परन्तु डा० ए० एन० उपाध्ये उनकी दो ही प्रामाणिक रचनाएँ बतलाते हैं[2]—एक परमात्मप्रकाश-वृत्ति और दूसरी बृहद्द्रव्यसंग्रहवृत्ति।

१. **परमात्मप्रकाशवृत्ति**—परमात्मप्रकाशवृत्ति (परमप्पयासु) श्री योगीन्द्रदेवकी अपभ्रंशमें रची महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें आत्मा ही परमात्मा है, इसपर प्रकाश डाला गया है। ब्रह्मदेवने इसीपर संस्कृतमें अपनी वृत्ति लिखी है, जिसे उन्होंने स्वयं '**परमात्मप्रकाशवृत्ति**' कहा है[3]। आध्यात्मिक पद्धति, पदच्छेद, उत्थानिका, सन्धिकी यथेच्छता, अधिकारों और अन्तराधिकारोंकी कल्पना ये सब बृहद्द्रव्यसंग्रहवृत्तिकी तरह इसमें भी हैं। भाषा सरल और सुबोध है।

(२) **बृहद्द्रव्यसंग्रहवृत्ति**—इसका परिचय इसी प्रस्तावनामें पृष्ठ २३ पर दिया जा चुका है।

---

१. परमात्मप्रकाशवृत्ति (नई आवृत्ति), १-२१४, पृ० ३५१।

२. परमात्मप्रकाश (नई आवृत्ति), हिन्दी प्रस्तावना पृ० ११६।

३. '''''सूत्राणां विवरणभूता परमात्मप्रकाशवृत्तिः समाप्ता।' -डा० उपाध्ये, परमात्मप्रकाश अ० २-२१४, पृ० ३५०।

(३) समय :

(१) ब्रह्मदेवने वसुनन्दिके उपासकाध्ययनसे दो गाथाएँ (नं० २३ व २४) बृहद्द्रव्यसंग्रहवृत्ति (पृ० ७६) में उद्धृत की हैं और उनका विस्तृत व्याख्यान किया है। वसुनन्दिका समय विक्रम सं० ११५० है। अतः ब्रह्मदेव वसुनन्दि वि० ११५०) से पूर्ववर्ती नहीं है—उनके उत्तरवर्ती हैं।

(२) पं० आशाधरजी (वि० सं० १२९६) ने अपने सागारधर्मामृत (१-१३) में ब्रह्मदेवकी बृहद्द्रव्यसंग्रहवृत्ति (पृ० ३३-३४) का अनुकरण किया है और उनके 'तलवरगृहीततस्कर' का उदाहरण ही नहीं अपनाया, अपितु उनके शब्दों और भावोंको भी अपनाया है।[1] अतएव ब्रह्मदेव पं० आशाधरजी (वि० सं० १२९६) से पूर्ववर्ती हैं।

(३) ब्रह्मदेवने सम्यग्दृष्टिके पुण्य और पाप दोनोंको हेय बतलाते हुए दृष्टान्तके साथ जो इस विषय की गद्य दी है उसका अनुकरण जयसेनने पञ्चास्तिकायकी तात्पर्यवृत्तिमें किया है। इसके कई आधार हैं। पहले, जयसेनने यहाँ ब्रह्मदेवके दृष्टान्तको तो लिया ही है, उनके शब्दों और भावोंको भी अपनाया है।[2]

---

१ तुलना कीजिए :—

(क) 'निजपरमात्मद्रव्यमुपादेयम्, इन्द्रियसुखादिपरद्रव्यं हि हेयमित्यर्हत्सर्वज्ञप्रणीतनिश्चयव्यवहारनयसाध्यसाधकभावेन मन्यते परं किन्तु भूरेखादिसदृशक्रोधादिद्वितीयकषायोदयेन मारणनिमित्तं तलवरगृहीततस्करवदात्मनिन्दासहितः सन्निन्द्रियसुखमनुभवतीत्यविरतसम्यग्दृष्टेर्लक्षणम्।

—ब्रह्मदेव, बृ० द्र० वृ०, पृ० ३३-३४।

(ख) भूरेखादिसदृक्कषायवशगो यो विश्वदृश्वाज्ञया,
हेयं वैषयिकं सुखं निजमुपादेयं त्विति श्रद्दधत्।
चौरो मारयितुं धृतस्तलवरेणेवात्मनिन्दादिमान्,
शर्माक्षं भजते रुजत्यपि परं नोत्तप्यते सोऽप्यघैः॥

—आशाधर, सागारधर्मामृत, १-१३।

२. (क) यथा कोऽपि देशान्तरस्थमनोहरस्त्रीसमीपादागतपुरुषाणां तदर्थं दानसन्मानादिकं करोति तथा सम्यग्दृष्टिरप्युपादेयरूपेण स्वशुद्धात्मानमेव भावयति.... निर्दोषपरमात्मस्वरूपाणामर्हत्सिद्धानां तदाराधकाचार्योपाध्यायसाधूनां च परमात्मपदप्राप्त्यर्थं विषयकषायवर्जनार्थं च दानपूजादिना... परमभक्तिं करोति.. तेन च स्वर्गे देवेन्द्रलौकान्तिकादिविभूतिं प्राप्य विमानपरीवारादिसंपदं जीर्णतृणमिव गणयन् पञ्चमहाविदेहेषु गत्वा पश्यति। किं पश्यति, इति चेत्—तदिदं समवसरणं, त एते वीतरागसर्वज्ञाः, त एते भेदाभेदरत्नत्रयाराधका गणधरदेवादयो ये पूर्वं श्रूयन्ते....इति मत्वा विशेषेण दृढधर्ममतिर्भूत्वा चतुर्थगुणस्थानयोग्यामात्मनोऽविरतावस्थामपरित्यजन् भोगानुभवेऽपि सति धर्मध्यानेन कालं नीत्वा स्वर्गादागत्य तीर्थकरादिपदे प्राप्तेऽपि पूर्वभवभावितविशिष्टभेदज्ञानवासनाबलेन मोहं न करोति, ततो जिनदीक्षां गृहीत्वा पुण्यपापरहितनिजपरमात्मध्यानेन मोक्षं गच्छतीति।'

—बृह० द्र० वृ०, पृ० १५९-१६०।

(ख) 'यथा कोऽपि रामदेवादिपुरुषो देशान्तरस्थसीतादिस्त्रीसमीपादागतानां पुरुषाणां तदर्थं दानसन्मानादिकं करोति तथा मुक्तिस्त्रीवशीकरणार्थं निर्दोषपरमात्मना तीर्थकरपरमदेवानां तथैव गणधरदेवभरतसगररामपाण्डवादिमहापुरुषाणां चाशुभरागवर्जनार्थं शुभधर्मानुरागेण चरितपुराणादिकं शृणोति भेदाभेदरत्नत्रयभावनारतानामाचार्योपाध्यायादीनां गृहस्थावस्थायां च पुनर्दानपूजादिकं करोति च तेन

दूसरे, जयसेनने अपने ढंगसे मामूली परिवर्तन (घटा-बढ़ीरूप सुधार) भी किया है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसने किसका अनुकरण किया है। उदाहरणके लिए ब्रह्मदेवका 'देशान्तरस्थस्त्री'—का दृष्टान्त लीजिए। इसमें जयसेनने 'सीतादि' पद और जोडकर 'देशान्तरस्थसीतादिस्त्री' का दृष्टान्त दिया है। इसी तरह ब्रह्मदेवके 'कोऽपि' पदके साथ 'रामदेवादिपुरुषो' और मिलाकर 'कोऽपि रामदेवादिपुरुषो' ऐसा व्याख्यात्मक पद जयसेनने प्रस्तुत किया है। इस ढंगके सुधार और परिवर्तन उत्तरवर्ती ही करता है और इसलिए यह निःसकोच कहा जा सकता है कि जयसेनने ब्रह्मदेवका अनुकरण किया है। तीसरे, पदच्छेद, उत्थानिका, अधिकारों और अन्तराधिकारोंकी कल्पना जयसेनने ब्रह्मदेवसे ली है। चौथे, जयसेनने पचास्तिकायमे व्याख्याका ढग वही अपनाया है, जो ब्रह्मदेवने द्रव्यसंग्रह और परमात्मप्रकाशमे अपनाया है। सन्धि न करनेका जो 'सुखबोधार्थ' हेतु ब्रह्मदेवने प्रस्तुत किया है वही जयसेनने दिया है। पाँचवें, जयसेनने अपने निमित्त-कथनका समर्थन ब्रह्मदेव-निमित्त-कथनसे किया है और 'अत्र प्राभृतग्रन्थे शिवकुमार महाराजो निमित्तं, अन्यत्र द्रव्यसग्रहादौ सोम-श्रेष्ठ्यादि ज्ञातव्यम्' शब्दोको देकर तो उन्होने स्पष्टतया ब्रह्मदेवके अनुकरणको प्रमाणित कर दिया है। इस प्रकार दोनों टीकाकारोंकी टीकाओके आभ्यन्तर परीक्षणसे जयसेन निश्चय ही ब्रह्मदेवके उत्तरकालीन विद्वान् ज्ञात होते है। जयसेनका समय डा० ए० एन० उपाध्येने ईसाकी बारहवी शताब्दीका उत्तरार्ध निर्धारित किया है। ब्रह्मदेव उक्त आधारोंसे उनसे पूर्ववर्ती सिद्ध होनेमे उनका अस्तित्व-समय ईसाकी बारहवी शताब्दीका आरम्भ और विक्रमकी १२ वी शताब्दीका उत्तरार्द्ध (वि० स० ११५० से १२००) ज्ञात होता है।

इस तरह ब्रह्मदेव वसुनन्दि (वि० सं० ११५०) से उत्तरवर्ती और जयसेन (वि० स० १२१७) तथा प० आशाधर (वि० सं० १२९६) से पूर्ववर्ती अर्थात् वि० सं० ११५० से वि० स० १२०० के विद्वान् प्रतीत होते हैं।

पं० परमानन्दजी शास्त्रीने ब्रह्मदेव, द्रव्यसंग्रहकार मुनि नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव और राजा भोजदेव इन तीनोंको समकालीन बतलाया है[1]। परन्तु हम ऊपर देख चुके है कि ब्रह्मदेव वसुनन्दि (वि०सं० ११५०) से पूर्ववर्ती नही है और नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव वसुनन्दिके साक्षात् गुरु होनेसे उन्हे उनसे २५ वर्ष पूर्व तो होना ही चाहिए अर्थात् नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवका समय वि० सं० ११२५ के लगभग है। राजा भोजदेव नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवके गुरु नयनन्दि (वि० सं० ११००) द्वारा अपने समयमे उनके राज्यका उल्लेख होनेसे उनके समकालीन हैं। अतः इन तीनोंका समय एक प्रतीत नही होता। राजा भोजका वि० स० ११०० (वि० १०७४-१११७), नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवका वि० सं० ११२५ और ब्रह्मदेवका वि० सं० ११७५ अस्तित्व-समय सिद्ध होता है।

कारणेन पुण्यास्रवपरिणामसहितत्वात्तद्भवे निर्वाणं न लभते भवान्तरे पुनर्देवेन्द्रादिपदं लभते। तत्र विमानपरीवारादिविभूतिं तृणवद्गणयन् सन् पञ्चमहाविदेहेषु गत्वा समवसरणे वीतरागसर्वज्ञान् पश्यति। निर्दोषपरमात्माराधकगणधरदेवादीना च तदनन्तर विशेषेण दृढधर्मो भूत्वा चतुर्थगुणस्थानयोग्यामात्म-भावनामपरित्यजन सन् देवलोके कालं गमयति। ततोऽपि जीवितान्ते स्वर्गादागत्य मनुष्यभवे चक्रवर्त्यादि-विभूतिं लब्ध्वापि पूर्वभवभावितशुद्धात्मभावनाबलेन मोह न करोति, ततश्च विषयसुख परिहृत्य जिन-दीक्षां गृहीत्वा....निजशुद्धात्मनि स्थित्वा मोक्ष गच्छतीति।'—पंचास्तिकायतातपर्य वृ०, पृ० २४३-४४।

१. 'द्रव्यसंग्रहके कर्ता और टीकाकारके समयपर विचार' शीर्षक लेख, अनेकान्त (छोटेलाल जैन स्मृति अंक) पृ० १४५।

वचनिकाकार पं० जयचंदजी :

अब वचनिकाकार पं० **जयचन्दजीके** सम्बन्धमे विचार किया जाता है।

(१) परिचय :

पं० **जयचन्दजीने** स्वयं अपना कुछ परिचय सर्वार्थसिद्धि-वचनिकाकी अन्तिम प्रशस्तिमे दिया है।[1] उससे ज्ञात है कि वे राजस्थान प्रदेशके अन्तर्गत **जयपुरसे** तीस मीलकी दूरीपर डिग्गीमालपुरा रोडपर स्थित **'फागई'** (फागी) ग्राममें पैदा हुए थे। इनके पिताका नाम **मोतीराम** था, जो **'पटवारी'**का कार्य करते थे। इनकी जाति खण्डेलवाल और गोत्र छावड़ा था। श्रावक (जैन) धर्मके अनुयायी थे। परिवारमें शुभ क्रियाओं-का पालन होता था। परन्तु स्वयं ग्यारह वर्षकी अवस्था तक जिनमार्गको भूले रहे और जब ग्यारह वर्षके पूरे हुए, तो जिनमार्गको जाननेका ध्यान आया। इसे उन्होंने अपना इष्ट और शुभोदय समझा। उसी ग्राममें एक दूसरा जिनमन्दिर था, जिसमे तेरापंथकी शैली थी और लोग देव, धर्म तथा गुरुकी श्रद्धा-उत्पादक कथा (वचनिका—तत्त्वचर्चा) किया करते थे। पं० जयचन्दजी भी अपना हित जानकर वहाँ जाने लगे और चर्चा-वार्तामे रस लेने लगे। इससे वहाँ उनकी श्रद्धा दृढ़ हो गई और सब मिथ्या बुद्धि छूट गई। कुछ समय बाद वे निमित्त पाकर **फागईसे जयपुर** आ गये। वहाँ तत्त्व-चर्चा करनेवालोंको उन्होंने बहुत बड़ी शैली देखी, जो उन्हें अधिक रुचिकर लगी। उस समय वहाँ गुणियो, साधर्मीजनों और ज्ञानी पण्डितोंका अच्छा

---

१ काल अनादि भ्रमत ससार, पायो नरभव मैं सुखकार।
जन्म फागई लयौ सुथानि, मोतीराम पिताके आनि ॥११॥
पायौ नाम तहाँ जयचन्द, यह परजायतणूं मकरन्द।
द्रव्यदृष्टि मै देखूं जबै, मेरा नाम आतमा कबै ॥१२॥
गोत छावड़ा श्रावक धर्म, जामें भली क्रिया शुभ कर्म।
ग्यारह वर्ष अवस्था भई, तब जिनमारगकी सुधि लही ॥१३॥
आन इष्टको ध्यान अयोगि, अपने इष्ट चलन शुभ जोगि।
तहाँ दूजो मन्दिर जिनराज, तेरापंथ पंथ तहाँ साज ॥१४॥
देव-धर्म-गुरु सरधा कथा, होय जहाँ जन भाषैं यथा।
तब मो मन उमग्यो तहाँ चलो, जो अपनो करनो है भलो ॥१५॥
जाय तहाँ श्रद्धा दृढ़ करी, मिथ्याबुद्धि सबै परिहरी।
निमित्त पाय जयपुरमे आय, बड़ी जु शैली देखी भाय ॥१६॥
गुणीलोक साधर्मी भले, ज्ञानी पंडित बहुते मिले।
पहले थे वंशीधर नाम, धरैं प्रभाव भाव शुभ ठाम ॥१७॥
टोडरमल पंडित मति खरी, गोमटसार वचनिका करी।
ताकी महिमा सब जन करैं, वाचै पढ़ैं बुद्धि विस्तरैं ॥१८॥
दौलतराम गुणी अधिकाय, पंडितराय राजमैं जाय।
ताकी बुद्धि लसै सब खरी, तीन पुराण वचनिका करी ॥१९॥
रायमल्ल त्यागी गृहवास, महाराम व्रतशील-निवास।
मैं हूँ इनकी संगति ठानि, बुधिसारू जिनवाणी जानि ॥२०॥

—सर्वार्थसिद्धिवचनिका, अन्तिम प्रशस्ति।

समुदाय था। उसमें पंडित बंशीधरजी उनसे पहले हो चुके थे, जो बड़े प्रभावशाली तथा अच्छे विचारवाद् थे। पंडित टोडरमलजी उनके समयमें थे और जो बड़े तीक्ष्ण-बुद्धि थे। उनकी गोम्मटसार-वचनिकाकी प्रशंसा सभी करते थे। उसीका वाचन, पठन-पाठन और मनन चलता था तथा लोग अपनी बुद्धि बढ़ाते थे। पं० दौलतरामजी कासलीवाल बड़े गुणी थे और 'पंडितराय' कहे जाते थे। राजपरिवारमे वे आते-जाते थे। उन्होने तीन पुराणोंकी वचनिकाएँ की थी। उनकी सूक्ष्म बुद्धिकी सर्वत्र संस्तुति होती थी। ब्रह्म रायमल्लजी और शीलव्रती महारामजी भी उस शैलीमें थे। प० जयचन्दजी इन्ही गुणी-जनों तथा विद्वानोंकी संगतिमें रहने लगे थे। और अपनी बुद्धि अनुसार जिनवाणी (शास्त्रों) के स्वाध्यायमें प्रवृत्त हो गये थे। उन्होंने जिन ग्रन्थोंका मुख्यतया स्वाध्याय किया था, उनका नामोल्लेख उन्होंने इसी प्रशस्तिमे स्वय किया है। सिद्धान्त-ग्रन्थोंके स्वाध्यायके अतिरिक्त न्याय-ग्रन्थों तथा अन्य दर्शनोंके ग्रन्थोका भी उन्होंने अभ्यास किया था। उनकी वचनिकाओंसे भी उनकी बहुश्रुतता प्रकट होती हैं। लगता है कि पंडित टोडरमलजी जैसे अलौकिक प्रतिभाके धनी विद्वानोंके सम्पर्कसे ही उनकी प्रतिभा जागृत हुई और उन्हें अनेक ग्रन्थोंकी वचनिकाएँ लिखनेकी प्रेरणा मिली।

उक्त प्रशस्तिके आरम्भमें राज-सम्बन्धका भी वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है[1] कि जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रके आर्यखण्डके मध्यमे 'ढुंढाहड' देश है। उसकी राजधानी 'जयपुर' नगर है। वहाँका राजा 'जगतेश' (जगतसिंह) है, जो अनुपम है और जिसके राज्यमे सर्वत्र सुख-चैन है तथा प्रजामे परस्पर प्रेम है। सब अपने-अपने मतानुसार प्रवृत्ति करते है, आपसमें कोई विरोध-भाव नही है। राजाके कई मंत्री हैं। सभी बुद्धिमान और राजनीतिमें निपुण हैं। तथा सब ही राजाका हित चाहनेवाले एवं योग्य प्रशासक हैं। इन्हीमें एक रायचन्द है, जो बड़े गुणी हैं और जिनपर राजाकी विशेष कृपा है। यहाँ 'विशेष कृपा' के उल्लेखसे जयचन्दजीका भाव राजाद्वारा उन्हे 'दीवान' पदपर प्रतिष्ठित करनेका जान पड़ता है।

इसके आगे इसी प्रशस्तिमे रायचन्दजीके धर्म-प्रेम, साधर्मी-वात्सल्य आदि गुणोकी चर्चा करते हुए उन्होंने उनके द्वारा की गई उस चन्द्रप्रभजिनमन्दिरकी प्रसिद्ध प्रतिष्ठा (वि० सं० १८६१) का भी उल्लेख किया है, जिनके द्वारा रायचन्दजीके यश एवं पुण्यकी वृद्धि हुई थी और समस्त जैनसंघको बड़ा हर्ष हुआ था[2]।

---

1. जम्बूद्वीप भरत सुनिवेश, आरिज मध्य ढुंढाहड देश।
पुर जयपुर तहाँ सूवस वसै, नृप जगतेश अनुपम लसै ।।१।।
ताके राजमांहि सुखचैन, धरै लोक कहूँ नाही फैन।
अपने-अपने मत सब चलै, शंका नाहि धारै शुभ फलै ।।२।।
नृपके मन्त्री सब मतिमान्, राजनीतिमे निपुण पुरान।
सर्व ही नृपके हितकों चहैं, ईति-भीति टारैं सुख लहैं ।।३।।
तिनमें रायचन्द गुण धरै, तापरि कृपा भूप अति करै।
ताकैं जैन धर्मकी लाग, सब जैननिसूं अति अनुराग ।।—सर्वार्थसिद्धि वचनिका, अ० प्रशस्ति।

2. करी प्रतिष्ठा मंदिर नयो, चद्रप्रभ जिन थापन थयो।
ताकरि पुण्य बढ़ो यश भयो, सर्व जैननिको मन हरखयो ।।६।।—सर्वार्थसिद्धि-वचनिका, अ० प्रश० ६।

प्रशस्तिमें पं० जयचन्दजीने उनके साथ अपने विशेष सम्बन्धका भी संकेत किया है[१]। उनके इस संकेतसे ज्ञात होता है कि रायचन्दजीने निश्चित एवं नियमित आर्थिक सहायता देकर उन्हें आर्थिक चिन्तासे मुक्त कर दिया था और तभी वे एकाग्रचित्त हो सर्वार्थसिद्धि-वचनिका लिख सके थे, जिसके लिखनेके लिए उन्हें अन्य सभी साधर्मीजनोंने प्रेरणा की थी[२] और उनके पुत्र नंदलालने भी अनुरोध किया था[३]। पं० जयचन्दजीने नंदलालके सम्बन्धमें लिखा है[४] कि वह बचपनसे विद्याको पढ़ता-सुनता था। फलतः वह अनेक शास्त्रोंमें प्रवीण पंडित हो गया था।

पंडितजी द्वारा दिये गये अपने इस परिचयसे उनकी तत्त्व-बुभुत्सा, जैनधर्ममें अटूट श्रद्धा, तत्त्वज्ञानका आदान-प्रदान, जिनशासनके प्रसारका उद्यम, कषायकी मन्दता आदि गुणविशेष लक्षित होते हैं।

पंडितजीके उल्लेखानुसार उनके पुत्र पं० नन्दलालजी भी गुणी और प्रवीण विद्वान् थे। मूलाचार-वचनिकाकी प्रशस्तिमें भी, जो पं० नन्दलालजीके सहपाठी शिष्य ऋषभदासजी निगोत्याद्वारा लिखी गई है, पं० नन्दलालजीको 'पं० जयचन्दजी जैसा बहुज्ञानी' बताया गया है[५]। प्रमेयरत्नमाला-वचनिकाकी प्रशस्ति (पद्य १६) से यह भी मालूम होता है कि पं० नन्दलालजीने अपने पिता पं० जयचन्दजीकी इस वचनिकाका संशोधन किया था[६]। इससे पं० नन्दलालजीकी सूक्ष्म बुद्धि और शास्त्रज्ञताका पता चलता है। पं० नन्दलाल-जी दीवान अमरचन्दजीकी प्रेरणा पाकर मूलाचारकी पाँच-सौ सोलह गाथाओंकी वचनिका कर पाये थे कि उनका स्वर्गवास हो गया था। बादमें उस वचनिकाको ऋषभदासजी निगोत्याने पूरा किया था[७]। निगोत्याजीने नन्दलालजीके तीन शिष्योंका भी उल्लेख किया है[८]। वे हैं—मन्नालाल, उदयचन्द और माणिकचन्द।

पं० जयचन्दजीके एक और पुत्रका, जिनका घासीराम नाम था, निर्देश पं० परमानन्दजी शास्त्रीने किया है[९]। पर उनका कोई विशेष परिचय उपलब्ध नहीं है।

यहाँपर एक बात और ज्ञातव्य है। वह यह कि पं० जयचन्दजीकी वचनिकाओंसे सर्व साधारणको तो लाभ पहुँचा ही है, पं० भागचन्दजी (वि० सं० १९१३) जैसे विद्वानोंके लिए भी वे पथ-प्रदर्शिका हुई हैं।

१. ताके ढिग हम थिरता पाय, करी वचनिका यह मन लाय।—वही, प्रश० ७।
२. भयौ बोध तब कछु चितयौ, करन वचनिका मन उमगयौ।
   सब साधरमी प्रेरण करी, ऐसैं मैं यह विधि उच्चरी॥—वही, प्रश० पद्य १०।
३, ४ नंदलाल मेरा सुत गुनी, बालपने तैं विद्या सुनी।
   पंडित भयौ बढ़ौ परवीन, ताहूने प्रेरण यह कीन॥—वही, प्रश० पद्य ३१।
५. तिन सम तिनके सुत भये, बहुज्ञानी नन्दलाल।
   गाय-वत्स जिम प्रेमकी, बहुत पढ़ाये बाल॥—मूला० वच० प्रश०।
६. लिखी यहै जयचन्दनै, सोधी सुत नन्दलाल।
   बुध लखि भूलि जु शुद्ध करि, बाँचौ सिखैवो बाल॥—प्रमेयर० वच० प्र० पद्य १६।
७. मूलाचारवचनिका प्रशस्ति।
८. तव उद्यम भाषातणों, करन लगे नन्दलाल।
   मन्नालाल अरु उदयचन्द, माणिकचन्द जु बाल॥—मूलाचारवचनिका प्रश०।
९. 'पं० जयचन्द और उनकी साहित्य-सेवा' शीर्षक लेख, अनेकान्त वर्ष १३; कि० ७, पृ० १७१।

प्रमाणपरीक्षाकी अपनी वचनिका-प्रशस्तिमें वे पं० जयचन्दजीके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि उनकी वचनिकाओंको देखकर मेरी भी ऐसी बुद्धि हुई, जिससे मैं प्रमाण-शास्त्रका उत्कट रसास्वादन कर सका और अन्य दर्शन मुझे नीरस जान पड़े[1]।

२. समय

पं० जयचन्दजीका समय सुनिश्चित है। इनकी प्रायः सभी कृतियों (वचनिकाओं)में उनका रचना-काल दिया हुआ है। जन्म वि० सं० १७९५ और मृत्यु वि० सं० १८८१-८२ के लगभग मानी जाती है[2]। रचनाओंके निर्माणका आरम्भ वि० सं० १८५९ से होता है और वि० सं० १८७४ तक वह चलता है। प्राप्त रचनाएँ इन सोलह वर्षोंकी ही रची उपलब्ध होती हैं। इससे मालूम होता है कि ग्यारह वर्षकी अवस्थासे लेकर चौंसठ वर्षकी अवस्था तक अर्थात् तिरेपन वर्ष उन्होंने शास्त्रोंके गहरे पठन-पाठन एवं मनन-में व्यतीत किये थे। और तदुपरान्त ही परिणत वयमें साहित्य-सृजन किया था। अत: जयचन्दजीका अस्तित्व-समय विक्रम सं० १७९५-१८८२ है।

३. साहित्यिक कार्य

इनकी मौलिक रचनाएँ और वचनिकाएँ दोनों प्रकारकी कृतियाँ उपलब्ध हैं। पर अपेक्षाकृत वचनिकाएँ अधिक हैं। मौलिक रचनाओंमें उनके संस्कृत और हिन्दीमें रचे गये भजन ही उपलब्ध होते हैं, जो विभिन्न राग-रागिनियोंमें लिखे गये हैं और 'नयन' उपनामसे प्राप्त हैं। उनकी वे रचनाएँ निम्न प्रकार हैं :—

१. तत्त्वार्थसूत्र-वचनिका	वि० सं० १८५९
२. सर्वार्थसिद्धि-वचनिका*	चैत्रशुक्ला ५ सं० १८६१
३. प्रमेयरत्नमाला-वचनिका*	आषाढ़ शु० ४ सं० १८६३
४. स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा-वचनिका*	श्रावण कृ० ३ सं० १८६३
५. द्रव्यसंग्रह-वचनिका*	श्रावण कृ० १४ सं० १८६३
६. समयसार-वचनिका* (आत्मख्याति संस्कृत-टीका सहित की)	कार्तिक कृ० १० स० १८६४
७. देवागम (आप्तमीमांसा)-वचनिका	चैत्र कृ० १४ वि० सं० १८६६
८. अष्टपाहुड-वचनिका*	भाद्र शु० १३ सं० १८६७
९. ज्ञानार्णव-वचनिका*	माघ कृ० ५ सं० १८६९
१०. भक्तामरस्तोत्र-वचनिका	कार्तिक कृ० १२ सं० १८७०

१. जयचन्द इति ख्यातो जयपुर्यामभूत्सुधीः।
दृष्ट्वा यस्याक्षरन्यासं मादृशोऽपीदृशी मतिः ॥१॥
यया प्रमाणशास्त्रस्य संस्वाद्य रसमुल्वणम्।
नैयायिकादिसमया भासन्ते सुष्ठु नीरसाः ॥२॥—प्रमाणपरीक्षा-वचनिका, अन्तिम प्रश०।

२. वीरवाणी (स्मारिका) वर्ष १७, अंक १३ पृ० ५० तथा ९५।

* स्वयंके हाथसे लिखी चिह्नांकित ग्रन्थ-प्रतियाँ दि० जैन बड़ा मन्दिर, जयपुरमें उपलब्ध हैं।—वीर वाणी (स्मारिका) पृ० ९५।

११. पदोंकी पुस्तक [मौलिक]

(२४६ पदोंका संग्रह) आषाढ शु० १० सं० १८७४

१२. सामायिकपाठ-वचनिका

१३. पत्रपरीक्षा-वचनिका

१४. चन्द्रप्रभचरित-द्वितीयसर्ग-वचनिका

१५. मतसमुच्चय-वचनिका

१६. धन्यकुमारचरित-वचनिका

इन रचनाओंका परिचय उनके ही नामसे विदित हो जाता है। अतः वह छोड़ा जाता है।

उपर्युक्त विवेचनसे प्रकट होता है कि पण्डित जयचन्दजी छावड़ा विशिष्ट शास्त्राभ्यासी, बहुज्ञानी, संस्कृत-प्राकृत-हिन्दी भाषाओंके ज्ञाता, हिन्दीगद्य-पद्यसाहित्यकार, प्रवक्ता, चारित्रवान्, भद्रपरिणामी और आध्यात्मिक विद्वान् थे। वे जैनदर्शनके साथ ही अन्य भारतीय दर्शनोंके भी मर्मज्ञ थे। उनकी शासन-सेवा एवं साहित्यिक कृतियाँ उन्हे चिरस्मरणीय रखेंगी।
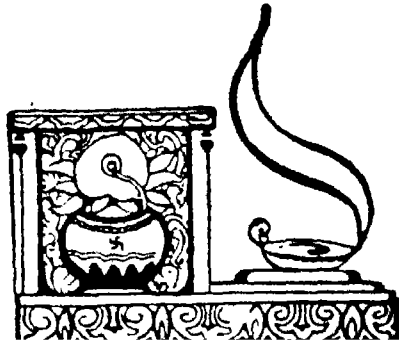
शासन–चतुस्त्रिंशिका और मदनकीर्ति

१. शासन-चतुस्त्रिंशिका

१. प्रति-परिचय

'शासन-चतुस्त्रिंशिका' की यही एक प्रति जैन साहित्यमे उपलब्ध जान पडती है। यह हमे श्रद्धेय पं० नाथूरामजी प्रेमी बम्बईके अनुग्रहसे प्राप्त हुई।

इसके अलावा प्रयत्न करनेपर भी अन्यत्रसे कोई प्रति प्राप्त नही हो सकी। इसकी लम्बाई चौडाई १० × ६ इंच है। दायी और बायी दोनों ओर एक-एक इंचका हाशिया छूटा हुआ है। इसमें कुल पाँच पत्र हैं और अन्तिम पत्रको छोड़कर प्रत्येक पत्रमें १८ १८ पंक्तिया तथा प्रत्येक पंक्तिमे प्राय' ३२, ३२ अक्षर है। अन्तिम पत्रमें (९ + ३ =) १२ पक्तियाँ और हरेक पक्तिमे उपर्युक्त (३२, ३२) जितने अक्षर हैं। कुछ टिप्पण भी साथमें कही-कही लगे हुए हैं जो मूलको समझनेमे कुछ मदद पहुँचाते है। यह प्रति काफी (सम्भवत: चार-पाँचसौ वर्षकी) प्राचीन प्रतीत होती है और बहुत जीर्ण-शीर्ण दशामे है। लगभग चालीस-पैंतालिस स्थानोंपर तो इसके अक्षर अथवा पद-वाक्यादि, पत्रोके परस्पर चिपक जाने आदिके कारण प्राय: मिटसे गये हैं और जिनके पढ़नेमे बड़ी कठिनाई महसूस होती हैं। इस कठिनाईका प्रेमीजीने भी अनुभव किया है और अपने 'जैन साहित्य और इतिहास' (पृ० १३९ के फुटनोट) मे प्रतिका कुछ परिचय देते हुए लिखा है—"इस प्रतिमें लिखनेका समय नही दिया है परन्तु वह दो-तीनसौ वर्षसे कम पुरानी नही मालूम होती। जगह-जगह अक्षर उड़ गये है जिससे बहुतसे पद्य पूरे नही पढ़े जाते।" हमने सन्दर्भ, अर्थ-संगति, अक्षर-विस्तारकयन्त्र आदिसे परिश्रमपूर्वक सब जगहके अक्षरोंको पढ कर पद्योको पूरा करनेका प्रयत्न किया है—सिर्फ एक जगहके अक्षर नही पढ़े गये और इसलिये वहाँपर'' ऐसे बिन्दु बना दिये गये हैं। जान पड़ता है कि अबतक इसके प्रकाशमें न आसकनेका यही कारण रहा है।

यदि यह जीर्ण-शीर्ण प्रति भी न मिली होती तो-जैन साहित्यकी एक-अनमोल कृति और उसके रचयिता एवं अपने समयके विख्यात विद्वान्के सम्बन्धमे कुछ भी लिखनेका अवसर न मिलता। न मालूम ऐसी-ऐसी कितनी साहित्यिक कृतियाँ जैन-साहित्य-भण्डारमे सड-गल गई होंगी और जिनके नामशेष भी नही हैं। आचार्य विद्यानन्दका विद्यानन्दमहोदय, अनन्तवीर्यका प्रमाणसंग्रहभाष्य आदि बहुमूल्य ग्रन्थरत्न हमारे प्रमाद और लापरवाहीसे जैन-वाङ्मय-भण्डारोंमे नही पाये जाते। वे या तो नष्ट हो गये या अन्यत्र चले गये। ऐसी हालतमें इस उत्तम और जीर्ण-शीर्ण कृतिको प्रकाशमे लानेकी कितनी जरूरत थी, यह स्वय प्रकट है।

ग्रन्थ-परिचय

'शासनचतुस्त्रिंशिका' एक छोटी-सी किन्तु सुन्दर एवं मौलिक रचना है। इसके रचयिता विक्रमकी १३वी शताब्दीके सुविख्यात विद्वान् मुनि मदनकीर्ति है। इसमे कोई २६ तीर्थस्थानों—८ सिद्धतीर्थक्षेत्रों और १८ अतिशय तीर्थक्षेत्रोंका परम्परा अथवा अनुश्रुतिसे यथाज्ञात इतिहास एक-एक पद्यमें अतिसंक्षेप एवं संकेत

रूपमें निबद्ध है। साथ ही उनके प्रभावोल्लेखपूर्वक दिगम्बरशासनका महत्त्व स्थापित करते हुए प्रत्येक पद्यमें उसका जयघोष किया गया है।

जैनतीर्थोंके ऐतिहासिक परिचयमें जिन रचनाओं आदिसे विशेष मदद मिल सकती है उनमें यह रचना भी प्राचीनता आदिकी दृष्टिसे अपना विशिष्ट स्थान रखती है।

विक्रम संवत् १३३४में रचे हुए चन्द्रप्रभसूरिके प्रभावकचरित्र, विक्रम संवत् १३६१ में निर्मित मेरुतुङ्गाचार्यके प्रबन्धचिन्तामणि, विक्रम संवत् १३८९में पूर्ण हुए जिनप्रभसूरिके विविधतीर्थकल्प और विक्रम संवत् १४०५ में निर्मित राजशेखरसूरिके प्रबन्धकोश (चतुर्विशतिप्रबन्ध) में भी जैनतीर्थोंके इतिहासकी सामग्री पायी जाती है। मुनि मदनकीर्तिकी, जिन्हें 'महाप्रामाणिकचूडामणि'का विरुद प्राप्त था और जिसका उल्लेख राजशेखरसूरिने अपने उक्त प्रबन्धकोश (पृष्ठ ६४) में किया है और उनके सम्बन्धका एक स्वतन्त्र 'मदनकीर्तिप्रबन्ध' नामका प्रबन्ध भी लिखा है, यह कृति इन चारों रचनाओंसे प्राचीन (विक्रम संवत् १२८५ के लगभगकी रची) है। अतः यह रचना जैनतीर्थोंके इतिहासके परिचयमें विशेष उल्लेखनीय है।

इसमें कुल ३६ पद्य हैं, जो अनुष्टुप् छन्दमें प्रायः ८४ श्लोक जितने हैं। इनमें नंबरहीन पहला पद्य अगले ३२ पद्योंके प्रथमाक्षरोंसे रचा गया है और जो अनुष्टुप्-वृत्तमे है। अन्तिम (३५वां) पद्य प्रशस्ति-पद्य है, जिसमें रचयिताने अपने नामोल्लेखके साथ अपनी कुछ आत्मचर्या दी है और जो मालिनी छन्दमें है। शेष ३४ पद्य ग्रन्थ-विषयसे सम्बद्ध है, जिनकी रचना शार्दूलविक्रीडित वृत्तमे हुई है। इन चौंतीस पद्योंमें दिगम्बर शासनके प्रभाव और विजयका प्रतिपादन होनेसे यह रचना 'शासनचतुस्त्रिंशि (शति)का' अथवा शासनचौंतीसी' जैसे नामोसे दि० जैनसाहित्यमें प्रसिद्ध है।

विषय-परिचय

इसमे विभिन्न तीर्थस्थानों और वहांके दिगम्बर जिनबिम्बोंके अतिशयों, माहात्म्यों और प्रभावोंके प्रदर्शनद्वारा यह बतलाया गया है कि दिगम्बरशासन अपनी अहिंसा, अपरिग्रह (निर्ग्रन्थता), स्याद्वाद आदि विशेषताओंके कारण सब प्रकारसे जयकारकी क्षमता रखता है और उसके लोकमे बड़े प्रभाव तथा अतिशय रहे हैं। कैलासका ऋषभदेवका जिनबिम्ब, पोदनपुरके बाहुबलि, श्रीपुरके पार्श्वनाथ, हुलगिरि अथवा होलागिरिके शङ्खजिन, धाराके पार्श्वनाथ, बृहत्पुरके बृहद्देव, जैनपुर (जैनबिद्री) के दक्षिण-गोम्मटदेव, पूर्वदिशाके पार्श्वजिनेश्वर, विश्वसेनद्वारा समुद्रसे निकाले शान्तिजिन, उत्तरदिशाके जिनबिम्ब, सम्मेदशिखरके बीस तीर्थङ्कर, पुष्पपुरके श्री पुष्पदन्त, नागद्रहके नागहृदेश्वरजिन, सम्मेदशिखरकी अमृतवापिका, पश्चिमसमुद्रतटके श्रीचन्द्रप्रभजिन, छायापार्श्वप्रभु, श्रीआदिजिनेश्वर, पावापुरके श्रीवीरजिन, गिरनारके श्रीनेमिनाथ, चम्पापुरके श्रीवासुपूज्य, नर्मदाके जलसे अभिषिक्त श्रीशान्तिजिनेश्वर, आश्रम[1] या आशारम्यके श्रीमुनिसुव्रतजिन, विपुलगिरिका जिनबिम्ब, विन्ध्यागिरिके जिनचैत्यालय, मेदपाट (मेवाड़) देशस्थ नागफणी ग्रामके श्रीमल्लिजिनेश्वर और मालवादेशके मङ्गलपुरके श्री अभिनन्दनजिन इन २६के लोक-विश्रुत अतिशयोंका इसमें समुल्लेख हुआ है। इसके अलावा यह भी प्रतिपादन किया गया है कि स्मृतिपाठक, वेदान्ती, वैशेषिक, मायावी, यौग, सांख्य, चार्वाक और बौद्ध इन दूसरे शासनोंद्वारा भी दिगम्बरशासन कई बातोंमें समाश्रित हुआ है।

१. उदयकीर्तिमुनिकृत अपभ्रंशनिर्वाणभक्तिमें आश्रम और प्राकृत निर्वाणकाण्ड गाथा २० मे आशारम्यनगरका उल्लेख है।

इस तरह यह रचना जहाँ दिगम्बरशासनके प्रभावकी प्रकाशिका है वहाँ इतिहास प्रेमियोंके लिए इतिहासानुसन्धानकी इसमे महत्त्वपूर्ण सामग्री भी है। अतः इसकी उपादेयता तथा उपयोगिता स्पष्ट है। इसका एक-एक पद्य एक-एक स्वतन्त्र निबन्धका विषय है।

२. मुनि मदनकीर्ति

अब विचारणीय है कि इसके रचयिता मुनि मदनकीर्ति कब हुए हैं, उनका निश्चित समय क्या है और वे किस विशेष अथवा सामान्य परिचयको लिवे हुए है ? अतः इन बातोंपर यहाँ कुछ विचार किया जाता है—

समय-विचार

(क) जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, कि श्वेताम्बर विद्वान् राजशेखरसूरिने विक्रम सं० १४०५ मे प्रबन्धकोष लिखा है जिसका दूसरा नाम चतुर्विंशतिप्रबन्ध भी है। इसमे २४ प्रसिद्ध पुरुषो—१० आचार्यो, ४ संस्कृतभाषाके सुप्रसिद्ध कवि-पण्डितो, ७ प्रसिद्ध राजाओ और ३ राजमान्य सद्गृहस्थोंके प्रबन्ध (चरित) निबद्ध है। संस्कृतभाषाके जिन ४ सुप्रसिद्ध कवि-पण्डितोके प्रबन्ध इसमे निबद्ध है उनमे एक प्रबन्ध दिगम्बर विद्वान् विशालकीर्तिके प्रख्यात शिष्य मदनकीर्तिका भी है और जिसका नाम 'मदनकीर्ति-प्रबन्ध' है। इस प्रबन्धमें मदनकीर्तिका परिचय देते हुए राजशेखरसूरिने लिखा है कि "उज्जयिनीमे दिगम्बर विद्वान् विशालकीर्ति रहते थे। उनके मदनकीर्तिनामका एक शिष्य था। वह इतना बडा विद्वान् था कि उसने पूर्व, पश्चिम और उत्तरके समस्त वादियोंको जीत कर 'महाप्रामाणिकचूडामणि'के विरुदको प्राप्त किया था। कुछ दिनोंके बाद उसके मनमे यह इच्छा पैदा हुई कि दक्षिणके वादियोंको भी जीता जाय और इसके लिए उन्होंने गुरुसे आज्ञा मांगी। परन्तु गुरुने दक्षिणको 'भोगनिधि' देश बतलाकर वहा जानेकी आज्ञा नही दी। किन्तु मदनकीर्ति गुरुकी आज्ञाको उलंघ करके दक्षिणको चले गये। मार्गमें महाराष्ट्र आदि देशोंके वादियोको पद-दलित करते हुए कर्णाट देश पहुँचे। कर्णाटदेशमे विजयपुरमें जाकर वहाँके नरेश कुन्तिभोजको अपनी विद्वत्ता और काव्यप्रतिभासे चमत्कृत किया और उनके अनुरोध करनेपर उनके पूर्वजोंके सम्बन्धमे एक ग्रन्थ लिखना स्वीकार किया। मदनकीर्ति एक दिनमें पांचसौ श्लोक बना लेते थे, परन्तु स्वय उन्हे लिख नही सकते थे। अतएव उन्होंने राजासे सुयोग्य लेखककी माँग की। राजाने अपनी सुयोग्य विदुषी पुत्री मदनमंजरीको उन्हे लेखिका दी। वह पर्दाके भीतरमे लिखती जाती थी और मदनकीर्ति धाराप्रवाहसे बोलते जाते थे। कालान्तर-मे इन दोनोंमे अनुराग होगया जब गुरु विशालकीर्तिको यह मालूम हुआ तो उन्होने समझानेके लिये पत्र लिखे और शिष्योंको भेजा। परन्तु मदनकीर्तिपर उनका कोई असर न हुआ।"

इस प्रबन्धके कुछ आदिभागको यहाँ दिया जाता है—

"उज्जयिन्यां विशालकीर्तिर्दिगम्बरः। तच्छिष्यो मदनकीर्तिः। स पूर्वपश्चिमोत्तरासु तिसृषु दिक्षु वादिनः सर्वान् विजित्य 'महाप्रामाणिकचूडामणिः' इति विरुदमुपार्ज्य स्वगुर्वलंकृता-मुज्जयिनीमागात्। गुरूनवन्दिष्ट। पूर्वमपि जनपरम्पराश्रुततत्कीर्त्ति स मदनकीर्तिः भूयिष्ठमश्ला-घिष्ठ। सोऽपि प्रामोदिष्ट। दिनकतिपयानन्तरं च गुरुं न्यगदीत—भगवन्! दाक्षिणात्यान् वादिनो विजेतुमोहे। तत्र गच्छामि। अनुज्ञा दीयताम्। गुरुणोक्तम्—वत्स! दक्षिणा मा गा.। स हि भोग-निधिर्देश। को नाम तत्र गतो दर्शन्यपि न तपसो भ्रश्येत्। एतद्गुरुवचनं विलंघ्य विद्यामदाध्मातो जालकुद्दालनिःश्रेण्यादिभिः प्रभृतैश्च शिष्यैः परिकरितो महाराष्ट्रादिवादिनो मृद्नन् कर्णाटदेशमाप।

तत्र विजयपुरे कुन्तिभोजं नाम राजानं स्वयं त्रैविद्यविदं विद्वत्प्रियं सदसि निषण्णं स द्वास्थनिवेदितो ददर्श। तमुपश्लोकयामास ……।" इत्यादि।

इस प्रबन्धसे दो बातें स्पष्ट हैं। एक तो यह कि मदनकीर्ति निश्चय ही एक ऐतिहासिक सुप्रसिद्ध विद्वान् हैं और वे दिगम्बर विद्वान् विशालकीर्तिके सुविख्यात एव 'महाप्रामाणिकचूडामणि' की पदवी प्राप्त वादिविजेता शिष्य थे तथा इन प्रबन्धकोशकार राजशेखरसूरि अर्थात् विक्रम सं० १४०५ से पहले हो गये हैं। दूसरी बात यह कि वे विजयपुरनरेश कुन्तिभोजके समकालीन हैं। और उनके द्वारा सम्मानित हुए थे।

अब देखना यह है कि कुन्तिभोजका समय क्या है? जैन-साहित्य और इतिहासके प्रसिद्ध विद्वान् पं० नाथूरामजी प्रेमीका अनुमान है[1] कि प्रबन्धकोषवर्णित विजयपुरनरेश कुन्तिभोज और सोमदेव (शब्दार्णव-चन्द्रिकाकार) वर्णित वीरभोजदेव एक ही हैं। सोमदेवमुनिने अपनी शब्दार्णवचन्द्रिका कोल्हापुर प्रान्तके अर्जुरिका ग्राममे वादीभवज्राङ्कुश विशालकीर्ति पण्डितदेवके वैयावृत्यसे वि० सं० १२६२ में बनाकर समाप्त की थी[2] और उस समय वहाँ वीर-भोजदेवका राज्य था। सम्भव है विशालकीर्ति अपने शिष्य मदनकीर्तिको समझानेके लिये उधर कोल्हापुरकी तरफ गये हों और तभी उन्होंने सोमदेवकी वैयावृत्य की हो।' प्रेमीजीकी मान्यतानुसार कुन्तिभोजका समय विक्रम सं० १२६२के लगभग जान पड़ता है और इस लिये विशालकीर्तिके शिष्य मदनकीर्तिका समय भी यही विक्रम सं० १२६२ होना चाहिये।

(ख) पण्डित आशाधरजीने अपने जिनयज्ञकल्पमें[3], जिसे प्रतिष्ठासारोद्धार भी कहते हैं और जो विक्रम संवत् १२८५ में बनकर समाप्त हुआ है, अपनी एक प्रशस्ति[4] दी है। इस प्रशस्ति में अपना विशिष्ट परिचय देते हुए एक पद्यमे उन्होने उल्लेखित किया है कि वे मदनकीर्तियतिपतिके द्वारा 'प्रज्ञापुञ्ज' के नामसे अभि-हित हुए थे अर्थात् मदनकीर्त्तियतिपतिने उन्हे 'प्रज्ञापुञ्ज' कहा था। मदनकीर्त्तियतिपतिके उल्लेखवाला उनका वह प्रशस्तिगत पद्य निम्न प्रकार है :—

> इत्युदयसेनमुनिना कविसुहृदा योऽभिनन्दितः प्रीत्या।
> प्रज्ञापुञ्जोऽसीति च योऽभिहि (म) तो मदनकीर्त्तियतिपतिना॥

इस उल्लेखपरसे यह मालूम हो जाता है कि मदनकीर्तियतिपति, पण्डित आशाधरजीके समकालीन अथवा कुछ पूर्ववर्ती विद्वान् थे और विक्रम संवत् १२८५के पहले वे सुविख्यात हो चुके थे तथा साधारण विद्वानों एवं मुनियोंमे विशिष्ट व्यक्तित्वको भी प्राप्त कर चुके थे और इसलिये यतिपति-मुनियोके आचार्य माने जाते थे। अत. इस उल्लेखसे मदनकीर्त्ति विक्रम संवत् १२८५ के निकटवर्ती विद्वान् सिद्ध होते हैं।

(ग) मदनकीर्त्तिने शासनचतुस्त्रिंशिकामें एक जगह (३४वें पद्यमे) यह उल्लेख किया है कि आततायी म्लेच्छोंने भारतभूमिको रोंधते हुए मालवदेशके मङ्गलपुर नगरमें जाकर वहांके श्रीअभिनन्दन-जिनेन्द्रकी मूर्तिको भग्न कर दिया और उसके टुकड़े-टुकड़े हो गये, परन्तु वह जुड़ गयी और सम्पूर्णावयव बन गई और उसका एक बड़ा अतिशय प्रकटित हुआ। जिनप्रभसूरिने अपने विविधतीर्थकल्प अथवा कल्पप्रदीपमे, जिसकी

१. जैनसाहित्य और इतिहास पृ० १३९।
२. उक्त ग्रन्थके पृ० १३८के फुटनोटमें उद्धृत शब्दार्णवचन्द्रिकाकी अन्तिम प्रशस्ति।
३. विक्रमवर्षसपंचाशीतिद्वादशशतेष्वतीतेषु।
आश्विनसितान्त्यदिवसे साहसमल्लापराख्यस्य॥१९॥
४. यही प्रशस्ति कुछ हेर-फेरके साथ उनके सागारधर्मामृत आदि दूसरे कुछ ग्रन्थोंमें भी पाई जाती है।

रचना उन्होंने विक्रम सं० १३६४ से लगाकर विक्रम सं० १३८९ तक २५ वर्षोंमें की है[1], एक 'अवन्ति-देशस्थ-अभिनन्दनदेवकल्प' नामका कल्प निबद्ध किया है। इसमे उन्होंने भी म्लेच्छसेनाके द्वारा अभिनन्दन-जिनकी मूर्तिके भग्न होनेका उल्लेख किया है और उसके जुडने तथा अतिशय प्रकट होनेका वृत्त दिया है और बतलाया है कि यह घटना मालवाधिपति जयसिंहदेव के राज्यकालसे कुछ वर्ष पूर्व हो ली थी और जब उसे अभिनन्दनजिनका आश्चर्यकारी अतिशय सुननेमे आया तो वह उनकी पूजाके लिये गया और पूजा करके अभिनन्दनजिनकी देखभाल करने वाले अभयकीर्ति आदि मठपति आचार्यों (भट्टारकों) के लिये देवपूजार्थ २४ हलकी खेती योग्य जमीन दी तथा १२ हलकी जमीन देवपूजकोंके वास्ते प्रदान की। यथा—

> "तमतिशयमतिशायिनं निशम्य श्रीजयसिंहदेवो मालवेश्वरः स्फुरद्भक्तिप्राग्भारभास्वरान्तःकरणः स्वामिन स्वयमपूजयत्। देवपूजार्थं च चतुर्विंशतिहलकृष्यां भूमिमदत्त मठपतिभ्यः। द्वादशहलबाह्या चावनी देवार्चकेभ्यः प्रददाववन्तिपतिः। अद्यापि दिग्मण्डलव्यापिप्रभाववैभवो भगवानभिनन्दनदेवस्तत्र तथैव पूज्यमानोऽस्ति।" —विविधतीर्थ० पृ० ५८।

जिनप्रभसूरिद्वारा उल्लिखित यह मालवाधिपति जयसिंहदेव द्वितीय जयसिंहदेव जान पड़ता है, जिसे जैतुगिदेव भी कहते हैं और जिसका राज्यसमय विक्रम सं० १२९० के बाद और विक्रम सं० १३१४ तक बतलाया जाता है[2]। पण्डित आशाधरजीने त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र, सागारधर्मामृतटीका और अनगारधर्मामृतटीका ये तीन ग्रन्थ क्रमशः वि० सं० १२९२, १२९६ और १३०० मे इसी (जयसिंहदेव द्वितीय अथवा जैतुगिदेव)के राज्यकालमें बनाये है[3]। जिनयज्ञकल्पकी प्रशस्ति (पद्य ५) मे पण्डित आशाधरजीने यहाँ ध्यान देने योग्य एक बात यह लिखी है[4] कि 'म्लेच्छपति साहिबुदीनने जब सपादलक्ष (सवालाख) देश (नागौर-जोधपुरके आस-पासके प्रदेश) को ससैन्य आक्रान्त किया तो वे अपने सदाचारकी हानिके भयसे वहाँसे चले आये और मालवाकी धारा नगरीमें आ बसे। इस समय वहाँ विन्ध्यनरेश (विक्रम सं० १२१७ से विक्रम सं० १२४९) का राज्य था।' यहाँ पण्डित आशाधरजीने जिस मुस्लिम बादशाह साहिबुद्दीनका उल्लेख किया है वह शहाबुद्दीनगोरी है। इसने विक्रम सं० १२४९ (ई० सन् ११९२) में गजनीसे आकर भारतपर हमला करके दिल्लीको हस्तगत किया था और उसका १४ वर्ष तक राज्य रहा। और इसलिये असम्भव नहीं इसी आततायी बादशाह अथवा उसके सरदारोंने ससैन्य उक्त १४ वर्षोंमे किसी समय मालवाके उल्लिखित धन-धान्यादिसे भरपूर मङ्गलपुर नगरपर धावा मारा हो और हीरा-जवाहरातादिके मिलनेके दुर्लोभ अथवा धार्मिक विद्वेषसे वहाँ के लोकविश्रुत श्रीअभिनन्दनजिनके चैत्यालय और बिम्बको तोड़ा हो और उसीका उल्लेख मदनकीर्तिने "म्लेच्छैः प्रतापागतै" शब्दो द्वारा किया हो। यदि यह ठीक हो तो यह कहा जा सकता है कि

१. मुनिजिनविजयजी द्वारा सम्पादित विविधतीर्थकल्पकी प्रस्तावना पृ० २।
२. जैनसाहित्य और इतिहास, पृ० १३४।
३. इन ग्रन्थोंकी अन्तिम प्रशस्तियाँ।
४. म्लेच्छेशेन सपादलक्षविषये व्याप्ते सुवृत्तक्षति-
त्रासाद्विन्ध्यनरेन्द्रदोःपरिमलस्फूर्जत्त्रिवर्गौजसि।
प्राप्तो मालवमण्डले बहुपरीवारः पुरीमावसन्
यो धारामपठज्जिनप्रमितिवाक्शास्त्रे महावीरतः॥५॥
'म्लेच्छेशेन साहिबुदीन तुरुष्कराजेन' —सागारधर्मा० टीका पृ० २४३।

मदनकीर्तिने इस शासनचतुस्त्रिंशिकाको विक्रम सं० १२४९ और वि० सं० १२६३ या वि० सं० १३१४ के भीतर किसी समय रचा है और इसलिए उनका समय इन संवतोंका मध्यकाल होना चाहिये।

इस ऊहापोहसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि मदनकीर्तिका वि० सं० १२८५ के पं० आशाधरजी-कृत जिनयज्ञकल्पमें उल्लेख होनेसे वे उनके कुछ पूर्ववर्ती विद्वान् निश्चितरूपमें हैं, और इसलिये उनका वि० सं० १२८५ के आसपासका समय सुनिश्चित है।

स्थानादि-विचार

समयका विचार करनेके बाद अब मदनकीर्तिके स्थान, गुरुपरम्परा, योग्यता और प्रभावादिपर भी कुछ विचार कर लेना चाहिए। मदनकीर्ति वादीन्द्र विशालकीर्तिके शिष्य थे और वादीन्द्र विशालकीर्तिने पं० आशाधरजीसे न्यायशास्त्रका अभ्यास किया था। पं० आशाधरजीने धारामें रहते हुए ही उन्हें न्याय-शास्त्र पढाया था और इसलिये उक्त दोनों विद्वान् (विशालकीर्ति तथा मदनकीर्ति) भी धारामें ही रहते थे। राजशेखरसूरिने भी उन्हे उज्जयिनीके रहनेवाले बतलाया है। अतः मदनकीर्तिका मुख्यतः स्थान उज्जयिनी (धारा) है। ये वाद-विद्यामे बड़े निपुण थे। चतुर्दिशाओंके वादियोको जीतकर उन्होंने 'महाप्रामाणिक-चूड़ा-मणि' की महनीय पदवी प्राप्त की थी। ये उच्च तथा आशु कवि भी थे। कविता करनेका इन्हें इतना उत्तम अभ्यास था कि एक दिनमे ५०० श्लोक रच डालते थे। विजयपुरके नरेश कुन्तिभोजको इन्होंने अपनी काव्य-प्रतिभामे आश्चर्यान्वित किया था और इससे वह बड़ा प्रभावित हुआ था। पण्डित आशाधरजीने इन्हें 'यतिपति' जैसे विशेषणके साथ उल्लेखित किया है। इन सब बातोंसे इनकी योग्यता और प्रभावका अच्छा आभ स मिलता है।

सभव है राजाकी विदुषी पुत्री और इनका आपसमें अनुराग हो गया हो और ये अपने पदसे च्युत हो गये हों; पर वे पीछे सम्हल गये थे और अपने कृत्यपर घृणा भी करने लगे थे। इस बातका कुछ स्पष्ट आभास उनकी इसी शासनचतुस्त्रिंशतिकाके "यत्पापवासाद्गालोयं" इत्यादि प्रथम पद्य और "इति हि मदन-कीर्तिश्चिन्तयन्नाऽऽत्मचित्ते" इत्यादि ३५वें पद्यसे होता है और जिसपरसे मालूम होता है कि वे कठोर तपका आचरण करते तथा अकेले विहार करते हुए इन्द्रियों और कषायोंकी उद्दाम प्रवृत्तियोको कठोरतासे रोकनेमें उद्यत रहते थे और जीवमात्रके प्रति बन्धुत्वकी भावना रखते थे। तात्पर्य यह कि मदनकीर्ति अपने अन्तिम जीवनमे प्रायश्चित्तादि लेकर यथावत् मुनिपदमे स्थित हो गये थे और दैगम्बरी वृत्ति तथा भावनासे अपना समय यापन करते थे, ऐसा उक्त पद्योंसे मालूल होता है। उनका स्वर्गवास कब, कहाँ और किस अवस्थामे हुआ, इसको जाननेके लिये कोई साधन प्राप्त नही है। पर इतना जरूर कहा जा सकता है कि वे मुनि-अवस्थामे ही स्वर्गवासी हुए होंगे, गृहस्थ अवस्थामे नही; क्योंकि अपने कृत्यपर पश्चात्ताप करनेके बाद पूर्व-वत् मुनि होगये थे और उसी समय यह शासनचतुस्त्रिंशिका रची, ऐसा उसके अन्तःपरीक्षणपरसे प्रकट होता है।

राजशेखरसूरिने कुछ घटा-बढ़ाकर उनका चरित्र चित्रण किया जान पड़ता है। प्रेमीजीने[1] भी उनके इस चित्रणपर अविश्वास प्रकट किया है और मदनकीर्तिसे सौ वर्ष बाद लिखा होनेसे 'घटनाको गहरा रंग देने' या 'तोड़े मरोड़े जाने' तथा 'कुछ तथ्य'होनेका सूचन किया है। जो हो, फिर भी उसके ऐतिहासिक तथ्यका मूल्यांकन होना चाहिए।

१. जैनसाहित्य और इतिहास प० १३९।

इस रचनाके अलावा मदनकीर्तिकी और भी रचनाएँ हैं या नहीं, यह अज्ञात है। वर विजयपुर नरेश कुन्तिभोजके पूर्वजोंके सम्बन्धमे लिखा गया उनका परिचयग्रन्थ रहा है, जिसका उल्लेक राजशेखरने मदनकीर्ति-प्रबन्धमें किया है।

शासनचतुस्त्रिंशिकामें उल्लिखित तीर्थ और उनका कुछ परिचय

इस शासनचतुस्त्रिंशिकामे जिन तीर्थों एव सातिशय दिगम्बर जिनबिम्बोंका उल्लेख हुआ है वे २६ हैं। उनमे ८ तो सिद्ध-तीर्थ हैं और १८ अतिशयतीर्थ हैं। उनका यहाँ कुछ परिचय दिया जाता है।

सिद्ध-तीर्थ

जहाँसे कोई पवित्र आत्मा मुक्ति अथवा मोक्ष प्राप्त करता है उसे जैनधर्ममें सिद्धतीर्थ कहा गया है। इसमें यतिपति मदनकीर्तिने ऐसे ८ सिद्धतीर्थोंका सूचन किया है। वे ये हैं :—

१ कैलासगिरि, २ पोदनपुर, ३ सम्मेदशिखर (पार्श्वनाथहिल), ४ पावापुर, ५ गिरनार (ऊर्जयन्त-गिरि), ६ चम्पापुरी, ७ विपुलगिरि और ८ विन्ध्यागिरि।

१. कैलासगिरि

भारतीय धर्मोंमें विशेषत: जैनधर्ममे कैलासगिरिका बहुत बडा महत्त्व बतलाया गया है। युगके आदिमे प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव (आदिनाथ)ने यहाँसे मुक्ति-लाभ प्राप्त किया था। उनके बादमे नागकुमार, बालि और महाबालि आदि मुनिवरोंने भी यहाँसे सिद्ध पद पाया था। जैसाकि विक्रमकी छठी शताब्दीके सुप्रसिद्ध विद्वानाचार्य पूज्यपाद (देवनन्दि) की संस्कृत निर्वाणभक्तिमे और अज्ञातकर्तृक प्राकृत निर्वाणकाण्डसे[1] प्रकट है:—

(क) कैलासशैलशिखरे परिनिर्वृतोऽसौ
शैलेसिभावमुपपद्य वृषो महात्मा।—नि० भ०, श्लो० २२।

(ख) अट्ठावयम्मि उसहो।—नि० का० गा० नं० १।
णागकुमारमुणिंदो बालि महाबालि चेव अज्झेया।
अट्ठावय-गिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं॥—नि० का०, १५।

मुनि उदयकीर्तिने भी अपनी 'अपभ्रंश निर्वाणभक्ति' मे कैलासगिरिका और वहाँसे भगवान् ऋषभदेवके निर्वाणका निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

(ग) कइलास-सिहरि सिहरि-रिसहनाहु,
जो सिद्धउ पयडमि धम्मलाहु।

यह ध्यान रहे कि अष्टापद इसी कैलासगिरिका दूसरा नाम है। जैनेतर इसे 'गौरीशङ्कर पहाड़' भी कहते हैं। भगवज्जिनसेनाचार्यके आदिपुराण तथा दूसरे दिगम्बर ग्रन्थोंमें इसकी बडी महिमा गाई गई है। श्वेताम्बर और जैनेतर सभी इसे अपना तीर्थ मानते हैं। इससे इसकी व्यापकता और महानता स्पष्ट है। किसी समय यहाँ भगवान् ऋषभदेवकी बड़ी ही मनोज्ञ और आकर्षक सातिशय सुवर्णमय दिगम्बर जिनमूर्ति

१. इसके रचयिता कौन है और यह कितनी प्राचीन रचना है? यह अभी अनिश्चित है फिर भी वह सात आठ-सौ वर्षसे कम प्राचीन नहीं मालूम होती।

प्रतिष्ठित थी, जिसका उल्लेख मदनकीर्तिने इस रचनाके प्रथम पद्यमें सबसे पहले और बड़े गौरवके साथ किया है और 'अद्य' शब्दका प्रयोग करके अपने समयमें उसका होना तथा देवोंद्वारा भी उसकी वन्दना किया जाना खासतौरसे सूचित किया है। मालूम नहीं, अब यह मूर्ति अथवा उसके चिह्नादि वहाँ मौजूद हैं या नहीं ? पुरातत्वप्रेमियोंको इसकी खोज करनी चाहिए।

२. पोदनपुर

पोदनपुरकी स्थितिके सम्बन्धमें अनेक विद्वानोंने विचार किया है। डाक्टर जैकोबी विमलसूरिकृत 'पउमचरिय'के आधारसे पश्चिमोत्तरसीमाप्रान्तमें स्थित 'तक्षशिला'को पोदनपुर बतलाते हैं और डाक्टर गोविन्द पै हैदराबाद-बरारमे निजामाबाद जिलेके 'बोधन' नामक एक ग्रामको पोदनपुर कहते हैं। बा० कामताप्रसादजी जैनने इन दोनों मतोंकी समीक्षा करते हुए जैन और जैनेतर साहित्यकी साक्षी द्वारा प्रमाणित किया है[1] कि तक्षशिला पोदनपुरसे भिन्न पश्चिमोत्तरसीमाप्रान्तमे अवस्थित थी और पोदनपुर दक्षिणभारतमें गोदावरीके तटपर कहीं बसा हुआ था। भगवज्जिनसेनके परमशिष्य और विक्रमकी ९वीं शताब्दीके विद्वानाचार्य गुणभद्रने अपने उत्तरपुराणमे स्पष्ट लिखा है[2] कि 'भारतके दक्षिणमे सुरम्य (अश्मक) नामका एक बड़ा (महान्) देश है उसमें पोदनपुर नामक विशाल नगर है जो उस देशकी राजधानी है'। श्रीकामताप्रसादजीने यह भी बतलाया है कि जैन पुराणोंमे पोदनपुरको पोदन, पोदनापुर, पौदन और पौदन्य तथा बौद्धग्रन्थोंमे दक्षिणापथके अश्मक देशकी राजधानी पोतन या पोतलि एवं हिन्दूग्रन्थ भागवत-पुराणमे इक्ष्वाकुवंशीय राजाओंकी अश्मक देशकी राजधानी पौदन्य कहा गया है और वह प्राचीन समयमे एक विख्यात नगर रहा है।

जैन इतिहासमें पोदनपुरका उल्लेखनीय स्थान है। आदिपुराण आदि जैनग्रन्थों और अनेक शिला-लेखोंमें[3] वर्णित है कि आदितीर्थङ्कर ऋषभदेवके दो पुत्र थे—भरत और बाहुबलि। ऋषभदेव जब संसारसे विरक्त हो दीक्षित हुए तो उन्होंने भरतको अयोध्याका और बाहुबलिको पोदनपुरका राज्य दिया और इस तरह भरत अयोध्याके और बाहुबलि पोदनपुरके राजा हुए। कालान्तरमें इन दोनों भाइयोंका युद्ध हुआ। युद्धमें बाहुबलिकी विजय हुई। परन्तु बाहुबलि संसारकी दशा[4] देखकर राज्यको त्याग तपस्वी हो गये और कठोर तपकर पोदनपुरमे उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त करके निर्वाण-लाभ किया। बादको सम्राट् भरतने अपने विजयी, अद्भुत त्यागी तथा अद्वितीय तपस्वी और इस युगमे सर्वप्रथम परमात्मपद एवं परिनिर्वृत्ति प्राप्त करनेवाले अपने इन आदर्श भाईकी यादगारमें पोदनपुरमे ५२५ धनुषप्रमाण उनकी शरीराकृतिके अनुरूप अनुपम मूर्ति स्थापित कराई, जो बड़ी ही मनोज्ञ और लोकविश्रुत हुई। तबसे पोदनपुर सिद्धतीर्थ और अति-शयतीर्थके रूपमे जैनसाहित्यमें विश्रुत है। आचार्य पूज्यपादने अपनी निर्वाणभक्तिमे उसका सिद्धतीर्थके रूपमे समुल्लेख किया है। यथा—

१. 'पोदनपुर और तक्षशिला' शीर्षक लेख, 'जैन एन्टीक्वेरी' भा० ४ कि० ३।
२. जम्बूविभूषणे द्वीपे भरते दक्षिणे महान्।
   सुरम्यो विषयस्तत्र विस्तीर्णं पोदनं पुरम्॥
३. शिलालेख नं० ८५ आदि, जो विन्ध्यगिरिपर उत्कीर्ण हैं।—(शि० सं० पृ० १६९)।
४. वह यह कि राज्य जैसे जघन्य स्वार्थके लिए भाई-भाई भी लड़ते हैं और एक दूसरेकी जानके दुश्मन बन जाते हैं।

(क) विन्ध्ये च पौदनपुरे वृषदीपके च ॥२९॥

× × ×

ये साधवो हतमलाः सुगतिं प्रयाताः ।
स्थानानि तानि जगति प्रथितान्यभूवन् ॥३०॥

'निर्वाणकाण्ड' और मुनि उदयकीर्तिकृत 'अपभ्रंशनिर्वाणभक्ति'में भी पौदनपुरके बाहुबली स्वामीकी अतिशय श्रद्धाके साथ वन्दना की गई है। यथा—

(ख) बाहूबलि तह वंदमि पोदनपुर हत्थिनापुरे वंदे ।
संती कुंथु व अरिहो वाराणसीए सुपास पासं च ॥—गा० नं० २१ ।

(ग) बाहुबलिदेउ पोयणपुरंमि, हउं वंदमि माहसु जम्मि जम्मि ।

ऐसा जान पड़ता है कि कितने ही समयके बाद बाहुबलिस्वामीकी उक्त मूर्तिके जीर्ण होजानेपर उसका उद्धारकार्य और उस जैसी उनकी नयी मूर्तियाँ वहाँ और भी प्रतिष्ठित होती रही है। मदनकीर्तिके समयमें भी पौदनपुरमे उनकी अतिशयपूर्ण विशाल मूर्ति विद्यमान थी, जिसकी सूचना उन्होंने पद्य दोमे **'अद्यापि प्रतिभाति पोदनपुरे यो वन्द्यवन्द्यः स वै'** शब्दोद्वारा की है और जिसका यह अतिशय था कि भव्योंको उनके चरणनखोंकी कान्तिमे अपने कितने ही आगे-पीछेके भव प्रतिभासित होते थे। मदनकीर्तिके प्राय समकालीन अथवा कुछ पूर्ववर्ती कन्नडकवि पं० बोप्पणद्वारा लिखित एक शिलालेख न० ८५ (२३४)मे, जो ३२ पद्यात्मक कन्नड रचना है और जो विक्रम संवत् १२३३ (शक स० ११०२)के लगभगका उत्कीर्ण है, चामुण्डरायद्वारा निर्मित दक्षिण गोम्मटेश्वरकी मूर्तिके निर्माणका इतिहास देते हुए बतलाया है कि चामुण्डरायको उक्त पोदनपुरके बाहुबलीकी मूर्तिके दर्शन करनेकी अभिलाषा हुई थी और उनके गुरुने उसे कुक्कुड सर्पोंसे व्याप्त और बीहड़ वनसे आच्छादित होजानेसे उसका दर्शन होना अशक्य तथा अगम्य बतलाया था और तब उन्होंने जैनबिद्री (श्रवणबेलगोल)मे उसी तरहकी उनकी मूर्ति बनवाकर अपनी दर्शनाभिलाषा पूर्ण की थी। अत. मदनकीर्तिकी उक्त सूचना विचारणीय है और विद्वानोको इस विषयमें खोज करनी चाहिये।

उपर्युक्त उल्लेखोंपरसे प्रकट है कि प्राचीन कालमें पोदनपुरके बाहुबलीका बड़ा माहात्म्य रहा है और इसलिये वह तीर्थक्षेत्रके रूपमें जैनसाहित्यमें खासकर दिगम्बर साहित्यमे उल्लिखित एवं मान्य है।

३. सम्मेदशिखर

सम्मेदशिखर जैनोंका सबसे बड़ा तीर्थ है और इसलिये उसे 'तीर्थराज' कहा जाता है। यहाँसे चार तीर्थङ्करों (ऋषभदेव, वासुपूज्य, अरिष्टनेमि और महावीर)को छोडकर शेष २० तीर्थङ्करों और अगणित मुनियोंने सिद्ध-पद प्राप्त किया है। इसे जैनोंके दोनों सम्प्रदाय (दिगम्बर और श्वेताम्बर) समानरूपसे अपना पूज्य तीर्थ मानते है। पूज्यपाद देवनन्दिने अपनी 'संस्कृतनिर्वाणभक्ति'मे लिखा है कि बीस तीर्थङ्करोने यहाँसे परिनिर्वाणपद पाया है। यथा—

(क) शेषास्तु ते जिनवरा जित-मोहमल्ला ज्ञानार्क-भूरिकिरणैरवभास्य लोकान् ।
स्थानं परं निरवधारितसौख्यनिष्ठं सम्मेदपर्वतले समवापुरीशाः ॥२५॥

इसी तरह 'प्राकृतनिर्वाणकाण्ड' और मुनि उदयकीर्तिकृत 'अपभ्रंशनिर्वाणभक्ति'में भी सम्मेदपर्वतसे बीस जिनेन्द्रोने निर्वाण प्राप्त करनेका उल्लेख है और जो निम्न प्रकार है—

(ख) वीसं तु जिणवरिंदा अमरासुर-वंदिदा धुद-किलेसा ।
सम्मेदे गिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥२॥—नि० का० ।

(ग) सम्मेद-महागिरि सिद्ध जे वि, हउं वंदउं वीस-जिणिंद ते वि ।—अ० नि० भ० ।

इस तरह इस तीर्थका जैनधर्ममें बड़ा गौरवपूर्ण स्थान है। प्रतिवर्ष सहस्रों जैनी भाई इस सिद्ध-तीर्थकी वन्दनाके लिये जाते हैं। यह विहारप्रान्तके हजारीबाग जिलेमें ईसरी स्टेशनके, जिसका अब पारसनाथ नाम हो गया है, निकट है। इसे 'पारसनाथ हिल' (पार्श्वनाथका पहाड़) भी कहते हैं, जिसका कारण यह है कि पर्वतपर २३वें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथका सबसे बड़ा और प्रमुख जिनमन्दिर बना हुआ है। और इसके कारण ही उक्त स्टेशनका नाम भी 'पारसनाथ' हो गया है। मदनकीर्तिने इस सिद्धक्षेत्रका उल्लेख पद्य ११ में किया है।

४. पावापुर

यहाँसे अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान-महावीरने निर्वाण प्राप्त किया है। अतएव पावापुर जैनसाहित्यमें सिद्धक्षेत्र माना जाता है। आचार्य पूज्यपादने लिखा है—

पावापुरस्य बहिरुन्नतभूमिदेशे पद्मोत्पलाकुलवतां सरसां हि मध्ये ।
श्रीवर्द्धमानजिनदेव इति प्रतीतो निर्वाणमाप भगवान्प्रविधूतपाप्मा ॥

—निर्वा० भ० २४ ।

निर्वाणकाण्ड और अपभ्रंश-निर्वाणभक्तिमें भी यही बतलाया है। यथा—

(क) पावाए णिव्वुदो महावीरो—नि० का० गा० १ ।

(ख) पावापुर वंदउं वड्ढमाणु, जिणि महियलि पयडिउ विमलणाणु ।—अ० नि० भ० ।

यह पावापुर परम्परासे विहारप्रान्तमें माना जाता है जो पटनाके निकट है। गुणावासे १३ मीलकी दूरीपर है और वहाँ मोटर, ताँगे आदिसे जाते हैं। यहाँ कार्तिक वदी अमावस्याको भगवान महावीरके निर्वाण-दिवसोपलक्ष्यमें एक बड़ा मेला भरता है। यहाँ वीरजिनेन्द्रकी सातिशय मूर्ति रही है, जिसका मदनकीर्तिने पद्य १९में उल्लेख किया है। अब तो वहाँ चरणपादुका शेष रही हैं।

यहाँ उल्लेखनीय है कि पुरातत्त्वविद् और ऐतिहासिक विद्वानोंने उत्तर प्रदेशमें कुशीनगरके पास पावानगर (फाजिल नगर)को भगवान् महावीरकी निर्वाणभूमि माना एवं सिद्ध किया है[1]। निर्वाण-दिवसपर यहाँ जनसमुदाय एकत्रित होता और निर्वाण दिवस मनाता है।

५. गिरनार (ऊर्जयन्तगिरि)

यहाँसे २२वें तीर्थङ्कर अरिष्टनेमिने निर्वाण प्राप्त किया है और असंख्य ऋषि-मुनियोंने भी यहाँ तप करके सिद्धपद पाया है। अतएव यह सिद्धतीर्थ है। आचार्य पूज्यपादने कहा है कि जिन 'अरिष्टनेमिकी इन्द्रादि और जैनेतर साधुजन भी अपने कल्याणके लिये उपासना करते हैं उन अरिष्टनेमिने अष्टकर्मोंको नाशकर महान् ऊर्जयन्तगिरि—गिरनारसे मुक्तिपद प्राप्त किया।' यथा—

यत्प्रार्थ्यते शिवमयं विबुधेश्वराद्यैः पाखण्डिभिश्च परमार्थ-गवेष-शीलैः ।
नष्टाऽष्ट-कर्म-समये तदरिष्टनेमिः सम्प्राप्तवान् क्षितिधरे बृहदूर्जयन्ते ॥२३॥

१. 'पावा समीक्षा', 'प्राचीन पावा', 'पावाकी झाँकी' आदि पुस्तकें।

निर्वाणकाण्डकार और अपभ्रंश निर्वाणभक्तिकारका भी यही कहना है—

(क) उज्जंते णेमिजिणो'—प्रा० नि० का० गा० १।

(ख) 'उज्जेंतिमहागिरि सिद्धिपत्तु, सिरिनेमिनाहु जादवपवित्तु।

इसके सिवाय इन दोनों ग्रन्थकारोंने यह भी लिखा है कि प्रद्युम्नकुमार, शम्भुकुमार, अनिरुद्धकुमार और सात सौ बहत्तर कोटि मुनियोने भी इसी ऊर्जयन्तगिरि—गिरनारसे सिद्ध-पद प्राप्त किया है। यथा—

(क) णमसामि पज्जुण्णो संबुकुमारो तहेव अणिरुद्धो।
बाहत्तरकोडीओ उज्जंते सत्तसया सिद्धा॥—नि० का० ५।

(ख) अण्णे पुणु सामपजुण्णवेवि, अणिरुद्धसहिय हउं नवमि ते वि।
अवरे पुणु सत्तसयाइं तित्थु, बाहत्तरिकोडिउ सिद्धपत्तु॥—अप० नि० भ०।

यह ऊर्जयन्तगिरि पाँच पहाड़ोंमे विभक्त है। पहले पहाडकी एक गुफामे राजुलकी मूर्ति है। राजुलने इसी पर्वतपर दीक्षा ली थी और तप किया था। राजुल तीर्थंकर नेमिनाथकी पत्नी बननेवाली थी, पर नेमिनाथके एक निमित्तको लेकर दीक्षित होजानेपर उन्होंने भी दीक्षा ले ली थी और विवाह नहीं कराया था। दूसरे पहाडसे अनिरुद्धकुमार, तीसरेसे शम्भुकुमार, चौथेसे श्रीकृष्णजीके पुत्र प्रद्युम्नकुमार और पाँचवेंसे तीर्थंकर नेमिनाथने निर्वाण प्राप्त किया था। इस सिद्धतीर्थकी जैनसमाजमे वही प्रतिष्ठा है जो सम्मेदशिखर-की है। यह सौराष्ट्र (गुजरात)मे जूनागढके निकट अवस्थित है। तलहटीमे धर्मशालाएँ भी बनी हुई है। मदनकीर्तिके पद्य २०के उल्लेखानुसार यहाँ श्रीनेमिनाथकी बडी मनोज्ञ और निराभरण मूर्ति रही, जो खास प्रभाव एवं अतिशयको लिये हुए थी। मालूम नहीं वह मूर्ति अब कहाँ गई, या खण्डित हो चुकी है, क्योंकि अब वहाँ चरणचिह्न ही पाये जाते हैं।

६. चम्पापुर

बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्यका यह गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और मोक्षका स्थान है। अतएव यह सिद्धतीर्थ और अतिशय तीर्थ दोनो है। स्वामी पूज्यपादने लिखा है कि चम्पापुरमें वसुपूज्यसुत भगवान् वासुपूज्यने रागादि कर्मबन्धको नाशकर सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त की है। यथा—

चम्पापुरे च वसुपूज्यसुतः सुधीमान्।
सिद्धिं परामुपगतो गतरागबन्धः॥—स० नि० भ० २२।

यही निर्वाणकाण्ड और अपभ्रंशनिर्वाणभक्तिमे कहा है—

(क) 'चंपाए वासुपुज्जजिणणाहो'—नि० का० १।

(ख) पुणु चंपनयरि जिणु वासुपुज्ज, णिव्वाणपत्तु छंडेवि रज्जु।—अ० नि० भ०।

इस तरह चम्पापुरको जैनसाहित्यमे एक पूज्य तीर्थ माना गया है। इसके सिवाय, जैनग्रन्थोंमें चम्पापुरकी प्राचीन दस राजधानियोंमे भी गिनती की गई है और उसे एक समृद्ध नगर बतलाया गया है[1]।

यह चम्पापुर वर्तमानमें एक गाँवके रूपमें मौजूद है और भागलपुरसे ६ मीलकी दूरीपर है। मदन-कीर्तिके उल्लेखानुसार यहाँ १२वें तीर्थंकर वासुपूज्यकी अतिशयपूर्ण मूर्ति रही है, जिसकी देव-मनुष्यादि पुष्प-निचयसे बड़ी भक्ति पूजा करते थे। प्रतीत होता है कि चम्पापुरके पास जो मन्दरगिरि है उससे सटा हुआ

---

१. डा० जगदीशचन्द्रकृत "जैनग्रन्थोंमें भौगोलिक सामग्री और भारतवर्षमे जैनधर्मका प्रचार" शीर्षक लेख, प्रेमी-अभिनन्दनग्रन्थ पृष्ठ २५४।

एक तालाब है। इस तालाबके कमल ही मदनकीर्तिको पद्य २१ में उल्लिखित पुष्पनिचय विवक्षित हुए हैं—उनसे भक्तजन उनकी पूजा करते होंगे।

७. विपुलगिरि

राजगृहके निकट विपुलगिरि, वैभागिरि, कुण्डलगिरि अथवा पाण्डुकगिरि; ऋषिगिरि और बलाहक-गिरि ये पाँच पहाड़ स्थित हैं। बौद्ध-ग्रन्थोंमे इनके वेपुल्ल, वेभार, पाण्डव, इसिगिलि और गिज्झकूट ये नाम पाये जाते हैं। इन पाँच पहाड़ोंका जैनग्रन्थोंमें विशेष महत्त्व वर्णित है। इनपर अनेक ऋषि-मुनियोंने तपश्चर्या कर मोक्ष-साधन किया है। आचार्य पूज्यपादने इन्हें सिद्धक्षेत्र बतलाया है और लिखा है कि इन पहाड़ोंसे अनेक साधुओंने कर्म-मल नशाकर सुगति प्राप्त की है। यथा—

द्रोणीमति प्रवरकुण्डल-मेढ्रके च
वैभारपर्वततले वरसिद्धकूटे।
ऋष्यद्रिके च विपलाद्रि-बलाहृके च
*　　*　　*
ये साधवो हतमलाः सुगतिं प्रयाताः
स्थानानि तानि जगति प्रथितान्यभूवन्।—नि० भ० २९, ३०।

इन पाँचोंमें 'विपुलगिरि'का तो और भी ज्यादा महत्त्व है; क्योंकि उसपर अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान-महावीरका अनेकबार समवशरण भी आया है और वहाँसे उन्होंने मुमुक्षुओंको मोक्षमार्गका उपदेश किया है। मदनकीर्तिने पद्य ३०मे यहाँके प्रभावपूर्ण जिनबिम्बका उल्लेख किया है। जान पडता है उसका अतिशय लोकविश्रुत था। सम्भव है जो विपुलगिरिपर प्राचीन जिनमन्दिर बना हुआ है और जो आज खण्डहरके रूपमें वहाँ मौजूद है उसीमे उल्लिखित जिनबिम्ब रहा होगा। अब यह खण्डहर श्वेताम्बरसमाजके अधिकार-मे है। इसकी खुदाई होनेपर जैन पुरातत्वकी पर्याप्त सामग्री मिलनेकी सम्भावना है।

८. विन्ध्यगिरि

आचार्य पूज्यपादने 'विन्ध्यगिरि'को सिद्धक्षेत्र कहा है और वहाँसे अनेक साधुओंके मोक्ष प्राप्त करनेका समुल्लेख किया है।[1] यह विन्ध्यगिरि विन्ध्याचल जान पड़ता है जो मध्यप्रान्तमे रेवा (नर्मदा) के किनारे-किनारे बहुत दूर तक पाया जाता है और जिसकी कुछ छोटी-छोटी पहाड़ियाँ आस-पास अवस्थित हैं। मदनकीर्तिने पद्य ३२ मे इसी विन्ध्यगिरि अथवा विन्ध्याचलके जिनमन्दिरोका, निर्देश किया प्रतीत होता है। झाँसीके पास एक देवगढ़ नामक स्थान है जो एक सुन्दर पहाड़ीपर स्थित है। वहाँ विक्रमकी १०वीं शताब्दीके आस-पास बहुत मन्दिर बने है।[2] ये मन्दिर शिल्पकला तथा प्राचीन कारीगरीकी दृष्टिसे उल्लेख-नीय हैं। भारत सरकारके पुरातत्त्वविभागको यहाँसे २०० के लगभग शिलालेख प्राप्त हुए है। उनमें ६० पर तो समय भी अङ्कित है। सबसे पुराना लेख वि० सं० ९१९ का है और अर्वाचीन सं० १८७६ का है। यह भी हो सकता है कि पूज्यपाद और मदनकीर्तिने जिस विन्ध्यगिरिकी सूचना की है वह मैसूर प्रान्तके हासन जिलेके चेन्नरायपाटन तालुकेमें पायी जानेवाली विन्ध्यगिरि और चन्द्रगिरि नामकी दो सुन्दर पहाड़ियोंमेंसे पहली पहाड़ी विन्ध्यगिरि हो।[3] यह पहाड़ी 'दोड्डबेट्ट' अर्थात् बड़ी पहाड़ीके नामसे प्रसिद्ध है। इसपर

---

१. 'विन्ध्ये च पोदनपुरे वृषदीपके च'—नि० भ०।

२. कल्याणकुमार शशिकृत 'देवगढ़' नामक पुस्तककी प्रस्तावना।

३. जैनशिलालेखसंग्रह' प्रस्तावना पृ० २।

आठ जिनमन्दिर बने हुए हैं। गोम्मटेश्वरकी संसारप्रसिद्ध विशाल मूर्ति इसीपर उत्कीर्ण है, जिसे चामुण्डराय-ने विक्रमकी ग्यारहवी शताब्दीमें निर्मित कराया था। अतएव इस प्रसिद्ध मूर्तिके कारण पर्वतपर और भी कितने ही जिनमन्दिर बनवाये गये होंगे और इसलिए उनका भी प्रस्तुत रचनामें उल्लेख सम्भव है। यह पहाड़ी अनेक साधु-महात्माओंकी तपःभूमि रही है। अतः विन्ध्यगिरि सिद्धतीर्थ तथा अतिशयतीर्थ दोनों है।

अतिशयतीर्थ

मदनकीर्तिद्वारा उल्लिखित १८ अतिशयतीर्थों अथवा सातिशय जिनबिम्बोका भी यहाँ कुछ परिचय दिया जाता है।

श्रीपुर-पार्श्वनाथ

जैन साहित्यमें श्रीपुरके श्रीपार्श्वनाथका बड़ा माहात्म्य और अतिशय बतलाया गया है और उस स्थानको एक पवित्र तथा प्रसिद्ध अतिशयतीर्थके रूपमें उल्लेखित किया गया है। निर्वाणकाण्डमे जिन अति-शय-तीर्थोंका उल्लेख है उनमे 'श्रीपुर' का भी निर्देश है और वहांके पार्श्वनाथकी वन्दना की गई है।[1] मुनि उदयकीर्तिने भी अपनी अपभ्रंशनिर्वाणभक्तिमें श्रीपुरके पार्श्वनाथका अतिशय प्रदर्शित करते हुए उनकी वन्दना की है।[2] मदनकीर्तिसे कोई सौ-वर्ष बाद होनेवाले श्वेताम्बर विद्वान् जिनप्रभसूरिने भी अपने 'विविध तीर्थकल्प'मे एक 'श्रीपुर-अन्तरिक्ष पार्श्वनाथकल्प' दिया है और उसमे इस अतिशयतीर्थका वर्णन करते हुए उसके सम्बन्धमें एक कथाको भी निबद्ध किया है।[3] कथाका सारांश यह है कि 'लङ्काधीश दशग्रीवने माली सुमाली नामके अपने दो सेवकोंको कही भेजा। वे विमानमें बैठे हुए आकाशमार्गसे जा रहे थे कि जाते-जाते भोजनका समय हो गया। सुमालीको ध्यान आया कि जिनेन्द्र प्रतिमाको घर भूल आये और बिना देवपूजाके भोजन नहीं कर सकते। उन्होंने विद्याबलसे पवित्र बालूद्वारा भाविजिन श्रीपार्श्वनाथकी नवीन प्रतिमा बनाई। दोनोने उसकी पूजा की और फिर भोजन किया। पश्चात् उस प्रतिमाको निकटवर्ती तालाबमें विराजमानकर आकाशमार्गसे चले गये। वह प्रतिमा शासनदेवताके प्रभावसे तालाबमें अखण्डितरूपमे बनी रही। कालान्तरमें उस तालाबका पानी कम हो गया और सिर्फ उसी गड्ढेमे रह गया जहाँ वह प्रतिमा स्थित थी। किसी समय एक श्रीपाल नामका राजा, जिसे भारी कोढ था, घूमता हुआ वहाँ पहुँचा और पहुँचकर उस पानीसे अपना हाथ मुँह धोकर अपनी पिपासा शान्त की। जब वह घर लौटा, तो उसकी रानीने उसके हाथ-मुँहको कोढरहित देखकर पुन उसी पानीसे स्नान करनेके लिए राजासे कहा। राजाने वैसा किया और उसका सर्व कोढ दूर हो गया। रानीको देवताद्वारा स्वप्नमे इसका कारण मालूम हुआ कि वहाँ पार्श्वजिनकी प्रतिमा विराजमान है और उसीके प्रभावसे यह सब हुआ है। फिर वह प्रतिमा अन्तरिक्ष-मे स्थित हो गई। राजाने वहाँ अपने नामाङ्कित श्रीपुरनगरको बसाया। अनेक महोत्सवोंके साथ उस प्रतिमाकी वहाँ प्रतिष्ठा की गई। तीनों काल उसकी पूजा हुई। आज भी वह प्रतिमा उसी तरह अन्तरिक्षमें स्थित है। पहले वह प्रतिमा इतने अधर थी कि उसके नीचेसे शिरपर घड़ा रक्खे हुए स्त्री निकल जाती थी, परन्तु कालवश अथवा भूमिरचनावश या मिथ्यात्वादिसे दूषित कालके प्रभावसे अब वह प्रतिमा इतने नीचे

---

१. यथा—'पासं सिरपुरि वंदमि·······।'—निर्वाणका०।

२. यथा—'अरु वंदउं सिरपुरि पासनाहु,
जो अंतरिक्खि छइ णाणलाहु।

३. सिंघी ग्रन्थमालासे प्रकाशित 'विविधतीर्थकल्प' पृ० १०२।

हो गई कि एक चादर (धागा ?)का अन्तर रह गया है। इस प्रतिमाके अभिषेक जलसे दाद, खाज, कोढ़ आदि रोग शान्त होते हैं।" लगभग यही कथा मुनि श्रीशीलविजयजीने अपनी 'तीर्थमाला'में दी है और श्रीपुरके पार्श्वनाथका लोकविश्रुत प्रभाव प्रदर्शित किया है। मुनिजीने विक्रम सं० १७३१-३२ में दक्षिणके प्रायः समस्त तीर्थोंकी वन्दना की थी, उसीका उक्त पुस्तकमें वर्णन निबद्ध है।[1] यद्यपि उक्त कथाओंका ऐतिहासिक आधार तथ्यभूत है अथवा नहीं, इसका निर्णय करना कठिन है फिर भी इतना अवश्य है कि उक्त कथाएँ एक अनुश्रुति हैं और काफी पुरानी हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि उक्त प्रतिमाके अभिषेकजलको शरीरमें लगानेसे दाद, खाज और कोढ़ जैसे रोग अवश्य नष्ट होते होंगे और इसी कारण उक्त प्रतिमाका अतिशय लोकमें दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो गया होगा। विक्रमकी नवमी शताब्दीके प्रखर तार्किक आचार्य विद्यानन्द जैसे विद्वानाचार्य भी श्रीपुरके पार्श्वनाथकी महिमासे प्रभावित हुए हैं और उनका स्तवन करनेमें प्रवृत्त हुए हैं। अर्थात् श्रीपुरके पार्श्वनाथको लक्ष्यकर उन्होंने भक्तिपूर्ण 'श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र'की रचना की है। गङ्गनरेश श्रीपुरुषके द्वारा श्रीपुरके जैनमन्दिरके लिए दान दिये जानेका उल्लेख करनेवाला ई० सन् ७७६ का एक ताम्रपत्र भी मिला है।[2] इन सब बातोंसे श्रीपुरके पार्श्वनाथका ऐतिहासिक महत्त्व और प्रभाव स्पष्टतया जान पड़ता है।

अब विचारणीय यह है कि यह श्रीपुर कहाँ है—उसका अवस्थान किस प्रान्तमें है ?

प्रेमीजीका अनुमान है[3] कि धारवाड जिलेका जो शिरूर गाँव है और जहाँसे शक सं० ७८७का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है तथा जो इण्डियन ए. भाग १२ पृ० २१६मे प्रकाशित हो चुका है, वही प्रस्तुत श्री-पुर है। कुछ पाश्चात्य विद्वान् लेखकोंने बेसिङ्ग जिलेके 'सिरपुर' स्थानको एक प्रसिद्ध जैनतीर्थ बतलाया है और वहाँ प्राचीन पार्श्वनाथका मन्दिर होनेकी सूचनाएँ की हैं। गङ्गनरेश श्रीपुरुष (ई० ७७६) और आचार्य विद्यानन्द (ई० ७७५–८४०)को[4] इष्ट श्रीपुर ही प्रस्तुत श्रीपुर जान पड़ता है और जो मैसूर प्रान्तमें कहीं होना चाहिए, ऐसा भी हमारा अनुमान है।[5] विद्वानोंको उसकी पूरी खोज करके ठीक स्थितिपर पूरा प्रकाश डालना चाहिये।

मदनकीर्तिने इस तीर्थका उल्लेख पद्य ३ में किया है और उसका विशेष अतिशय ख्यापित किया है।

हुलगिरि-शङ्खजिन

श्रीपुरके पार्श्वनाथकी तरह हुलगिरिके शङ्खजिनका भी अतिशय जैनसाहित्यमें प्रदर्शित किया गया है।

इस तीर्थके सम्बन्धमे जो परिचय-ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनमें मदनकीर्तिकी प्रस्तुत शासनचतुस्त्रिंशिका सबसे प्राचीन और प्रथम रचना है। इसके पद्य ४ मे लिखा है कि—"प्राचीन समयमें एक धर्मात्मा व्यापारी गौनमें शङ्खोंको भरकर कहीं जा रहा था। रास्तेमें उसे हुलगिरिपर रात हो गई। वह वहीं बस गया। सुबह उठकर जब चलने लगा तो उसकी वह शङ्खोंकी गौन अचल हो गई—चल नहीं सकी। जब उसमेंसे

---

१. 'जैनसाहित्य और इतिहास' पृ० २२७।

२. जैनसि० भा०, भा० ४ किरण ३, पृ० १५८।

३. जैनसाहित्य और इतिहास पृ० २३७।

४. आप्तपरीक्षा, प्रस्तावना, वीरसेवामन्दिर-संस्करण।

५. डा० दरबारीलाल कोठिया, श्रीपुर-पार्श्वनाथ-स्तोत्र, प्रस्तावना, वीरसेवामन्दिर-संस्करण।

शङ्खजिन (पार्श्वनाथ) का आविर्भाव हुआ तो वह चल सकी। इस अतिशयके कारण हुलगिरि शङ्खजिनेन्द्रका तीर्थ माना जाने लगा। अर्थात् तबसे शङ्खजिनतीर्थ प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ।" मदनकीर्तिसे एक शताब्दी बाद होनेवाले जिनप्रभसूरि अपने 'विविधतीर्थकल्प' गत 'शङ्खपुर-पार्श्वनाथ' नामक कल्पमें शङ्खजिनका परिचय देते हुए लिखते हैं कि "प्राचीन समयकी बात है कि नवमे प्रतिनारायण जरासन्ध अपनी सेनाको लेकर राजगृहसे नवमे नारायण कृष्णसे युद्ध करनेके लिये पश्चिम दिशाकी ओर गये। कृष्ण भी अपनी सेना लेकर द्वारकासे निकलकर उसके सम्मुख अपने देशकी सीमापर जा पहुँचे। वहाँ भगवान् अरिष्टनेमिने शङ्ख बजाया और शंखेश्वर नामका नगर बसाया। शङ्खकी आवाजको सुनकर जरासन्ध क्षोभित हो गया और जरा नामकी कुलदेवताकी आराधना करके उसे कृष्णकी सेनामें भेज दिया। जराने कृष्णकी सारी सेनाको श्वास रोगसे पीडित कर दिया। जब कृष्णने अपनी सेनाका यह हाल देखा तो चिन्तातुर होकर अरिष्टनेमिसे पूछा कि 'भगवन्! मेरी यह सेना कैसे निरुपद्रव (रोगरहित) होगी और कैसे विजयश्री प्राप्त होगी।' तब भगवान्ने अवधिज्ञानसे जानकर कहा कि 'भूगर्भमे नागजातिके देवोंद्वारा पूजित भाविजिन पार्श्वकी प्रतिमा स्थित है। यदि तुम उसकी पूजा-आराधना करो तो उससे तुम्हारी सारी सेना निरुपद्रव हो जायगी और विजयश्री भी मिलेगी।' इस बातको सुनकर कृष्णने सात मास और तीन दिन तक निराहार विधिसे नागेन्द्रकी उपासना की। नागेन्द्र प्रकट हुआ और उससे सबहुमान पार्श्वजिनेन्द्रकी प्रतिमा प्राप्त की। बड़े उत्सवके साथ उसकी अपने देवताके स्थानमे स्थापनाकर त्रिकाल पूजा की। उसके अभिषेकजलको सेनापर छिडकते ही उसका वह सब श्वासरोगादि उपद्रव दूर हो गया और सेना लड़नेके समर्थ हो गई। जरासन्ध और कृष्ण दोनोंका युद्ध हुआ, युद्धमे जरासन्ध हार गया और कृष्णको विजयश्री प्राप्त हुई। इसके बाद वह प्रतिमा समस्त विघ्नोंको नाश करने और ऋद्धि-सिद्धियोको पैदा करनेवाली हो गई। और उसे वही शङ्खपुरमें स्थापित कर दिया। कालान्तरमे वह प्रतिमा अन्तर्धान हो गई। फिर वह एक शङ्खकूपमें प्रकट हुई। वहाँ वह आज तक पूजी जाती है और लोगोके विघ्नादिको दूर करती है। यवन राजा भी उसकी महिमा (अतिशय) का वर्णन करते हैं[1]।" मुनि शीलविजयजीने भी तीर्थमालामे एक कथा दी है जिसका आशय यह है[2] कि 'किसी यक्षने श्रावकोंसे कहा कि नो दिन तक एक शङ्खको फूलोमे रखो और फिर दसवें दिन दर्शन करो। इसपर श्रावकोंने नौ दिन ऐसा ही किया और नवें दिन ही उसे देख लिया और तब उन्होंने शङ्खको प्रतिमारूपमें परिवर्तित पाया, परन्तु प्रतिमाके पैर शङ्खरूप ही रह गये, अर्थात् यह दशवें दिनकी निशानी रह गई। शङ्खमेंसे नेमिनाथ प्रभु प्रकट हुए और इस प्रकार वे 'शङ्खपरमेश्वर' कहलाये।' निर्वाणकाण्ड और अपभ्रंशनिर्वाणभक्तिके रचयिताओंने भी होलागिरिके शङ्खदेवका उल्लेख करके उनकी वन्दना की है। यथा—

(क) '.........वंदमि होलागिरी संखदेवं पि।'—नि० का० २४।

(ख) 'होलागिरि संखुजिणेंदु देउ,
विंझणणरिंदु ण वि लद्ध छेउ।'—अ० नि० भ०।

यद्यपि अपभ्रंशनिर्वाणभक्तिकारने विंझण (विन्ध्य ?) नरेन्द्रके द्वारा उनकी महिमाका पार न पा सकनेका भी उल्लेख किया है, पर उससे विशेष परिचय नहीं मिलता। ऊपरके परिचयोंमें भी प्रायः कुछ विभिन्नता है फिर भी इन सब उल्लेखों और परिचयोंसे इतना स्पष्ट है कि शङ्खजिन तीर्थ रहा है और जो

---

१. 'विविधतीर्थकल्प' पृ० ५२।

२. प्रेमीजी कृत 'जैनसाहित्य और इतिहास' (पृ० २३७) से उद्धृत।

काफी प्रसिद्ध रहा है तथा जिनप्रभसूरिके उल्लेखानुसार वह यवन राजाओं द्वारा प्रशंसित और वर्णित भी रहा है। श्रीभानुकीर्तिने शङ्खदेवाष्टक[1], श्रीजयन्तविजयने शंखेश्वर महातीर्थ[2] और श्रीमणिलाल लालचन्दने शंखेश्वरपार्श्वनाथ[3] जैसी स्वतन्त्र रचनाएँ भी शङ्खजिनपर लिखी हैं।

शङ्खजिनतीर्थकी अवस्थितिपर विचार करते हुए प्रेमीजीने लिखा है[4]—

'अतिशयक्षेत्रकाण्डमें "होलगिरि संखदेव पि" पाठ है, जिससे मालूम होता है कि होलगिरि नामक पर्वतपर शङ्खदेव या शंखेश्वर पार्श्वनाथ नामका कोई तीर्थ है। मालूम नहीं, इस समय वह ज्ञात है या नहीं।'—

जैनसाहित्य और इतिहासको प्रस्तुत करते हुए अब उन्होंने उसमें लिखा है[5]—

'लक्ष्मेश्वर धारवाड़ जिलेमे मिरजके पटवर्धनकी जागीरका एक गाँव है। इसका प्राचीन नाम 'पुलगेरे' है। यहाँ 'शङ्ख-वस्ति' नामका एक विशाल जैनमन्दिर है जिसकी छत ३६ खम्भोंपर थमी हुई है। यात्री (मुनि शीलविजय) ने इसीको 'शङ्ख-परमेश्वर' कहा जान पडता है। इस शङ्ख-वस्तिमें छह शिलालेख प्राप्त हुए है। शक संवत् ६५६ के लेखके अनुसार चालुक्य-नरेश विक्रमादित्य (द्वितीय) ने पुलगेरेकी शंखतीर्थ-वस्तीका जीर्णोद्धार कराया और जिनपूजाके लिये भूमि दान की। इससे मालूम होता है कि उक्त वस्ति इससे भी प्राचीन है। हमारा (प्रेमीजीका) अनुमान है कि अतिशयक्षेत्रकाण्डमे कहे गये शखदेवका स्थान यही है। जान पडता है कि लेखकोकी अज्ञानतासे 'पुलगेरे' ही किसी तरह 'होलगिरि' हो गया है।'

मुनि शीलविजयजीने दक्षिणके तीर्थक्षेत्रोंकी पैदल वन्दना की थी और जिसका वर्णन उन्होने 'तीर्थमाला'मे किया है। वे धारवाड जिलेके बङ्कापुरको, जिसे राष्ट्रकूट महाराज अमोघवर्ष (८५१-६९) के सामन्त 'बकेयरस' ने अपने नामसे बसाया था[6], देखते हुए इसी जिलेके लक्ष्मेश्वरपुर तीर्थ पहुँचे थे और वहाँके 'शखपरमेश्वर'की वन्दना की थी, जिनके बारेमें उन्होंने पूर्वोल्लिखित एक अनुश्रुति दी है। प्रेमीजीने इनके द्वारा वर्णित उक्त 'लक्ष्मेश्वरपुर तीर्थ' पर टिप्पण देते हुए ही अपना उक्त विचार उपस्थित किया है और पुलगेरेको शंखदेवका तीर्थ अनुमानित किया है तथा होलगिरिको पुलगेरेका लेखकोंद्वारा किया गया भ्रान्त उल्लेख बतलाया है।

पुलगेरेका होलगिरि या हुलगिरि अथवा होलगिरि हो जाना कोई असम्भव नहीं है। देशभेद और कालभेद तथा अपरिचितिके कारण उक्त प्रकारके प्रयोग बहुधा हो जाते हैं। मुनिसुव्रतनाथकी प्रतिमा जहाँ प्रकट हुई उस स्थानका तीन लेखकोंने तीन तरहसे उल्लेख किया है। निर्वाणकाण्डकार 'अस्सारम्मे पट्टणि' कहकर 'आशारम्य' नामक नगरमें उसका प्रकट होना बतलाते है और अपभ्रंशनिर्वाणभक्तिकार मुनि उदयकीर्ति 'आसरंमि' लिखकर 'आश्रम'में उसका आविर्भाव कहते है। मदनकीर्ति उसे 'आश्रम' वर्णित करते हैं और जिनप्रभसूरि आदि विद्वान् प्रतिष्ठानपुर मानते हैं। अतएव देशादि भेदसे यदि

---

१. माणिकचन्द्र ग्रन्थमालामें प्रकाशित सिद्धान्तसारादिसंग्रहमें सङ्कलित।

२. विजयधर्मसूरि-ग्रंथमाला, उज्जैनसे प्रकाशित।

३. सस्तीवाचनमाला अहमदाबादसे मुद्रित।

४. सिद्धान्तसारादिसग्रहकी प्रस्तावना पृ० २८ का फुटनोट।

५ 'जैनसाहित्य और इतिहास' पृ० २३६-२३७ का फुटनोट।

६. प्रेमीजी कृत 'जैनसाहित्य और इतिहास' पृ० २३६ का फुटनोट।

पुलगेरेका हुलगिरि या होलागिरि आदि बन गया हो तो आश्चर्यकी बात नहीं है। अतः जब तक कोई दूसरे स्पष्ट प्रमाण हुलगिरि या होलागिरिके अस्तित्वके साधक नहीं मिलते तब तक प्रेमीजीके उक्त विचार और अनुमानको ही मान्य करना उचित जान पडता है।

धारा-पार्श्वनाथ

धाराके पार्श्वनाथके सम्बन्धमे मदनकीर्तिके पद्य ५ के उल्लेखके सिवाय और कोई परिचायक उल्लेख अभी तक नहीं मिले और इस लिये उसके बारेमे इस समय विशेष कुछ नहीं कहा जा सकता।

बृहत्पुर-बृहद्देव

मदनकीर्तिने पद्य ६ में बृहत्पुरके बृहद्देवकी ५७ हाथकी विशाल प्रस्तर मूर्तिका उल्लेख किया है, जिसे अर्ककीर्ति नामके राजाने बनवाया था। जान पडता है यह 'बृहत्पुर' बडवानीजी है, जो उसीका अपभ्रंश (बिगडा हुआ) प्रयोग है और 'बृहद्देव' वहांके मूलनायक आदिनाथका सूचक है। बडवानीमे श्रीआदिनाथकी ५७ हाथकी विशाल प्रस्तर मूर्ति प्रसिद्ध है और जो बावनगजाके नामसे विख्यात है। बृहद्देव पुरुदेवका पर्यायवाची है और पुरुदेव आदिनाथका नामान्तर है। अतएव बृहत्पुरके बृहद्देवसे मदनकीर्तिको बड़वानीके श्रीआदिनाथके अतिशयका वर्णन करना विवक्षित मालूम होता है। इस तीर्थके बारेमे संक्षिप्त परिचय देते श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने अपनी 'जैनधर्म' नामक पुस्तकके 'तीर्थक्षेत्र' प्रकरण (पृ० ३३५) मे लिखा है :—

'बड़वानीसे ५ मील पहाडपर जानेसे बडवानी क्षेत्र मिलता है।……क्षेत्रकी वन्दनाको जाते हुए सबसे पहले एक विशालकाय मूर्तिके दर्शन होते है। यह खडी हुई मूर्ति भगवान ऋषभदेवकी है, इनकी ऊँचाई ८४ फीट है। इसे बावनगजाजी भी कहते है। सं० १२२३ मे इसके जीर्णोद्धार होनेका उल्लेख मिलता है। पहाड़पर २२ मन्दिर हैं। प्रतिवर्ष पौष सुदी ८ से १५ तक मेला होता है।'

बड़वानी मालवा प्रान्तका एक प्राचीन प्रसिद्ध तीर्थक्षेत्र है और जो इन्दौरके पास है। निर्वाणकाण्ड[1] और अपभ्रंश निर्वाणभक्ति[2]के रचयिताओंने भी इस तीर्थका उल्लेख किया है।

जैनपुरके दक्षिण गोम्मटदेव

'जैनपुर' जैनबिद्री व श्रवणबेलगोलाका प्राचीन नाम है। गङ्गनरेश राचमल्ल (ई० ९७४–९८४) के सेनापति और मन्त्री चामुण्डरायने वहां बाहुबलि स्वामीकी ५७ फीट ऊँची खड्गासन विशाल पाषाणमूर्ति बनवाई थी। यह मूर्ति एक हजार वर्षसे जाड़े, गर्मी और बरसातकी चोटोंको सहती हुई उसी तरह आज भी वहां विद्यमान है और संसारकी प्रसिद्ध वस्तुओंमेंसे एक है। इस मूर्तिकी प्रशंसा करते हुए काका कालेलकरने अपने एक लेखमे लिखा है[3]:—

'मूर्तिका सारा शरीर भरावदार, यौवनपूर्ण, नाजुक और कान्तिमान है। एक ही पत्थरसे निर्मित इतनी सुन्दर मूर्ति संसारमे और कहीं नहीं। इतनी बडी मूर्ति इतनी अधिक स्निग्ध है कि भक्तिके साथ कुछ प्रेमकी भी यह अधिकारिणी बनती है। धूप, हवा और पानीके प्रभावसे पीछेकी ओर ऊपरकी पपड़ी खिर पड़नेपर भी इस मूर्तिका लावण्य खण्डित नहीं हुआ है।'

---

१. नि० का० गाथा नं० १२।

२. अ० नि० भ० गाथा नं० ११।

३. जैनधर्म पृ० ३४२ से उद्धृत।

डाक्टर हीरालाल जैन लिखते हैं[1]—'यह नग्न, उत्तरमुख खड्गासन मूर्ति समस्त संसारकी आश्चर्यकारी वस्तुओंमेंसे है।........एशिया खण्ड ही नहीं, समस्त भूतलका विचरण कर आइये, गोम्मटेश्वरकी तुलना करनेवाली मूर्ति आपको क्वचित् ही दृष्टिगोचर होगी। बड़े-बड़े पश्चिमीय विद्वानोंके मस्तिष्क इस मूर्तिकी कारीगरीपर चक्कर खा गये हैं। इतने भारी और प्रबल पाषाणपर सिद्धहस्त कारीगरने जिस कौशलसे अपनी छैनी चलाई है उससे भारतके मूर्तिकारोंका मस्तक सदैव गर्वसे ऊँचा उठा रहेगा। यह सम्भव नहीं जान पड़ता कि ५७ फुटकी मूर्ति खोद निकालनेके योग्य पाषाण कहीं अन्यत्रसे लाकर इस ऊँची पहाड़ीपर प्रतिष्ठित किया जा सका होगा। इससे यही ठीक अनुमान होता है कि उसी स्थानपर किसी प्रकृतिदत्त स्तम्भाकार चट्टानको काटकर इस मूर्तिका आविष्कार किया गया है। कम-से-कम एक हजार वर्षसे यह प्रतिमा सूर्य, मेघ, वायु आदि प्रकृतिदेवीकी अमोघ शक्तियोंसे बातें कर रही हैं। पर अब तक उसमें किसी प्रकारकी थोड़ी भी क्षति नहीं हुई। मानो मूर्तिकारने उसे आज ही उद्घटित की हो।'

इस मूर्तिके बारेमे मदनकीर्तिने पद्य ७ मे लिखा है कि 'पांचसौ आदमियोंके द्वारा इस विशाल मूर्तिका निर्माण हुआ था और आज भी देवगण उसकी सविशेष पूजा करते हैं।' प्राकृत निर्वाणकाण्ड[2] और अपभ्रंश निर्वाणभक्ति[3]मे भी देवोंद्वारा उसकी पूजा होने तथा पुष्पवृष्टि (केशरकी वर्षा) करनेका उल्लेख है। इन सब वर्णनोंसे जैनपुरके दक्षिण गोम्मटदेवकी महिमा और प्रभावका अच्छा परिचय मिलता है।

विश्वसेन नृपद्वारा निष्कासित शान्तिजिन

मदनकीर्ति और उदयकीर्तिके उल्लेखोंसे मालूम होता है कि विश्वसेन नामके किसी राजा द्वारा समुद्रसे श्रीशान्ति जिनेश्वरकी प्रतिमा निकाली गई थी, जिसका यह अतिशय था कि उसके प्रभावसे लोगोंके क्षुद्र उपद्रव दूर होते थे और लोगोंको बड़ा सुख मिलता था। यद्यपि मदनकीर्तिके पद्य ९के उल्लेखसे यह ज्ञात नही होता कि शान्तिजिनेश्वरकी उक्त प्रतिमा कहाँ प्रकट हुई ? पर उदयकीर्तिके निर्देशसे[4] विदित होता है कि वह प्रतिमा मालवतीमें प्रकट हुई थी। मालवती सम्भवतः मालवाका ही नाम है। अस्तु।

पुष्पपुर-पुष्पदन्त

पुष्पपुर पटना (विहार) का प्राचीन नाम है। संस्कृत साहित्यमे पटनाको पाटलिपुत्रके सिवाय कुसुमपुरके नामसे भी उल्लेखित किया गया है[5]। अतएव पुष्पपुर पटनाका ही नामान्तर जान पड़ता है। मदनकीर्तिके पद्य १२ के उल्लेखानुसार वहाँ श्रीपुष्पदन्त प्रभुकी सातिशय प्रतिमा भूगर्भसे निकली थी, जिसकी व्यन्तरदेवों द्वारा बड़ी भक्तिसे पूजा की जाती थी। मदनकीर्तिके इस सामान्य परिचयोल्लेखके अलावा पुष्प-पुरके श्रीपुष्पदन्तप्रभुके बारेमें अभीतक और कोई उल्लेख या परिचयादि प्राप्त नहीं हुआ।

१. शिलालेखसंग्रह, प्रस्तावना पृ० १७-१८।
२. गोम्मटदेवं वंदमि पंचसयं धणुह-देह-उच्चत्तं।
देवा कुणंति वुट्ठी केसर-कुसुमाण तस्स उवरिम्मि ॥२५॥
३. वंदिज्जइ गोम्मटदेउ तित्थु, जसु अणु-दिण पणवइ सुरहं सत्थु।
४. मालव संति वंदउ पवित्तु, विससेणराय कड्ढिउ णिरुत्तु ॥
५. 'विविधतीर्थकल्प' गत 'पाटलिपुत्रनगरकल्प' पृ० ६८।

नागग्रह-नागह्रदेश्वर

विविधतीर्थकल्पमें चौरासी तीर्थोंके नामोंको गिनाते हुए उसके कर्ता जिनप्रभसूरिने नागद्रह अथवा नागह्रदमें श्रीनागह्रदेश्वर (पार्श्वनाथ) तीर्थका निर्देश किया है[1]। प्राकृतनिर्वाणकाण्डकार[2] तथा उदयकीर्तिने भी नागद्रहमें श्रीपार्श्वस्वयम्भुदेवकी वन्दना की है[3]। इस तीर्थके उपलब्ध उल्लेखोंमें मदनकीर्तिका पद्य १३ गत उल्लेख प्राचीन है और कुछ सामान्य परिचयको भी लिये हुए है। इस परिचयमें उन्होंने लिखा है कि श्रीनागह्रदेश्वर जिन कोढ़ आदि अनेक प्रकारके रोगों तथा अनिष्टोंको दूर करनेसे लोगोंके विशेष उपास्य थे और उनका यह अतिशय लोकमें प्रसिद्धिको प्राप्त था। इससे प्रकट है कि यह तीर्थ आजसे आठसौ वर्ष पहलेका है। 'नागद्रह' नागदाका प्राचीन नाम मालूम होता है। जो हो।

पश्चिमसमुद्रतटस्थ चन्द्रप्रभ

मदनकीर्तिने पद्य १६ मे पश्चिम समुद्रतटके जिन चन्द्रप्रभ प्रभुका अतिशय एवं प्रभाव वर्णित किया है उनका स्थान कहाँ है? उदयकीर्तिने उन्हे पश्चिम समुद्रपर स्थित तिलकापुरीमें बतलाया है[4]। यह तिलकापुरी सम्भवत. सिन्ध और कच्छके आस-पास कही रही होगी। अपने समयमें यह तीर्थ काफी प्रसिद्ध रहा प्रतीत होता है।

छाया-पार्श्वप्रभु

इस तीर्थका मुनि मदनकीर्ति, जिनप्रभसूरि और मानवसंहिताकार शान्तिविजय इन तीन विद्वानोंने उल्लेख किया है। मदनकीर्तिने पद्य १७ के द्वारा उसे सिद्धशिलापर और जिनप्रभसूरि[5] तथा शान्तिविजयने[6] माहेन्द्र पर्वत और हिमालय पर्वतपर बतलाया है। आश्चर्य नही मदनकीर्तिको सिद्धशिलासे माहेन्द्रपर्वत अथवा हिमालय ही विवक्षित हो। यदि ऐसा हो तो कहना होगा कि माहेन्द्रपर्वत अथवा हिमालयपर कही यह तीर्थ रहा है और वह छायापार्श्वनाथतीर्थके नामसे प्रसिद्ध था। मालूम नहीं, अब उसका कोई अस्तित्व है अथवा नही?

आश्रम-नगर-मुनिसुव्रतजिन

मुनि मदनकीर्तिके पद्य २८ गत उल्लेखानुसार आश्रममे, प्राकृतनिर्वाणकाण्डकारके[7] कथनानुसार आशारम्यनगरमें, मुनि उदयकीर्तिके[8] उल्लेखानुसार आश्रममे और जिनप्रभसूरि[9], मुनि शीलविजय[10] तथा शान्तिविजयके[11] वर्णनानुसार प्रतिष्ठानपुर[12]मे गोदावरी (बाणगङ्गा) के किनारे एक शिलापर प्राचीन समयमे

---

१. 'कलिकुण्डे नागह्रदे च श्रीपार्श्वनाथः।'—विविधतीर्थकल्प पृ० ८६।

२. प्रा० नि० का० गाथा २०।

३. 'नायद्दह पासु सयंभुदेउ, हउं वंदउं जसु गुण णत्थि छेव।'

४. 'पच्छिमसमुद्दससि-संख-वण्णु, तिलयापुरि चंदप्पहवण्णु।'

५. 'माहेन्द्रपर्वते छायापार्श्वनाथः। ...हिमाचले छायापार्श्वो मन्त्राधिराजः श्रीस्फुलिंगः।'—विविधतीर्थकल्प पृ० ८६।

६. 'माहेन्द्रपर्वतमें छायापार्श्वनाथका तीर्थ है। हिमालय पर्वतमें छाया पार्श्वनाथ मन्त्राधिराज और स्फुलिंग पार्श्वनाथका तीर्थ है।'—मानवधर्मसंहिता पृ० ५९९-६०० (वि० सं० १९५५ में प्रकाशित संस्करण)।

७. प्रा० नि० का० गाथा २०। ८ अपभ्रंशनिर्वाणभक्ति गा० ६। ९ विविधतीर्थकल्प पृ० ५९। १० तीर्थमाला। ११ मानवधर्मसंहिता, पृ० ५९९। १२ प्रेमीजीने लिखा है कि इसका वर्तमान नाम पैठण है, जो हैदराबादके औरंगाबाद जिलेकी एक तहसील है—(जैन सा० और इति० पृ० २३८ का फुटनोट)।

श्रीमुनिसुव्रतस्वामीकी प्रतिमा प्रकट हुई, जिसका अतिशय लोकमें खूब फैला और तबसे यह तीर्थ प्रसिद्धिमें आया। उक्त विद्वानोंके लेखों और वर्णनोंसे स्पष्ट है कि विक्रमकी १३वीं, १४वीं शताब्दीमें यह एक बड़ा तीर्थ माना जाता था। और वि० की १८वीं शताब्दी तक प्रसिद्ध रहा तथा यात्री उसकी वन्दनाके लिये जाते रहे हैं। विशेषके लिए इसी ग्रन्थमें प्रकाशित द्रव्यसंग्रहकी प्रस्तावना दृष्टव्य है।

मेवाड़देशस्थ नागफणी-मल्लिजिनेश्वर

मदनकीर्तिके पद्य ३३ के उल्लेखसे मालूम होता है कि मेवाड़के नागफणी गाँवमे खेतको जोतते हुए एक आदमीको शिला मिली। उस शिलापर श्रीमल्लिजिनेश्वरकी प्रतिमा प्रकट हुई और वहाँ जिनमन्दिर बनवाया गया। जान पड़ता है कि उसी समयसे यह स्थान एक पवित्र क्षेत्रके रूपमें प्रसिद्धिमे आया और तीर्थ माना जाने लगा। यद्यपि यह तीर्थ कबसे प्रारम्भ हुआ, यह बतलाना कठिन है फिर भी यह कहा जा सकता है कि वह सातसौ-साढ़े सातसौ वर्ष प्राचीन तो अवश्य है।

मालवदेशस्थ मङ्गलपुर-अभिनन्दनजिन

मालवाके मङ्गलपुरके श्रीअभिनन्दनजिनके जिस अतिशय और प्रभावका उल्लेख मदनकीर्तिने पद्य ३४ मे किया है उसका जिनप्रभसूरिने भी अपने 'विविधतीर्थकल्प' गत 'अवन्तिदेशस्थ-अभिनन्दनदेवकल्प' नामके कल्प (पृ० ५७) मे निर्देश किया है और साथमें एक कथा भी दी है। उस कथाका सार यह है कि म्लेच्छोंने अभिनन्दनदेवकी मूर्तिको तोड दिया लेकिन वह जुड़ गई और एक बड़ा अतिशय प्रगट हुआ। सम्भवत: इसी अतिशयके कारण प्राकृतनिर्वाणकाण्ड[1] और अपभ्रंश निर्वाणभक्ति[2]मे उसकी वन्दना की गई है। अतएव इन सब उल्लेखादिकोसे ज्ञात होता है कि मालवाके मङ्गलपुरके अभिनन्दनदेवकी महिमा लोक-विश्रुत रही है और वह एक पवित्र अतिशयतीर्थ रहा है। यह तीर्थ भी आठ-सौ वर्षसे कम प्राचीन नही है।

इस तरह इस संक्षिप्त स्थानपर हमने कुछ ज्ञात अतिशय तीर्थों और सातिशय जिनबिम्बोंका कुछ परिचय देनेका प्रयत्न किया है। जिन अतिशय तीर्थों अथवा सातिशय जिनबिम्बोंका हमे परिचय मालूम नहीं हो सका उन्हे यहाँ छोड़ दिया गया है। आशा है पुरातत्त्वप्रेमी उन्हे खोजकर उनके स्थानादिका परिचय देगें।

१. 'पासं तह अहिणंदण णायद्दहि मंगलाउरे वंदे।'—गाथा २०।

२. 'मंगलवुरि वंदउं जगपयासु, अहिणंदणु जिणु गुणगणणिवासु।'

'संजद' पदके सम्बन्धमें अकलङ्कदेवका महत्त्वपूर्ण अभिमत

'संजद' पदका विवाद

षट्खण्डागमके ९३वे सूत्रमें 'सजद' पद होना चाहिये या नहीं, इस विषयमे काफी समयसे चर्चा चल रही है। कुछ विद्वानोका मत है कि 'यहाँ द्रव्यस्त्रीका प्रकरण है और ग्रन्थके पूर्वापर सम्बन्धको लेकर बराबर विचार किया जाता है तो उसकी ('संजद' पदकी) यहाँ स्थिति नही ठहरती।' अतः षट्खण्डागमके ९३वें सूत्रमे 'संजद' पद नही होना चाहिये। इसके विपरीत दूसरे कुछ विद्वानोंका कहना है कि यहां (सूत्रमें) सामान्यस्त्रीका ग्रहण है और ग्रन्थके पूर्वापर सन्दर्भ तथा वीरसेनस्वामीकी टीकाका सूक्ष्म समीक्षण किया जाता है तो उक्त सूत्रमे 'सजद' पदकी स्थिति आवश्यक प्रतीत होती है। अतः यहां भाववेदकी अपेक्षासे 'संजद' पदका ग्रहण समझना चाहिये। प्रथम पक्षके समर्थक पं० मक्खनलालजी मोरेना, पं० रामप्रसादजी शास्त्री बम्बई, श्री १०५ क्षुल्लक सूरिसिंहजी और पं० तनसुखलालजी काला आदि विद्वान् है। दूसरे पक्षके समर्थक पं० बंशीधरजी इन्दौर, प० खूबचन्दजी शास्त्री बम्बई, पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री बनारस, प० फूलचन्द्रजी शास्त्री बनारस और पं० पन्नालालजी सोनी व्यावर आदि विद्वान् हैं। ये सभी विद्वान् जैन-समाजके प्रतिनिधि विद्वान् है। अतएव उक्त पदके निर्णयार्थ अभी हालमें बम्बई पंचायतकी ओरसे इन विद्वानोको निमंत्रित किया गया था। परन्तु अभी तक कोई एक निर्णयात्मक नतीजा सामने नही आया। दोनों ही पक्षके विद्वान् युक्तिबल, ग्रन्थसन्दर्भ और वीरसेनस्वामीकी टीकाको ही अपने अपने पक्षके समर्थ-नार्थ प्रस्तुत करते हैं।

पर जहाँ तक मुझे मालूम है षट्खण्डागमके इस प्रकरण-सम्बन्धी सूत्रोंके भावको बतलाने वाला वीरसेनस्वामीसे पूर्ववर्ती कोई शास्त्रीय प्रमाणोल्लेख किसीकी ओरसे प्रस्तुत नहीं किया गया है। यदि वीरसेनस्वामीसे पहले षट्खण्डागमके इस प्रकरण-सम्बन्धी सूत्रोंका स्पष्ट अर्थ बतलानेवाला कोई शास्त्रीय प्रमाणोल्लेख मिल जाता है तो उक्त सूत्रमे 'संजद' पदकी स्थिति या अस्थितिका पता चल जावेगा और फिर विद्वानोंके सामने एक निर्णय आ जाएगा।

अकलंकदेवका अभिमत

अकलङ्कदेवका तत्त्वार्थवार्तिक वस्तुतः एक महान् सद्रत्नाकर है। जैनदर्शन और जैनागम विषयका बहुविध और प्रामाणिक अभ्यास करनेके लिये केवल उसीका अध्ययन पर्याप्त है। अभी मैं एक विशेष प्रश्न-का उत्तर ढूंढनेके लिए उसे देख रहा था। देखते हुए मुझे वहाँ 'संजद' पदके सम्बन्धमें बहुत ही स्पष्ट और महत्त्वपूर्ण खुलासा मिला है। अकलङ्कदेवने षट्खण्डागमके इस प्रकरण-सम्बन्धी समग्र सूत्रोंका वहाँ प्रायः अविकल अनुवाद दिया है। इसे देख लेनेपर किसी भी पाठकको षट्खण्डागमके इस प्रकरणके सूत्रोंके अर्थमें जरा भी सन्देह नही रह सकता। यह सर्वविदित है कि अकलङ्कदेव वीरसेन स्वामीसे पूर्ववर्ती हैं और उन्होंने अपनी धवला तथा जयधवला दोनों टीकाओंमे अकलङ्कदेवके तत्त्वार्थवार्त्तिकके प्रमाणोल्लेखोंसे अपने

वर्णित विषयोंको कई जगह प्रमाणित किया है। अतः तत्त्वार्थवार्त्तिकमें षट्खण्डागमके इस प्रकरण-संबन्धी सूत्रोंका जो खुलासा किया गया है वह सबके द्वारा मान्य होगा ही।

तत्त्वार्थवार्तिकके उद्धरण

मनुष्यगतौ मनुष्येषु पर्याप्तकेषु चतुर्दशापि गुणस्थानानि भवन्ति, अपर्याप्तकेषु त्रीणि मिथ्यादृष्टि-सासादनसम्यग्दृष्टयसंयतसम्यग्दृष्टयाख्यानि। मानुषीपर्याप्तिकासु चतुर्दशापि गुणस्थानानि सन्ति भावलिङ्गापेक्षया, द्रव्यलिङ्गापेक्षेण तु पंचाद्यानि। अपर्याप्तिकासु द्वे आद्ये, सम्यक्त्वेन सह स्त्रीजननाभावात्।'—तत्त्वार्थवार्तिक, पृ० ३३१, अ० ९, सू० ७।

इसे षट्खण्डागमके निम्न सूत्रोंके साथ पढ़ें—

षट्खण्डागमके सूत्र

मणुस्सा मिच्छाइट्ठि–सासणसम्माइट्ठि असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥ ८९ ॥

सम्मामिच्छाइट्ठि-संजदासजद–संजद–ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ॥९०॥

एवं मणूस्स-पज्जत्ता ॥९१॥

मणुसिणीसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि–ट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥९२॥

सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-संजदट्ठाणे णियमा पज्जतियाओ ॥९३॥

षट्खण्डागम और तत्त्वार्थवार्त्तिकके इन दोनों उद्धरणोंपरसे पाठक यह सहजमे समझ जावेंगे कि तत्त्वार्थवार्त्तिकमे षट्खण्डागमका ही भावानुवाद दिया हुआ है और सूत्रोमें जहाँ कुछ भ्रान्ति हो सकती थी उसे दूर करते हुए सूत्रोंके हार्दका सुस्पष्ट शब्दो द्वारा खुलासा कर दिया गया है। राजवार्तिकके उपर्युक्त उल्लेखमे यह स्पष्टतया बतला दिया गया है कि **पर्याप्त मनुष्यणियोंके १४ गुणस्थान होते हैं किन्तु वे भावलिंगकी अपेक्षासे हैं, द्रव्यलिङ्गकी अपेक्षासे तो उनके आदिके पाँच ही गुणस्थान होते हैं।** इससे प्रकट है कि वीरसेनस्वामीने जो भावस्त्रीकी अपेक्षा १४ गुणस्थान और द्रव्यस्त्रीकी अपेक्षा ५ गुणस्थान षट्खण्डागमके ९३ वे सूत्रकी टीकामें व्याख्यात किये है और जिन्हे ऊपर अकलंकदेवने भी बतलाये हैं वह बहुत प्राचीन मान्यता है और वह सूत्रकारके लिये भी इष्ट है। अतएव सूत्र ९२ वें मे उन्होंने अपर्याप्त स्त्रियोंमें सिर्फ दो ही गुणस्थानोंका प्रतिपादन किया है और जिसका उपपादन '**अपर्याप्तिकासु द्वे आद्ये, सम्यक्त्वेन सह स्त्रीजननाभावात्**' कहकर अकलङ्कदेवने किया है। अकलङ्कदेवके इस स्फुट प्रकाशमे सूत्र ८९ और ९२ से महत्त्वपूर्ण तीन निष्कर्ष और निकलते हुए हम देखते है। एक तो यह कि **सम्यग्दृष्टि स्त्रियोंमें पैदा नहीं होता।** अतएव अपर्याप्त अवस्था मे स्त्रियोंके प्रथमके दो ही गुणस्थान कहे गये हैं जब कि पुरुषोंमे इन दो गुणस्थानोंके अलावा चौथा असंयत-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान भी बतलाया गया है और इस तरह उनके पहला, दूसरा और चौथा ये तीन गुणस्थान कहे गये है। इसी प्राचीन मान्यताका अनुसरण और समर्थन स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लोक ३५) मे किया है। इससे प्रकट है कि यह मान्यता कुन्दकुन्द या स्वामी समन्तभद्र आदि द्वारा पीछेसे नही गढ़ी गई है। अपितु उक्त सूत्रकालके पूर्वसे ही चली आ रही है।

दूसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि अपर्याप्त अवस्थामें स्त्रियोंके आदिके दो गुणस्थान और पुरुषोंके पहला, दूसरा और चौथा ये तीन गुणस्थान ही संभव होते हैं और इसलिये इन गुणस्थानोंको छोड़कर अपर्याप्त

अवस्थामें भाववेद या भावलिङ्ग नहीं होता, जिससे पर्याप्त मनुष्यनियोंकी तरह अपर्याप्त मनुष्यनियोंके १४ गुणस्थान भी कहे जाते और इस लिये वहां भाववेद या भावलिङ्गकी विवक्षा-अविवक्षाका प्रश्न नहीं उठता। हां, पर्याप्त अवस्थामें सभी गुणस्थानोंमें भाववेद होता है, इसलिये उनकी विवक्षा-अविवक्षाका प्रश्न जरूर उठता है। अत: वहां भावलिंगकी विवक्षासे १४ और द्रव्यलिंगकी अपेक्षासे प्रथमके पांच ही गुणस्थान बतलाये गये हैं। इन दो निष्कर्षोंपरसे स्त्रीमुक्ति-निषेधकी मान्यतापर भी महत्त्वपूर्ण प्रकाश पडता है और यह मालूम हो जाता है कि स्त्रीमुक्ति-निषेधकी मान्यता कुन्दकुन्दकी अपनी चीज नही है किन्तु वह भ० महावीरकी ही परम्पराकी चीज है और जो उन्हें उक्त सूत्रों—भूतबलि और पुष्पदन्तके प्रवचनोके पूर्वसे चली आती हुई प्राप्त हुई है।

तीसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि **यहाँ सामान्य मनुष्यणीका ग्रहण है—द्रव्यमनुष्यणी या द्रव्यस्त्री-का नहीं**, क्योंकि अकलङ्कदेव भी पर्याप्त मनुष्यनियोंके १४ गुणस्थानोका उपपादन भावलिंगकी अपेक्षासे करते हैं और द्रव्यलिंगकी अपेक्षासे पांच ही गुणस्थान बतलाते है। यदि सूत्रमें द्रव्यमनुष्यनी या द्रव्यस्त्री-मात्रका ग्रहण होता तो वे सिर्फ पांच ही गुणस्थानोंका उपपादन करते, भावलिंगकी अपेक्षासे १४ का नही। इसलिये जिन विद्वानोंका यह कहना है कि 'सूत्र' मे पर्याप्त शब्द पड़ा है वह अच्छी तरह सिद्ध करता है कि द्रव्यस्त्रीका यहाँ ग्रहण है क्यों कि पर्याप्तियां सब पुद्गल द्रव्य ही हैं ''.....'पर्याप्तस्त्रीका ही द्रव्यस्त्री अर्थ है'[1]" वह संगत प्रतीत नही होता, क्योकि अकलंकदेवके विवेचनसे प्रकट है कि यहां 'पर्याप्तस्त्री' का अर्थ द्रव्य-स्त्री नही है और न द्रव्यस्त्रीका प्रकरण है किन्तु सामान्यस्त्री उसका अर्थ है और उसीका प्रकरण है और भावलिंगकी अपेक्षा उनके १४ गुणस्थान है। दूसरे, यद्यपि पर्याप्तियां पुद्गल है लेकिन पर्याप्तकर्म तो जीव-विपाकी है, जिसके उदय होनेपर ही 'पर्याप्तक' कहा जाता है। अत: 'पर्याप्त' शब्दका अर्थ केवल द्रव्य नही है—भाव भी है।

निष्कर्ष :

अत: तत्त्वार्थवार्त्तिकके इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि षट्खंडागमके ९३ सूत्रमें 'संजद' पद आवश्यक एवं अनिवार्य है। यदि 'संजद' पद सूत्रमें न हो तो पर्याप्त मनुष्यनियोंमें १४ गुणस्थानोंका अकलंकदेव-का उक्त प्रतिपादन सर्वथा असंगत ठहरता है और जो उन्होंने भावलिंगकी अपेक्षा उसकी उपपत्ति बैठाई है तथा द्रव्यलिंगकी अपेक्षा ५ गुणस्थान ही वर्णित किये हैं वह सब अनावश्यक और अयुक्त ठहरता। अतएव अकलङ्कदेव उक्त सूत्रमें 'संजद' पदका होना मानते है और उसका सयुक्तिक समर्थन करते हैं। वीरसेनस्वामी भी अकलंकदेवके द्वारा प्रदर्शित इसी मार्ग पर चले है। अत. यह निर्विवाद है कि उक्त सूत्रमें 'संजद' पद है। और इसलिये ताम्रपत्रोंपर उत्कीर्ण सूत्रोंमें भी इस पदको रखना चाहिये तथा भ्रान्तिनिवारण एवं स्पष्टीकरणके लिये उक्त सूत्र ९३ के फुटनोटमें तत्त्वार्थराजवार्त्तिकका उपर्युक्त उद्धरण दे देना चाहिये।

हमारा उन विद्वानोंसे, जो उक्त सूत्रमें 'संजद' पदकी अस्थिति बतलाते हैं, नम्र अनुरोध है कि **वे तत्त्वार्थवार्त्तिकके इस दिनकर-प्रकाशकी तरह स्फुट प्रमाणोल्लेखके प्रकाशमें उस पदको देखें**। यदि उन्होंने ऐसा किया तो मुझे आशा है कि वे भी भावलिंगकी अपेक्षा उक्त सूत्रमें 'संजद' पदका होना मान लेंगे। श्री १०८ आचार्य शान्तिसागरजी महाराजसे भी प्रार्थना है कि वे ताम्रपत्रमें उक्त सूत्रमें 'संजद' पद अवश्य रखें—उसे हटायें नहीं। ●

१. पं० रामप्रसादजी शास्त्रीके विभिन्न लेख और 'दि० जैनसिद्धान्तदर्पण' द्वितीयभाग, पृ० ८ और पृ० ४५।

९३वें सूत्रमें 'संजद' पदका सद्भाव

सूत्रमें 'संजद' पद नहीं है : पूर्व पक्षकी युक्तियाँ

'षट्खण्डागम' के उल्लिखित ९३वें सूत्रमें 'संसद' पद है या नहीं ? इस विषयको लेकर काफी अरसे से चर्चा चल रही है। कुछ विद्वान् उक्त सूत्रमें 'संजद' पदकी अस्थिति बतलाते हैं और उसके समर्थनमें कहते हैं कि प्रथम तो यहाँ द्रव्यका प्रकरण है, अतएव वहाँ द्रव्यस्त्रियोंके पाँच गुणस्थानोंका ही निरूपण है। दूसरे, षट्खण्डागममे और कही आगे-पीछे द्रव्यस्त्रियोंके पाँच गुणस्थानोंका कथन उपलब्ध नहीं होता। तीसरे, वहाँ सूत्रमे 'पर्याप्त' शब्दका प्रयोग है जो द्रव्यस्त्रीका ही बोधक है। चौथे वीरसेन स्वामीकी टीका उक्तसूत्रमे 'संजद' पदका समर्थन नहीं करती, अन्यथा टीकामें उक्त पदका उल्लेख अवश्य होता। पाँचवें, यदि प्रस्तुत सूत्रको द्रव्यस्त्रीके गुणस्थानोंका प्ररूपक—विधायक न माना जाय और चूंकि षट्खण्डागममें ऐसा और कोई स्वतन्त्र सूत्र है नहीं, जो द्रव्यस्त्रियोंके पाँच गुणस्थानोंका विधान करता हो, तो दिगम्बर परम्पराके इस प्राचीनतम सिद्धान्तग्रन्थ षट्खण्डागमसे द्रव्यस्त्रियोके पाँच गुणस्थान सिद्ध नही हो सकेंगे और जो प्रो० हीरालालजी कह रहे हैं उसका तथा श्वेताम्बर मान्यताका अनुषंग आवेगा। अत प्रस्तुत ९३वें सूत्रको 'सजद' पदसे रहित मानना चाहिये और उसे द्रव्यस्त्रियोके पाँच गुणस्थानोंका विधायक समझना चाहिये।

उक्त युक्तियोंपर विचार

१. षट्खण्डागमके इस प्रकरणको जब हम गौरमे देखते है तो वह द्रव्यका प्रकरण प्रतीत नहीं होता मूलग्रन्थ और उसकी टीकामे ऐसा कोई उल्लेख अथवा संकेत उपलब्ध नहीं है जो वहाँ द्रव्यका प्रकरण सूचित करता हो। विद्वद्वर्य पं० मक्खनलालजी शास्त्रीने हालमें 'जैन बोधक' वर्ष ६२, अंक १७ और १९में अपने दो लेखों द्वारा द्रव्यका प्रकरण सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। उन्होंने मनुष्यगति सम्बन्धी उन पाँचों ही ८९, ९०, ९१, ९२, ९३—सूत्रोंको द्रव्य प्ररूपक बतलाया है। परन्तु हमें ऐसा जरा भी कोई स्रोत नहीं मिलता, जिससे उसे 'द्रव्यका ही प्रकरण' समझा जा सके। हम उन पाँचों सूत्रोंको उत्थानिका वाक्य सहित नीचे देते है :—

"मनुष्यगतिप्रतिपादनार्थमाह—

मणुस्सा मिच्छाइट्ठि–सासणसम्माइट्ठि–असंजद–सम्माइट्ठि–ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥८९॥

तत्र शेषगुणस्थानसत्वावस्थाप्रतिपादनार्थमाह—

सम्मामिच्छाइट्ठि–संजदासंजद–संजद–ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ॥९०॥

मनुष्यविशेषस्य निरूपणार्थमाह—

एवं मणुस्सपज्जत्ता ॥९१॥

मानुषीषु निरूपणार्थमाह—

मणुसिणीसु मिच्छाइट्ठि–सासणसम्माइट्ठि–ट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥९२॥

तत्रैव शेषगुणविषयाऽऽरेकापोहनार्थमाह—

सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-संजद-ट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥९३॥

—धवला १, १, ८९-९३ पृ० ३२९-३३२

ऊपर उद्धृत हुए मूलसूत्रों और उनके उत्थानिकावाक्योंसे यह जाना जाता है कि पहला (८९) और दूसरा (९०) ये दो सूत्र तो सामान्यतः मनुष्यगति-पर्याप्तकादिक भेदसे रहित (अविशेषरूपसे) सामान्य मनुष्यके प्रतिपादक हैं और प्रधानताको लिए हुए वर्णन करते हैं। आचार्य वीरसेन स्वामी भी यही स्वीकार करते हैं और इसलिये वे 'मनुष्यगति प्रतिपादनार्थमाह' (८९) तथा 'तत्र (मनुष्यगतौ) शेषगुणस्थान-सत्त्वावस्थाप्रतिपादनार्थमाह' (९०)। इस प्रकार सामान्यतया ही इन सूत्रोंके मनुष्यगति सम्बन्धी उत्थानिका वाक्य रचते हैं। इसके अतिरिक्त अगले सूत्रोंके उत्थानिकावाक्योंमें वे 'मनुष्यविशेष' पदका प्रयोग करते हैं, जो खास तौरसे ध्यान देने योग्य है और जिससे विदित हो जाता है कि पहले दो सूत्र तो सामान्य-मनुष्यके प्ररूपक हैं और उनसे अगले तीनों सूत्र मनुष्यविशेषके प्ररूपक हैं। अतएव ये दो (८९, ९०) सूत्र सामान्यतया मनुष्य गतिके ही प्रतिपादक है, यह निर्विवाद है और यह कहनेकी जरूरत नहीं कि सामान्य कथन भी इष्टविशेषमें निहित होता है—सामान्यके सभी विशेषोंमें या जिस किसी विशेषमें नहीं। तात्पर्य यह कि उक्त सूत्रोंका निरूपण सम्भवताकी प्रधानताको लेकर है।

तीसरा (९१), चौथा (९२) और पांचवां (९३) ये तीन सूत्र अवश्य मनुष्यविशेषके निरूपक हैं—मनुष्योंके चार भेदों (सामान्यमनुष्य, मनुष्यपर्याप्त, मनुष्यनी और अपर्याप्त मनुष्य) मेंसे दो भेदों—मनुष्य पर्याप्त और मनुष्यनी—के निरूपक है। और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि वीरसेन स्वामीके 'मनुष्य विशेषस्य निरूपणार्थमाह', 'मानुषीषु निरूपणार्थमाह' और 'तत्रैव (मानुषीष्वेव) शेषगुणविषयाऽऽरेकापोहनार्थमाह' इन उत्थानिकावाक्योंसे भी प्रकट है। पर द्रव्य और भावका भेद यहाँ भी नहीं है—द्रव्य और भावका भेद किये बिना ही मनुष्यपर्याप्त और मनुष्यणीका निरूपण है। यदि उक्त सूत्रों या उत्थानिकावाक्योंमें 'द्रव्यपर्याप्तिमनुष्य' और 'द्रव्यमनुष्यणी' जैसा पद प्रयोग होता अथवा टीकामें ही वैसा कुछ कथन होता, तो निश्चय ही 'द्रव्यप्रकरण' स्वीकार कर लिया जाता। परन्तु हम देखते है कि वहाँ वैसा कुछ नहीं है। अतः यह मानना होगा कि उक्त सूत्रोंमें द्रव्यप्रकरण इष्ट नहीं है और इसलिए ९३वें सूत्रमें द्रव्यस्त्रियोंके ५ गुणस्थानोंका वहाँ विधान नहीं है, बल्कि सामान्यतः निरूपण है और पारिशेष्यन्यायसे भावापेक्षया निरूपण वहाँ सूत्रकार और टीकाकार दोनोंको इष्ट है और इसलिए भावलिङ्गको लेकर मनुष्यनियोंमें १४ गुणस्थानोंका विवेचन समझना चाहिये। अतएव ९३वें सूत्रमें 'संजद' पदका प्रयोग न तो विरुद्ध है और न अनुचित है। सूत्रकार और टीकाकारकी प्ररूपणशैली उसके अस्तित्वको स्वीकार करती है।

यहां हम यह आवश्यक समझते है कि पं० मक्खनलाल जी शास्त्रीने जो यहाँ द्रव्यप्रकरण होनेपर जोर दिया है और उसके न माननेमें जो कुछ आक्षेप एवं आपत्तियाँ प्रस्तुत की है उनपर भी विचार कर लिया जाय। अतः नीचे 'आक्षेप-परिहार' उपशीर्षकके साथ विचार किया जाता है।

आक्षेप-परिहार

(१) आक्षेप—यदि ९२वाँ सूत्र भावस्त्रीका विधायक माना जाय—द्रव्यस्त्रीका नहीं, तो पहला, दूसरा और चौथा ये तीन गुणस्थान होना आवश्यक है क्योंकि भावस्त्री माननेपर द्रव्यमनुष्य मानना होगा। और

द्रव्यमनुष्यके चौथा गुणस्थान भी अपर्याप्त अवस्थामें हो सकता है। परन्तु इस सूत्रमें चौथा गुणस्थान नहीं बताया है, केवल दो ही (पहला और दूसरा) गुणस्थान बताये गये हैं। इससे बहुत स्पष्ट हो जाता है कि यह ९२वाँ सूत्र द्रव्यस्त्रीका ही निरूपक है ?

(१) परिहार—पं० जीकी मान्यता ऐसी प्रतीत होती है कि भावस्त्रीविशिष्ट द्रव्यमनुष्यके अपर्याप्त अवस्थामें चौथा गुणस्थान होता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव मरकर भावस्त्रीविशिष्ट द्रव्यमनुष्य हो सकता है और इसलिए ९३वें सूत्रकी तरह ९२वें सूत्रको भावस्त्रीका निरूपण करनेवाला माननेपर सूत्रमें पहला, दूसरा और चौथा इन तीन गुणस्थानोंको बताना चाहिये था। केवल पहले व दूसरे इन दो ही गुणस्थानोंको नही ? इसका उत्तर यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव, जो द्रव्य और भाव दोनोंसे मनुष्य होगा उसमें पैदा होता है—भावसे स्त्री और द्रव्यसे मनुष्यमें नही, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव समस्त प्रकारकी स्त्रियोंमें पैदा नही होता। जैसा पण्डितजीने समझा है, अधिकांश लोग भी यही समझते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव द्रव्यस्त्रियों—देव, तिर्यञ्च और मनुष्य द्रव्यस्त्रियोंमे ही पैदा नही होता, भावस्त्रियोंमे तो पैदा हो सकता है। लेकिन यह बात नही है, वह न द्रव्यस्त्रियोंमें पैदा होता है और न भावस्त्रियोमें। सम्यग्दृष्टिको समस्त प्रकारकी स्त्रियोंमें पैदा न होनेका ही प्रतिपादन शास्त्रोमे है। स्वामी समन्तभद्रने 'सम्यग्दर्शनशुद्धा नारक-नपुंसकस्त्रीत्वानि' रत्नकरण्डश्रावकाचारके इस श्लोकमे 'स्त्रीत्व' सामान्य (जाति) पदका प्रयोग किया है, जिसके द्वारा उन्होने यावत् स्त्रियों (स्त्रीत्वावच्छिन्न द्रव्य और भावस्त्रियों)में पैदा न होनेका स्पष्ट उल्लेख किया है। पण्डितवर दौलतरामजीने 'प्रथम नरक विन षट्भू ज्योतिष वान भवन सब नारी' इस पद्यमे 'सब' शब्द दिया है जो समस्त प्रकारकी स्त्रियोंका बोधक है। यह पद्य भी जिस पंचसंग्रहादिगत प्राचीन गाथाका भावानुवाद है उस गाथामे भी '**सव्व-इत्थीसु**' पाठ दिया हुआ है। इसके अलावा, स्वामी वीरसेनने षट्खण्डागमके सूत्र ८८की टीकामें सम्यग्दृष्टिकी उत्पत्तिको लेकर एक महत्त्वपूर्ण शका और समाधान प्रस्तुत किया है, जो खास ध्यान देने योग्य है और जो निम्नप्रकार है—

"बद्धायुष्कः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्नारकेषु नपुंसकवेद इवात्र स्त्रीवेदे किन्नोत्पद्यते इति चेत्, न, तत्र तस्यैवैकस्य सत्त्वात्। यत्र क्वचन समुत्पद्यमानः सम्यग्दृष्टिस्तत्र विशिष्टवेदादिषु समुत्पद्यते इति गृह्यताम्।"

शंका—आयुका जिसने बन्ध कर लिया है ऐसा क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव जिसप्रकार नारकियोमे नपुंसक वेदमे उत्पन्न होता है उसीप्रकार यहाँ तिर्यचोंमे स्त्रीवेदमे क्यों नही उत्पन्न होता ?

समाधान—नही, क्योंकि नारकियोंमे वही एक नपुंसकवेद होता है, अन्य नहीं, अतएव अगत्या उसीमे पैदा होना पड़ता है। यदि वहाँ नपुंसकवेदसे विशिष्ट—ऊँचा (बढ़कर) कोई दूसरा वेद होता तो उसीमे वह पैदा होता, लेकिन वहाँ नपुंसक वेदको छोड़कर अन्य कोई विशिष्ट वेद नही है। अतएव विवश उसीमे उत्पन्न होता है। परन्तु तिर्यञ्चोंमे तो स्त्रीवेदसे विशिष्ट—ऊँचा दूसरा वेद पुरुषवेद है, अतएव बद्धायुष्क क्षायिक सम्यग्दृष्टि पुरुषवेदी तिर्यञ्चोंमे ही उत्पन्न होता है। यह आम नियम है कि सम्यग्दृष्टि जहाँ कहीं (जिस किसी गतिमे) पैदा होता है वहाँ विशिष्ट (सर्वोच्च) वेदादिकोमे ही पैदा होता है—उससे जघन्यमें नही।

वीरसेन स्वामीके इस महत्वपूर्ण समाधानसे प्रकट है कि मनुष्यगतिमें उत्पन्न होनेवाला सम्यग्दृष्टि-जीव द्रव्य और भाव दोनोंसे विशिष्ट पुरुषवेदमे ही उत्पन्न होगा—भावसे स्त्रीवेद और द्रव्यसे पुरुषवेदमे नही, क्योंकि जो द्रव्य और भाव दोनोंसे पुरुषवेदी है उसकी अपेक्षा जो भावसे स्त्रीवेदी और द्रव्यसे पुरुषवेदी है वह हीन एवं जघन्य है—विशिष्ट (सर्वोच्च) वेदवाला नहीं है। द्रव्य और भाव दोनोसे जो पुरुषवेदी है

वही वहाँ विशिष्ट (सर्वोच्च) वेदवाला है। अतएव सम्यग्दृष्टि भावस्त्रीविशिष्ट द्रव्यमनुष्य नहीं हो सकता है और इसलिए उसके अपर्याप्त अवस्थामें चौथे गुणस्थानकी कदापि सम्भावना नहीं है। यही कारण है कि कर्मसिद्धान्तके प्रतिपादक ग्रन्थोमें अपर्याप्त अवस्थामें अर्थात् विग्रहगतिमें चातुर्थ गुणस्थानमें स्त्रीवेदका उदय नहीं बतलाया गया है। सासादन गुणस्थानमें ही उसकी व्युच्छित्ति बतला दी गई है, (कर्मकाण्ड गा० ३१२-३१३-३१९)। तात्पर्य यह कि अपर्याप्त अवस्थामे द्रव्यस्त्रीकी तरह भावस्त्रीके भी चौथा गुण-स्थान नहीं होता है। इसीसे सूत्रकारने द्रव्य और भाव दोनों तरहकी मनुष्यनियोंके अपर्याप्त अवस्थामें पहला, दूसरा ये दो ही गुणस्थान बतलाये हैं उनमे चौथा गुणस्थान बतलाना सिद्धान्तविरुद्ध होनेके कारण उन्हें इष्ट नहीं था। अतः ९२वें सूत्रकी वर्तमान स्थितिमें कोई भी आपत्ति नहीं है। पण्डितजीने अपनी उपर्युक्त मान्यताको जैनबोधकके ९१वें अंकमे भी दुहराते हुए लिखा है--"यदि यह ९२वाँ सूत्र भावस्त्रीका विधायक होता तो अपर्याप्त अवस्थामें भी तीन गुणस्थान होने चाहिये, क्योकि भावस्त्री (द्रव्यमनुष्य)के असंयत सम्यग्दृष्टि चौथा गुणस्थान भी होता है।" परन्तु उपरोक्त विवेचनसे प्रकट है कि पण्डितजीकी यह मान्यता आपत्ति एवं भ्रमपूर्ण है। द्रव्यस्त्रीकी तरह भावस्त्रीके भी अपर्याप्त अवस्थामें चौथा गुणस्थान नही होता, यह ऊपर बतला दिया गया है। और गोम्मटसार जीवकाण्डकी निम्न गाथासे भी स्पष्टतः प्रकट है--

हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइसि-वण-भवण-सव्वइत्थीणं।
पुण्णिदरे ण हि सम्मो ण सासणे णारयापुण्णे ॥--गा० १२७।

अर्थात् 'द्वितीयादिक छह नरक, ज्योतिषी, व्यन्तर, भवनवासी देव तथा सम्पूर्ण स्त्रियाँ इनकी अपर्याप्त अवस्थामें सम्यक्त्व नही होता। भावार्थ- सम्यक्त्व सहित जीव मरण करके द्वितीयादिक छह नरक, ज्योतिषी, व्यन्तर, भवनवासी देवों और समग्र स्त्रियोमे उत्पन्न नहीं होता।' आपने 'भावस्त्रीके असंयत सम्यग्दृष्टि चौथा गुणस्थान भी होता है और हो सकता है।' इस अनिश्चित बातको सिद्ध करनेके लिए कोई भी आगमप्रमाण प्रस्तुत नहीं किया। यदि हो, तो बतलाना चाहिये, परन्तु अपर्याप्त अवस्थामे भावस्त्रीके चौथा गुणस्थान बतलानेवाला कोई भी आगमप्रमाण उपलब्ध नही हो सकता, यह निश्चित है।

(२) आक्षेप--जब ९२वाँ सूत्र द्रव्यस्त्रीके गुणस्थानोंका निरूपक है तब उससे आगेका ९३वा सूत्र भी द्रव्यस्त्रीका निरूपक है। पहला ९२वा सूत्र उसकी अपर्याप्त अवस्थाका निरूपक है, दूसरा ९३वा पर्याप्त अवस्थाका निरूपक है, इतना ही भेद है। बाकी दोनों सूत्र द्रव्यस्त्रीके विधायक हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि अपर्याप्त अवस्थाका विधायक ९२वा सूत्र तो द्रव्यस्त्रीका विधायक हो और उससे लगा हुआ ९३वां सूत्र पर्याप्त अवस्थाका भावस्त्रीका मान लिया जाय?

(२) परिहार--ऊपर बतलाया जा चुका है कि ९२वा सूत्र 'पारिशेष्य' न्यायसे स्त्रीवेदा भावस्त्रीकी अपेक्षासे है और ९३वा सूत्र भावस्त्रीकी अपेक्षासे है ही। अतएव उक्त आक्षेप पैदा नही हो सकता है।

(३) आक्षेप--जैसे ९३वें सूत्रको भावस्त्रीका विधायक मानकर उसमे 'संजद' पद जोड़ते हो, उसी प्रकार ९२वे सूत्रमें भी भावस्त्रीका प्रकरण मानकर उसमे भी असंयत (असंजद-ट्ठाणे) यह पद जोड़ना पड़ेगा। बिना उसके जोड़े भावस्त्रीका प्रकरण सिद्ध नही हो सकता?

(३) परिहार--यह आक्षेप सर्वथा असगत है। हम ऊपर कह आये हैं कि सम्यग्दृष्टि भावस्त्रियोंमें भी पैदा नहीं होता, तब वहाँ सूत्रमे 'असंजद-ट्ठाणे' पदके जोडन व होनेका प्रश्न ही नहीं उठता। स्त्रीवेद-कर्मको लेकर वर्णन होनेसे भावस्त्रीका प्रकरण तो सुतरा सिद्ध हो जाता है।

(४) आक्षेप—यदि ८९, ९०, ९१ सूत्रोंको भाववेदी पुरुषके मानोगे तो वैसो अवस्थामें ८९ वें सूत्रमें 'असंजद-सम्माइट्ठि- ट्ठाणे' यह पद है उसे हटा देना होगा; क्योंकि भाववेदी मनुष्य द्रव्यस्त्री भी हो सकता है उसके अपर्याप्त अवस्थामे चौथा गुणस्थान नहीं बन सकता है। इसी प्रकार ९० वें सूत्रमें जो 'संजद-ट्ठाणे' पद है उसे भी हटा देना होगा। कारण, भाववेदी पुरुष और द्रव्यस्त्रीके संयत गुणस्थान नही हो सकता है। इसलिए यह मानना होगा कि उक्त तीनों सूत्र द्रव्यमनुष्यके ही विधायक हैं, भावमनुष्यके नही ?

(४) परिहार—पण्डितजीने इस आक्षेप द्वारा जो आपत्तियाँ बतलाई है वे यदि गम्भीर विचारके साथ प्रस्तुत की गई होती तो पण्डितजी उक्त परिणामपर न पहुँचते। मान लीजिये कि ८९वें सूत्रमें जो 'असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे' पद निहित है वह उसमें नही है तो जो भाव और द्रव्य दोनोंसे मनुष्य (पुरुष) है उसके अपर्याप्त अवस्थामे चौथा गुणस्थान कौनसे सूत्रसे प्रतिपादित होगा ? इसो प्रकार मान लीजिये कि ९० वें सूत्रमें जो 'संजद-ट्ठाणे' पद है वह उसमें नहीं है तो जो भाववेद और द्रव्यवेद दोनोंसे ही पुरुष है उसके पर्याप्त अवस्थामें १४ गुणस्थानोंका उपपादन कौनसे सूत्रसे करेंगे ? अतएव यह मानना होगा कि ८९वाँ सूत्र उत्कृष्टतासे जो भाव और द्रव्य दोनोंसे ही मनुष्य (पुरुष) है, उसके अपर्याप्त अवस्थामे चौथे गुणस्थान-का प्रतिपादक है और ९० वाँ सूत्र, जो भाववेद और द्रव्यवेद दोनोंसे पुरुष है अथवा केवल द्रव्यवेदसे पुरुष है उसके पर्याप्त अवस्थामे १४ गुणस्थानोंका प्रतिपादक है। ये दोनों सूत्र विषयकी उत्कृष्ट मर्यादा अथवा प्रधानताके प्रतिपादक हैं, यह नहीं भूलना चाहिये और इसलिए प्रस्तुत सूत्रोंको भावप्रकरणके माननेमें जो आपत्तियाँ प्रस्तुत की है ठीक नही है। सर्वत्र 'इष्ट-सम्प्रत्यय' न्यायसे विवेचन एवं प्रतिपादन किया जाता है। साथमें जो विषयकी प्रधानताको लेकर वर्णन हो उसे सब जगह सम्बन्धित नही करना चाहिए। तात्पर्य यह कि ८९ वाँ सूत्र भाववेदी मनुष्य द्रव्यस्त्रीकी अपेक्षासे नहीं है, किन्तु भाव और द्रव्य मनुष्यकी अपेक्षासे है। इसी प्रकार ९० वाँ सूत्र भाववेदी पुरुष और द्रव्यवेदी पुरुष तथा गौणरूपसे केवल द्रव्यवेदी पुरुषकी अपेक्षासे है और चूँकि यह सूत्र पर्याप्त अवस्थाका है इसलिए जिस प्रकार पर्याप्त अवस्थामें द्रव्य और भाव पुरुषो तथा स्त्रियोंके चौथा गुणस्थान संभव है उसी प्रकार पर्याप्त अवस्थामें द्रव्यवेदसे तथा भाववेदसे पुरुष और केवल द्रव्यवेदी पुरुषके १४ गुणस्थान इस सूत्रमें वर्णित किये गये है।

इस तरह पण्डितजीने द्रव्यप्रकरण सिद्ध करनेके लिए जो भावप्रकरण-मान्यतामें आपत्तियाँ उपस्थित की हैं उनका सयुक्तिक परिहार हो जाता है। अतः पहली युक्ति द्रव्य-प्रकरणको नही साधती। और इसलिए ९३वाँ सूत्र द्रव्यस्त्रियोंके पाँच गुणस्थानोंका विधायक न होकर भावस्त्रियोंके १४ गुणस्थानोंका विधायक है। अतएव ९३वे सूत्रमे 'संजद' पदका विरोध नही है।

ऊपर यह स्पष्ट हो चुका है कि षट्खण्डागमका प्रस्तुत प्रकरण द्रव्यप्रकरण नहीं है, भावप्रकरण है। अब दूसरी आदि शेष युक्तियोंपर विचार किया जाता है।

२. यद्यपि षट्खण्डागममें अन्यत्र कही द्रव्यस्त्रियोंके पाँच गुणस्थानोका कथन उपलब्ध नही होता, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि इस कारण प्रस्तुत ९३ वाँ सूत्र ही द्रव्यस्त्रियोंके गुणस्थानोंका विधायक एवं प्रतिपादक है : क्योंकि उसके लिए स्वतन्त्र हो हेतु और प्रमाणोंकी जरूरत है, जो अब तक प्राप्त नहीं हैं और जो प्राप्त हैं वे निराबाध और सोपपन्न नहीं हैं और विचार कोटिमें हैं—उन्हींपर यहाँ विचार चल रहा है। अतः प्रस्तुत दूसरी युक्ति ९३ वें सूत्रमें 'संजद' पदकी अस्थितिकी स्वतन्त्र साधक प्रमाण नहीं है।

हाँ, विद्वानोंके लिए यह विचारणीय अवश्य है कि षट्खण्डागममें द्रव्यस्त्रियोंके पाँच गुणस्थानोंका

प्रतिपादन क्यों उपलब्ध नही होता ? मेरे विचारसे इसके दो समाधान हो सकते हैं और जो बहुत कुछ संगत और ठीक प्रतीत होते हैं। वे निम्न प्रकार हैं :—

(क) जिस कालमे षट्खण्डागमकी रचना हुई है उस कालकी अर्थात्—करीब दो हजार वर्ष पूर्वकी अन्तः साम्प्रदायिक स्थितिको देखना चाहिए। जहाँ तक ऐतिहासिक पर्यवेक्षण किया जाता है उससे प्रतीत होता है कि उस समय अन्तः साम्प्रदायिक स्थितिका यद्यपि जन्म हो चुका था, परन्तु उसमें पक्ष और तीव्रता नहीं आई थी। कहा जाता है कि भगवान् महावीरके निर्वाणके कुछ ही काल बाद अनुयायी साधुओंमें थोड़ा-थोडा मतभेद आरम्भ हो गया था और संघभेद होना प्रारम्भ हो गया था, लेकिन वीर-निर्वाणकी सातवीं सदी तक अर्थात् ईसीकी पहली शताब्दीके प्रारम्भ तक मतभेद और संघभेदमें कट्टरता नहीं आयी थी। अतः कुछ विचार-भेदको छोडकर प्रायः जैन परम्पराकी एक ही धारा (अचेल) उस वक्त तक बहती चली आ रही थी और इसलिए उस समय षट्खण्डागमके रचयिताको षट्खण्डागममें यह निबद्ध करना या जुदे परके बतलाना आवश्यक न था कि द्रव्यस्त्रियोंके पाँच गुणस्थान होते है, उनके छठे आदि नहीं। क्योंकि प्रकट था कि मुक्ति अचेल अवस्थासे होती है और द्रव्यमनुष्यनियाँ अचेल नहीं होतीं—वे सचेल ही रहती हैं। अतएव सुतरा उनके सचेल रहनेके कारण पाँच ही गुणस्थान सुप्रसिद्ध है। यही कारण है कि टीकाकार वीरसेन स्वामीने भी यही नतीजा और हेतु-प्रतिपादन उक्त ९३ वें सूत्रकी टीकामे प्रस्तुत किये हैं तथा तत्त्वार्थवार्त्तिककार अकलङ्कदेव (वि० ८ वीं शती) ने भी बतलाये है।

ज्ञात होता है कि वीर-निर्वाणकी सातवीं शताब्दीके पश्चात् कुछ साधुओं द्वारा कालके दुष्प्रभाव आदिसे वस्त्रग्रहणपर जोर दिया जाने लगा था, लेकिन उन्हे इसका समर्थन आगम-वाक्योंसे करना आवश्यक था, क्योंकि उसके बिना बहुजन सम्मत प्रचार असम्भव था। इसके लिये उन्हें एक आगम-वाक्यका संकेत मिल गया वह था साधुओंकी २२ परिषहोंमें आया हुआ 'अचेल' शब्द। इस शब्दके आधारसे अनुदरा कन्या की तरह 'ईषद् चेल'—अचेल'' अल्पचेल अर्थ करके वस्त्रग्रहणका समर्थन किया और उसे आगमसे भी विहित बतलाया। इस समयसे ही वस्तुत स्पष्ट रूपमें भगवान् महावीरकी अचेल परम्पराकी सर्वथा चेल रहित—दिगम्बर और अल्पचेल—श्वेताम्बर ये दो धाराये बन गयी प्रतीत होती है। यह इस बातसे भी सिद्ध है कि इसी समयके लगभग हुए आचार्य उमास्वामीने भगवान् महावीरकी परम्पराको सर्वथा चेलरहित ही बतलानेके लिए यह जोरदार और स्पष्ट प्रयत्न किया कि 'अचेल' शब्दका अर्थ अल्पचेल नही किया जाना चाहिए—उसका तो नग्नता—सर्वथा चेल रहितता ही सीधा-सादा अर्थ करना चाहिए और यह ही भगवान् महावीरकी परम्परा है। इस बातका उन्होंने केवल मौखिक ही कथन नही किया, किन्तु अपनी महत्त्वपूर्ण उभय-परम्परा सम्मत सुप्रसिद्ध रचना 'तत्त्वार्थसूत्र' मे बाईस परिषहोके अतर्गत अचेलपरिषहको, जो अब तक दोनों परम्पराओके शास्त्रोंमे इसी नामसे ख्यात चली आयी, 'नाग्न्य-परीषह' के नामसे ही उल्लेखित करके लिखित भी कथन किया और अचेल शब्दको भ्रान्तिकारक जानकर छोड़ दिया, क्योंकि उस शब्दकी खींचतान दोनों तरफ होने लगी और उसपरसे अपना इष्ट अर्थ फलित किया जाने लगा। हमारा विचार है कि इस विवाद और भ्रान्तिको मिटानेके लिए ही उन्होने स्पष्टार्थक और अभ्रान्त अचेलस्थानीय 'नाग्न्य' शब्दका प्रयोग किया। अन्यथा, कोई कारण नही कि 'अचेल' शब्दके स्थानमे 'नाग्न्य' शब्दका परिवर्तन किया जाता, जो अब तक नही था। अतएव आ० उमास्वामीका यह विशुद्ध प्रयत्न ऐतिहासिकोंके लिए भी इतिहासकी दृष्टिसे बड़े महत्त्वका है। इससे प्रकट है कि आरम्भिक मूल परम्परा अचेल—दिगम्बर रही और स्त्रीके अचेल न होनके कारण उसके पांच ही गुणस्थान संभव हैं, इससे आगेके छठे आदि नही।

जान पड़ता है कि साधुओंमें जब वस्त्रग्रहण चल पड़ा तो स्त्रीमुक्तिका भी समर्थन किया जाने लगा, क्योंकि उनकी सचेलता उनकी मुक्तिमें बाधक थी। वस्त्रग्रहणके बाद पुरुष अथवा स्त्री किसीके लिए भी सचेलता बाधक नहीं रही। यही कारण है कि आद्य जैन साहित्यमें स्त्रीमुक्तिका समर्थन अथवा निषेध प्राप्त नहीं होता। अतः सिद्ध है कि सूत्रकारको द्रव्यस्त्रियोंके ५ गुणस्थानोंका बतलाना उस समय आवश्यक ही न था और इसलिए षट्खण्डागममे द्रव्यस्त्रियोंके ५ गुणस्थानोंका विधान अनुपलब्ध है।

(ख) यह पहले कहा जा चुका है कि षट्खण्डागमका समस्त वर्णन भावकी अपेक्षासे है। अतएव उसमे द्रव्यवेद विषयक वर्णन अनुपलब्ध है। अभी हालमे इस लेखको लिखते समय विद्वद्वर्य पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीका 'जैन बोधक' में प्रकाशित लेख पढ़नेको मिला। उसमें उन्होंने 'खुद्दाबंध' के उल्लेखके आधारपर यह बतलाया है कि 'षट्खण्डागम' भरमे समस्त कथन भाववेदकी प्रधानतासे किया गया है। अतएव वहाँ यह प्रश्न उठना ही नहीं चाहिए कि 'षट्खण्डागम' में द्रव्यस्त्रियाके लिए गुणस्थान-विधायक सूत्र क्यों नही आया ? उन्होंने बतलाया है कि "षट्खण्डागमकी रचनाके समय द्रव्यवेद और भाववेद ये वेदके दो भेद ही नही थे उस समय तो सिर्फ भाववेद वर्णनमें लिया जाता था। षट्खण्डागमको तो जाने दीजिये जीवकाण्डमें भी द्रव्यस्त्रियोंके ५ गुणस्थानोंका विधान उपलब्ध नहीं होता और इसलिये यह मानना चाहिये कि मूल ग्रंथोंमे भाववेदकी अपेक्षासे ही विवेचन किया जाता रहा, इसलिये मूलग्रंथों अथवा सूत्रग्रन्थोंमें द्रव्यवेदकी अपेक्षा विवेचन नही मिलता है। हाँ, चारित्रग्रंथोमे मिलता है सो वह ठीक ही है। जिन प्रश्नोंका सम्बन्ध मुख्यतया चरणानुयोगसे है उनका समाधान वही मिलेगा, करणानुयोगमें नही।" पंडितजोका यह सप्रमाण प्रतिपादन युक्तियुक्त है। दूसरी बात यह है कि केवल षट्खण्डागमपरसे ही स्त्रीमुक्ति-निषेधकी दिगम्बर मान्यताको कण्ठतः प्रतिपादित होना आवश्यक हो तो सर्वथा वस्त्रत्याग और कवलाहार-निषेधकी दिगम्बर मान्यताओंको भी उससे कण्ठतः प्रतिपादित होना चाहिए। इसके अलावा, सूत्रोंमें २२ परिषहोंका वर्णन भी दिखाना चाहिए। क्या कारण है कि तत्त्वार्थसूत्रकारकी तरह षट्खण्डागमसूत्रकारने भी उक्त परिषहोके प्रतिपादक सूत्र क्यों नहीं रचे ? इससे जान पड़ता है कि विषय-निरूपणका संकोच-विस्तार सूत्रकारकी दृष्टि या विवेचन शैलीपर निर्भर है। अतः षट्खण्डागममें भाववेद विवक्षित होनेसे द्रव्यस्त्रियोंके गुणस्थानोंका विधान उपलब्ध नही होता।

३ तीसरी युक्तिका उत्तर यह है कि 'पर्याप्त' शब्दके प्रयोगसे वहाँ उसका द्रव्य अर्थ बतलाना सर्वथा भूल है। पर्याप्तिकर्म जीवविपाकी प्रकृति है और उसके उदय होनेपर जीव पर्याप्तक कहा जाता है। अतः उसका भाव भी अर्थ है। दूसरे, वीरसेन स्वामीके विभिन्न विवेचनों और अकलंकदेवके तत्त्वार्थवार्तिकगत प्रतिपादनसे पर्याप्त मनुष्यनियोंके १४ गुणस्थानोंका निरूपण होनेसे वहाँ 'पर्याप्त' शब्दका अर्थ द्रव्य नही लिया जा सकता है और इसलिये 'पज्जतमणुस्सिणी' से द्रव्यस्त्रीका बोध करना महान् सैद्धान्तिक भूल है। मैं इस सम्बन्धमें अपने **"संजदपदके सम्बन्धमें अकलंकदेवका महत्त्वपूर्ण अभिमत"** शीर्षक लेखमें पर्याप्त प्रकाश डाल चुका हूँ।

४. हमें बड़ा आश्चर्य होता है कि 'संजद' पदके विरोधमे यह कैसे कहा जाता है कि "वीरसेनस्वामी की टीका उक्त सूत्रमें 'संजद' पदका समर्थन नही करती, अन्यथा टीकामे उक्त पदका उल्लेख अवश्य होता।" क्योंकि टीका दिनकर-प्रकाशकी तरह 'संजद' पदका समर्थन करती है। यदि सूत्रमें 'संजद' पद न हो तो टीकागत समस्त शंका-समाधान निराधार प्रतीत होगा। मैं टीकागत उन पद-वाक्यादिकोंको उपस्थित करता हूँ जिनसे 'संजद' पदका अभाव प्रतीत नहीं होता, बल्कि उसका समर्थन स्पष्टतः जाना जाता है। यथा—

"हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्ते, इति चेत्, नोत्पद्यन्ते। कुतोऽव-सीयते ? अस्मादेवार्षात्। अस्मादेवार्षात् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृतिः सिद्धयेत्, इति चेत्, न, सवासस्त्वा-दप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः। भावसंयमस्तासां सवाससामप्यविरुद्धः, इति चेत्, न तासां भावसंयमोऽस्ति, भावासंयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः। कथं पुनस्तासु चतुर्दश गुणस्थानानीति चेत्, न, भावस्त्रीविशिष्टमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्। भाववेदो बादरकषा-यान्नोपर्यस्तीति न तत्र चतुर्दशगुणस्थानाना सम्भव इति चेत्, न, अत्र वेदस्य प्राधान्याभावात्। गतिस्तु प्रधाना न साऽराद्विनश्यति। वेदविशेषणायां गतौ न तानि सम्भवन्ति, इति चेत्, न, विनष्टेऽपि विशेषणे उपचारेण तद्व्यपदेशमादधानमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्।"—धवला, १।१। ९३, प्रथम पुस्तक, पृ० ३३२-३३३।

यहाँ सबसे पहले यह शंका उपस्थित की गयी है कि यद्यपि स्त्रियों (द्रव्य और भाव दोनों) में सम्यग्दृष्टि जीव मरकर उत्पन्न नही होते है। लेकिन हुण्डावसर्पिणी (आपवादिक काल) मे स्त्रियोंमे सम्यग्दृष्टि क्यों नही उत्पन्न होते ? (इस शंकासे यह प्रतीत होता है कि वीरसेन स्वामीके सामने कुछ लोगोकी हुण्डावसर्पिणी कालमें स्त्रियोंमे सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होनेकी मान्यता रही और इसलिए इस शंका द्वारा उनका मत उपस्थित करके उसका उन्होंने निराकरण किया है। इसी प्रकारसे उन्होंने आगे द्रव्यस्त्री-मुक्तिकी मान्यताको भी उपस्थित किया है, जो सूत्रकारके सामने नही थी और वीरसनके सामने वह प्रचलित हो चुकी थी और जिसका उन्होने निराकरण किया हैं। हुण्डावसर्पिणी कालका स्वरूप ही यह है कि जिसमें अनहोनी बातें हो जायें, जैसे तीर्थङ्करके पुत्रीका होना, चक्रवर्तीका अपमान होना आदि। और इसलिये उक्त शंकाका उपस्थित होना असम्भव नहीं है।) वीरसेन स्वामी इस शंकाका उत्तर देते हैं कि हुण्डावसर्पिणी कालमें स्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नही होते। इसपर प्रश्न हुआ कि इसमे प्रमाण क्या है ? अर्थात् यह कैसे जाना कि हुण्डावसर्पिणीमें स्त्रियोमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नही होते ? इसका उत्तर यह दिया गया है कि इसी आगम सूत्रवाक्यसे उक्त बात जानी जाती है। अर्थात् प्रस्तुत ९२, ९३वे सूत्रोंमें पर्याप्त मनुष्यनीके ही चौथा गुणस्थान प्रतिपादित किया है, अपर्याप्त मनुष्यनीके नहीं, इससे साफ जाहिर है कि सम्यग्दृष्टि जीव किसी भी कालमें द्रव्य और भाव दोनों ही तरहकी स्त्रियोंमे पैदा नही होते। अतएव सुतरा सिद्ध है कि हुण्डावसर्पिणीमे भी स्त्रियोमें सम्यग्दृष्टि पैदा नही होते।

यहाँ हम यह उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं कि प० मक्खनलालजी शास्त्रीने टीकोक्त **'स्त्रीषु'** पदका द्रव्यस्त्री अर्थ करके एक और मोटी भूल की है। **'स्त्रीषु'** पदका बिलकुल सीधा सादा अर्थ है और वह है 'स्त्रियोंमें'। वहाँ द्रव्य और भाव दोनो ही प्रकारकी स्त्रियोंका ग्रहण है। यदि केवल द्रव्यस्त्रियों-का ग्रहण इष्ट होता तो वीरसेन स्वामी अगले **'द्रव्यस्त्रीणां'** पदकी तरह यहाँ भी **'द्रव्यस्त्रीषु'** पदका प्रयोग करते और जिससे सिद्धान्त-विरोध अनिवार्य था, क्योंकि उससे द्रव्यस्त्रियोंमे ही सम्यग्दृष्टियोंके उत्पन्न न होनेकी बात सिद्ध होती, भावस्त्रियोंमे नही। किंतु वे ऐसा सिद्धान्त-विरुद्ध असंगत कथन कदापि नही कर सकते थे और इसीलिए उन्होंने **'द्रव्यस्त्रीषु'** पदका प्रयोग न करके **'स्त्रीषु'** पदका प्रयोग किया है जो सर्वथा सिद्धान्ताविरुद्ध और संगत है। यह स्मरण रहे कि सिद्धान्तमें भावस्त्रीमुक्ति तो इष्ट है, द्रव्यस्त्रीमुक्ति इष्ट नहीं है। किन्तु सम्यग्दृष्टि-उत्पत्ति-निषेध द्रव्य और भावस्त्री दोनोंमें ही इष्ट है। अतः पंडितजीका यह लिखना कि "९३वें सूत्रमें पर्याप्त अवस्थामें ही जब द्रव्यस्त्रीके चौथा गुणस्थान सूत्रकारने बताया है तब टीकाकारने यह शंका उठाई है कि द्रव्यस्त्री पर्यायमे सम्यग्दृष्टि क्यों उत्पन्न नही होते हैं ? उत्तरमें कहा गया है कि द्रव्यस्त्री पर्यायमे सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होते हैं। क्यो नही उत्पन्न होते हैं ? इसके लिये आर्ष-

प्रमाण बतलाया गया है। अर्थात् आगममें ऐसा ही बताया है कि द्रव्यस्त्री पर्यायमें सम्यग्दृष्टि नहीं जाता है।" "यदि ९३वाँ सूत्र भावस्त्रीका विधायक होता तो फिर सम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता, यह शंका उठायी ही नहीं जा सकती, क्योंकि भावस्त्रीके तो सम्यग्दर्शन होता ही है। परन्तु द्रव्यस्त्रीके लिए शंका उठाई है। अतः द्रव्यस्त्रीका ही विधायक ९३वाँ सूत्र है, यह बात स्पष्ट हो जाती है।" बहुत ही स्खलित और भूलोंसे भरा हुआ है। 'संजद' पदके विरोधी क्या उक्त विवेचनसे सहमत हैं ? यदि नहीं, तो उन्होंने अन्य लेखोंकी तरह उक्त विवेचनका प्रतिवाद क्यों नही किया ? हमें आश्चर्य है कि श्री पं० वर्धमानजी जैसे विचारक तटस्थ विद्वान् पक्षमे कैसे बह गये और उनका पोषण करने लगे ? पं० मक्खनलालजीकी भूलोंका आधार भावस्त्रीमे सम्यक् दृष्टिकी उत्पत्तिको मानना है जो सर्वथा सिद्धान्तके विरुद्ध है। सम्यग्दृष्टि न द्रव्यस्त्रीमें पैदा होता है और न भावस्त्रीमे, यह हम पहले विस्तारसे सप्रमाण बतला आये हैं। आशा है पण्डितजी अपनी भूलका संशोधन कर लेंगे। और तब वे प्रस्तुत ९३वें सूत्रको भावस्त्रीविधायक ही समझेंगे।

दूसरी शंका यह उपस्थित की गयी है कि यदि इसी आर्ष (प्रस्तुत आगमसूत्र) से यह जाना जाता है कि हुण्डावसर्पिणीमे स्त्रियोंमे सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नही होते तो इसी आर्ष (प्रस्तुत आगम सूत्र) से द्रव्य-स्त्रियोंकी मुक्ति सिद्ध हो जाय, यह तो जाना जाता है ? (शंकाकारके सामने ९३वाँ सूत्र 'संजद' पदसे युक्त है और उसमें द्रव्य अथवा भावका स्पष्ट उल्लेख न होनेसे उसे प्रस्तुत शंका उत्पन्न हुई है। वह समझ रहा है कि ९३वें सूत्रमें 'संजद' पदके होनेसे द्रव्यस्त्रियोंके मोक्ष सिद्ध होता है। यदि सूत्रमे 'संजद' पद न हो, पाँच ही गुणस्थान प्रतिपादित हों तो यह द्रव्यस्त्री मुक्तिविषयक इस प्रकारकी शंका, जो इसी सूत्रपरसे हुई है, कदापि नही हो सकती)। इस शंकाका वीरसेन स्वामी उत्तर देते हैं कि यदि ऐसी शंका करो तो वह ठीक नहीं है क्योंकि द्रव्यस्त्रियाँ सवस्त्र होनेसे पंचम अप्रत्याख्यान (संयमासयम) गुणस्थानमे स्थित है और इसलिये उनके संयम नही बन सकता है। इस उत्तरसे भी स्पष्ट जाना जाता है कि सूत्रमें यदि पाँच ही गुणस्थानोंका विधान होता तो वीरसेन स्वामी द्रव्यस्त्रीमुक्तिका प्रस्तुत सवस्त्र हेतु द्वारा निराकरण न करते, उसी सूत्रको ही उपस्थित करते तथा उत्तर देते कि द्रव्यस्त्रियोके मोक्ष नही सिद्ध होता, क्योंकि इसी आगमसूत्रसे उसका निषेध है। अर्थात् प्रस्तुत ९३वें सूत्रमे आदिके पाँच ही गुणस्थान द्रव्यस्त्रियोंके बतलाये है, छठे आदि नही। वीरसेन स्वामीकी यह विशेषता है कि जब तक किसी बातका साधक आगम प्रमाण रहता है, तो पहले वे उसे ही उपस्थित करते हैं, हेतुको नही, अथवा उसे पीछे आगमके समर्थनमें करते हैं।

शंकाकार फिर कहता है कि द्रव्यस्त्रियोंके भले ही द्रव्यसंयम न बने, भावसंयम तो उनके सवस्त्र रहनेपर भी बन सकता है, उसका कोई विरोध नही है ? इसका वे पुनः उत्तर देते है कि नहीं, द्रव्यस्त्रियोंके भावासंयम है, भावसयम नही, क्योंकि भावासयमका अविनाभावी वस्त्रादिका ग्रहण भावासंयमके बिना नहीं हो सकता है। तात्पर्य यह कि द्रव्यस्त्रियोंके वस्त्रादि ग्रहण होनेसे ही यह प्रतीत होता है कि उनके भाव-संयम भी नहीं है, भावासंयम ही है क्योंकि वह उसका कारण है। वह फिर शंका करता है 'फिर उनमें चउदह गुणस्थान कैसे प्रतिपादित किये है ? अर्थात् प्रस्तुत सूत्रमे 'संजद' शब्दका प्रयोग क्यों किया है ? इसका वीरसेन स्वामी समाधान करते हैं कि नही, भावस्त्रीविशिष्ट मनुष्यगतिमे उक्त चउदह गुणस्थानोंका सत्त्व प्रतिपादित किया है। अर्थात् ९३वें सूत्रमे जो 'संजद' शब्द है वह भावस्त्री मनुष्यकी अपेक्षासे है, द्रव्यस्त्री मनुष्यकी अपेक्षासे नहीं। इस शंका-समाधानसे तो बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत ९३वें सूत्रमे 'संजद' पद है और वह छठेसे चौदह तकके गुणस्थानोंका बोधक है। और इसलिए वीरसेन स्वामीने उसकी उपपत्ति एवं संगति भावस्त्री मनुष्यकी अपेक्षासे बैठाई है, जैसीकि तत्त्वार्थवार्तिककार अकलंकदेवने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमे बैठाई है। यदि उक्त सूत्रमें 'संजद' पद न हो, तो ऐसी न तो शंका उठती और न

उक्त प्रकारसे उसका समाधान होता। दोनोंका रूप भिन्न ही होता। अर्थात् प्रस्तुत सूत्र द्रव्यस्त्रियोंके ही ५ गुणस्थानोंका विधायक हो और उनकी मुक्तिका निषेधक हो तो "**अस्मादेव आर्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्धयेत्**" ऐसी शंका कदापि न उठती। बल्कि "**द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः कथं न भवति**" इस प्रकारसे शंका उठती और उस दशामें "**अस्मादेव आर्षाद्**" और "**निर्वृत्तिः सिद्धयेत्**" ये शब्द भूल करके भी प्रयुक्त न किये जाते। अतः इन शब्दोंके प्रयोगसे भी स्पष्ट है कि ९३वें सूत्रमे द्रव्यस्त्रियोंके ५ गुणस्थानोंका विधान न होकर भावस्त्रियोंके १४ गुणस्थानोंका विधान है और वह 'संजद' पदके प्रयोग द्वारा अभिहित है। और यह तो माना ही नही जा सकता है कि उपर्युक्त टीकामे चउदह गुणस्थानोंका जो उल्लेख है वह किसी दूसरे प्रकरणके सूत्रसे सम्बद्ध है क्योंकि "**अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्धयेत्**" शब्दो द्वारा उसका संबंध प्रकृत सूत्रसे ही है, यह सुदृढ़ है।

शंकाकार फिर शंका उठाता है कि भाववेद तो बादरकषाय (नौवें गुणस्थान) से आगे नही है और इसलिये भावस्त्री मनुष्यगतिमे चउदह गुणस्थान सम्भव नही है? इसका वे उत्तर देते है कि "नही, यहाँ योगमार्गणा सम्बन्धी गतिप्रकरणमे वेदकी प्रधानता नही है किन्तु गतिकी प्रधानता है और वह शीघ्र नष्ट नही होती। मनुष्यगतिकर्मका उदय तथा सत्त्व चउदहवें गुणस्थान तक रहता है और इसलिये उसकी अपेक्षा भावस्त्रीके चउदहगुणस्थान उपपन्न है। इसपर पुनः शंका उठी कि, "वेदविशिष्ट मनुष्यगतिमे वे चउदह गुणस्थान सम्भव नही हैं? इसका समाधान किया कि नहीं, वेदरूप विशेषण यद्यपि (नौवें गुणस्थानमे) नष्ट हो जाता है फिर भी उपचारसे उक्त व्यपदेशको धारण करने वाली मनुष्यगतिमे, जो चउदहवें गुणस्थान तक रहती है, चउदह गुणस्थानोका सत्त्व विरुद्ध नही है।" इस सब शका-समाधानसे स्पष्ट हो जाता है कि टीका द्वारा ९३वें सूत्रमे 'संजद' पदका निःसंदेह समर्थन है और वह भावस्त्री मनुष्यकी अपेक्षासे है द्रव्यस्त्री मनुष्यकी अपेक्षासे नही।

पं० मक्खनलालजी शास्त्रीने टोकागत उल्लिखित स्थलका कुछ आशय और दिया है लेकिन वे यहाँ भी स्खलित हुए है। आप लिखते है—"अब आगेकी टीकाका आशय समझ लीजिए, आगे यह शका उठाई है कि इसी आगममे द्रव्यस्त्रीके मोक्ष सिद्ध होती है क्या? उत्तरमे टीकाकार आचार्य वीरसेन कहते है कि नही, इसी आगमसे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि द्रव्यस्त्रीके मोक्ष नही हो सकती है।" यहाँ पडितजी ने "इसी आगमसे द्रव्यस्त्रीके मोक्ष सिद्ध होती है क्या? और इसी आगमसे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि द्रव्यस्त्रीके मोक्ष सिद्ध नही हो सकती है।" लिखा है वह "**अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्धयेत् इति चेत् न, सवासस्त्वादप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः।**" इन वाक्योका आशय कैसे निकला? इनका सीधा आशय तो यह है कि इसी आगमसूत्रसे द्रव्यस्त्रियोके मोक्ष सिद्ध हो जाये? इसका उत्तर दिया गया कि 'नही, क्योंकि द्रव्यस्त्रियाँ सवस्त्र होनेके कारण पंचम अप्रत्याख्यान गुणस्थानमे स्थित है और इसलिये उनके संयम नहीं बन सकता है। परन्तु पंडितजीने 'क्या' तथा 'इसी आगमसे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि द्रव्यस्त्रीके मोक्ष नही हो सकता है।' शब्दोंको जोडकर शंका और उसका उत्तर दोनो ही सर्वथा बदल दिये है। टीकाके उन दोनो वाक्योंमें न तो ऐसी शका है कि इसी आगमसे द्रव्यस्त्रीके मोक्ष सिद्ध होती है क्या?' और न उसका ऐसा उत्तर है कि 'इसी आगमसे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि द्रव्यस्त्रीके मोक्ष नही हो सकती है।' यदि इसी आगमसूत्रमे द्रव्यस्त्रीके मोक्षका निषेध प्रतिपादित होता तो वीरसेन स्वामी '**सवासस्त्वात्**' हेतु नही देते, उसी आगमसूत्रको ही प्रस्तुत करते, जैसाकि सम्यग्दृष्टिकी स्त्रियोमें उत्पत्तिनिषेधमे उन्होने आगमको ही प्रस्तुत किया है, हेतुको नहीं। अतएव पंडितजीका यह लिखना भी सर्वथा भ्रमपूर्ण है कि 'यदि ९३वें सूत्रमे 'संजद' पद होता तो आचार्य वीरसेन इस प्रकार टीका नहीं करते

कि इसी आर्षसे द्रव्यस्त्रीके मोक्ष नहीं सिद्ध होती है।' क्योंकि वीरसेन स्वामीने यह कहीं भी नहीं लिखा कि इसी आर्षसे द्रव्यस्त्रीके मोक्ष नहीं सिद्ध होती है।' पंडितजीसे अनुरोध करूँगा कि वे ऐसे गलत आशय कदापि निकालनेकी कृपा न करें।

पंडितजीका यह लिखना भी संगत नही है कि वीरसेन स्वामीने 'संयम' पदका अपनी टीकामें थोड़ा भी जिकर नहीं किया। यदि सूत्रमें 'सयम' पद होता तो यहाँ 'संयम' पद दिया गया है वह किस अपेक्षासे है? इससे द्रव्यस्त्रीके संयम सिद्ध हो सकेगा क्या? आदि शंका भी वे अवश्य उठाते और समाधान करते।'

हम पंडितजीसे पूछते है कि 'संयम' पदका क्या अर्थ है? यदि छठेसे चउदह तकके गुणस्थानोंका ग्रहण उसका अर्थ है तो उनका टीकामें स्पष्ट तो उल्लेख है। यदि द्रव्यस्त्रियोंके द्रव्यसंयम और भावसंयम दोनों ही नही बनते हैं तब उनमे चउदह गुणस्थान कैसे बतलाये? नहीं, भावस्त्री विशिष्ट मनुष्यगतिकी अपेक्षासे इनका सत्त्व बतलाया गया है—"**कथं पुनस्तासु चतुर्दशगुणस्थानानीति चेत्, न भावस्त्रीविशिष्ट-मनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्**"—यह क्या है? आपकी उपर्युक्त शंका और समाधान ही तो है। शंकाकार समझ रहा है कि प्रस्तुत सूत्रमे जो 'सजद' पद है वह द्रव्यस्त्रियोंके लिये आया है और उसके द्वारा छठेसे चउदह तकके गुणस्थान उनके बतलाए गये है। वीरसेन स्वामी उसकी इस शंकाका उत्तर देते है कि चउदह गुणस्थान भावस्त्रीकी अपेक्षासे बताये गए है, द्रव्यस्त्रीकी अपेक्षासे नही। इससे साफ है कि सूत्रमें 'संजद' पद दिया हुआ है और वह भावस्त्रीकी अपेक्षासे है।

पण्डितजीने आगे चलकर एक बात और विचित्र लिखी है कि 'प्रस्तुत सूत्रकी टीकामे जो चउदह गुणस्थानों और भाववेद आदिका उल्लेख किया गया है उसका सम्बन्ध इस सूत्रसे नही है—अन्य सूत्रोसे है—इसी सिद्धान्तशास्त्रमे जगह-जगह ९ और १४ गुणस्थान बतलाये गये है, किन्तु पण्डितजी यदि गंभीर-तासे "**अस्मादेव आर्षाद्**" इत्यादि वाक्यों पर गौर करते तो वे उक्त बात न लिखते। यह एक साधारण विवेकी भी जान सकता है कि यदि दूसरी जगहोंमे उल्लिखित गुणस्थानोंकी सगति यहाँ बैठाई गयी होती तो "**अस्मादेव आर्षाद्**" वाक्य कदापि न लिखा जाता, क्योंकि आपके मतसे प्रस्तुत सूत्रमे उक्त १४ गुणस्थानों या "सजद" पदका उल्लेख नही है। जब सूत्रमे "सजद" पद है और उसके द्वारा चउदह गुणस्थानोंका संकेत (निर्देश) है तभी यहाँ द्रव्यस्त्री-मुक्तिविषयक शंका पैदा हुई है और उसका समाधान किया गया है। यद्यपि आलापाधिकार आदिमें पर्याप्त मनुष्यनियोके चउदह गुणस्थान बतलाये हैं तथापि वहाँ गतिका प्रकरण नही है। यहाँ गतिका प्रकरण है और इसलिये उक्त शंका-समाधानका यही होना सर्वथा संगत है। अतः ९ और १४ गुणस्थानोंके उल्लेखका संबंध प्रकृत सूत्रसे ही है, अन्य सूत्रोंसे नही। अतएव स्पष्ट है कि टीकासे भी ९३ वे सूत्रमे 'संजद' पदका समर्थन होता है और उसकी उसमें चर्चा भी खुले तौर से की गयी है।

(५) अब केवल पाँचवी युक्ति रह जाती है सो उसके सम्बन्धमे बहुत कुछ पहली और दूसरी युक्ति की चर्चामें कथन कर आये है। हमारा यह भय कि—"इस सूत्रको द्रव्यस्त्रीके गुणस्थानोंका विधायक न माना जायगा तो इस सिद्धान्तग्रन्थसे उनके पाँच गुणस्थानोंके कथनकी दिगम्बर मान्यता सिद्ध न हो सकेगी और जो प्रो० हीरालालजी कह रहे है उसका तथा श्वेताम्बर मान्यताका अनुषंग आवेगा।" सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि विभिन्न शास्त्रीय प्रमाणो, हेतुओ, सगतियो, पुरातत्त्वके अवशेषों, ऐतिहासिक तथ्यो आदिसे सिद्ध है कि द्रव्यस्त्रीका मोक्ष नही होता और इसलिये श्वेताम्बर मान्यताका अनुषंग नही आ सकता। आज तो दिगम्बर मान्यताके पोषक और समर्थक इतने विपुलरूपमे प्राचीनतम प्रमाण मिल रहे हैं जो शायद

पिछली शताब्दियोंमें भी न मिले होंगे। पुरातत्त्वका अबतक जितना अन्वेषण हो सका है और भूगर्भसे उसकी खुदाई हुई है, उन सबमे प्राचीनसे प्राचीन दिगम्बर नग्न पुरुषमूर्तियाँ ही उपलब्ध हुई हैं और जो दो हजार वर्षसे भी पूर्वकी हैं। परन्तु सचेल मूर्ति या स्त्रीमूर्ति, जो जैन निर्ग्रन्थ हो, कहींसे भी प्राप्त नहीं हुई। हाँ, दशवीं शताब्दीके बादकी जरूर कुछ सचेल पुरुषमूर्तियाँ मिलती बतलाई जाती हैं सो उस समय दोनों ही परम्पराओंमें काफी मतभेद हो चुका था तथा खण्डन-मण्डन भी आपसमे चलने लगा था। सच पूछा जाये तो उस समय दोनों ही परम्पराएँ अपनी अपनी प्रगति करनेमें अग्रसर थी। अतः उस समय यदि सचेल पुरुष-मूर्तियां भी निर्मित कराई गई हों तो आश्चर्य ही नहीं है। दुर्भाग्यसे आज भी हम अलग हैं और अपनेमें अधिकतम दूरी ला रहे हैं और लाते जा रहे हैं। समय आये और हम इस तथ्यको स्वीकार करें, यही अपनी भावना है। और यदि संभव हो तो हम पुनः आपसमें एक हो जावें तथा भगवान् महावीरके अहिंसा और स्याद्वादमय शासनको विश्वव्यापी बनायें।

उपसंहार

उपरोक्त विवेचनके प्रकाशमें निम्न परिणाम सामने आते हैं—

१. षट्खण्डागममे समस्त कथन भावकी अपेक्षासे किया गया है और इसलिये उसमे द्रव्यस्त्रीके गुण-स्थानोंकी चर्चा नहीं आयी।

२. ९३ वें सूत्रमे 'संजद' पदका होना न आगमसे विरुद्ध है और न युक्तिसे। बल्कि न होनेमे इस योगमार्गणा सम्बन्धी मनुष्यनियोंमे १४ गुणस्थानोंके कथनके अभावका प्रसंग, वीरसेन स्वामीके टीकागत 'संजद' पदके समर्थनकी असंगति और तत्त्वार्थवार्त्तिककार अकलंकदेवके पर्याप्त मनुष्यनियोंमे १४ गुणस्थानों-को बतलानेकी असंगति आदि कितने ही अनिवार्य दोष सम्प्राप्त होते हैं।

३. "पर्याप्त" शब्दका द्रव्य अर्थ विवक्षित नहीं है, उसका भाव अर्थ विवक्षित है। पर्याप्तिकर्म जीव-विपाकी प्रकृति है और उसके उदय होनेपर ही जीव पर्याप्तक कहा जाता है।

४. पं० मक्खनलालजी शास्त्रीने भावस्त्रीमे सम्यग्दृष्टिके उत्पन्न होनेकी मान्यता प्रकट की है वह स्खलित और सिद्धान्तविरुद्ध है। स्त्रीवेदकी उदय व्युच्छित्ति दूसरे ही गुणस्थानमे हो जाती है और इसलिये अपर्याप्त अवस्थामे भावस्त्रीके चौथा गुणस्थान कदापि संभव नही है।

५. वीरसेन स्वामीके "**अस्मादेवार्षाद्**" इत्यादि कथनसे सूत्रमें 'संजद' पदका टीकाद्वारा समर्थन होता है।

६. द्रव्यस्त्रीके गुणस्थानोंका कथन मुख्यतया चरणानुयोगसे सम्बन्ध रखता है और षट्खण्डागम करणानुयोग है, इसलिए उसमे उनके गुणस्थानोंका प्रतिपादन नहीं किया गया है। द्रव्यस्त्रीके मोक्षका निषेध विभिन्न शास्त्रीय प्रमाणों, हेतुओ, पुरातत्त्वके अवशेषो, ऐतिहासिक तथ्यों आदिसे सिद्ध है और इसलिये षट्-खण्डागममें द्रव्यस्त्रियोंके गुणस्थानोंका विधान न मिलनेसे श्वेताम्बर मान्यताका अनुषंग नही आ सकता।

नियमसारकी ५३वीं गाथा और उसकी व्याख्या एवं अर्थपर अनुचिन्तन

प्राथमिक वृत्त

आ० कुन्दकुन्दका नियमसार जैन परम्परामे उसी प्रकार विश्रुत एवं प्रसिद्ध प्राकृत ग्रन्थ है जिस प्रकार उनका समयसार है। दोनों ग्रन्थोंका पठन-पाठन और स्वाध्याय सर्वाधिक है। ये दोनों ग्रन्थ मूलतः आध्यात्मिक हैं। हाँ, समयसार जहाँ पूर्णतया आध्यात्मिक है वहाँ नियमसार आध्यात्मिकके साथ तत्त्वज्ञान प्ररूपक भी है।

समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय इन तीनपर आ० अमृतचन्द्रकी संस्कृत-टीकाएँ हैं, जो बहुत ही दुरूह एवं दुरवगाह हैं। किन्तु तत्त्वस्पर्शी और मूलकार आ० कुन्दकुन्दके अभिप्रायको पूर्णतया अभिव्यक्त करनेवाली तथा विद्वज्जनानन्दिनी हैं। नियमसारपर उनकी सस्कृत-टीका नहीं है। मेरा विचार है कि उस-पर भी उनकी संस्कृत-टीका होनी चाहिए, क्योंकि यह ग्रन्थ भी उनकी प्रकृति एवं रुचिके अनुरूप है।

इसपर श्री पद्मप्रभमलधारिदेवकी संस्कृत-व्याख्या उपलब्ध है, जिसमें उन्होंने उसकी गाथाओंकी संस्कृत-व्याख्या तो दी है। साथमें अपने और दूसरे ग्रन्थकारोंके प्रचुर संस्कृत-पद्योंको भी इसमे दिया है। उनकी यह व्याख्या अमृतचन्द्रकी व्याख्याओं जैसी गहन तो नहीं है, किन्तु अभिप्रेतके समर्थनमें उपयुक्त है ही।

प्रसंगवश हम नियमसार और उसकी इस व्याख्याको देख रहे थे। जब हमारी दृष्टि नियमसारकी ५३वी गाथा और उसकी संस्कृत-व्याख्यापर गयी, तो हमे प्रतीत हुआ कि उक्त गाथाकी व्याख्या करनेमे श्रीपद्मप्रभमलधारिदेवसे बहुत बड़ी सैद्धान्तिक भूल हो गयी है। श्रीकानजी स्वामी भी उनकी इस भूलको नहीं जान पाये और उनकी व्याख्याके अनुसार उक्त गाथाके उन्होंने प्रवचन किये। सोनगढ़ और अब जयपुर से प्रकाशित आत्मधर्ममे प्रकट हुए उनके वे प्रवचन उसी भूलके साथ प्रकाशित किये गये हैं। सम्पादक डॉ० पं० हुकमचन्दजी भारिल्लने भी उनका संशोधन नही किया। सोनगढ़से ही प्रकाशित नियमसार एवं उसकी संस्कृत-व्याख्याका हिन्दी अनुवाद भी अनुवादक श्री मगनलाल जैनने उसी भूलसे भरा हुआ प्रस्तुत किया है।

ऐसी स्थितिमें हमें मूल गाथा, उसकी संस्कृत व्याख्या, प्रवचन और हिन्दी अर्थपर विचार करना आवश्यक जान पड़ा। प्रथमतः हम यहाँ नियमसारकी वह ५३ वीं गाथा और उसकी संस्कृत-व्याख्या दे रहे हैं—

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥५३॥

'अस्य सम्यक्त्वपरिणामस्य बाह्यसहकारिकारणं वीतरागसर्वज्ञ-मुखकमलविनिर्गतसमस्त-वस्तुप्रतिपादनसमर्थद्रव्यश्रुतमेव तत्त्वज्ञानामिति। ये मुमुक्षवः तेप्युपचारतः पदार्थनिर्णयहेतुत्वात् अन्तरङ्गहेतव इत्युक्ता दर्शनमोहनीयकर्मक्षयप्रभृतेः सकाशादिति।'—

—नियमसा० टी०, पृ० १०९, सोनगढ़ सं०।

अनुवादक द्वारा किया गया दोनोंका हिन्दी अनुवाद

गाथा व उसकी इस संस्कृत-व्याख्याका हिन्दी अनुवाद, जो पं० हिम्मतलाल जेठालालशाहके गुजराती अनुवादका अक्षरशः रूपान्तर है, श्री मगनलाल जैनने इस प्रकार दिया है—

'सम्यक्त्वका निमित्त जिनसूत्र है। जिनसूत्रके जाननेवाले पुरुषोंको (सम्यक्त्वके) अन्तरंग हेतु कहे हैं, क्योंकि उनको दर्शनमोहके क्षयादिक है।' (गाथार्थ)। 'इस सम्यक्त्व परिणामका बाह्य सहकारी कारण वीतराग सर्वज्ञके मुखकमलसे निकला हुआ समस्त वस्तुके प्रतिपादनमे समर्थ द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान ही है। जो मुमुक्षु है उन्हें भी उपचारसे पदार्थनिर्णयके हेतुपनेके कारण (सम्यक्त्व परिणामके) अन्तरग हेतु कहे हैं, क्योंकि उन्हे दर्शनमोहनीयकर्मके क्षयादिक हैं।' -वही, पृ० १०९।

इस गाथा (५३)के गुजराती पद्यानुवादका हिन्दी पद्यानुवाद भी श्री मगनलाल जैनने दिया है, जो इस प्रकार है—

'जिनसूत्र समकित हेतु है, अरु सूत्रज्ञाता पुरुष जो।
वह जान अन्तर्हेतु जिसके दर्शमोहक्षयादि हो ॥५३॥'

उक्त गाथाकी संस्कृत-व्याख्या, प्रवचन, गुजराती और हिन्दी अनुवादोंपर विचार

किन्तु उक्त गाथाके सस्कृत-व्याख्याकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा की गयी सस्कृत-व्याख्या, गाथा तथा व्याख्यापर किये गये श्री कानजी स्वामीके प्रवचन, दोनोके गुजराती और हिन्दी अनुवाद न मूलकार आचार्य कुन्दकुन्दके आशयानुसार है और न सिद्धान्तके अनुकूल है। यथार्थमे इस गाथामे आचार्य कुन्दकुन्दने सम्यग्दर्शनके बाह्य और अन्तरग दो निमित्त कारणोंका प्रतिपादन किया है। उन्होने कहा है कि 'सम्यक्त्वका निमित्त (बाह्य सहकारी कारण) जिनसूत्र और जिनसूत्रज्ञाता पुरुष हैं तथा अन्तरग हेतु (अभ्यन्तर निमित्त) दर्शनमोहनीय कर्मका क्षय आदि है।'

यहाँ गाथाके उत्तरार्धमें जो '**पहुदी**' शब्दका प्रयोग किया गया है वह प्रथमा विभक्तिके बहुवचनका रूप है। सस्कृतमे उसका 'प्रभृतयः' रूप होता है। वह पंचमी विभक्ति--'**प्रभृतेः**' का रूप नही है, जैसा कि संस्कृत-व्याख्याकारने समझ लिया है और तदनुसार उनके अनुसर्ताओं—श्री कानजी स्वामी, गुजराती अनुवादक प० हिम्मतलाल जेठालाल शाह तथा हिन्दी अनुवादक श्री मगनलाल जैन आदिने भी उसका अनुसरण किया है। 'पहुदी' शब्दसे आ० कुन्दकुन्दको दर्शनमोहनीय कर्मके क्षयोपशम और उपशम इन दोका संग्रह अभिप्रेत है, क्योकि कण्ठतः उक्त दर्शनमोहनीय कर्मके क्षयके साथ उन दोनोंका सम्बन्ध है। और इस प्रकार क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक इन तीन सम्यक्त्वोका अन्तरंग निमित्त क्रमशः दर्शनमोहनीय-कर्मके क्षय, क्षयोपशम तथा उपशमको बताना उन्हे इष्ट है। अतएव '**पहुदी**' शब्द प्रथमा विभक्तिका बहुवचनान्त रूप है, पचमी विभक्तिका नही।

अन्तरंग निमित्त बाह्य वस्तु नही होती : सिद्धान्त प्रमाण

आचार्य पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धि (१-७) मे तत्त्वार्थसूत्रके 'निर्देश स्वामित्वसाधन.......' आदि सूत्र (१-७) की व्याख्या करते हुए सम्यग्दर्शनके बाह्य और अभ्यन्तर दो साधन बतलाकर बाह्य साधन तो चारों

गतियोंमें विभिन्न प्रतिपादन किये हैं। किन्तु अभ्यन्तर साधन सभी (चारों) गतियोंमें दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम, क्षय और क्षयोपशमको ही बतलाया है। यथा—

> 'साधनं द्विविधं अभ्यन्तरं बाह्यं च। अभ्यन्तरं दर्शनमोहस्योपशमः क्षयः क्षयोपशमो वा। बाह्यं नारकाणां प्राक्चतुर्थ्याः सम्यग्दर्शनस्य साधनं केषांचिज्जातिस्मरणं केषाञ्चिद्धर्मश्रवणं केषाञ्चिद्वेदनाभिभवः। चतुर्थीमारभ्य आ सप्तम्या नारकाणां जातिस्मरणं वेदनाभिभवश्च। तिरश्चां केषाञ्चिज्जातिस्मरणं केषाञ्चिद्धर्मश्रवणं केषाञ्चिज्जिनबिम्बदर्शनम्। मनुष्याणामपि तथैव।—स० सि० पृ० २६, भा० ज्ञा० पी० संस्क०।

आचार्य अकलङ्कदेवने भी तत्त्वार्थवार्त्तिक (१-७) में लिखा है कि '**दर्शनमोहोपशमादि साधनं बाह्यं चोपदेशादि स्वात्मा वा।**' अर्थात् सम्यक्त्वका अभ्यन्तर साधन दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम, क्षय और क्षयोपशम है तथा बाह्य साधन उपदेशादि है और उपादानकारण स्वात्मा है।

इन दो आचार्योंके निरूपणोंसे प्रकट है कि सम्यक्त्वका अभ्यन्तर (अन्तरंग) निमित्त दर्शनमोहनीय कर्मका क्षय, क्षयोपशम और उपशम है। जिनसूत्रके ज्ञाता पुरुष सम्यक्त्वके अभ्यन्तर निमित्त (हेतु) नहीं हैं। वास्तवमें जिनसूत्रके ज्ञाता पुरुष जिनसूत्रकी तरह एकदम पर (भिन्न) हैं। वे अन्तरंग हेतु उपचारसे भी कदापि नहीं हो सकते। क्षायिक सम्यग्दर्शनकी आवारक दर्शनमोहनीय कर्मकी क्षपणाका प्रारम्भ केवलीद्विक (केवली या श्रुतकेवली) के पादसान्निध्यमें होनेका जो सिद्धान्तशास्त्रमें कथन है उसीको लक्ष्यमें रखकर गाथामें जिनसूत्रके ज्ञाता पुरुषोंको भी सम्यक्त्वका बाह्य निमित्तकारण कहा गया है। उन्हें अन्तरंग कारण बताना सिद्धान्त-विरुद्ध है। तथा उनके साथ दर्शनमोहनीय कर्मके क्षयादिका हेतु रूपमें सम्बन्ध जोडना तो एकदम गलत और अनुपयुक्त है। वस्तुतः सम्यक्त्वके उन्मुख जीवोंमें ही होनेवाला दर्शनमोहनीय कर्मका क्षय, क्षयोपशम या उपशम उनके सम्यक्त्वका अन्तरंग हेतु है और जिनसूत्रश्रवण या उसके ज्ञाता पुरुषोंका सान्निध्य बाह्यनिमित्त है।

कुन्दकुन्द-भारतीके सम्पादक द्वारा सम्पुष्टि

कुन्दकुन्द-भारतीके सम्पादक डॉ० पं० पन्नालालजी साहित्याचार्यने भी उक्त गाथा (५३) का वही अर्थ किया है जो हमने ऊपर प्रदर्शित किया है। उन्होंने लिखा है—

> 'सम्यक्त्वका बाह्य निमित्त जिनसूत्र—जिनागम और उसके ज्ञायक पुरुष हैं तथा अन्तरंग निमित्त दर्शनमोहनीय कर्मका क्षय आदि कहा गया है।' इसका भावार्थ भी उन्होंने दिया है। वह भी द्रष्टव्य है। उसमें लिखा है कि 'निमित्तकारणके दो भेद हैं—१ बहिरंग निमित्त और २ अन्तरंगनिमित्त। सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका बहिरंग निमित्त जिनागम और उसके ज्ञाता पुरुष हैं तथा अन्तरंग निमित्त दर्शनमोहनीय अर्थात् मिथ्यत्व, सम्यङ्मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्वप्रकृति एवं अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन प्रकृतियोंका उपशम, क्षय और क्षयोपशमका होना है। बहिरंग निमित्तके मिलनेपर कार्यकी सिद्धि होती भी है और नहीं भी होती। परन्तु अन्तरंगनिमित्तके मिलनेपर कार्यकी सिद्धि नियमसे होती है ॥५३॥'—वही, पृ० २०७।

उपसंहार

इस विवेचनसे स्पष्ट है कि नियमसारके संस्कृत-टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेवने उल्लिखित गाथाकी व्याख्यामें जिनसूत्रके ज्ञाता पुरुषोंको सम्यक्त्वका उपचारसे अन्तरंग हेतु बतला कर तथा उनसे दर्शनमोहनीय कर्मके क्षयादिकका सम्बन्ध जोड़ कर महान् सैद्धान्तिक भूल की है। उसी भूलका अनुसरण सोनगढ़ने किया है। श्रीकानजी स्वामीने श्री पद्मप्रभमलधारिदेवकी इस गाथा (५३) की संस्कृत व्याख्यापर सूक्ष्म ध्यान नहीं दिया। फलतः उनकी ही व्याख्याके अनुसार उन्होंने गाथा और व्याख्याके प्रवचन किये, जो बहुत बड़ी भूल है। गुजराती और हिन्दी अनुवादकोंने भी दोनोंके अनुवाद उसी भूलसे भरे हुए किये।

इन भूलोंका परिमार्जन होना आवश्यक है, ताकि गलत परम्परा आगे न चले।

अनुसन्धानमें पूर्वाग्रहमुक्ति आवश्यक : कुछ प्रश्न और समाधान

प्राग्वृत्त

'श्रमण' के सम्पादकने 'जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन' की समीक्षामें कुछ ऐसी बातें कही हैं, जिनका स्पष्टीकरण आवश्यक है। यद्यपि समीक्षकको समीक्षा करनेकी पूरी स्वतन्त्रता होती है, किन्तु उसे यह भी अनिवार्य है कि वह पूर्वाग्रहसे मुक्त रहकर समीक्ष्यके गुण-दोषोंका पर्यालोचन करे। यही समीक्षाकी मर्यादा है।

ज्ञातव्य है कि समीक्षित ग्रन्थके शोध-निबन्ध और अनुसन्धानपूर्ण प्रस्तावनाएँ आजसे लगभग ३९ वष पूर्व (सन् १९४२ से १९७७ तक) 'अनेकान्त', 'जैनसिद्धान्त-भास्कर' आदि पत्रों तथा न्यायदीपिका, आप्तपरीक्षा आदि ग्रन्थोंमें प्रकाशित हैं। किन्तु विगत वर्षोंमें 'श्रमण' के सम्पादक या अन्य किसी विद्वान्ने उनपर कोई प्रतिक्रिया प्रकट नहीं की। अब उन्होंने उक्त समीक्षामें ग्रन्थके कुछ लेखोंके विषयोंपर प्रतिक्रिया व्यक्त की है। परन्तु उसमें अनुसन्धान और गहराईका नितान्त अभाव है। हमें प्रसन्नता होती, यदि वे पूर्वाग्रहसे मुक्त होकर शोध और गम्भीरताके साथ उसे प्रस्तुत करते। यहाँ उनके उठाये प्रश्नों अथवा मुद्दोंपर विचार करूँगा।

१. प्रश्न १ और उसका समाधान :

सम्पादकका प्रथम प्रश्न है कि 'समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा आदि कृतियोंमें कुमारिल, धर्मकीर्ति आदिकी मान्यताओंका खण्डन होनेसे उसके आधारपर समन्तभद्रको ही उनका परवर्ती क्यों न माना जाये ?'

स्मरण रहे कि हमने 'कुमारिल और समन्तभद्र' शीर्षक[1] शोध निबन्धमें सप्रमाण यह प्रकट किया है कि समन्तभद्रकी कृतियों (विशेषतया आप्तमीमांसा) का खण्डन कुमारिल और धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंमें पाया जाता है। अतएव समन्तभद्र उक्त दोनों ग्रन्थकारोंसे पूर्ववर्ती हैं, परवर्ती नहीं। यहाँ हम पुनः उसीका विचार करेंगे।

हम प्रश्नकर्तासे पूछते हैं कि वे बतायें, कुमारिल और धर्मकीर्तिकी स्वयंकी वे कौन-सी मान्यताएँ हैं जिनका समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा आदि कृतियोंमें खण्डन है ? इसके समर्थनमें प्रश्नकारने एक भी उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया। इसके विपरीत दोनों ग्रंथकारोंने समन्तभद्रकी ही आप्तमीमांसागत मान्यताओंका खण्डन किया है। यहाँ हम दोनों ग्रंथकारोंके ग्रन्थोंसे कुछ उदाहरण उपस्थित करते हैं।

समन्तभद्र द्वारा अनुमानसे सर्वज्ञ-सिद्धि :

(१) जैनागमों[2] तथा कुन्दकुन्दके प्रवचनसार आदि ग्रन्थोंमें[3] सर्वज्ञका स्वरूप तो दिया गया है परंतु

१. अनेकान्त, वर्ष ५, किरण १२, ई० १९४५, जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परि०, पृ० ५३८, वीरसेवा-मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी-५, जून १९८०।

२. (क) सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि····।—षट्खं० ५।५।९८।
(ख) से भगवं अरिहं जिणे केवली सव्वन्नू सव्वभावदरिसी····सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वं भावाइं जाणमाणो पासमाणो···। —आचारां० सू० २ श्रु० ३

३. प्रवच० सा०, १।४७, ४८, ४९, कुन्दकुन्द-भारती, फल्टन, १९७०।

अनुमानसे उसकी सिद्धि उनमें उपलब्ध नहीं होती। जैन दार्शनिकोंमें ही नहीं, भारतीय दार्शनिकोंमें भी समन्तभद्र ही ऐसे प्रथम दार्शनिक एवं तार्किक हैं, जिन्होंने आप्तमीमांसा (का० ३, ४, ५, ६, ७) में अनुमानसे सामान्य तथा विशेष सर्वज्ञकी सिद्धि की है।

समन्तभद्रने सर्वप्रथम कहा कि 'सभी तीर्थ-प्रवर्तकों (सर्वज्ञों) और उनके समयों (आगमों-उपदेशोंमें) परस्पर विरोध होनेसे सब सर्वज्ञ नहीं हैं, 'कश्चिदेव'—कोई ही (एक) गुरु (सर्वज्ञ) होना चाहिए।' 'उस एककी सिद्धिकी भूमिका बाँधते हुए उन्होंने आगे (का० ४ में) कहा कि 'किसी व्यक्तिमें दोषों और आवरणोंका निःशेष अभाव (ध्वंस) हो जाता है क्योंकि उनकी तरतमता (न्यूनाधिकता) पायी जाती है, जैसे सुवर्णमें तापन, कूटन आदि साधनोंसे उसके बाह्य (कालिमा) और आभ्यन्तर (कीट) दोनों प्रकारके मलोंका अभाव हो जाता है।' इसके पश्चात् वे (का. ५ में) कहते हैं कि 'सूक्ष्मादि पदार्थ किसीके प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे अनुमेय हैं, जैसे अग्नि आदि।' इस अनुमानसे सामान्य सर्वज्ञकी सिद्धि की गयी है। वे विशेष सर्वज्ञकी भी सिद्धि करते हुए (का० ६ व ७ में) कहते हैं कि 'हे वीर जिन! अर्हन्! वह सर्वज्ञ आप ही हैं, क्योंकि आप निर्दोष हैं और निर्दोष इस कारण हैं, क्योंकि आपके वचनों (उपदेश) में युक्ति तथा आगमका[1] विरोध नहीं है, जबकि दूसरों (एकान्तवादी आप्तों) के उपदेशोंमें युक्ति एवं आगम दोनोंका विरोध है, तब वे सर्वज्ञ कैसे कहे जा सकते हैं?' इस प्रकार समन्तभद्रने अनुमानसे सामान्य और विशेष सर्वज्ञ की सिद्धि की है। और इसलिए अनुमान द्वारा सर्वज्ञ सिद्ध करना आप्तमीमांसागत समन्तभद्रकी मान्यता है।

वादिराज और शुभचन्द्रद्वारा उसका समर्थन

आज से एक हजार वर्ष पूर्व (ई० १०२५) के प्रसिद्ध तर्कग्रन्थकार वादिराजसूरिने[2] भी उसे (अनुमानद्वारा सर्वज्ञ सिद्ध करनेको) समन्तभद्रके देवागम (आप्तमीमांसा) की मान्यता प्रकट की है। पार्श्वनाथचरितमें समन्तभद्रके विस्मयावह व्यक्तित्वका उल्लेख करते हुए उन्होंने उनके देवागम द्वारा सर्वज्ञके प्रदर्शन का स्पष्ट निर्देश किया है। इसी प्रकार आ० शुभचन्द्र[3] ने भी देवागम द्वारा देव (सर्वज्ञ) के आगम (सिद्धि) को बतलाया है।

इन असन्दिग्ध प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि अनुमानसे सर्वज्ञकी सिद्धि करना समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाकी

---

१. तीर्थकृत्समयानां च परस्परविरोधतः।
सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद् गुरुः ॥३॥
दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषास्त्यतिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥४॥
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञ-संस्थितिः ॥५॥
स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥६॥
त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥७॥ —समन्तभद्र, आप्तमी०, ३, ४, ५, ६, ७।

२. स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम्।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥ —पार्श्वनाथचरि० १।१७

३. देवागमेन येनात्र व्यक्तो देवाऽऽगमः कृतः —पाण्डवपु०।

निःसन्देह अपनी मान्यता है। और उत्तरवर्ती अनेक ग्रन्थकार भी उसे शताब्दियोंसे उनकी ही मान्यता मानते चले आ रहे हैं।

कुमारिल द्वारा खण्डन :

अब कुमारिलकी ओर दृष्टिपात करें। कुमारिलने[1] सामान्य और विशेष दोनों ही प्रकारके सर्वज्ञका निषेध किया है। यह निषेध और किसीका नहीं, समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाका है। कुमारिल बड़े आवेग-के साथ प्रथमतः सामान्यसर्वज्ञका खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'सभी सर्वज्ञ (तीर्थ-प्रवर्तक) परस्पर विरोधी अर्थ (वस्तुतत्त्व) के जब उपदेश करने वाले हैं और जिनके साधक हेतु समान (एक-से) हैं, तो उन सबोंमें उस एकका निर्धारण कैसे करोगे कि अमुक सर्वज्ञ है और अमुक सर्वज्ञ नहीं है ?' कुमारिल उस परस्पर-विरोधको भी दिखाते हुए कहते हैं कि 'यदि सुगत सर्वज्ञ है, कपिल नहीं, तो इसमें क्या प्रमाण है और यदि दोनों सर्वज्ञ हैं, तो उनमें मतभेद कैसा।' इसके अलावा वे और कहते हैं कि 'प्रमेयत्व आदि हेतु जिस (सर्वज्ञ) के निषेधक हैं, उन हेतुओंसे कौन उस (सर्वज्ञ) की कल्पना (सिद्धि) करेगा।'

यहाँ ध्यातव्य है कि समन्तभद्रके 'परस्पर-विरोधतः' पदके स्थानमें 'विरुद्धार्थोपदेशिषु', 'सर्वेषां' की जगह 'सर्वेषु' और 'कश्चिदेव' के स्थानमे 'को नामैकः' पदोंका कुमारिलने प्रयोग किया है और जिस परस्पर विरोधकी सामान्य सूचना समन्तभद्रने की थी, उसे कुमारिलने सुगत, कपिल आदि विरोधी तत्त्वोपदेष्टाओंके नाम लेकर विशेष उल्लेखित किया है। समन्तभद्रने जो सभी तीर्थप्रवर्तकों (सुगत आदि) मे परस्पर विरोध होनेके कारण 'कश्चिदेव भवेद् गुरु:' शब्दों द्वारा कोई (एक) को ही गुरु—सर्वज्ञ होनेका प्रतिपादन किया था, उस पर कुमारिलने प्रश्न करते हुए कहा कि 'जब सभी सर्वज्ञ हैं और विरुद्धार्थोपदेशी है तथा सबके साधन हेतु एकसे हैं, तो उन सबमेंसे 'को नामैकोऽवधार्यताम्—किस एकका अवधारण (निश्चय) करते हो ?' कुमारिल का यह प्रश्न समन्तभद्रके उक्त प्रतिपादनपर ही हुआ है। और उन्होंने उस अनवधारण (सर्वज्ञके निर्णयके अभाव) को 'सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेतिका प्रमा' आदि कथन द्वारा प्रकट भी किया है। यह सब आकस्मिक नहीं है।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि समन्तभद्रने अपने उक्त प्रतिपादनमें किसीके प्रश्न करनेके पूर्व ही अपनी उक्त प्रतिज्ञा (कश्चिदेव भवेद्गुरुः) को आप्तमीमांसा (का० ४ और ५) में अनुमान-प्रयोगपूर्वक सिद्ध किया है[2]। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। अनुमानप्रयोगमें उन्होंने 'अनुमेयत्व' हेतु दिया है जो सर्वज्ञ सामान्य-

---

१. सर्वज्ञेषु च भूयस्सु विरुद्धार्थोपदेशिषु ।
तुल्यहेतुषु सर्वेषु को नामैकोऽवधार्यताम् ॥
सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा ।
अथावुभावपि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः ॥
प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि यस्य च ।
सद्भाववारणे शक्तं को नु तं कल्पयिष्यति ॥

बौद्ध विद्वान् शान्तरक्षितने इन कारिकाओंमें प्रथमकी दो कारिकाएँ अपने तत्त्वसंग्रह (का० ३१४८-४९) मे कुमारिलके नामसे दी है। दूसरी कारिका विद्यानन्दने अष्टस० पृ० ५ में 'तदुक्तम्' के साथ उद्धृत की है। तीसरी कारिका मीमांसाश्लोकवार्तिक (चोदनासू०) १३२ है।

२. आप्तमी०, का० ४, ५।

का साधक है और जो किसी एकका निर्णायक नहीं है। इसीसे कुमारिलने 'तुल्यहेतुषु सर्वेषु' कह कर उसे अथवा उस जैसे प्रमेयत्व आदि हेतुओंको सर्वज्ञका अनवधारक (अनिश्चायक) कहा है। इतना ही नहीं, उन्होंने एक अन्य कारिकाके द्वारा समन्तभद्रके इस 'अनुमेयत्व' हेतुकी तीव्र आलोचना भी की है और कहा है[1] कि जो प्रमेयत्व आदि हेतु सर्वज्ञके निषेधक है, उनसे सर्वज्ञकी सिद्धि कैसे की जा सकती है ?

अकलंक द्वारा उत्तर :

इसका सबल उत्तर समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाके विवृतिकार अकलंकदेवने[2] दिया है। अकलंक कहते हैं कि प्रमेयत्व आदि तो अनुमेयत्व' हेतुके पोषक है[3]—अनुमेयत्व हेतुकी तरह प्रमेयत्व आदि सर्वज्ञके सद्भावके साधक हैं, तब कौन समझदार उन हेतुओंसे सर्वज्ञका निषेध या उसके सद्भावमें सन्देह कर सकता है।'

यह सारी स्थिति बतलाती है कि कुमारिलने समन्तभद्रका खण्डन किया है, समन्तभद्रने कुमारिलका नही। यदि समन्तभद्र कुमारिलके परवर्ती होते तो कुमारिलके खण्डनका उत्तर स्वयं समन्तभद्र देते अकलंकको उनका जवाब देनेका अवसर नही आता तथा समन्तभद्रके 'अनुमेयत्व' हेतुका समर्थन करनेका भी उन्हें मौका नहीं मिलता

(२) अनुमानसे सर्वज्ञ-सामान्यकी सिद्धि करनेके उपरान्त समन्तभद्रने अनुमानसे ही सर्वज्ञ-विशेषकी सिद्धिका भी उपन्यास करके उसे 'अर्हन्त' मे पर्यवसित किया है[4]। जैसा कि हम ऊपर आप्तमीमासा कारिका ६ और ७ के द्वारा देख चुके हैं। कुमारिलने समन्तभद्रकी इस विशेष सर्वज्ञताकी सिद्धिका भी खण्डन किया है[5]। अर्हन्तका नाम लिए बिना वे कहते हैं कि 'जो लोग जीव (अर्हन्त) के इन्द्रियादि निरपेक्ष एवं सूक्ष्मादि विषयक केवलज्ञान (सर्वज्ञता) की कल्पना करते हैं वह भी युक्त नही है, क्योंकि वह आगमके बिना और आगम केवलज्ञानके बिना सम्भव नही है और इस तरह अन्योन्याश्रय दोष होनेके कारण अरहन्तमे भी सर्वज्ञता सिद्ध नही होती।'

ज्ञातव्य है कि जैन अथवा जैनेतर परम्परामे समन्तभद्रसे पूर्व किसी दार्शनिकने अनुमानसे उक्त प्रकार विशेष सर्वज्ञकी सिद्धि की हो, ऐसा एक भी उदाहरण उपलब्ध नही होता। हाँ, आगमोंमे केवलज्ञानका स्वरूप अवश्य विस्तारपूर्वक मिलता है, जो आगमिक है, आनुमानिक नही है। समन्तभद्र ही ऐसे दार्शनिक है,

---

१. मी० श्लो० चो० सू० का० १३२।

२. 'तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षणं पुष्णाति तं कथं चेतनः प्रतिषेद्धुमर्हति संशयितुं वा।'

—अष्टश० का० ५।

३ अकलंकके उत्तरवर्ती बौद्ध विद्वान् शान्तिरक्षितने भी कुमारिलके खण्डनका जवाब दिया है। उन्होंने लिखा है—

एव यस्य प्रमेयत्ववस्तुसत्त्वादिलक्षणाः।
निहन्तुं हेतवोऽशक्ताः को न तं कल्पयिष्यति ॥ —तत्वसं० का० ८८५।

४. आप्तमी०, का० ६, ७, वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट प्रकाशन, वाराणसी, द्वि० स० १९७८।

५. एवं यै. केवलज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः।
सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम् ॥
नर्ते तदागमात्सिद्धयेत् न च तेनागमो विना। —मीमांसा श्लो० ८७।

जिन्होंने अरहन्तमें अनुमानसे सर्वज्ञता (केवलज्ञान) की सिद्धि की है और उसे दोषावरणोंसे रहित, इन्द्रियादि निरपेक्ष तथा सूक्ष्मादिविषयक बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि कुमारिलने समन्तभद्रकी ही उक्त मान्यता का खण्डन किया है।

अकलंक द्वारा इसका भी सबल जवाब

इसका सबल प्रमाण यह है कि कुमारिलके उक्त खण्डनका भी जवाब अकलंकदेवने दिया है[1]। उन्होंने बडे सन्तुलित ढंगसे कहा है कि 'अनुमान द्वारा सुप्रसिद्ध केवलज्ञान (सर्वज्ञता) आगमके बिना और आगम केवलज्ञानके बिना सिद्ध नही होता, यह सत्य है, तथापि दोनोंमे अन्योन्याश्रय दोष नही है, क्योंकि पुरुषातिशय (केवलज्ञान) प्रतीतिवशसे माना गया है। इन (केवलज्ञान और आगम) दोनोमे बीज और अकुर-की तरह अनादि प्रबन्ध (प्रवाह—सन्तान) है।'

अकलंकके इस उत्तरसे बिलकुल स्पष्ट है कि समन्तभद्रने जो अनुमानसे अरहन्तके केवलज्ञान (सर्वज्ञता) की सिद्धि की थी, उसीका खण्डन कुमारिलने किया है और जिसका सयुक्तिक उत्तर अकलकने उक्त प्रकारसे दिया है। केवलज्ञानके साथ 'अनुमानविजृम्भितम्'—'अनुमानसे सिद्ध' विशेषण लगाकर तो अकलंक (वि० सं० ७वी शती) ने रहा-सहा सन्देह भी निराकृत कर दिया है, क्योंकि अनुमानसे सर्वज्ञविशेष (अरहन्तमें केवलज्ञान) की सिद्धि समन्तभद्रने की है। इस उल्लेख-प्रमाणसे भी प्रकट है कि कुमारिलने समन्तभद्र-की आप्तमीमासाका खण्डन किया और जिसका उत्तर समन्तभद्रसे कई शताब्दी बाद हुए अकलंकने दिया है। समन्तभद्रको कुमारिलका परवर्ती माननेपर उनका जवाब वे ही देते, अकलंकको उसका अवसर ही नही आता।

कुमारिल द्वारा समन्तभद्रका अनुसरण

(३) कुमारिलने समन्तभद्रका जहाँ खण्डन किया है वहाँ उनका अनुगमन भी किया है[2]। विदित है जैन दर्शनमे वस्तुको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन रूप माना गया है[3]। समन्तभद्रने लौकिक और आध्यात्मिक दो उदाहरणो द्वारा उसकी समर्थ पुष्टि की है[4]। इन दोनो उदाहरणोके लिए उन्होंने एक-एक

---

१. एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम्।
   नर्ते तदागमात्सिद्धयेत् न च तेन विनाऽऽगमः॥
   सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः।
   प्रभवः पौरुषेयोऽस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते॥—न्या० वि० का० ४१२-१३

२. मी० श्लो० वा०, पृ० ६१९।

३. दव्वं सल्लक्खणयं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
   गुणपज्जयासय वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू॥—कुन्दकुन्द, पंचास्ति०, गा० १०
   अथवा—'सद्द्रव्यलक्षणम्', उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।'—उमास्वाति (गृद्धपिच्छ), त० सू० ५-२९, ३०।

४. घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
   शोकप्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥
   पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः।
   अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्वं त्रयात्मकम्॥—आ० मी०, का०, ५९, ६०।

कारिकाका सृजन किया है। पहली (५९वी) कारिकाके द्वारा उन्होंने प्रकट किया है कि जिस प्रकार घट, मुकुट और स्वर्णके इच्छुकोंको उनके नाश, उत्पाद और स्थितिमे क्रमशः शोक, हर्ष और माध्यस्थ्य भाव होता है और इसलिए स्वर्णवस्तु व्यय, उत्पाद और स्थिति इन तीन रूप है, उसी प्रकार विश्वकी सभी वस्तुएँ त्रयात्मक हैं। दूसरी (६० वी) कारिकाके द्वारा बतलाया है कि जैसे दुग्धव्रती, दूध ही ग्रहण करता है, दही नहीं लेता और दहीका व्रत रखनेवाला दही ही लेता है, दूध नही लेता है तथा दूध और दही दोनोंका त्यागी दोनोको ही ग्रहण नही करता और इस तरह गोरस उत्पाद, व्यय और ध्रुवता तीनोंसे युक्त है, उसी तरह अखिल विश्व (तत्त्व) त्रयात्मक है।

कुमारिलने भी समन्तभद्रकी लौकिक उदाहरण वाली कारिका (५९) के आधारपर अपनी नयी ढाई कारिकायें रची हैं और समन्तभद्रकी ही तरह उनके द्वारा वस्तुको त्रयात्मक सिद्ध किया है[1]। उनकी इन कारिकाओंमे समन्तभद्रकी कारिका ५९ का केवल बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव ही नहीं है, अपितु उनकी शब्दावली, शैली और विचारसरणि भी उनमे समाहित है। समन्तभद्रने जिस बातको अतिसंक्षेपमे एक कारिका (५९) में कहा है, उसीको कुमारिलने ढाई कारिकाओंमें प्रतिपादन किया है। वस्तुतः विकासका भी यही सिद्धान्त है कि वह उत्तरकालमे विस्तृत होता है। इस उल्लेखसे भी स्पष्ट जाना जाता है कि समन्तभद्र पूर्ववर्ती हैं और कुमारिल परवर्ती।

वादिराज द्वारा सम्पुष्टि

इसका ज्वलन्त प्रमाण यह है कि ई० १०२५ के प्रसिद्ध, प्रतिष्ठित और प्रामाणिक तर्कग्रन्थकार वादिराजसूरि[2] ने अपने न्यायविनिश्चयविवरण (भाग १, पृ० ४३९) में समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाकी उल्लिखित कारिका ५९ को और कुमारिल भट्टकी उपरि चर्चित ढाई कारिकाओमेसे डेढ़ कारिकाको भी 'उक्तं स्वामिसमन्तभद्रैस्तदुपजीविना भट्टेनापि' शब्दोंद्वारा उद्धृत करके कुमारिल भट्टको समन्तभद्रका उपजीवी—अनुगामी प्रकट किया है। इससे स्पष्ट है कि एक हजार वर्ष पहले भी दार्शनिक एव साहित्यकार समन्तभद्रको पूर्ववर्ती और कुमारिल भट्टको उनका परवर्ती विद्वान् मानते थे।

समन्तभद्रका धर्मकीर्ति द्वारा खण्डन

(४) (क) अब धर्मकीर्तिको लीजिए। धर्मकीर्ति (ई० ६३५) ने भी समन्तभद्रकी आप्तमीमासाका खण्डन किया है[3]। विदित है कि आप्तमीमासा (कारिका १०४) मे समन्तभद्रने स्याद्वादका लक्षण दिया

---

१. वर्धमानकभंगे च रुचकः क्रियते यदि।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्।
न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम्॥
स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता॥—मी० श्लो० वा०, पृ० ६१९।

२. "उक्तं स्वामिसमन्तभद्रैस्तदुपजीविना भट्टेनापि"—शब्दोंके साथ समन्तभद्रकी पूर्वोल्लिखित कारिका ५९ और कुमारिल भट्टकी उपर्युक्त कारिकाओंमेसे आरम्भकी डेढ़ कारिका उद्धृत है।—न्या० वि० वि०, भाग १, पृ० ४३९।

३. एतेनैव यत्किंचिदयुक्तमश्लीलमाकुलम्।
प्रलपन्ति प्रतिक्षिप्तं तदप्येकान्तसंभवात्॥—प्रमाणवा० १-१८२

है[1] और लिखा है कि 'सर्वथा एकान्तके त्यागसे जो 'किंचित्' (कथंचित्) का विधान है वह स्याद्वाद है।'

(क) धर्मकीर्तिने समन्तभद्रके इस स्याद्वाद-लक्षणकी बड़े आवेगके साथ समीक्षा की है। उनके 'किंचित्के विधान—स्याद्वादको अयुक्त, अश्लील और आकुल 'प्रलाप' कहा है।'

ज्ञातव्य है कि आगमोंमें[2] 'सिया पज्जत्ता, सिया अपज्जत्ता', 'गोयमा ! जीवा सिय सासया, सिय असासया' जैसे निरूपणोंमें दो भंगों तथा कुन्दकुन्दके पंचास्तिकायमें[3] 'सिय अत्थि णत्थि उहयं—' इस गाथा (१४) के द्वारा गिनाये गये सात भंगोंके नाम तो पाये जाते हैं। पर स्याद्वादकी उनमें कोई परिभाषा नहीं मिलती। समन्तभद्रकी आप्तमीमांसामें ही प्रथमतः उसकी परिभाषा और विस्तृत विवेचन मिलते हैं। धर्मकीर्तिने उक्त खण्डन समन्तभद्रका ही किया है, यह स्पष्ट ज्ञात होता है। धर्मकीर्तिका 'तदप्येकान्तसम्भवात्' पद भी आकस्मिक नहीं है, जिसके द्वारा उन्होंने सर्वथा एकान्तके त्यागसे होनेवाले किंचित् (कथंचित्) के विधान—स्याद्वाद (अनेकान्त) में भी एकान्तकी सम्भावना करके उसका—अनेकान्तका खण्डन किया है।

(ख) इसके सिवाय धर्मकीर्तिने समन्तभद्रकी उस मान्यताका भी खण्डन किया है[4], जिसे उन्होंने 'सदेव सर्वं को नेच्छेत्' (का० १५) आदि कथन द्वारा स्थापित किया है[5]। वह मान्यता है सभी वस्तुओंको सद्-असद्, एक-अनेक आदि रूपसे उभयात्मक (अनेकान्तात्मक) प्रतिपादन करना। धर्मकीर्ति इसका भी खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'सबको उभयरूप माननेपर उनमें कोई भेद नहीं रहेगा। फलतः जिसे 'दही खा' कहा, वह ऊँटको खानेके लिए क्यों नहीं दौड़ता ? जब सभी पदार्थ सभी रूप हैं तो उनके वाचक शब्द और बोधक ज्ञान भी भिन्न-भिन्न नहीं हो सकते।'

अकलंक द्वारा जवाब

धर्मकीर्तिके द्वारा किया गया अपने पूर्वज समन्तभद्रका यह खण्डन भी अकलंकको सह्य नहीं हुआ और उनके उपर्युक्त दोनों आक्षेपोंका जवाब बड़ी तेजस्विताके साथ उन्होंने दिया है।[6] प्रथम आक्षेपका उत्तर

---

१. स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधिः।
सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः॥—आप्तमी०, का० १०५।

२. भूतबली-पुष्पदन्त, षट् खं० १।१।७९।

३. सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सप्तभंगं आदेसवसेण संभवदि॥—पंचास्ति०, गा० १४।

४. सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति॥—प्रमाणा वा० १-१८३।

५. कथंचित्ते सदेवेष्टं कथंचिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा॥
सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥—देवागम, का० १४, १५।

६. (क) ज्ञात्वा विज्ञप्तिमात्रं परमपि च बहिर्भासि भावप्रवादम्।
चक्रे लोकानुरोधात् पुनरपि सकलं नेति तत्त्वं प्रपेदे॥
न ज्ञाता तस्य तस्मिन् न च फलमपरं ज्ञायते नापि किंचित्।
इत्यश्लीलं प्रमत्तः प्रलपति जडधीराकुलं व्याकुलाप्तः॥—न्या० वि० १-१६१।

देते हुए वे कहते हैं कि 'जो विज्ञप्ति मात्रको जानता है और लोकानुरोधसे बाह्य--परको भी स्वीकार करता है और फिर भी सबको शून्य कहता है तथा प्रतिपादन करता है कि न ज्ञाता है, न उसमें फल है और न कुछ अन्य जाना जाता है, ऐसा अश्लील, आकुल और अयुक्त प्रलाप करता है, उसे प्रमत्त (पागल), जड़बुद्धि और और विविध आकुलताओंसे घिरा हुआ समझना चाहिए।' समन्तभद्रपर किये गये धर्मकीर्तिके प्रथम आक्षेपका यह जवाब 'जैसेको तैसा' नीतिका पूर्णतया परिचायक है।

धर्मकीर्तिके दूसरे आक्षेपका भी उत्तर अकलंक उपहासपूर्वक देते हुए कहते हैं कि 'जो दही और ऊँटमे अभेदका प्रसंग देकर सभी पदार्थोंको एक हो जानेकी आपत्ति प्रकट करता है और इस तरह स्याद्वाद—अनेकान्तवादका खण्डन करता है वह पूर्वपक्ष (अनेकान्तवाद—स्याद्वाद) को न समझकर दूषक (दूषण देनेवाला) होकर भी विदूषक—दूषक नहीं है, जोकर है—उपहासका पात्र है। सुगत भी कभी मृग था और मृग भी सुगत हुआ माना जाता है तथापि सुगतको वन्दनीय और मृगको भक्षणीय कहा गया है और इस तरह पर्यायभेदसे सुगत और मृगमे वन्दनीय एवं भक्षणीयकी भेदव्यवस्था तथा चित्तसन्तानकी अपेक्षासे उनमे अभेद व्यवस्था की जाती है, उसी प्रकार प्रतीति बलसे—पर्याय और द्रव्यकी प्रतीतिसे सभी पदार्थोंमें भेद और अभेद दोनोंकी व्यवस्था है। अतः 'दही खा' कहे जानेपर कोई ऊँटको खानेके लिए क्यों दौड़ेगा, क्योकि सत्—द्रव्यकी अपेक्षासे उनमे अभेद होनेपर भी पर्यायकी दृष्टिसे उनमे उसी प्रकार भेद है, जिस प्रकार सुगत और मृगमे है। अतएव 'दही खा' कहनेपर कोई दही खानेके लिए ही दौड़ेगा, क्योंकि वह भक्षणीय है और ऊँट खानेके लिए वह नही दौड़ेगा, क्योंकि वह अभक्षणीय है। इस तरह विश्वकी सभी वस्तुओंको उभयात्मक—अनेकान्तात्मक माननेमें कौन-सी आपत्ति या विपत्ति है अर्थात् कोई आपत्ति या विपत्ति नही है।

अकलंकके इन सन्तुलित एवं सबल जवाबोंसे बिलकुल असन्दिग्ध है कि समन्तभद्रकी आप्तमीमासागत स्याद्वाद और अनेकान्तवादकी मान्यताओंका ही धर्मकीर्तिने खण्डन किया है और जिसका मुँहतोड़, किन्तु शालीन एवं करारा उत्तर अकलंकने दिया है। यदि समन्तभद्र धर्मकीर्तिके परवर्ती होते तो वे स्वय उनका जवाब देते और उस स्थितिमे अकलंकको धर्मकीर्तिके उपर्युक्त आक्षेपोंका उत्तर देनेका मौका ही नही आता।

चालीस-पचास वर्ष पूर्व स्व० पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, स्व० पं० सुखलाल संघवी आदि कुछ विद्वानोने समन्तभद्रको धर्मकीर्तिका परवर्ती होनेकी सम्भावना की थी।[1] किन्तु अब ऐसे प्रचुर प्रमाण सामने आ गये हैं, जिनके आधारपर धर्मकीर्ति समन्तभद्रसे काफी उत्तरवर्ती (३००-४०० वर्ष पश्चात्) सिद्ध हो चुके हैं। इस विषयमे डाक्टर ए०एन० उपाध्ये एवं डा० हीरालाल जैनका शाकटायन व्याकरण पर लिखा

(ख) दध्युष्ट्रादेरभेदत्वप्रसंगादेकचोदनम्।
पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोऽपि विदूषकः॥
सुगतोऽपि मृगो जातो मृगोऽपि सुगतः स्मृत.।
तथापि सुगतो वंद्यो मृगः खाद्यो यथेष्यते॥
तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति?—न्या० वि० ३-३७३, ३७४।

१. न्यायकु०, द्वि० भा०, प्रस्ता०, पृ० २७, अकलं० ग्रन्थत्रय०; प्राक्कथ०, पृ० ९, न्यायकु०, द्वि० भा०, पृ० १८–२०।

प्रधान सम्पादकीय द्रष्टव्य है। 'धर्मकीर्ति और समन्तभद्र' शीर्षक हमारा शोधपूर्ण लेख भी अवलोकनीय है,[1] जिसमें उक्त विद्वानोंके हेतुओंपर विमर्श करनेके साथ ही पर्याप्त नया अनुसन्धान प्रस्तुत किया गया है। ऐसे विषयोंपर हमें उन्मुक्त दिमागसे विचार करना चाहिए और सत्यके ग्रहणमें हिचकिचाना नहीं चाहिए।

प्रश्न २ और उसका समाधान

सम्पादकने दूसरा प्रश्न उठाया है कि 'सिद्धसेनके न्यायावतार और समन्तभद्रके श्रावकाचारमें किसी पद (पद्य) को समान रूपसे पाये जानेपर समन्तभद्रको ही पूर्ववर्ती क्यों माना जाय? यह भी सम्भव है कि समन्तभद्रने स्वयं उसे सिद्धसेनसे लिया हो और वह उससे परवर्ती हो?'

सम्पादककी प्रस्तुत सम्भावना इतनी कच्ची, शिथिल और निर्जीव है कि उसे पुष्ट करने वाला एक भी प्रमाण नही दिया जा सकता और न स्वयं सम्पादकने ही उसे दिया है। अनुसन्धानके क्षेत्रमें यह आवश्यक है कि सम्भावनाके पोषक प्रमाण दिये जायें, तभी उसका मूल्यांकन होता है और तभी वह विद्वानों द्वारा आदृत होती है।

न्यायावतारमें समन्तभद्रके रत्नकरण्डका ही पद्य

यहाँ उसीपर विमर्श किया जाता है। ऊपर जिन समन्तभद्रकी बहुत चर्चा की गयी है, उन्हींका रचित एक श्रावकाचार है, जो सबसे प्राचीन, महत्त्वपूर्ण और व्यवस्थित श्रावकाचारका प्रतिपादक ग्रन्थ है। इसके आरम्भमें धर्मकी व्याख्याका उद्देश्य बतलाते हुए उसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इन तीन रूप प्रकट किया गया है। सम्यग्दर्शनका स्वरूप उन्होंने परमार्थदेव, शास्त्र और गुरुका दृढ़ एवं अमूढ़ श्रद्धान कहा है। अतएव उन्हे इन तीनोंका लक्षण बतलाना भी आवश्यक था। देवका लक्षण प्रतिपादन करनेके उपरान्त समन्तभद्रने ९वें पद्यके[2] द्वारा शास्त्रका लक्षण निरूपित किया है। यह पद्य सिद्धसेनके न्यायावतारमें भी उसके ९वें पद्यके ही रूपमें पाया जाता है।

उसपर सयुक्तिक विमर्श

अब विचारणीय है कि यह पद्य रत्नकरण्ड श्रावकाचारका मूल पद्य है या न्यायावतारका मूल पद्य है। श्रावकाचारमे यह जहाँ स्थित है वहाँ उसका होना आवश्यक और अनिवार्य है। किन्तु न्यायावतारमें जहाँ वह है वहाँ उसका होना आवश्यक एवं अनिवार्य नहीं है, क्योंकि वह पूर्वोक्त शब्द-लक्षण (का० ८)[3] के समर्थनमें अभिहित है। उसे वहांसे हटा देनेपर ग्रन्थका अंग-भंग नहीं होता। किन्तु समन्तभद्रके श्रावकाचारसे उसे अलग कर देनेपर उसका अंग भंग हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि उक्त ९वां पद्य, जिसमें शास्त्रका लक्षण दिया गया है, श्रावकाचारका मूल है और न्यायावतारमें अपने विषय (८वें पद्यमें कथित

१. जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, १२६ से १३३।

२. आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्॥ —रत्न० श्लो० ९।

३. दृष्टेष्टाव्याहताद्वाक्यात् परमार्थाभिधायिनः।
तत्त्वग्राहितयोत्पन्नं मानं शाब्दं प्रकीर्तितम्॥

शब्दलक्षण) के समर्थनके लिए उसे वहाँसे ग्रन्थकारने स्वयं लिया है या किसी उत्तरवर्तीने लिया है और जो बादको उक्त ग्रन्थका भी अंग बन गया। ध्यातव्य है कि श्रावकाचारमें आप्तके लक्षणके बाद आवश्यक तौरपर प्रतिपादनीय शाब्दलक्षणका प्रतिपादक अन्य कोई पद्य नही है, जबकि न्यायावतारमे शाब्दलक्षणका प्रतिपादक ८वां पद्य है। इस कारण भी उक्त ९वां पद्य (आप्तोपज्ञमनु०) श्रावकाचारका मूल पद्य है, जिसका वहाँ मूल रूपसे होना नितान्त आवश्यक और अनिवार्य है तथा न्यायावतारमे उसका ८वें पद्यके समक्ष, मूल रूपमें होना अनावश्यक, व्यर्थ और पुनरुक्त है। अतः यही मानने योग्य एवं न्यायसंगत है कि न्यायावतारमें वह समन्तभद्रके श्रावकाचारसे लिया गया है न कि श्रावकाचारमे न्यायावतारसे उसे लिया है। अतः न्याया-वतारसे श्रावकाचारमें उसे (९वें पद्यको) लेनेकी सम्भावना बिल्कुल निर्मूल एवं बेदम हैं।

इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यमे देखनेपर न्यायावतारमे धर्मकीर्ति[1] (ई० ६३५), कुमारिल (ई० ६५०)[2] और पात्रस्वामी (ई० ६ठी, ७वी शती)[3] इन ग्रंथकारोका अनुसरण पाया जाता है और ये तीनों ग्रन्थकार समन्तभद्रके उत्तरवर्ती हैं। तब समन्तभद्रको न्यायावतारकार सिद्धसेनका परवर्ती बतलाना केवल पक्षाग्रह हैं। उसमे युक्ति या प्रमाण (आधार) कुछ भी नही है।

प्रश्न ३ और उसका समाधान

समीक्षकका तीसरा प्रश्न है कि 'न्यायशास्त्रके समग्र विकासकी प्रक्रियामे ऐसा नही हुआ है कि पहले जैन न्याय विकसित हुआ और फिर बौद्ध एवं ब्राह्मणोंने उसका अनुकरण किया हो।' हमें लगता है कि समी-क्षकने हमारे लेखको आपाततः देखा है—उसे ध्यानमे पढा ही नहीं है। उसे यदि ध्यानसे पढा होता, तो वे ऐसा स्खलित और भडकाने वाला प्रश्न न उठाते। हम पुनः उनसे उसे पढनेका अनुरोध करेंगे। हमने 'जैन न्यायका विकास'[4] लेखमें यह लिखा है कि 'जैन न्यायका उद्गम उक्त (बौद्ध और ब्राह्मण) न्यायोंमे नहीं हुआ, अपितु दृष्टिवाद श्रुतसे हुआ है। यह सम्भव है कि उक्त न्यायोंके साथ जैन न्याय भी फला-फूला हो। अर्थात् जैन न्यायके विकासमे ब्राह्मण न्याय और बौद्ध न्यायका विकास प्रेरक हुआ हो और उनकी विविध क्रमिक शास्त्र-रचना जैन न्यायकी क्रमिक शास्त्र-रचनामें सहायक हुई हो। समकालीनोंमें ऐसा आदान-प्रदान होना या प्रेरणा लेना स्वाभाविक है।' यहाँ हमने कहाँ लिखा कि पहले जैन न्याय विकसित हुआ और फिर बौद्ध एवं ब्राह्मणोंने उसका अनुकरण किया। हमें खेद और आश्चर्य है कि समीक्षक एक शोध-संस्थानके

---

१. (क) न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य संभवः।
तस्मात्प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते ॥—प्र० वा० ३-६३।
प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधामेयविनिश्चयात्।—न्यायाव०, श्लो० १।
(ख) कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्। न्या० बि०, पृ० ११।
अनुमानं तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत्। —न्यायाव० श्लो० ५।

२. कुमारिलके प्रसिद्ध प्रमाणलक्षण (तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्। अदुष्टाकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥) का 'बाधवर्जितम्' विशेषण न्यायावतारके प्रमाणलक्षणमें भी 'बाधवर्जितम्' के रूपमें अनुसृत है।

३. पात्रस्वामिका 'अन्यथानुपपन्नत्वं' आदि प्रसिद्धहेतुलक्षण न्यायावतारमे 'अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्' इस हेतुलक्षणप्रतिपादक कारिकाके द्वारा अपनाया गया है और 'ईरितम्' पदका प्रयोग कर उसकी प्रसिद्धि भी प्रतिपादित की गयी है।

४. जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, पृ० ७।

निदेशक होकर भी तथ्यहीन और भड़काने वाली शब्दावलीका आरोप हमपर लगा रहे हैं। जहाँ तक जैन न्यायके विकासका प्रश्न है उसमें हमने स्पष्टतया बौद्ध और ब्राह्मण न्यायके विकासको प्रेरक बतलाया है और उनकी शास्त्र-रचनाको जैन न्यायकी शास्त्र-रचनामें सहायक स्वीकार किया है। हाँ, जैन न्यायका उद्गम उनसे नहीं हुआ, अपितु दृष्टिवाद नामक बारहवें अंगश्रुतसे हुआ। अपने इस कथनको सिद्धसेन (द्वात्रिंशिकाकार)[1], अकलङ्क[2], विद्यानन्द[3] और यशोविजय[4] के प्रतिपादनोंसे पुष्ट एवं प्रमाणित किया है। हम पाठकों, खासकर समीक्षकसे अनुरोध करेंगे कि वे उस निबन्धको गौरसे पढ़नेकी कृपा करें और सही स्थिति एवं तथ्यको अवगत करें।

प्रश्न ४ और उसका समाधान

सम्पादकने चौथे और अन्तिम मुद्देमें मेरे 'तत्त्वार्थसूत्रकी परम्परा' निबन्धको लेकर लिखा है कि 'अनेक ऐसे प्रश्न हैं, जिनमे तत्त्वार्थसूत्रकार और दिगम्बर आचार्योंमें भी मतभेद हैं। अतः कुछ बातोंमें तत्त्वार्थसूत्रकार और अन्य श्वेताम्बर आचार्योंमें मतभेद होना इस बातका प्रमाण नही है कि तत्त्वार्थसूत्रकार श्वेताम्बर परम्पराके नहीं हो सकते।' अपने इस कथनके समर्थनमें कुन्दकुन्द और तत्त्वार्थसूत्रकारके नयों और गृहस्थके १२ व्रतों सम्बन्धी मतभेदको दिया है। इसी मुद्देमे हमारे लेखमे आयी कुछ बातोंका और उल्लेख किया है।

तत्त्वार्थसूत्रकी परम्परापर गहरा विमर्श

इस मुद्देपर भी हम विचार करते हैं। प्रतीत होता है कि सम्पादक महोदय मतभेद और परम्परा-भेद दोनोंमे कोई अन्तर नही मान रहे है, जब कि उनमें बहुत अन्तर है। वे यह तो जानते हैं कि अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहुके बाद जैन संघ दो परम्पराओंमें विभक्त हो गया—एक दिगम्बर और दूसरी श्वेताम्बर। ये दोनों भी उप-परम्पराओंमे विभाजित हैं। किन्तु मूलतः दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दो ही परम्पराएँ हैं। जो आचार्य दिगम्बरत्वका और जो श्वेताम्बरका समर्थन करते हैं वे क्रमशः दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्य कहे जाते हैं तथा उनके द्वारा निर्मित साहित्य दिगम्बर और श्वेताम्बर साहित्य माना जाता है।

अब देखना है कि तत्त्वार्थसूत्रमें दिगम्बरत्वका समर्थन है या श्वेताम्बरत्वका। हमने उक्त निबन्धमे इसी दिशामें विचार किया है। इस निबन्धकी भूमिका बांधते हुए उसमे प्राग्वृत्तके रूपमे हमने लिखा है[5] कि जहाँ तक हमारा ख्याल है, सबसे पहले पण्डित सुखलालजी 'प्रज्ञाचक्षु' ने तत्त्वार्थसूत्र और उसकी व्याख्याओं तथा कर्तृत्व विषयमे दो लेख लिखे थे ओर उनके द्वारा तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्ताको तटस्थ परम्परा (न दिगम्बर, न श्वेताम्बर) का सिद्ध किया था। इसके कोई चार वर्ष बाद सन् १९३४ में उपाध्याय श्री आत्मारामजीने कतिपय श्वेताम्बर आगमोंके सूत्रोंके साथ तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रोंका तथोक्त समन्वय करके 'तत्त्वार्थसूत्रजैनागम-समन्वय' नामसे एक ग्रन्थ लिखा और उसमें तत्त्वार्थसूत्रको श्वेताम्बर परम्पराका ग्रन्थ प्रसिद्ध किया। जब यह ग्रन्थ पण्डित सुखलाल जीको प्राप्त हुआ, तो अपने पूर्व (तटस्थ परम्परा) के विचार-

---

१. द्वात्रिंशिका, १-३०, ४-१५।
२. तत्त्वार्थवा० ८।१, पृ० २९५।
३. अष्टस० पृ० २३८।
४. अस्टसह० वि० टी०, पृ० १।
५. जैन दर्शन और प्रमाणशा०, पृ० ७६।

को छोड़कर उन्होंने उसे मात्र श्वेताम्बर परम्पराका प्रकट किया तथा यह कहते हुए कि 'उमास्वाति श्वेताम्बर परम्पराके थे और उनका सभाष्य तत्त्वार्थ सचेल पक्षके श्रुतके आधार पर ही बना है।'—'वाचक उमास्वाति श्वेताम्बर परम्परामें हुए, दिगम्बरमें नहीं।' निःसंकोच तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्ताको श्वेताम्बर होनेका अपना निर्णय भी दे दिया है।"

इसके बाद प० परमानन्दजी शास्त्री,[1] पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री[2] पं० नाथूरामजी प्रेमी'[3] जैसे कुछ दिगम्बर विद्वानोंने भी तत्त्वार्थसूत्रकी जांच की। इनमें प्रथमके दो विद्वानोंने उसे दिगम्बर और प्रेमीजीने यापनीय ग्रंथ प्रकट किया। हमने भी उसपर विचार करना उचित एवं आवश्यक समझा और उसीके फलस्वरूप तत्त्वार्थसूत्रकी मूल परम्परा खोजनेके लिए उक्त निबन्ध लिखा। अनुसन्धान करने और साधक प्रमाणोंके मिलनेपर हमने उसकी मूल परम्परा दिगम्बर बतलायी। समीक्षकने उन्हे निरस्त न कर मात्र व्याख्यान दिया है। किन्तु व्याख्यान समीक्षा नही कहा जा सकता, अपितु वह अपने पक्षका समर्थक कहा जायेगा।

परम्पराभेदका सूचक अन्तर

तत्त्वार्थसूत्र और कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमे प्रतिपादित नयों और गृहस्थके १२ व्रतोंमे वैचारिक या विवेचन पद्धतिका अन्तर है। ऐसा मतभेद परम्पराकी भिन्नताको प्रकट नही करता। समन्तभद्र, जिनसेन और सोमदेवके अष्टमूलगुण भिन्न होनेपर भी वे एक ही (दिगम्बर) परम्पराके हैं। पात्रभेद एवं कालभेदसे उनमें ऐसा विचार-भेद होना सम्भव है। विद्यानन्दने अपने ग्रन्थोंमें प्रत्यभिज्ञानके दो भेद माने हैं और अकलंक, माणिक्यनन्दि आदिने उसके अनेक (दोसे ज्यादा) भेद बतलाये हैं। और ये सभी दिगम्बर आचार्य है। पर तत्त्वार्थसूत्र और सचेलश्रुतमें ऐसा अन्तर नही है। उनमें मौलिक अन्तर है, जो परम्परा भेदका सूचक है। ऐसे मौलिक अन्तरको ही हमने उक्त निबन्धमे दिखाया है। संक्षेपमे उसे यहां दिया जाता है—

तत्त्वार्थसूत्र	सचेल श्रुत
१. अदर्शनपरीषह, ९-९-१४	दंसणपरीसह, सम्मत्तपरीसह (उत्तरा० सू० पृ० ८)
२. एक साथ १९ परीषह, ९-१७	एक साथ बीस परीषह, उत्तरा० त०, जैना० पृ २०८
३. तीर्थंकर प्रकृतिके १६ बधकारण, ६–२४	तीर्थंकर प्रकृतिके २० बधकारण (ज्ञातृ० सू० ८-६४)
४. विविक्तशय्यासन तप, ९-१९	संलीनता तप, (व्याख्या प्र० सू० २५।७-८)
५. नाग्न्यपरीषह, ९-९	अचेलपरीषह (उत्तरा० सू०, पृ० ८२
६. लौकान्तिक देवोंके ८ भेद ४-४२	लौकान्तिक देवोंके ९ भेद (ज्ञातृ०, भगवती०)

यह ऐसा मौलिक अन्तर है, जिसे श्वे० आचार्योका मतभेद नही कहा जा सकता। वह तो स्पष्टतया परम्पराभेदका प्रकाशक है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु या अन्य श्वेता० आचार्योंने सचेल श्रुतका पूरा अनुगमन किया है, पर तत्त्वार्थसूत्रकारने उसका अनुगमन नही किया। अन्यथा सचेलश्रुत विरुद्ध उक्त प्रकारका कथन तत्त्वार्थसूत्रमें न मिलता।

१. अनेकान्त, वर्ष, ४ कि० १।
२. वही, वर्ष ४ कि० ११-१२ तथा वर्ष ५ कि० १-२।
३. जैन साहित्यका इतिहास, पृ० ५३३, द्वि. सं., १९५६।

तत्त्वार्थसूत्रमें नाग्न्यपरीषह

तत्त्वार्थसूत्रमे 'अचेलपरीषह'के स्थानपर 'नाग्न्यपरीषह' रखनेपर विचार करते हुए हमने उक्त निबंध में लिखा था[1] कि 'अचेल' शब्द जब भ्रष्ट हो गया और उसके अर्थमें भ्रान्ति होने लगी तो आ० उमास्वातिने उसके स्थानमें नग्नता—सर्वथा वस्त्ररहितता अर्थको स्पष्टतः ग्रहण करनेके लिए 'नाग्न्य' शब्दका प्रयोग किया।' इसका तर्कसंगत समाधान न करके सम्पादकजी लिखते हैं कि 'डा० साहबने श्वे० आगमोंको देखा ही नहीं है। श्वे० आगमोंमें नग्नके प्राकृत रूप नग्ग या णगिणके अनेक प्रयोग देखे जाते हैं।' पर प्रश्न यह नहीं है कि आगमोंमें नग्नके प्राकृत रूप नग्ग या णगिणके प्रयोग मिलते हैं। प्रश्न यह है कि श्वे० आगमोंमें क्या 'अचेल परीषह' की स्थानापन्न 'नाग्न्य परीषह' उपलब्ध है? इस प्रश्नका उत्तर न देकर केवल उनमें 'नाग्न्य' शब्दके प्राकृत रूपों (नग्ग, णगिण) के प्रयोगोंकी बात करना और हमे श्वे० आगमोंसे अनभिज्ञ बताना न समाधान है और न शालीनता है। वस्तुतः उन्हे यह बताना चाहिए कि उनमें नाग्न्य परीषह है। किन्तु यह तथ्य है कि उनमे 'नाग्न्य परीषह' नही है। तत्त्वार्थसूत्रकारने ही उसे 'अचेलपरीषह'के स्थान में सर्वप्रथम अपने तत्त्वार्थसूत्रमे दिया है।

तत्त्वार्थसूत्रमें विविक्तशय्यासन तप

उक्त निबन्धमे परम्पराभेदकी सूचक तत्त्वार्थसूत्रगत एक बात कही है[2] कि तत्त्वार्थसूत्रमे श्वे० श्रुत-सम्मत संलीनता तपका ग्रहण नहीं किया, इसके विपरीत उसमे विविक्तशय्यासन तपका ग्रहण है, जो श्वे० श्रुतमे नही है। हरिभद्रसूरिके[3] अनुसार सलीनता तपके चार भेदोंमे परिगणित विविक्तचर्या द्वारा भी तत्त्वार्थसूत्रकारके विविक्तशय्याशनका ग्रहण नही हो सकता, क्योंकि विविक्तचर्या दूसरी चीज है और विविक्तशय्यासन अलग चीज है।

सम्पादकजीने हमारे इस कथनका भी अन्धाधुन्ध समीक्षण करते हुए लिखा है कि 'डा० साहबने विविक्तचर्यामे और विविक्तशय्यासनमें भी अन्तर मान लिया है, किन्तु किस आधारपर वे इनमें अन्तर करते है, इसका कोई स्पष्टीकरण नहीं दे पाये हैं, वस्तुतः दोनोंमें कोई अर्थभेद है ही नही।'

उनके इस समीक्षणपर बहुत आश्चर्य है कि जो अपनेको श्वे० आगमोंका पारंगत मानता है वह विविक्तचर्या और विविक्तशय्यासनके अर्थमे कोई भेद नही बतलाता है तथा दोनोको एक ही कहता है। जैन धर्मका साधारण ज्ञाता भी यह जानता है कि चर्या गमन (चलने) को कहा गया है और शय्यासन सोने एवं बैठनेको कहते है। दोनोंमें दो भिन्न दिशाओंकी तरह भेद है। साधु जब ईर्यासमितिसे चलता है—चर्या करता है तब वह सोता-बैठता नहीं है और जब सोता-बैठता है तब वह चलता नही है। वस्तुतः उनमे पूर्व और पश्चिम जैसा अन्तर है। पर सम्पादकजी अपने पक्षके समर्थनकी धुनमें उस अन्तरको नही देख पा रहे हैं। यहाँ विशेष ध्यातव्य है कि तत्त्वार्थसूत्रकारने २२ परीषहोंमे चर्या, निषद्या और शय्या इन तीनोंको परीषहके रूपमे गिनाया है। किन्तु तपोंका विवेचन करते समय उन्होंने चर्याको तप नही कहा, केवल शय्या और आसन दोनोंको एक बाह्य तप बतलाया है,[4] जो उनकी सूक्ष्म सिद्धान्तज्ञताको प्रकट करता है। वास्तवमें

१. जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, पृ० ८३।
२. वही, पृ० ८१।
३. व्याख्याप्र० श० २५, उ० ७, सू० ८ की हरिभद्र सूरिकृत वृत्ति। तथा वही पृ० ८१।
४. त० सू०, ९-१९।

चर्या विविक्तमें नहीं हो सकती। मार्गमें जब साधु गमन करता है तो उसमें उसे मार्गजन्य कष्ट तो हो सकता है और उसे सहन करनेसे उसे परीषहजय कहा जा सकता है। किन्तु उसमें विविक्तपना नहीं हो सकता और इसलिए उन्होंने विविक्तचर्या तप नहीं बतलाया। शय्या और आसन दोनों एकान्तमें हो सकते है। अतएव उन्हें विविक्तशय्यासन नामसे एक तपके रूपमें बाह्य तपोंमे भी परिगणित किया गया है। सम्पादकजी सूक्ष्म विचार करेंगे, तो उनमे स्पष्टतया अर्थभेद उन्हे ज्ञात हो जायेगा। पं० सुखलालजीने[1] चर्या और शय्यासनमे अर्थभेद स्वीकार किया है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि 'स्वीकार किये धर्मजीवनको पुष्ट रखनेके लिए असंग होकर भिन्न-भिन्न स्थानोंमे विहार और किसी भी एक स्थानमे नियत वास स्वीकार न करना चर्या परीषह है।'....'आसन लगाकर बैठे हुए ऊपर यदि भयका प्रसंग आ पड़े तो उसे अकम्पित भावसे जीतना किंवा आसनसे च्युत न होना निषद्या परीषह है'....जगहमें समभावपूर्वक शयन करना शय्या-परीषह है।' आशा है सम्पादकजी चर्या, शय्या और आसनके पण्डितजी द्वारा प्रदर्शित अर्थभेदको नहीं नकारेंगे और उनके भेदको स्वीकारेंगे।

तत्त्वार्थसूत्रमें तीर्थंकर प्रकृतिके १६ बन्धकारण

तत्त्वार्थसूत्रमे परम्पराभेदकी एक और महत्त्वपूर्ण बातको उसी निबन्धमें प्रदर्शित किया है।[2] हमने लिखा है कि श्वेताम्बर श्रुतमे तीर्थंकर प्रकृतिके २० बन्धकारण बतलाये है और इसमें ज्ञातृधर्मकथांगसूत्र (८-६४) तथा निर्युक्तिकार भद्रबाहुकी आवश्यकनिर्युक्तिकी चार गाथाएँ प्रमाणरूपमे दी है। किन्तु तत्त्वार्थसूत्रमें तीर्थंकर प्रकृतिके १६ ही कारण निर्दिष्ट है, जो दिगम्बर परम्पराके प्रसिद्ध आगम 'षट्-खण्डागम (३-१४) के अनुसार है और उनका वही क्रम तथा वे ही नाम हैं।'

इसकी भी उन्होंने समीक्षा की है। लिखा है कि 'प्रथम तो यह कि तत्त्वार्थ एक सूत्रग्रन्थ है, उसकी शैली संक्षिप्त है। दूसरे, तत्त्वार्थसूत्रकारने १६ की संख्याका निर्देश नही किया है, यह लिखनेके बाद तत्त्वार्थसूत्रमे सचेल श्रुतपना सिद्ध करनेके लिए पुनः लिखा है कि 'आवश्यकनिर्युक्ति और ज्ञातृधर्मकथामे जिन बीस बोलोंका उल्लेख है उनमे जो ४ बाते अधिक हैं वे हैं—धर्मकथा, सिद्धभक्ति, स्थविरभक्ति (वात्सल्य), तपस्वी-वात्सल्य और अपूर्वज्ञानग्रहण। इनमेसे कोई भी बात ऐसी नहीं है, जो दिगम्बर परम्पराको अस्वीकृत रही हो, इसलिए छोड़ दिया हो, यह तो मात्र उसकी संक्षिप्त शैलीका परिणाम है।'

इस सम्बन्धमे हम समीक्षकसे पूछते हैं कि ज्ञातृधर्मकथासूत्र भी सूत्रगन्थ है, उसमें बीस कारण क्यों गिनाये, तत्त्वार्थसूत्रकी तरह उसमे १६ ही क्यो नही गिनाये, क्योंकि सूत्रग्रन्थ है और सूत्रग्रन्थ होनेसे उसकी भी शैली संक्षिप्त है। तत्त्वार्थसूत्रमे १६ की संख्याका निर्देश न होनेकी तरह ज्ञातृधर्मकथासूत्रमे भी २० की संख्याका निर्देश न होनेसे क्या उसमे २० के सिवाय और भी कारणोंका समावेश है? इसका उत्तर समीक्षकके पास नही है। वस्तुतः तत्त्वार्थसूत्रमे सचेलश्रुतके आधारपर तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धकारण नहीं बतलाये, अन्यथा आवश्यकनिर्युक्तिकी तरह उसमे ज्ञातृधर्मकथासूत्रके अनुसार वे ही नाम और वे ही २० संख्यक कारण प्रतिपादित होते। किन्तु उसमें दिगम्बर परम्पराके षट्खण्डागम[3] के अनुसार वे ही नाम और उतनी ही १६ की संख्याको लिए हुए बन्धकारण निरूपित हैं। इससे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बर

---

१. त० सू०, विवेचन सहित, ९-९, पृ० ३४८।

२. जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परि०, पृ० ७९-८०।

३. षट्खं०, ३-४०, ४१ पुस्तक ८, पृ० ७८-७९।

श्रुतके आधारपर रचा गया है और इसलिए वह दिगम्बर परम्पराका ग्रन्थ है और उसके कर्ता दिगम्बराचार्य हैं। उत्सूत्र और उत्सूत्र लेखक श्वेताम्बर परम्पराका अनुसारी नही हो सकता, यह समीक्षकके लिए अवश्य चिन्त्य है।

अब रही तत्त्वार्थसूत्रमें १६ की संख्याका निर्देश न होनेकी बात। सो प्रथम तो वह कोई महत्त्व नहीं रखती, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रमें जिसके भी भेद प्रतिपादित हैं, उसकी संख्याका कहीं भी निर्देश नहीं है। चाहे तपोंके भेद हों, चाहे परीषहों आदिके भेद हों। सूत्रकारकी यह पद्धति है, जिसे सर्वत्र अपनाया गया है। अतः तत्त्वार्थसूत्रकारको तीर्थंकर-प्रकृतिके बन्धकारणोंको गिनानेके बाद संख्यावाची १६ (सोलह)के पदका निर्देश अनावश्यक है। तत्संख्यक कारणोंको गिना देनेसे ही वह संख्या सुतरां फलित हो जाती है। १६ की संख्या न देनेका यह अर्थ निकालना सर्वथा गलत है कि उसके न देनेसे तत्त्वार्थसूत्रकारको २० कारण अभिप्रेत हैं और उन्होंने सिद्धभक्ति आदि उन चार बन्धकारणोंका संग्रह किया है, जिन्हें आवश्यकनिर्युक्ति और ज्ञातृधर्मकथामें २० कारणों (बोलों)के अन्तर्गत बतलाया गया है। सम्पादकजीका उससे ऐसा अर्थ निकालना नितान्त भ्रम है। उन्हें तत्त्वार्थसूत्रकी शैलीका सूक्ष्म अध्ययन करना चाहिए। दूसरी बात यह है कि तीर्थंकर प्रकृतिके १६ बन्धकारणोंका प्ररूपक सूत्र (त० सू० ६-२४) जिस दिगम्बर श्रुत षट्खण्डागमके आधारसे रचा गया है उसमें स्पष्टतया 'दंसणविसुज्झदाए—इच्चेदेहिं सोलसेहि कारणेहिं जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बधंति।'—(३-४१, पुस्तक ८) इस सूत्रमें[1] तथा उसके पूर्ववर्ती सूत्र[2] (३-४०)मे भी १६ की संख्याका निर्देश है। अतः षट्खण्डागमके इन दो सूत्रोंके आधारसे रचे तत्त्वार्थसूत्रके उल्लिखित (६-२४) सूत्रमें १६ की संख्याका निर्देश अनावश्यक है। उसकी अनुवृत्ति वहाँसे सुतरां हो जाती है।

सिद्धभक्ति आदि अधिक ४ बाते दिगम्बर परम्परामें स्वीकृत हैं या नहीं, यह अलग प्रश्न है। किंतु यह सत्य है कि वे तीर्थंकर प्रकृतिकी अलग बन्धकारण नहीं मानी गयी। सिद्धभक्ति कर्मध्वंसका कारण है तब वह कर्मबन्धका कारण कैसे हो सकती है। इसीसे उसे तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धकारणोंमें सम्मिलित नहीं किया। अन्य तीन बातोंमें स्थविरभक्ति और तपस्विवात्सल्यका आचार्यभक्ति एवं साधु-समाधिमें तथा अपूर्वज्ञानग्रहणका अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोगमे समावेश कर लेनेसे उन्हें पृथक् ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं है। समीक्षकको गम्भीरता और सूक्ष्म अनुसन्धानके साथ ही समीक्षा करनी चाहिए, ताकि नीर-क्षीर न्यायका अनुसरण किया जा सके और एक पक्षमें प्रवाहित होनेसे बचा जा सके।

तत्त्वार्थसूत्रमें स्त्रीपरीषह और दंश-मशकपरीषह

हमने अपने उक्त निबन्धमें दिगम्बरत्वकी समर्थक एक बात यह भी कही है कि तत्त्वार्थसूत्रमें स्त्रीपरीषह और दंशमशक इन दो परीषहोंका प्रतिपादन है, जो अचेलश्रुतके अनुकूल हैं। उसकी सचेल श्रुतके आधारसे रचना माननेपर इन दो परीषहोंकी तरह पुरुषपरीषहका भी उसमें प्रतिपादन होता, क्योंकि सचेल

---

१. दंसणविसुज्झदाए विणयसंपण्णदाए सीलव्वदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खणलवबुज्झणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए जधाथामे तधा तवे साहूणं पासुअपरिचागदाए साहूणं समाहिसंधारणाए साहूणं वेज्जावच्च जोगजुत्तदाए अरहंतभत्तीए बहुसुदभत्तीए पवयणभत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयणप्पभावणदाए अभिक्खणं अभिक्खणं णाणोवजोगजुत्तदाए इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति ।।४१।।

२. तत्थ इमेहि सोलसेहि कारणेहि जीवो तित्थकरणामगोदकम्मं बंधंति ।।४०।।
इन दोनों सूत्रोंमें १६ की संख्याका स्पष्ट निर्देश है।

श्रुतमें स्त्री और पुरुष दोनोंको मोक्ष स्वीकार किया गया है तथा दोनों एक-दूसरेके मोक्षमें उपद्रवकारी हैं। कोई कारण नहीं कि स्त्रीपरीषह तो अभिहित हो और पुरुषपरीषह अभिहित न हो, क्योंकि सचेल श्रुतके अनुसार उन दोनोमें मुक्तिके प्रति कोई वैषम्य नही। किन्तु दिगम्बर श्रुतके अनुसार पुरुषमें वज्रवृषभनाराचसंहननत्रय हैं, जो मुक्तिमें सहकारी कारण हैं। परन्तु स्त्रीके उनका अभाव होनेसे उसे मुक्ति सभव नहीं है और इसीसे तत्त्वार्थसूत्रमें मात्र स्त्रीपरीषहका प्रतिपादन है, पुरुषपरीषहका नहीं। इसी प्रकार दंशमशक परीषह सचेलसाधुको नहीं हो सकती—नग्न—दिगम्बर—पूर्णतया अचेल साधुको ही संभव है।

समीक्षकने इन दोनों बातोंकी भी समीक्षा करते हुए हमसे प्रश्न किया है कि 'जो ग्रन्थ इन दो परीषहोंका उल्लेख करता हो, वह दिगम्बर परम्पराका होगा, यह कहना भी उचित नही है। फिर तो उन्हें श्वे० आचार्यों एव ग्रन्थोंको दिगम्बर परम्पराका मान लेना होगा, क्योकि उक्त दोनों परीषहोंका उल्लेख तो सभी श्वे० आचार्योंने एवं श्वे० आगमोंमें किया गया और किसी श्वे० ग्रन्थमे पुरुषपरीषहका उल्लेख नही है।'

समीक्षकका यह आपादन उस समय बिल्कुल निरर्थक सिद्ध होता है जब जैन संघ एक अविभक्त संघ था और तीर्थंकर महावीरकी तरह पूर्णतया अचेल (सर्वथा वस्त्र रहित) रहता था। उसमें न एक, दो आदि वस्त्रोंका ग्रहण था और न स्त्रीमोक्षका समर्थन था। गिरि-कन्दराओं, वृक्षकोटरों, गुफाओं, पर्वतों और वनोंमें ही उसका वास था। सभी साधु अचेलपरीषहको सहते थे। आ० समन्तभद्र (२ री-३ री शती) के अनुसार उनके कालमे भी ऋषिगण पर्वतों और उनकी गुफाओंमे रहते थे। स्वयम्भूस्तोत्रमे २२व तीर्थंकर अरिष्टनेमिके तपोगिरि एवं निर्वाणगिरि ऊर्जयन्त पर्वतको 'तीर्थ-संज्ञाको वहन करनेवाला बतलाते हुए उन्होंने उसे ऋषिगणोंसे परिव्याप्त कहा है। और उनके कालमे भी वह वैसा था।

भद्रबाहुके बाद जब संघ विभक्त हुआ तो उसमें पार्थक्यके बीज आरम्भ हो गये औ वे उत्तरोत्तर बढते गये। इन बीजोंमे मुख्य वस्त्रग्रहण था। वस्त्रको स्वीकार कर लेनेपर उसकी अचेल परीषहके साथ संगति बिठानेके लिए उसके अर्थमे परिवर्तनकर उसे अल्पचेलका बोधक मान लिया गया। तथा सवस्त्र साधुकी मुक्ति मान ली गयी। फलतः सवस्त्र स्त्रीकी मुक्ति भी स्वीकार कर ली गयी। साधुओंके लिए स्त्रियों द्वारा किये जानेवाले उपद्रवोंको सहन करनेकी आवश्यकतापर बल देने हेतु संवरके साधनोंमे स्त्रीपरीषहका प्रतिपादन तो ज्यों-का-त्यों बरकरार रखा गया। किन्तु स्त्रियोंके लिए पुरुषों द्वारा किये जानेवाले उपद्रवोंको सहन करने हेतु संवरके साधनोंमे पुरुषपरीषहका प्रतिपादन सचेल श्रुतमे क्यों छोड दिया गया, यह वस्तुतः अनुसन्धेय एवं चिन्त्य है। अचेल श्रुतमे ऐसा कोई विकल्प नहीं है। अतः तत्त्वार्थसूत्रमे मात्र स्त्रीपरीषहका प्रतिपादन होनेसे वह अचेल श्रुतका अनुसारी है। स्त्रीमुक्ति को स्वीकार न करनेसे उसमे पुरुषपरीषहके प्रतिपादनका प्रसंग ही नही आता। स्त्रीपरीषह और दंशमशकपरीषह इन दो परीषहोंके उल्लेखमात्रसे ही तत्त्वार्थ सूत्र दिगम्बर ग्रन्थ नही है, जिससे उनका उल्लेख करने वाले सभी श्वे० आचार्य और ग्रन्थ दिगम्बर परम्पराके हो जाने या माननेका प्रसंग आता, किन्तु उपरिनिर्दिष्ट वे अनेक बातें हैं, जो सचेल श्रुतसे विरुद्ध हैं और अचेल श्रुतके अनुकूल हैं। ये अन्य सब बातें श्वे० आचार्यों और उनके ग्रन्थोंमें नहीं हैं। इन्ही सब बातोंसे दो परंपराओंका जन्म हुआ और महावीर तीर्थंकरसे भद्रबाहु श्रुतकेवली तक एक रूपमें चला आया जैन संघ टुकड़ोंमे बँट गया। तीव्र एवं मूलके उच्छेदक विचार-भेदके ऐसे ही परिणाम निकलते हैं।

दंशमशकपरीषह वस्तुतः निर्वस्त्र (नग्न) साधुको ही होना सम्भव है, सवस्त्र साधुको नही, यह साधारण व्यक्ति भी समझ सकता है। जो साधु एकाधिक कपड़ों सहित हो, उसे डांस-मच्छर कहांसे

काटेंगे, तब उस परीषहके सहन करनेका उसके लिए प्रश्न ही नहीं उठता। सचेल श्रुतमें उसका निर्देश मात्र पूर्वपरम्पराका स्मारक भर है। उसकी सार्थकता तो अचेल श्रुतमें ही संभव है।

अतः ये (नाग्न्यपरीषह, दंशमशकपरीषह और स्त्री-परीषह) तीनों परीषह तत्त्वार्थसूत्रमें पूर्ण निर्ग्रन्थ (नग्न) साधुकी दृष्टिसे अभिहित हुए हैं। अतः 'तत्त्वार्थसूत्रकी परंपरा' निबन्धमें जो तथ्य दिये गये हैं वे निर्बाध हैं और वे उसे दिगम्बर परम्पराका ग्रन्थ प्रकट करते हैं। उसमें समीक्षक द्वारा उठायी गयी आपत्तियोंमेंसे एक भी आपत्ति बाधक नहीं है, प्रत्युत वे सारहीन सिद्ध होती हैं।

समीक्षाके अन्तमें हमें कहा गया है कि 'अपने धर्म और संप्रदायका गौरव होना अच्छी बात है, किन्तु एक विद्वान्से यह भी अपेक्षित है कि वह नीर-क्षीर विवेकसे बौद्धिक ईमानदारी पूर्वक सत्यको सत्यके रूपमें प्रकट करे। कै अच्छा होता, समीक्षक समीक्ष्य ग्रन्थकी समीक्षाके समय स्वयं भी उसका पालन करते और 'उमास्वाति श्वेताम्बर परम्परामें थे और उनका सभाष्य तत्त्वार्थ सचेल पक्षके श्रुतके आधारपर ही बना है।' 'वाचक उमास्वाति श्वेताम्बर परम्परामें हुए, दिगम्बरमें नहीं।' ऐसा कहनेवालोंके सम्बन्धमें भी कुछ लिखते और उनके सत्यकी जांच कर दिखाते कि उसमें कहां तक सचाई, नीर-क्षीर विवेक एवं बौद्धिक ईमानदारी है।

उपसंहार

वास्तवमे अनुसंधानमे पूर्वाग्रहकी मुक्ति आवश्यक है। हमने उक्त निबन्धमें वे तथ्य प्रस्तुत किये हैं जो अनुसन्धान करनेपर उपलब्ध हुए हैं।
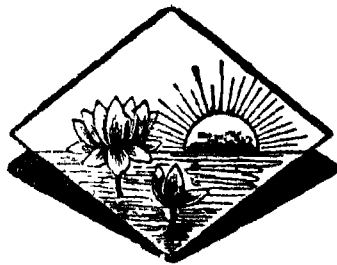
गुणचन्द्रमुनि कौन हैं ?

आचार्य वादिराज (ई० सन् १०२५) ने अपने न्यायविनिश्चयविवरण (२।१०३) में अकलङ्कदेवके न्यायविनिश्चयकी कारिका १०२, १०३ की व्याख्या करते हुए 'अथवा' शब्दके साथ निम्न पद्य दिया है—

देवस्य शासनमतीवगम्भीरमेतत्तात्पर्यतः क इव बोद्धुमतीव दक्षः ।
विद्वान्न चेत् स गुणचन्द्रमुनिर्न विद्यानन्दोऽनवद्यचरणः सदनन्तवीर्यः ।।१०४०।।

अर्थात् 'यदि गुणचन्द्रमुनि, अनवद्यचरण विद्यानद और सज्जन अनन्तवीर्य (रविभद्रशिष्य-सिद्धि-विनिश्चय-टीकाकार एवं प्रमाणसंग्रह-भाष्यकार अनन्तवीर्य) ये तीन विद्वान् देव (अकलङ्कदेव) के गम्भीर शासन-वाङ्मय) के तात्पर्यका व्याख्यान न करते तो उसे कौन समझनेमें समर्थ था।'

यहाँ वादिराजसूरिने विद्यानन्द और अनन्तवीर्यसे पहले जिन गुणचन्द्र मुनिका उल्लेख किया है वे कौन हैं और उन्होंने अकलङ्कदेवके कौन-से ग्रन्थकी व्याख्यादि की है ? आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्री (देवागमालङ्कार) में उनकी अष्टशतीका विशद व्याख्यान किया है और रविभद्र-शिष्य अनन्तवीर्यने उनके प्रमाणसंग्रहपर प्रमाणसंग्रहभाष्य तथा सिद्धिविनिश्चयपर विस्तृत टीका लिखी है, यह सभी विद्वान् जानते हैं। किन्तु गुणचन्द्रमुनिने उनके कौन-से ग्रन्थपर व्याख्या लिखी है, यह कोई भी विद्वान् नही जानता और न ऐसी उनकी कोई व्याख्या ही उपलब्ध है, न ही वह अनुपलब्धके रूपमें ही ज्ञात है। फिर भी वादिराजके इस स्पष्ट उल्लेखसे इतना जरूर ज्ञात होता है कि अकलङ्कके शासन (वाङ्मय) के व्याख्यातारूपमें उन्हे एक जुदा व्यक्ति अवश्य होना चाहिए। प्रभाचन्द्रने अकलङ्कके लघीयस्त्रयपर लघीयस्त्रयालंकार नामकी टीका लिखी है, जिसका दूसरा नाम न्यायकुमुदचन्द्र है। ये प्रभाचन्द्र वादिराजके समकालीन अथवा कुछ उत्तरवर्ती हैं। इसलिए 'गुणचन्द्रमुनि' पदसे प्रभाचन्द्रका उल्लेख उन्होंने किया हो, यह सम्भव प्रतीत नही होता। अतः उक्त पदसे वादिराजको अपनेसे पूर्ववर्ती अकलंकका व्याख्याकार अभिप्रेत होना चाहिए, जो विद्यानन्द और अनन्तवीर्य जैसे व्याख्याकारोसे पूर्ववर्ती एवं प्रभावशाली भी हों। परन्तु अब तक उपलब्ध जैन साहित्यमे विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, वादिराज और प्रभाचन्द्र इन चार विद्वानाचार्योके सिवाय अकलंकका अन्य कोई व्याख्याकार दृष्टिगोचर नही होता। अतः स्वभावतः प्रश्न उठता है कि वादिराज द्वारा उल्लिखित गुणचन्द्र मुनि कौन हैं और वे कब हुए तथा उनकी रचनाएँ कौन-सी हैं ?

यदि वस्तुतः 'गुणचन्द्रमुनि' पदसे वादिराजको गुणचन्द्रमुनि नामके विद्वान्का उल्लेख करना अभीष्ट है, जो अकलंकके किसी ग्रन्थका प्रभावशाली व्याख्याकार रहा हो तो विद्वानोंको इसपर अवश्य विचार करना चाहिए तथा उनका अनुसंधान करके परिचय प्रस्तुत करना चाहिए।

यहाँ ध्यातव्य है कि प्रसिद्ध जैन साहित्य अनुसन्धाता पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारका विचार है कि 'गुण' शब्द प्रभाके अर्थमे प्रयुक्त हुआ है और इसलिए 'गुणचन्द्र' पदसे आचार्य वादिराजके द्वारा उन्हीं प्रभाचन्द्रका उल्लेख किया गया है जिनका उल्लेख जिनसेनाचार्यने आदिपुराणमें किया है और जिन्हें 'कृत्वा चन्द्रोदय' पदके द्वारा 'चन्द्र'के उदय (उत्पत्ति) का कर्त्ता अर्थात् न्यायकुमुदचन्द्र नामक जैन न्यायग्रन्थका जो अकलंकदेवके लघीयस्त्रयकी टीका है, रचयिता बतलाया है। उनका मत है कि प्रमेयकमलमार्त्तण्डके कर्त्ता

प्रभाचन्द्र और न्यायकुमुदचन्द्रके कर्त्ता प्रभाचन्द्र भिन्न हैं—दोनोंको अभिन्न मानना तब तक ठीक नहीं है जब तक उनकी अभिन्नताके समर्थक प्रमाण सामने न आजायें।

मुख्तारसाहबका यह मत विचारणीय है। हमारा विचार है कि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके कर्त्ता एक ही प्रभाचन्द्र हैं और वे ११ वीं शताब्दीमें राजा भोज और उसके उत्तराधिकारी जयसिंहके राज्यकालमें हुए हैं। वादिराज सूरि भी ११वीं शतीके विद्वान् हैं। यह पूरी संभावना है कि वे प्रभाचन्द्रकी कृतियोंसे सुपरिचित हो चुके होंगे। वादिराजने न्यायविनिश्चयविवरण, पार्श्वनाथचरित (ई० १०२५) के बाद ही लिखा है तब तक न्यायकुमुद (लघीयस्त्रयालंकार) के कर्ता प्रभाचन्द्र वृद्ध ग्रन्थकारके रूपमें प्रसिद्ध हो चुके हों तो कोई आश्चर्य नहीं और तब वादिराजने 'गुणचन्द्रमुनि' पदके द्वारा उन्हींका उल्लेख किया हो। फिर भी यह सब अनुसन्धेय है।

कौन-सा कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्र है ?

आचार्य यतिवृषभने अपनी 'तिलोयपण्णत्ती' (४-१४७९) में 'कुण्डलगिरि' से **श्री अन्तिम केवली श्रीधरके** सिद्ध (मुक्त) होनेका उल्लेख किया है। जैसा कि निम्न गाथा-वाक्यसे प्रकट है—

'कुंडलगिरिम्मि चरिमो केवलणाणीसु सिरिधरो सिद्धो।'

'केवलज्ञानियोंमें अन्तिम केवलज्ञानी श्रीधरने कुण्डलगिरिमें सिद्ध पद प्राप्त किया।'

इसके आधारसे कुछ लोगोंका विचार है कि आचार्य यतिवृषभने यहाँ (उक्त गाथामें) उसी 'कुण्डलगिरि' का उल्लेख किया है, जो मध्यप्रदेशके दमोह जिलान्तर्गत पटेरा ग्रामके पास स्थित कुण्डलगिरि है, जिसे आजकल कुण्डलपुर कहते हैं और जो अतिशयक्षेत्र माना जाता है। अतएव इस प्रमाणोल्लेखके आधारपर अब उसे सिद्धक्षेत्र मानना चाहिए और यह घोषित कर देना चाहिए।

गत वर्ष सन् १९४५ में जब अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्का अधिवेशन कटनी (म० प्र०) में हुआ, तो इसके निर्णयके लिए तीन विद्वानोंकी एक उपसमिति बनाई गई। उसमें एक नाम मेरा भी था। अतएव यह अनुसन्धेय था कि तिलोयपण्णत्तीके उपर्युक्त उल्लेखमें कौन-से कुण्डलगिरिसे अन्तिम केवली श्रीधरके निर्वाणका प्रतिपादन किया गया है? आज हम उसीपर विचार करेंगे।

प्राप्त जैन साहित्यमें 'कुण्डलगिरि' के सिद्धक्षेत्रके रूपमें दो उल्लेख मिलते हैं। एक तो उपर्युक्त 'तिलोयपण्णत्ती' का है और दूसरा उल्लेख पूज्यपाद (देवनन्दि) की निर्वाण-भक्तिका है, जो इस प्रकार है।

द्रोणीमति प्रवरकुंडल-मेढ्रके च वैभारपर्वततले वरसिद्धकूटे।
ऋष्यद्रिके च विपुलाद्रि-बलाहके च विन्ध्ये च पौदनपुरे वृषदीपके च ॥

—दशभक्त्या० पृ० २३३।

इस उल्लेखमें 'कुण्डल' पदका स्पष्ट प्रयोग है और आगे-पीछेके सभी अद्रि (गिरि) हैं और इसलिए 'कुंडल' पदसे 'कुण्डलगिरि' स्पष्टतया पूज्यपादको अभीष्ट है। कुण्डलगिरिके इस प्रकार ये दो उल्लेख हैं। इन दोके अतिरिक्त अभी तक हमें अन्य उल्लेख नहीं मिला। यदि पूज्यपाद यतिवृषभके पूर्ववर्ती हैं तो कुण्डलगिरिका उनका उल्लेख उनसे प्राचीन समझना चाहिए।

अब देखना है कि जिस कुण्डलगिरिका उल्लेख पूज्यपादने किया है वह कौन-सा है और कहाँ है? क्या उसके दूसरे भी नाम है? तिलोयपण्णत्तीमें उन पाँच पर्वतोंके नाम और अवस्थान दिये हैं, जिन्हें 'पंच शैल' या 'पंच पहाड़ी' कहा जाता है और जो राजगिर (राजगृही) के पास हैं। वे इस प्रकार हैं—

चउरस्सो पुव्वाए रिसिसेलो दाहिणाए वेभारो।
णइरिदिदिसाए विउलो दोण्णि तिकोणट्ठिदायारा ॥
चावसरिच्छो छिण्णो वरुणाणिलसोमदिसविभागेसु।
ईसाणाए पंडू वण्णा सव्वे कुसग्गपरियरणा ॥१-६६, ६७॥

'राजगृहनगरके पूर्वमें चतुष्कोण ऋषिशैल (ऋष्यद्रि), दक्षिणमें वैभार और नैऋत्यदिशामें विपुलाचल पर्वत हैं। ये दोनों वैभार और विपुलाचल पर्वत त्रिकोण आकृतिसे युक्त हैं।

पश्चिम, वायव्य और सोम (उत्तर) दिशामें फैला हुआ धनुषके आकार छिन्न नामका पर्वत है और ईशान दिशामें पाण्डु नामका पर्वत है। उपर्युक्त पाँचों ही पर्वत कुशसमूहसे आच्छादित हैं।

हरिवंशपुराणमें इन पाँचों पर्वतोंका निम्न प्रकार उल्लेख है—

ऋषिपूर्वो गिरिस्तत्र चतुरस्रः सनिर्झरः।
दिग्गजेन्द्र इवेन्द्रस्य ककुभं भूषयत्यलम्॥
वैभारो दक्षिणामाशां त्रिकोणाकृतिराश्रितः।
दक्षिणापरदिङ्मध्यं विपुलश्च तदाकृतिः॥
सज्जचापाकृतिस्तिस्रो दिशो व्याप्य बलाहकः।
शोभते पांडुको वृत्तः पूर्वोत्तरदिगन्तरे॥३ ५३ से ३–५५॥

इन पद्यों द्वारा हरिवंशपुराणकारने 'तिलोयपण्णत्ती' की तरह उक्त पाँचों पर्वतोंके नाम और उनकी अवस्थिति बतलायी है।

वीरसेनस्वामीने भी धवला और जयधवलामें उनका निम्न प्रकार कथन किया है—

ऋषिगिरिरैन्द्राशायां चतुरस्रो याम्यदिशि च वैभारः।
विपुलगिरिर्नैऋत्यामुभौ त्रिकोणौ स्थितौ तत्र॥
धनुराकारश्छिन्नो वारुण-वायव्य-सोमदिक्षु तत.।
वृत्ताकृतिरीशाने पांडुस्सर्वे कुशाग्रवृताः॥

—धवला (मु०), पृ० ६२, जयधवला (मु०), पृ० ७३।

इन तीनों-चारों स्थानोमे ऋषिगिरि (ऋष्यद्रिक), वैभार, विपुलगिरि, बलाहक (छिन्न) और पाण्डुगिरि इन पाँच पर्वतोंका समुल्लेख किया गया है और उनकी स्थिति बतलायी गयी है। यहाँ ध्यातव्य है कि बलाहकको छिन्न भी कहा गया है। अतः ये एक ही पर्वतके दो नाम हैं और ग्रन्थकारोंने उसका छिन्न अथवा बलाहक नामसे उल्लेख किया है। जिन्होंने बलाहक नाम दिया है उन्होंने 'छिन्न' नाम नही दिया और जिन्होंने 'छिन्न' नाम दिया है उन्होंने 'बलाहक' नाम नही दिया और उसका अवस्थान सभीने एक-सा बतलाया है तथा उसकी गिनती पंच पहाड़ोमे की है, जो राजगृहके निकट हैं। अतः बलाहक और छिन्न ये दोनों पर्यायवाची नाम हैं। इसी तरह ऋष्यद्रिक, ऋषिगिरि और ऋषिशैल ये भी एक ही पर्वतके तीन पर्यायनाम हैं।

इसी प्रकार यह भी ध्यातव्य है कि जिन वीरसेन और जिनसेन स्वामीने पाण्डुगिरिका नामोल्लेख किया है उन्होंने कुण्डलगिरिका उल्लेख नही किया। तथा पूज्यपादने जहाँ सभी निर्वाणक्षेत्रोंको गिनाते हुए कुण्डलगिरिका नाम दिया है वहाँ उन्होंने पाण्डुगिरिका उल्लेख नही किया। यतिवृषभने अवश्य दोनों नामोंका प्रयोग किया है। पर उन्होंने विभिन्न स्थानोंपर किया है। जहाँ (प्रथम अधिकार, गा० ६७ में) पाण्डुगिरिका उल्लेख हुआ है वहाँ कुण्डलगिरिका नही और जहाँ (४–१४७९) कुण्डलगिरिका उल्लेख है वहाँ फिर पाण्डुगिरिका नही। इससे स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि उन्हे दो स्वतन्त्र पहाड़ माननेकी नही है, अपितु वे एक ही पर्वतके उन्हें दो पर्यायनाम मानते हैं। वास्तवमें पाण्डुगिरिको वृत्ताकार (गोलाकार) कहा गया है और कुण्डलगिरि कुण्डलाकार—वृत्ताकार होता है। अतएव एक ही पर्वतके ये दो पर्यायनाम हैं और

इसलिए वे दो भिन्न स्थानोंपर भिन्न-भिन्न पर्यायनामसे उसका उल्लेख कर सकते हैं। दूसरे यतिवृषभने पूज्यपादकी निर्वाणभक्तिमें उनके द्वारा पाण्डुगिरिके लिए नामान्तर रूपसे प्रयुक्त कुण्डलगिरि नामको पाकर कुण्डलगिरिका भी नामोल्लेख किया हैं, यह सरलतासे कहा जा सकता है। पूज्यपादके उल्लेखसे ज्ञात होता है कि उनके समयमें पाण्डुगिरिको जो वृत्त (गोल) हैं, कुण्डलगिरि भी कहा जाता था। अतएव उन्होंने पान्डुगिरिके स्थानमें कुण्डलगिरि नाम दिया है। इसमें लेश भी आश्चर्य नही है कि पाण्डुगिरि और कुण्डलगिरि एक ही पर्वतके दो नाम है, क्योंकि कुण्डलका आकार गोल होता है और पाण्डुगिरिको वृत्ताकार (गोलाकार) सभी आचार्योंने बतलाया है। जैसा कि ऊपरके उद्धरणोंसे प्रकट है। दूसरे, पूज्यपादने पाँच पहाड़ोंमें पाण्डुगिरिका उल्लेख नही किया—जिसका उल्लेख करना अनिवार्य था, क्योंकि वह पाँच सिद्धक्षेत्र-शैलोंमें परिगणित हैं। किन्तु कुण्डलगिरिका उल्लेख किया है। तीसरे, एक पर्वतके एकसे अधिक नाम देखे जाते हैं। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं।

अतः इस संक्षिप्त अनुसन्धानसे यही तथ्य निकलता है कि जैन साहित्यमें पाण्डुगिरि और कुण्डलगिरि एक हैं—पृथक्-पृथक् नही—एक ही पर्वतके दो नाम हैं।

ऐसी वस्तुस्थितिमें यह कहना अयुक्त न होगा कि यतिवृषभने पाण्डुगिरिको ही कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्र बतलाया है एवं उल्लेखित किया है। और यह कुण्डलगिरि राजगृहके निकटवर्ती पाँच पहाड़ोंके अन्तर्गत हैं। इसलिए मध्यप्रदेशके दमोहजिलान्तर्गत पटेरा ग्रामके पासका कुण्डलपुर या कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्र नही जान पड़ता है और न उसे शास्त्रोंमें सिद्धक्षेत्र बतलाया गया है। जिस कुण्डलगिरि या पाण्डुगिरिको सिद्धक्षेत्र कहा गया है वह बिहार प्रदेशके पंचशैलोंमें परिगणित पाण्डुगिरि या कुण्डलगिरि है।

अतः मेरे विचार और खोजसे दमोहके कुण्डलपुर या कुण्डलगिरिको सिद्धक्षेत्र घोषित करना जल्दबाजी होगी और एक भ्रान्त परम्परा चल उठेगी।

परिशिष्ट

उक्त लेखके लिखे जानेके बाद हमें कुछ सामग्री और मिली है—

दमोहके कुण्डलगिरि या कुण्डपुरकी ऐतिहासिकता नहीं

जब हम दमोहके पार्श्ववर्ती कुण्डलगिरि या कुण्डलपुरकी ऐतिहासिकतापर विचार करते है तो उसके कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नही होते। केवल विक्रम संवत्की अठारहवी शताब्दीका उत्कीर्ण हुआ एक शिलालेख प्राप्त होता है, जिसे महाराजा छत्रसालने वहाँ चैत्यालयका जीर्णोद्धार कराते समय खुदावाया था। कहा जाता है कि कुंडलपुरमे भट्टारकी गद्दी थी। इस गद्दीपर छत्रसालके समकालमे एक प्रभावशाली एवं मन्त्रविद्याके ज्ञाता भट्टारक जब प्रतिष्ठित थे तब उनके प्रभाव एवं आशीर्वादसे छत्रसालने एक बड़ी भारी यवनसेनापर विजय प्राप्त की थी। इससे प्रभावित होकर छत्रसालने कुण्डलपुरके चैत्यालयका जीर्णोद्धार कराया था और जिनमन्दिरके लिए अनेक उपकरणोंके साथ दो मनके करीबका एक बृहद् घंटा (पीतलका) प्रदान किया था, जो बादमे चोरीमें चला गया था और अब वह पन्ना स्टेट (म० प्र०) में पकड़ा गया है[१]।

उक्त शिलालेख विक्रम स० १७५७ माघ सुदी १५ सोमवारको उत्कीर्ण हुआ है और वहीके चैत्या-

१, यह मुझे मित्रवर पं० परमानन्दजी शास्त्रीसे मालूम हुआ है।

लयमें खुदा हुआ है। यह लेख इस समय मेरे पास भी है। यह अशुद्ध अधिक है। कुन्दकुन्दाचार्यकी आम्नाममें यशःकीर्ति, ललितकीर्ति, धर्मकीर्ति (रामदेवपुराणके कर्ता), पद्मकीर्ति, सुरेन्द्रकीर्ति और उनके शिष्य ब्रह्म हुए। सुरेन्द्रकीर्तिके शिष्य इन ब्रह्मने वहाँकी मनोज्ञ महावीर स्वामीकी जीर्ण मूर्तिको देखकर द्रव्य माँग माँग (चन्दा) करके उसका जीर्णोद्धार कराया तथा चैत्यालयका उद्धार छत्रसालने कराया। इन सब बातोंका शिलालेखमें उल्लेख है। साथमें छत्रसालको बड़ा धर्मात्मा प्रकट किया गया है। अस्तु।

इससे यही विदित होता है कि वहाँ १५वीं से १७वी शताब्दी तक रहे भट्टारकों प्रभुत्वमें कोई महावीर स्वामीका मन्दिर निर्माण कराया होगा। उसके जीर्ण होनेपर करीब १०० वर्ष बाद वि० सं० १७५७ मे उसका उद्धार किया गया। चूँकि छत्रसालको वहाँके भट्टारककी कृपा और उनके मन्त्रविद्याके प्रभावसे यवन-सेनापर विजय प्राप्त हुई थी। इसलिए वह स्थान तबसे अतिशय क्षेत्र कहा जाने लगा होगा।

प्रभाचन्द्र (११वीं शती) और श्रुतसागर (१५वी-१६वीं शती) के मध्यमे बने प्राकृत निर्वाणकाण्डके आधारसे रचे गये भैया भगवती दास (सं० १७४१) के भाषा-निर्वाणकाडमें जिन सिद्ध व अतिशय क्षेत्रोंकी परिगणना की गयी है उनमें भी कुंडलपुरको सिद्ध क्षेत्र या अतिशय क्षेत्रके रूपमे परिगणित नहीं किया गया। इससे यही प्रतीत होता है कि वह सिद्ध क्षेत्र तो नही है—अतिशय क्षेत्र भी १५वीं १६वीं शताब्दीके बाद प्रसिद्ध होना चाहिए।

---
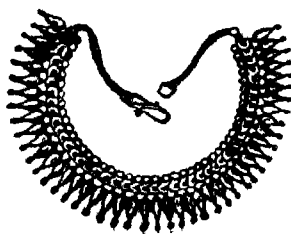
१. यह शिलालेख भी पं० परमानन्दजी शास्त्रीसे प्राप्त हुआ है, जिसके लिए उनका आभारी हूँ।

गजपन्थ तीर्थ क्षेत्रका एक अति प्राचीन उल्लेख

'अनेकान्त' वर्ष ७, किरण ७-८ मे प्रसिद्ध साहित्य-सेवी पं० नाथूराम प्रेमीका **'गजपन्थ क्षेत्रके पुराने उल्लेख'** शीर्षकसे एक संक्षिप्त किन्तु शोधात्मक लेख प्रकट हुआ है। इसमें आपने गजपन्थ क्षेत्रके अस्तित्व-विषयक दो पुराने उल्लेख प्रस्तुत किये है और अपने उस विचारमें संशोधन किया है, जिसमें आपने गजपन्थ क्षेत्रको आधुनिक बतलाया था। आपने अपनी उस समयकी खोजके आधारपर उसे विक्रम सं० १७४६ के पहलेका स्वीकार नही किया था।[1] अब जो उन्हे दो उल्लेख उस विषयके प्राप्त हुए है वे वि० सं० १७४६ से पूर्ववर्ती है। उनमें एक तो श्रुतसागर सूरिका है, जो १६वीं शताब्दीके बहुश्रुत विद्वान् एवं ग्रन्थकार माने जाते हैं। दूसरा उल्लेख **'शान्तिनाथचरित'** के कर्ता असग कविका है, जिनका समय उनके **'महावीरचरित'** परसे शक सं० ९१०, वि० स० १०४५ सर्व सम्मत है। असग कविने अपने **'शान्तिनाथचरित'** मे गजपन्थ क्षेत्रका उसके ७ वे सर्गके ९८ वें पद्यमे उल्लेख किया है। **'शान्तिनाथचरित'** **'महावीरचरित'** के उपरान्त लिखा गया है। अतः वि० सं० १०४५ के लगभग गजपन्थ क्षेत्र एक निर्वाण क्षेत्रके रूपमें प्रसिद्ध था और वह नासिक नगरके निकटवर्ती माना जाता था। इन दो उल्लेखोंके आधारसे अनुसन्धानप्रिय श्री प्रेमीजीने गजपन्थ क्षेत्रकी प्रामाणिकता स्वतः स्वीकार कर ली है और उसे ११ वीं शताब्दीमे प्रसिद्ध सिद्ध-क्षेत्र मान लिया है।

डॉ० हीरालालजी जैनके साथ चल रही **'रत्नकरण्डकश्रावकाचार'** की चर्चाके प्रसगमे हम पूज्यपाद-की **'नन्दीश्वर-भक्ति'** को देख रहे थे। उसी समय **'दशभक्त्यादिसंग्रह'** के पन्ने पलटते हुए उनकी **'निर्वाण-भक्ति'** के उस पद्यपर हमारी दृष्टि गयी, जिसमे पूज्यपादने भी अन्य निर्वाण-क्षेत्रोंका उल्लेख करते एहु 'गजपन्थ' क्षेत्रका भी उल्लेख किया है और उसे निर्वाण-क्षेत्र प्रकट किया है। वह पद्य इस प्रकार है—

> सह्याचले च हिमवत्यपि सुप्रतिष्ठे दण्डात्मके गजपथे पृथुसारयष्टौ।
> ये साधवो हतमलाः सुगति प्रयाताः स्थानानि तानि जगति प्रथितान्यभूवन् ॥३०॥

यहाँ पूज्यपादने **'गजपथे'** पदके द्वारा गजपन्थागिरिका निर्वाणक्षेत्रके रूपमे स्पष्ट उल्लेख किया है। **'गजपथ'** शब्द संस्कृतका है और 'गजपंथ' प्राकृत तथा अपभ्रंशका है और यही शब्द हिन्दी भाषामें भी प्रयुक्त किया जाता है। अतएव 'गजपथ' और 'गजपन्थ' दोनों एक ही है और एक ही अर्थ 'गजपंथ' के वाचक एवं बोधक हैं। पूज्यपादका समय ईसाकी ५वी और वि० स० की ६वीं शताब्दी है। प्रेमीजी भी उनका यही समय मानते हैं।[2] अत: गजपन्थ क्षेत्र वि० सं० की ६वी शताब्दीमें निर्वाणक्षेत्रके रूपमे प्रसिद्ध था और माना जाता था। अर्थात् असग कवि (११वी शताब्दी) से भी वह ५०० वर्ष पूर्व निर्वाणक्षेत्रके रूपमें दिगम्बर परम्परामे मान्य था।

---

१. जैन साहित्य और इतिहास, 'हमारे तीर्थ क्षेत्र' शीर्षक लेख पृ० १८५, १९४२ प्रथम संस्करण।
२. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ११९, ई० १९४२।

यह सभी विद्वान् मानते हैं कि निर्वाण-भक्ति, सिद्धभक्ति, नन्दीश्वरभक्ति आदि सभी (दशों) संस्कृत-भक्तियाँ प्रभाचन्द्रके **'क्रियाकलाप'** गत उल्लेखानुसार पूज्यपादकृत है। जैसा कि **'क्रियाकलाप'** के निम्न उल्लेखसे प्रकट है—

'संस्कृताः सर्वभक्तयः पूज्यपादस्वामिकृताः प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृताः',—दशभक्त्यादि सं० टी० पृ० ६१।

प्रेमीजी भी प्रभाचन्द्रके इस उल्लेखके अनुसार दशों भक्तियोंको, जिनमे निर्वाण-भक्ति भी है, पूज्यपादकृत स्वीकार करते है और अपनी स्वीकृतिमे वह हेतु भी देते है कि इन सिद्धभक्ति आदि संस्कृत भक्तियोंका अप्रतिहत प्रवाह और गम्भीर शैली है[1], जो उनमें पूज्यपादकृतत्व प्रकट करता है', साथ ही प्रभाचन्द्रके उक्त कथनमें सन्देह करनेका भी कोई करण नही है।

अतः प्रकट है कि असग कविसे ५०० वर्ष पूर्वसे भी **'गजपन्थ'** निर्वाण क्षेत्रमे विश्रुत था।

१. जैन सा० और इति०, पृ० १२१
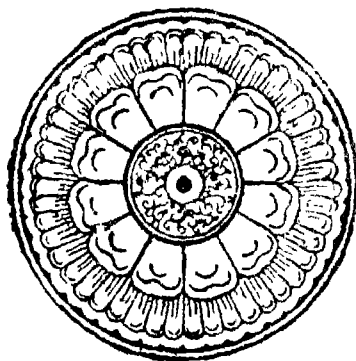
अनुसन्धान-विषयक महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर

कितने ही पाठकों व इतर सज्जनोंको अनुसन्धानादि-विषयक शंकाएँ उत्पन्न होती हैं और वे इधर-उधर पूछते हैं। कितनोंको उत्तर ही नही मिलता और कितनोंको उनके पूछनेका अवसर नही मिल पाता। इससे उनकी शंकाएँ उनके हृदयमें ही विलीन हो जाती है और इस तरह उनकी जिज्ञासा अतृप्त ही बनी रहती है। अतएव उनके लाभकी दृष्टिसे यहां एक 'शंका-समाधान' प्रस्तुत है।

१. शंका—कहा जाता है कि विद्यानन्द स्वामीने 'विद्यानन्दमहोदय' नामक एक बहुत बड़ा ग्रन्थ लिखा है, जिसके उल्लेख उन्होने स्वयं अपने श्लोकवार्त्तिक, अष्टसहस्री आदि ग्रन्थोंमे किये हैं। परन्तु उनके बाद होनेवाले माणिक्यनन्दि, वादिराज, प्रभाचन्द्र आदि बड़े-बड़े आचार्योंमेसे किसीने भी अपने ग्रन्थोमे उसका उल्लेख नही किया, इससे क्या वह विद्यानन्दके जीवनकाल तक ही रहा है—उसके बाद नष्ट हो गया?

१. समाधान—नही, विद्यानन्दके जीवनकालके बाद भी उसका अस्तित्व मिलता है। विक्रमकी बारहवी तेरहवी शताब्दीके प्रसिद्ध विद्वान् वादी देवसूरिने अपने 'स्याद्वादरत्नाकर' (द्वि० भा०, पृ० ३४९) मे 'विद्यानन्दमहोदय' ग्रन्थकी एक पंक्ति उद्धृत करके नामोल्लेखपूर्वक उसका समालोचन किया है। यथा—

'यत्तु विद्यानन्द····:महोदये च 'कालान्तराविस्मरणकारणं हि धारणाभिधानं ज्ञानं संस्कारः प्रतीयते' इति वदन् संस्कारधारणयोरैकार्थ्यमचकथत्'।

इससे स्पष्ट जाना जाता है कि 'विद्यानन्दमहोदय' विद्यानन्द स्वामीके जीवनकालसे तीनसौ-चारसौ वर्ष बाद तक भी विद्वानोंकी ज्ञानचर्चा और अध्ययनका विषय रहा है। आश्चर्य नही कि उसकी सैकडों कापियां न हो पानेसे वह सब विद्वानोको शायद प्राप्त नहीं हो सका अथवा प्राप्त भी रहा हो तो अष्टसहस्री आदिकी तरह वादिराज आदिने अपने ग्रन्थोमें उसके उद्धरण ग्रहण न किये हों। जो हो, पर उक्त प्रमाणसे निश्चित है कि वह बननेके कई सौ वर्ष बाद तक विद्यमान रहा है। सम्भव है वह अब भी किसी लायब्रेरी या सरस्वती-भण्डारमें दीमकोका भक्ष्य बना पड़ा हो। अन्वेषण करनेपर अकलङ्कदेवके प्रमाणसग्रह तथा अनन्तवीर्यकी सिद्धिविनिश्चयटीकाकी तरह किसी श्वेताम्बर शास्त्रभंडारमे मिल जाय; क्योंकि उनके यहाँ शास्त्रोंकी सुरक्षा और सुव्यवस्था यति-मुनियोंके हाथोंमें रही है और अब भी वह कितने ही स्थानों पर चलती है। हालमें हमें मुनि पुण्यविजयजीके अनुग्रहसे वि० सं० १४५४ की लिखी अर्थात् साढ़े पांचसौ वर्ष पुरानी अधिक शुद्ध अष्टसहस्रीकी प्रति प्राप्त हुई है, जो मुद्रित अष्टसहस्रीमे सैकडों सूक्ष्म तथा स्थूल अशुद्धियों और त्रुटित पाठोंको प्रदर्शित करती है। यह भी प्राचीन प्रतियोंकी सुरक्षाका एक अच्छा उदाहरण है। इससे 'विद्यानन्दमहोदय' के भी श्वेताम्बर शास्त्रभंडारोमे मिलनेकी अधिक आशा है। अन्वेषकोंको उसकी खोजका प्रयत्न करते रहना चाहिये।

२. शंका—विद्वानोंसे सुना जाता है। कि बड़े अनन्तवीर्य अर्थात् सिद्धिविनिश्चयटीकाकारने अकलक देवके 'प्रमाणसंग्रह' पर 'प्रमाणसंग्रहभाष्य' या 'प्रमाणसंग्रहालंकार' नामका बृहद् टीका-ग्रन्थ लिखा है परन्तु आज वह उपलब्ध नही हो रहा। क्या उसके अस्तित्व-प्रतिपादक कोई उल्लेख हैं जिनसे विद्वानोंकी उक्त अनुश्रुतिको पोषण मिले?

२. समाधान—हाँ, प्रमाणसंग्रहभाष्य अथवा प्रमाणसंग्रहालंकारके उल्लेख मिलते हैं। स्वयं सिद्धिविनिश्चयटीकाकारने सिद्धिविनिश्चयटीकामें उसके अनेक जगह उल्लेख किये हैं और उसमें विशेष जानने तथा कथन करनेकी सूचनाएँ की हैं। यथा—

१. 'इति चर्चितं प्रमाणसंग्रहभाष्ये'—*सि० वि० टी० लि० प० १२।

२. 'इत्युक्तं प्रमाणसंग्रहालंकारे'—सि० लि० प० १९।

३. 'शेषमत्र प्रमाणसंग्रहभाष्यात्प्रत्येयम्'—सि० प० ३९२।

४. 'प्रपंचस्तु नेहोक्तो ग्रंथगौरवात् प्रमाणसंग्रहभाष्याज्ज्ञेयः—सि० लि० प० ९२१।

५. 'प्रमाणसंग्रहभाष्ये निरस्तम्'—सि० लि० प० ११०३।

६. 'दोषो रागादिर्व्याख्यातः प्रमाणसंग्रहभाष्ये'—सि० लि० प० १२२२।

इन असंदिग्ध उल्लेखोंसे 'प्रमाणसंग्रहभाष्य' अथवा 'प्रमाणसंग्रहालंकार' की अस्तित्वविषयक विद्वद्-अनुश्रुतिको जहाँ पोषण मिलता है वहाँ उसकी महत्ता, अपूर्वता और बृहत्ता भी प्रकट होती है। ऐसा अपूर्व-ग्रन्थ, मालूम नहीं इस समय मौजूद है अथवा नष्ट हो गया है? यदि नष्ट नहीं हुआ और किसी लायब्रेरीमें मौजूद है तो उसका अनुसन्धान होना चाहिये। कितने खेदकी बात है कि हमारी लापरवाहीसे हमारे विशाल साहित्योद्यानमेंसे ऐसे-ऐसे सुन्दर और सुगन्धित ग्रन्थ-प्रसून हमारी नजरोंसे ओझल हो गये। यदि हम मालियों-ने अपने इस विशाल बागकी जागरूक होकर रक्षा की होती तो वह आज कितना हरा-भरा दिखता और लोग उसे देखकर जैन-साहित्योद्यानपर कितने मुग्ध और प्रसन्न होते। विद्वानोंको ऐसे ग्रन्थोंका पता लगानेका पूरा उद्योग करना चाहिये।

३. शंका—गोम्मटसार जीवकाण्ड और धवलामें जो नित्यनिगोद और इतर निगोदके लक्षण पाये जाते हैं क्या उनसे भी प्राचीन उनके लक्षण मिलते हैं?

३. समाधान—हाँ, मिलते है। तत्त्वार्थवार्तिकमें अकलङ्कदेवने उनके निम्न प्रकार लक्षण दिये हैं—

'त्रिष्वपि कालेषु त्रसभावयोग्या ये न भवन्ति ते नित्यनिगोताः, त्रसभावमवाप्ता अवाप्स्यन्ति च ये तेऽनित्यनिगोताः' ।—त० वा० पृ० १००।

अर्थात् जो तीनों कालोंमे भी त्रसभावके योग्य नहीं हैं वे नित्यनिगोत हैं और जो त्रसभावको प्राप्त हुए हैं तथा प्राप्त होंगे वे अनित्यनिगोत हैं।

४. शंका—'संजद' पदकी चर्चाके समय आपने 'संजद पदके सम्बन्धमे अकलङ्कदेवका महत्त्वपूर्ण अभिमत' लेखमे यह बतलाया था कि अकलङ्कदेवने तत्त्वार्थवार्तिकके इस प्रकरणमे षट्खण्डागमके सूत्रोंका प्रायः अनुवाद दिया हैं। इसपर कुछ विद्वानोंका कहना था कि अकलङ्कदेवने तत्त्वार्थवार्तिकमें षट्खण्डागमका उपयोग किया ही नहीं। क्या उनका यह कहना ठीक है? यदि है तब आपने तत्त्वार्थवार्तिकमें षट्खण्डागम-के सूत्रोंका अनुवाद कैसे बतलाया?

४. समाधान—हम आपको ऐसे अनेक प्रमाण नीचे देते है जिनसे आप और वे विद्वान् यह मानने-को बाध्य होंगे कि अकलङ्कदेवने तत्त्वार्थवार्तिकमें षट्खण्डागमका खूब उपयोग किया है। यथा—

(१) 'एवं हि समयोऽवस्थितः सत्प्ररूपणायां कायानुवादे—"त्रसा द्वीन्द्रियादारभ्य आ अयोग-केवलिन इति"।'—तत्त्वा० पृ० ८८।

---

१. वीर-सेवामन्दिरमें जो सिद्धिविनिश्चयटीकाकी लिखित प्रति मौजूद है उसीके आधारसे पत्रों की संख्या डाली गई है।

यह षट्खण्डागमके निम्न सूत्रका संस्कृतानुवाद है—

"तसकाइया बीइंदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति" ।—षट्ख० १-१-४४ ।

(२) 'आगमे हि जीवस्थानादिष्वनुयोगद्वारेणादेशवचने नारकाणामेवादौ सदादिप्ररूपणा कृता ।'—तत्त्वा० पृ० ५५ ।

इसमें सत्प्ररूपणाके २५वें सूत्रकी ओर स्पष्ट संकेत है ।

(३) 'एवं हि उक्तमार्षे वर्गणायां बन्धविधाने नोआगमद्रव्यबन्धविकल्पे सादिवैस्रसिकबन्ध-निर्देश-प्रोक्तः विषम स्निग्धतायां विषमरूक्षतायां च बन्धः समस्निग्धतायां समरूक्षतायां च भेदः इति तदनुसारेण च सूत्रमुक्तम्'—तत्त्वा० ५-३७, पृ० २४२ ।

यहाँ पांचवें वर्गणा खण्डका स्पष्ट उल्लेख है ।

(४) 'स्यादेतदेवमागमः प्रवृत्त । पंचेन्द्रिया असंज्ञिपंचेन्द्रियादारभ्य आ अयोगकेवलिनः'
—त० वा० पृ० ६३ ।

यह षट्खण्डागमके इस सूत्रका अक्षरशः संस्कृतानुवाद है—

"पंचिदिया असण्णिपंचिदिय—प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति"—षट्० १-१-३७ ।

इन प्रमाणोंसे असदिग्ध है कि अकलङ्कदेवने तत्त्वार्थवार्त्तिकमें षट्खण्डागमका अनुवादादिरूपसे उपयोग किया है ।

५—शंका—मनुष्यगतिमें आठ वर्षकी अवस्थामें भी सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाता है, ऐसा कहा जाता है, इसमें क्या कोई आगम प्रमाण है ?

५—समाधान—हाँ, उसमें आगम प्रमाण है । तत्त्वार्थवार्त्तिकमें अकलङ्कदेवने लिखा है कि पर्याप्तक मनुष्य ही सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है, अपर्याप्तक मनुष्य नहीं और पर्याप्तक मनुष्य आठ वर्षकी अवस्थासे ऊपर उसको उत्पन्न करते है, इससे कममें नहीं' । यथा—

'मनुष्या उत्पादयन्तः पर्याप्तका उत्पादयन्ति नापर्याप्तकाः । पर्याप्तकाश्चाऽष्टवर्षस्थितेरुपर्युत्पादयन्ति नाधस्तात् ।—पृ० ७२, अ० २, सू० ३ ।

६—शंका—दिगम्बर मुनि जब विहार कर रहे हो और रास्तेमें सूर्य अस्त हो जाय तथा आस-पास कोई गाँव या शहर भी न हो तो क्या विहार बन्द करके वे वहीं ठहर जायेंगे अथवा क्या करेंगे ?

६—समाधान—जहाँ सूर्य अस्त हो जायगा वहीं ठहर जायेंगे, उससे आगे नहीं जायेंगे । भले ही वहाँ गाँव या शहर न हो, क्योंकि मुनिराज ईर्यासमितिके पालक होते हैं और सूर्यास्त होनेपर ईर्यासमितिका पालन बन नहीं सकता और इसीलिए सूर्य जहाँ उदय होता है वहांसे तब नगर या गाँवके लिए विहार करते हैं । कि जैसा आचार्य जटासिंहनन्दिने वराङ्गचरितमें कहा है—

यस्मिंस्तु देशेऽस्तमुपैति सूर्यस्तत्रैव संवासमुखा बभूवुः ।
यत्रोदयं प्राप सहस्ररश्मिर्यातास्ततोऽथा पुरि वाऽप्रसंगाः ॥—३०-४७

इसी बातको मुनियोंके आचार-प्रतिपादक प्रधान ग्रन्थ मूलाचार (गाथा ७८४) में निम्न रूपसे बतलाया है—

ते णिम्ममा सरीरे जत्थत्थमिदा वसंति अणिएदा ।
सवणा अप्पडिबद्धा विज्जू तह दिट्ठणट्ठा या ॥

अर्थात् 'वे साधु शरीरमें निर्मम हुए जहाँ सूर्य अस्त हो जाता है वहाँ ठहर जाते हैं। कुछ भी अपेक्षा नहीं करते। और वे किसीसे बन्धे हुए नहीं, स्वतन्त्र हैं, बिजलीके समान दृष्टनष्ट हैं, इसलिये अपरिग्रह हैं।

७—शंका—लोग कहते हैं कि दिगम्बर जैन मुनि वर्षावास (चातुर्मास) के अतिरिक्त एक जगह एक दिन रात या ज्यादासे ज्यादा पाँच दिन-रात तक ठहर सकते हैं। पीछे वे वहाँसे दूसरी जगहको जरूर बिहार कर जाते हैं, इसे ये सिद्धान्त और शास्त्रोंका कथन बतलाते हैं। फिर आचार्य शांतिसागरजी महाराज अपने संघ सहित वर्षभर शोलापुर शहरमे क्यों ठहरे ? क्या कोई ऐसा अपवाद है ?

७—समाधान—लोगोंका कहा ठीक है। दिगम्बर जैन मुनि गाँवमे एक रात और शहरमें पाँच रात तक ठहरते हैं। ऐसा सिद्धान्त है और उसे शास्त्रोंमे बतलाया गया है। मूलाचारमे और जटासिंहनन्दिके वरांगचरितमें यही कहा हैं। यथा—

गामेयरादिवासी णयरे पंचाहवासिणो धीरा।
सवणा फासुविहारी विवित्तएगंतवासी य ॥—मूला० ७८५
ग्रामैकरात्रं नगरे च पञ्च समूषुरव्यग्रमनःप्रचाराः।
न किंचिदप्यप्रतिबाधमाना विहारकाले समितो विजिह्रुः ॥—वरांग ३०-४५

परन्तु गाँव या शहरमे वर्षों रहना मुनियोके लिए न उत्सर्ग बतलाया और न अपवाद।

भगवती आराधनामे मुनियोंके एक जगह कितने काल तक ठहरने और बादमे न ठहरनेके सम्बन्धमें विस्तृत विचार किया गया है। लेकिन वहाँ भी एक जगह वर्षों ठहरना मुनियोंके लिये विहित नहीं बतलाया। नौवें और दशवें स्थितिकल्पोंकी विवेचना करते हुए विजयोदया और मूलाराधना दोनो टीकाओंमें सिर्फ इतना ही प्रतिपादन किया है कि नौवें कल्पमे मुनि एक एक ऋतुमें एक एक मास एक जगह ठहरते हैं। यदि ज्यादा दिन ठहरें तो 'उद्गमादि दोषोंका परिहार नही होता, वसतिकापर प्रेम उत्पन्न होता है, सुखमे लम्पटपना उत्पन्न होता है, आलस्य आता है, सुकुमारताकी भावना उत्पन्न होती है, जिन श्रावकोंके यहाँ आहार पूर्वमे हुआ था वहाँ ही पुनरपि आहार लेना पड़ता है, ऐसे दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए मुनि एक ही स्थानमे चिरकाल तक रहते नही हैं।' दशवें स्थितिकल्पमे चतुर्मासमें एक ही स्थानपर रहने का विधान किया है और १२० दिन एक स्थानपर रह सकनेका उत्सर्ग नियम बतलाया है। कमती बढ़ती दिन ठहरनेका अपवाद नियम भी इस प्रकार बतलाया है कि श्रुतग्रहण (अभ्यास), वृष्टिकी बहुलता, शक्तिका अभाव, वैयावृत्य करना आदि प्रयोजन हों तो ३६ दिन और अधिक ठहर सकते हैं अर्थात् आषाढ़शुक्ला दशमीसे प्रारम्भ कर कार्त्तिक पौर्णमासीके आगे तीस दिन तक एक स्थानमे और अधिक रह सकते हैं। कम दिन ठहरनेके कारण ये बतलाये है कि मरी रोग, दुर्भिक्ष, ग्राम अथवा देशके लोगोंको राज्य-क्रान्ति आदिसे अपना स्थान छोड़कर अन्य ग्रामादिकोमें जाना पड़े, संघके नाशका निमित्त उपस्थित हो जाय आदि, तो मुनि चतुर्मासमें भी अन्य स्थानको विहार कर जाते है। विहार न करनेपर रत्नत्रयके नाशकी सम्भावना होती है। इसलिये आषाढ़ पूर्णिमा बीत जानेपर प्रतिपदा आदि तिथियोंमे दूसरे स्थानको जा सकते है और इस तरह एकसौ बीस दिनोंमे बीस दिन कम हो जाते है। इसके अतिरिक्त वर्षों ठहरनेका वहाँ कोई अपवाद नहीं है। यथा—

"ऋतुषु षट्सु एकैकमेव मासमेकत्र वसतिरन्यदा विहरति इत्ययं नवमः स्थितिकल्पः। एकत्र चिरकालावस्थाने नित्यमुद्गमदोषं च न परिहर्तुं क्षमः। क्षेत्रप्रतिबद्धता, सातगुरुता, अलसता, सौकुमार्यभावना, ज्ञातभिक्षाग्राहिता च दोषाः। पज्जो समणकप्पो नाम दशमः। वर्षा-

कालस्य चतुर्षु मासेषु एकत्रैवावस्थानं भ्रमणत्यागः। स्थावरजङ्गमजीवाकुलो हि तदा क्षितिः तदा भ्रमणे महानसंयमः, वृष्ट्या शीतवातपातेन वात्मविराधना। पतेद् वाप्यादिषु स्थाणुकन्टकादिभिर्वा प्रच्छन्नैर्जलेन कर्दमेन बाध्यत इति विंशत्यधिकं दिवसशतं एकत्रावस्थानमित्ययमुत्सर्गः। कारणापेक्षया तु हीनाधिकं वासस्थानं, संयतानां आषाढशुद्धदशम्यां स्थितानां उपरिष्टाच्च कार्तिकपौर्णमास्यास्त्रिंशद्दिवसावस्थानम्। वृष्टिबहुलता, श्रुतग्रहणं, शक्त्यभाववैयावृत्यकरणं प्रयोजनमुद्दिश्य अवस्थानमेकत्रेति उत्कृष्टकालः। मार्यां, दुर्भिक्षे, ग्रामजनपदचलने वा गच्छनाशनिमित्ते समुपस्थिते देशान्तरं याति। अवस्थाने सति रत्नत्रयविराधना भविष्यतीति। पौर्णमास्यामाषाढ्यामतिक्रान्तायां प्रतिपदादिषु दिनेषु याति। यावच्च त्यक्ता विंशति-दिवसा एतदपेक्ष्य हीनता कालस्य एष दशकः स्थितिकल्पः।" —विजयोदया टी० पृ० ९१६।

आचार्य शान्तिसागर महाराज संघ सहित वर्षभर शोलापुर शहरमे किस दृष्टि अथवा किस शास्त्रके आधारसे ठहरे रहे। इस सम्बन्धमे संघको अपनी दृष्टि स्पष्ट कर देना चाहिए, जिससे भविष्यमें दिगम्बर मुनिराजोंमे शिथिलाचारिता और न बढ़ जाय।

८—शंका—अरिहंत और अरहंत इन दोनों पदोंमें कौन पद शुद्ध है और कौन अशुद्ध?

८—समाधान—दोनों पद शुद्ध है। आर्ष-ग्रन्थोमे दोनों पदोका व्युत्पत्तिपूर्वक अर्थ दिया गया है और दोनोंको शुद्ध स्वीकार किया गया है। श्रीषट्खण्डागमकी धवला टीकाकी पहली पुस्तकमे आचार्य वीरसेनस्वामीने देवतानमस्कारसूत्र (णमोकारमत्र) का अर्थ देते हुए अरिहत और अरहंत दोनोंका व्युत्पत्ति-अर्थ दिया है और लिखा है कि अरिका अर्थ मोहशत्रु है उसको जो हनन (नाश) करते है उन्हे 'अरिहंत' कहते हैं। अथवा अरि नाम ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिकर्मोका है उनको जो हनन (नाश) करते है उन्हे अरिहंत कहते हैं। उक्त कर्मोंके नाश हो जानेपर शेष अघाति कर्म भी भ्रष्ट (सड़े) बीजके समान निःशक्तिक होजाते है और इस तरह समस्त कर्मरूप अरिको नाश करनेसे 'अरिहंत' ऐसी संज्ञा प्राप्त होती है। और अतिशय पूजाके अर्ह—योग्य होनेसे उन्हे अरहंत या अर्हन्त ऐसी भी पदवी प्राप्त होती है, क्यों कि जन्मकल्याणादि अवसरोपर इन्द्रादिको द्वारा वे पूजे जाते है। अतः अरिहंत और अरहंत दोनों शुद्ध हैं। फिर भी णमोकारमन्त्रके स्मरणमे 'अरिहत' शब्दका उच्चारण ही अधिक उपयुक्त है, क्योंकि षट्खण्डागममे मूल पाठ यही उपलब्ध होता है और सर्वप्रथम व्याख्या भी इसी पाठकी पाई जाती है। इसके सिवाय जिन, जिनेन्द्र, वीतराग जैसे शब्दोका भी यही पाठ सीधा बोधक है। भद्रबाहुकृत आवश्यक निर्युक्तिमें भी दोनों शब्दोंका व्युत्पत्ति अर्थ देते हुए प्रथमत. 'अरिहंत' शब्दकी ही व्याख्या की गई है। यथा—

> अट्ठविहं पि य कम्मं अरिभूयं होइ सव्वजीवाणं।
> तं कम्ममरिं हंता अरिहंता तेण वुच्चंति ॥९२०॥
> अरिहंति वंदण-णमंसणाइं अरिहंति पूयसक्कार।
> सिद्धिगमणं च अरिहा अरहंता तेण वुच्चंति ॥९२१॥

९—शंका—कहा जाता है कि भगवान् आदिनाथसे मरीचि (भरतपुत्र) ने जब यह सुना कि उसे अन्तिम तीर्थंकर होना है तो उसको अभिमान आगया, जिससे वह स्वच्छन्द प्रवृत्ति करके नाना कुयोनियोंमें गया। क्या उसके इस अभिमानका उल्लेख प्राचीन शास्त्रोंमे आया है?

९—समाधान—हाँ, आया है। जिनसेनाचार्यकृत आदिपुराणके अतिरिक्त भद्रबाहुकृत आवश्यक-निर्युक्तिमे भी मरीचिके अभिमानका उल्लेख मिलता है और वह निम्न प्रकार है—

तव्वयणं सोऊणं तिवइं आप्फोडिऊण तिक्खुत्तो।
अब्भहियजायहरिसो तस्स मरीई इमं भणई ॥४३०॥
जइ वासुदेवु पढमो मूआइ विदेहि चक्कवट्टित्तं।
चरमो तित्थयराणं होऊं अलं इत्तिअं मज्झ ॥४३१॥

१०. शंका—पूजा और अर्चामें क्या भेद हैं? क्या दोनों एक हैं?

१०. समाधान—यद्यपि सामान्यतः दोनोंमें कोई भेद नही है, पर्यायशब्दोंके रूपमें दोनोंका प्रयोग रूढ़ है तथापि दोनोंमें कुछ सूक्ष्म भेद जरूर है। इस भेदको श्रीवीरसेनस्वामीने षट्खण्डागमके 'बन्धस्वामित्व' नामके दूसरे खण्डकी धवला-टीका पुस्तक आठमें इस प्रकार बतलाया है—

"चरु-बलि-पुप्फ-फल-गंध-धूप-दीवादीहि समभत्तिपयासो अच्चण णाम। एदाहि सह अइंदघय-कप्परुक्ख-महामह-सव्वदोभद्दादिमहिमाविहाणं पूजा णाम।" पृ० ९२।

अर्थात् चरु, बलि (अक्षत), पुष्प, फल, गन्ध, धूप और दीप इत्यादिसे अपनी भक्ति प्रकाशित करना अर्चना (अर्चा) है और इन पदार्थोंके साथ ऐन्द्रध्वज, कल्पवृक्ष, महामह, सर्वतोभद्र आदि महिमा (धर्मप्रभावना) का करना पूजा है।

तात्पर्य यह कि फलादि द्रव्योंको चढ़ा कर (स्वाहापूर्वक समर्पण कर) संक्षेपमें लघु भक्तिको प्रकट करना अर्चा है और उक्त द्रव्यों सहित समारोहपूर्वक विशाल भक्ति प्रकट करना पूजा है।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि इन्द्रध्वज आदि पूजामहोत्सवोंका विधान वीरसेनस्वामीसे बहुत पहलेसे विहित है और जैन शासनकी प्रभावनामें उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

११. शंका—निम्न पद्य किस ग्रन्थका मूल पद्य है? उसका मूल स्थान बतलायें?

सुखमाल्हादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम्।
शक्तिः क्रियानुमेया स्याद्यूनः कान्तासमागमे ॥

११. समाधान—उक्त पद्य अनेक ग्रन्थोंमे उद्धृत पाया जाता है। आचार्य विद्यानन्दने अष्ट-सहस्री (पृ० ७८) में इसे '**इति वचनात्**' शब्दोंके साथ दिया है। आचार्य अभयदेवने सन्मतिसूत्र-टीका (पृ० ४७८) में इस पद्यको उद्धृत करते हुए लिखा है—

"न च सौगतमतमेतत्, न जैनमतमिति वक्तव्यम्, 'सहभाविनो गुणाः क्रमभाविनः पर्यायाः' [ ] इति जैनैरभिधानात्। तथा च सहभावित्वं गुणानां प्रतिपादयता दृष्टान्तार्थमुक्तम्—"

इसके बाद उक्त पद्य दिया है। सिद्धिविनिश्चयटीकाकार बड़े अनन्तवीर्यने इसी पद्यका निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

"कथमन्यथा न्यायविनिश्चये 'सहभुवो गुणाः' इत्यस्य 'सुखमाल्हादनाकारं....' इति निदर्शनं स्यात्।"—(टी० लि० पृ० ७६।)

अभयदेव और अनन्तवीर्यके इन उल्लेखोंसे प्रतीत होता है कि गुणोंके सहभावीपना प्रतिपादन करनेके लिए दृष्टान्तके तौरपर उसे अकलङ्कदेवने न्यायविनिश्चयमे कहा है। परन्तु न्यायविनिश्चय मूलमें यह पद्य उपलब्ध नहीं होता। हो सकता है उसकी स्वोपज्ञवृत्तिमें उसे कहा हो। मूलमें तो सिर्फ ११वी कारिकामें इतना ही कहा है कि '**गुणपर्ययवद्द्रव्यं ते सहक्रमवृत्तयः**'। यदि वस्तुतः यह पद्य न्यायविनिश्चयवृत्तिमें कहा

है तो यह प्रश्न उठता है कि वहाँ वृत्तिकारने उसे उद्धृत किया है या स्वयं रचकर उपस्थित किया है ? यदि उद्धृत किया है तो मालूम होता है कि वह अकलङ्कदेवसे भी प्राचीन है। और यदि स्वयं रचा है तो उसे उनके न्यायविनिश्चयकी स्वोपज्ञवृत्तिका समझना चाहिए। वादिराजसूरिने न्यायविनिश्चयविवरण (प० २४० पूर्वा०) में 'यथोक्तं स्याद्वादमहार्णवे' शब्दोंके उल्लेख-पूर्वक उक्त पद्यको प्रस्तुत किया है, जिससे वह स्याद्वादमहार्णव' नामक किसी जैन दार्शनिक ग्रन्थका जाना जाता है। यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है और इससे यह नहीं कहा जासकता कि इसके रचयिता अमुक आचार्य हैं। हो सकता है कि अकलङ्कदेवने भी इसी स्याद्वादमहार्णवपरसे उक्त पद्य उदाहरणके बतौर न्यायविनिश्चयकी स्वोपज्ञवृत्तिमें, जो आज अनुपलब्ध है, उल्लेखित किया हो और इससे प्रकट है कि यह पद्य काफी प्रसिद्ध और पुराना है।

१२. शंका—आधुनिक कितने ही विद्वान् यह कहते हुए पाये जाते हैं कि प्रसिद्ध मीमासक कुमारिल भट्टने अपने मीमांसा-श्लोकवार्त्तिककी निम्न कारिकाओंको समन्तभद्रस्वामीकी आप्तमीमांसागत 'घटमौलिसुवर्णार्थी' आदि कारिकाके आधारपर रचा है और इसलिए समन्तभद्रस्वामी कुमारिलभट्टसे बहुत पूर्ववर्ती विद्वान् हैं। क्या उनके इस कथनको पुष्ट करनेवाला कोई प्राचीन पुष्ट प्रमाण भी है ? कुमारिलकी कारिकाएँ ये हैं—

वर्द्धमानकभंगेन रुचकः क्रियते यदा।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्।

१२. समाधान—उक्त विद्वानोंके कथनको पुष्ट करने वाला प्रमाण भी मिलता है। ई० सन् १०२५ के प्रख्यात विद्वान् आचार्य वादिराजसूरिने अपने न्यायविनिश्चयविवरण (लि० प० २४५) में एक असन्दिग्ध स्पष्ट उल्लेख किया है और जो निम्न प्रकार है—

"उक्तं स्वामिसमन्तभद्रैस्तदुपजीविना भट्टेनापि—
घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥
वर्द्धमानकभंगेन रुचकः क्रियते यदा।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्। इति च॥'

इस उल्लेखमें वादिराजने जो 'तदुपजीविना' पदका प्रयोग किया है उससे स्पष्ट है कि आजसे नौ सौ वर्ष पूर्व भी कुमारिलको समन्तभद्रस्वामीका उक्त विषयमें अनुगामी अथवा अनुसर्ता माना जाता था। जो विद्वान् समन्तभद्रस्वामीको कुमारिल और उसके समालोचक धर्मकीर्तिके उत्तरवर्ती बतलाते हैं उन्हें वादिराजका यह उल्लेख अभूतपूर्व और प्रामाणिक समाधान उपस्थित करता है।

आचार्य कुन्दकुन्द

भारतीय चिन्तकों और ग्रन्थकारोंमे आचार्य कुन्दकुन्दका अग्रपंक्तिमें स्थान है। उन्होंने अपने विपुल वाङ्मयके द्वारा भारतीय सस्कृतिको तत्त्वज्ञान और अध्यात्म प्रधान विचार तथा आचार प्रदान किया है। भारतीय साहित्यमे प्राकृत-भाषाके महापण्डित और इस भाषामे निबद्ध सिद्धान्त-साहित्यके रचयिताके रूपमे इनका नाम दूर अतीतकालसे विश्रुत है। मङ्गलकार्यके आरम्भमें बड़े आदरके साथ इनका स्मरण किया जाता है। अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर और उनके प्रधान गणधर गौतम इन्द्रभूतिके पश्चात् आचार्य कुन्दकुन्दका मङ्गलरूपमें उल्लेख किया गया है। जैसा कि निम्न पद्यसे प्रकट है—

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्॥

इससे अवगत होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द एक महान् प्रभावशाली हुए हैं, जो पिछले दो हजार वर्षोंमें हुए हजारो आचार्योंमें प्रथम एवं असाधारण आचार्य है। उनके उत्तरवर्ती ग्रन्थकारोने अपने ग्रन्थोमें उन्हें सश्रद्ध स्मरण किया है। इतना ही नही, शिलालेखोंमे भी उनकी असाधारण विद्वत्ता, अनुपम सयम, अद्भुत इन्द्रिय-विजय, उन्हे प्राप्त ऋद्धि-सिद्धियों आदिका विशेष उल्लेख किया गया है। पट्टावलियोंसे विदित है कि उन्होंने आठ वर्षकी अवस्थामे ही साधु-दीक्षा ले ली थी और समग्र जीवन संयम और तपोनुष्ठान पूर्वक व्यतीत किया था। वे चौरासी वर्ष तक जिये थे और इस लम्बे जीवनमें उन्होंने दीर्घ चिन्तन, मनन एवं ग्रन्थ-सृजन किया था।

इनके समयपर अनेक विद्वानोंने ऊहापोहपूर्वक विस्तृत विचार किया है। स्वर्गीय पं० जुगलकिशोर 'मुख्तार' ने[1] अनेक प्रमाणोंसे विक्रमकी पहली शताब्दी समय निर्धारित किया है। मूल संघकी उपलब्ध पट्टावलीके अनुसार भी यही समय (वि० सं० ४९) माना गया है। डॉ० ए० एन० उपाध्येने[2] सभीके मान्य समयपर गहरा ऊहापोह किया है और ईस्वी सन्‌का प्रारम्भ उनका अस्तित्व-समय निर्णीत किया है।

ग्रन्थ-रचना

कुन्दकुन्दने अपनी ग्रन्थ-रचनाके लिए प्राकृत, पाली और संस्कृत इन तीन प्राचीन भारतीय भाषाओंमेंसे प्राकृतको चुना। प्राकृत उस समय जन-भाषाके रूपमें प्रसिद्ध थी और वे जन-साधारण तक अपने चिन्तनको पहुँचाना चाहते थे। इसके अतिरिक्त षट्खण्डागम, कषायपाहुड जैसे आर्ष ग्रन्थ प्राकृतमे ही निबद्ध होनेसे प्राकृतकी दीर्घकालीन प्राचीन परम्परा उन्हे प्राप्त थी। अतएव उन्होंने अपने सभी ग्रन्थोंकी रचना प्राकृत भाषामे ही की। उनकी यह प्राकृत शौरसेनी प्राकृत है। इसी शौरसेनी प्राकृतमें दिगम्बर परम्पराके उत्तरवर्ती आचार्योंने भी अपने ग्रन्थ रचे है। प्राकृत-साहित्यके निर्माताओमे आचार्य कुन्दकुन्दका मूर्धन्य स्थान है। इन्होंने जितना प्राकृत-वाङ्मय रचा है उतना अन्य मनीषीने नहीं लिखा। कहा जाता है कि

१. पुरातन-वाक्य-सूची, प्रस्तावना, पृ० १२, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, १९५० ई०।
२. प्रवचनसार, प्रस्तावना, पृ० १०-२५, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, १९३५ ई०।

कुन्दकुन्दने ८४ पाहुडों (प्राभृतों-प्रकरणग्रन्थों) तथा आचार्य पुष्पदन्त-भूतबली द्वारा रचित 'षट्खण्डागम' आर्ष ग्रन्थकी विशाल टीकाकी भी रचना की थी। पर आज वह सब ग्रन्थ-राशि उपलब्ध नहीं है। फिर भी जो ग्रन्थ प्राप्त हैं उनसे जैन वाङ्मय समृद्ध एवं देदीप्यमान है। उनकी इन उपलब्ध कृतियोंका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

१. **प्रवचनसार**—इसमें तीन अधिकार हैं—(१) ज्ञानाधिकार, (२) ज्ञेयाधिकार और (३) चारित्राधिकार। इन अधिकारोंमें विषयोंके वर्णनका अवगम उनके नामोंसे ज्ञात हो जाता है। अर्थात् पहले अधिकारमें ज्ञानका, दूसरेमे ज्ञेयका और तीसरेमे चारित्र (साधु-चारित्र) का प्रतिपादन है। इस एक ग्रन्थके अध्ययनसे जैन तत्त्वज्ञान अच्छी तरह अवगत हो जाता है। इसपर दो व्याख्याएँ उपलब्ध हैं—एक आचार्य अमृतचन्द्रकी और दूसरी आचार्य जयसेनकी। अमृतचन्द्रकी व्याख्यानुसार इसमे २७५ (९२ + १०८ + ७५) गाथाएँ है और जयसेनकी व्याख्याके अनुसार इसमें ३१७ गाथाएँ हैं। यह गाथाओंकी संख्याकी भिन्नता व्याख्याकारोंको प्राप्त न्यूनाधिक संख्यक प्रतियोंके कारण हो सकती है। यदि कोई अन्य कारण रहा हो तो उसकी गहराईसे छानबीन की जानी चाहिए। ये दोनों व्याख्याएँ संस्कृतमें निबद्ध हैं और दोनों ही मूलको स्पष्ट करती हैं। उनमें अन्तर यही है कि अमृतचन्द्रकी व्याख्या गद्य-पद्यात्मक है और दुरूह एवं जटिल है। पर जयसेनकी व्याख्या सरल एवं सुखसाध्य है। तथा केवल गद्यात्मक है। हाँ, उसमें पूर्वाचार्योंके उद्धरण प्राप्त है।

२. **पंचास्तिकाय**—इसमे दो श्रुतस्कन्ध (अधिकार) है—१ षड्द्रव्य-पचास्तिकाय और २ नव-पदार्थ। दोनोंके विषयका वर्णन उनके नामोंसे स्पष्ट विदित है। इसपर भी उक्त दोनो आचार्योंकी संस्कृतमें टीकाएँ है और दोनों मूलको स्पष्ट करती हैं। पहले श्रुतस्कन्धमे १०४ और दूसरेमें आचार्य अमृतचन्द्रके अनुसार ६८ तथा जयसेनाचार्यके अनुसार ६९ कुल १७२ या १७३ गाथाएँ है। '**मग्गप्पभावणट्ठ**' यह (१७३ संख्यक) गाथा अमृतचन्द्रकी व्याख्याम नही है किन्तु जयसेनकी व्याख्यामें है। यह गाथा-सख्याकी न्यूनाधिकता भी व्याख्याकारोको प्राप्त न्यूनाधिकसख्यक प्रतियोका परिणाम जान पड़ता है।

३. **समयसार**—इसमें दश अधिकार है—१ जीवाजीवाधिकार, २ कर्तृकर्माधिकार, ३ पुण्यपापाधिकार, ४ आस्रवाधिकार, ५ संवराधिकार, ६ निर्जराधिकार, ७ बन्धाधिकार, ८ मोक्षाधिकार, ९ सर्व-विशुद्धज्ञानाधिकार और १० स्याद्वादाधिकार। इन अधिकारोंके नामसे ही उनके विषयोंका ज्ञान हो जाता है। अन्तिम अधिकार व्याख्याकार आचार्य अमृतचन्द्रद्वारा अभिहित है, मूलकार आचार्य कुन्दकुन्दद्वारा रचित नही है। अमृतचन्द्रको इस अधिकारको रचनेकी आवश्यकता इसलिए पड़ी कि समयसारका अध्येता पूर्व अधिकारोंमें वर्णित निश्चय और व्यवहारनयोंकी प्रधान एव गौण दृष्टिसे समयसारके अभिधेय आत्मतत्त्वको समझे और निरूपित करे। इसीसे उन्होंने स्याद्वादाधिकारमे स्याद्वादके वाच्य—अनेकान्तका समर्थन करनेके लिए तत्-अतत्, सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि अनेक नयों (दृष्टियो) से आत्मतत्त्वका विवेचन किया है। अन्तमें कलश काव्योंमें इसी तथ्यको स्पष्टतया व्यक्त किया है। समयसारपर भी उक्त दोनो आचार्योंकी सस्कृत-व्याख्याएँ हैं, जो मूलके हार्दको बहुत उत्तम ढंगसे स्पष्ट करती हैं। अमृतचन्द्रने प्रत्येक गाथापर बहुत सुन्दर एवं प्रौढ़ कलशकाव्य भी रचे है, जो आचार्य कुन्दकुन्दके गाथा-मन्दिरके शिखरपर चढ़े कलशकी भाँति सुशोभित होते हैं। अनेक विद्वानोने इन समस्त कलशकाव्योको 'समयसार-कलश'के नामसे पुस्तकारूढ़ करके प्रकाशित भी किया है। समयसार और समयसार-कलशके हिन्दी आदि भाषाओमे अनुवाद भी हुए हैं, जो इनकी लोकप्रियताको प्रकट करते है। इसमे ४१५ गाथाएँ है। यह समयसार (समयप्राभृत) तत्त्वज्ञानप्रपूर्ण है।

४. **नियमसार**—इसमें १२ अधिकार और १८७ गाथाएँ हैं। इसपर पद्मप्रभमलधारीदेवकी संस्कृत-टीका है, जो मूलको तो स्पष्ट करती ही है, सम्बद्ध एवं प्रसंगोपात्त स्वरचित एवं अन्य ग्रन्थकारोंके श्लोकोंका भी आकर है। इस ग्रन्थमें भी समयसारकी तरह आत्मतत्त्वका प्रतिपादन है। मुमुक्षुके लिये यह उतना ही उपयोगी और उपादेय है जितना उक्त समयसार।

५. **दंसण-पाहुड**—इसमें सम्यग्दर्शनका ३६ गाथाओं में विवेचन है। इसकी कई गाथाएँ तो सदा स्मरणीय है। यहाँ निम्न तीन गाथाओंको देनेका लोभ संवरण नही कर सकता—

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति ॥३॥
सम्मत्तरयणभट्टा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं।
आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥४॥
सम्मत्तविरहियाणं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंताणं।
ण लहंति बोहिबाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं ॥५॥

इन गाथाओंमें कहा गया है कि 'जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हैं वे वस्तुतः भ्रष्ट (पतित) हैं, क्योंकि सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट मनुष्यको मोक्ष प्राप्त नहीं होता। किन्तु जो सम्यग्दर्शनसे सहित हैं और चारित्रसे भ्रष्ट हैं उन्हें मोक्ष प्राप्त हो जाता है। पर सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट सिद्ध नही होते। जो अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता है, किन्तु सम्यक्त्व-रत्नसे च्युत है वे भी आराधनाओंसे रहित होनेसे वहीं वहीं संसारमें चक्कर काटते हैं। जो करोड़ों वर्षों तक उग्र तप करते है किन्तु सम्यग्दर्शनसे रहित हैं वे भी बोधिलाभ (मोक्ष) को प्राप्त नहीं होते।'

कुन्दकुन्दने 'दंसण-पाहुड' मे सम्यग्दर्शनका महत्त्व निरूपित कर उसकी प्राप्तिपर ज्ञानी और साधु दोनोंके लिए बल दिया है।

६ **चारित्तपाहुड**—इसमे ४४ गाथाओंके द्वारा मनुष्य जीवनको उज्ज्वल बनाने वाले एवं मोक्ष-मार्गके तीसरे पाये सम्यक्चारित्रका अच्छा निरूपण है।

७. **सुत्तपाहुड**—इसमें २७ गाथाएँ है। उनमे सूत्र (निर्दोषवाणी) का महत्त्व और तदनुसार प्रवृत्ति करनेपर बल दिया गया है।

८. **बोधपाहुड**—इसमे ६२ गाथाएँ है; जिनमें उन ११ बातोंका निरूपण किया गया है, जिनका बोध मुक्तिके लिए आवश्यक है।

९. **भावपाहुड**—इसमे १६३ गाथाओं द्वारा भावों—आत्मपरिणामोंकी निर्मलताका विशद निरूपण किया गया है।

१०. **मोक्खपाहुड**—इसमे १०६ गाथाएँ निबद्ध है। उनके द्वारा आचार्यने मोक्षका स्वरूप बतलाते हुए बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन आत्मभेदोंका प्रतिपादन किया है।

११. **लिंगपाहुड**—इसमें २२ गाथाएँ है। इन गाथाओंमे मुक्तिके लिए आवश्यक लिंग (वेष), जो द्रव्य और भाव दो प्रकार का है, विवेचित है।

१२. **सीलपाहुड**—४० गाथाओं द्वारा इसमें विषयतृष्णा आदि अशीलको बन्ध एवं दुःखका कारण बतलाते हुए जीवदया, इन्द्रिय-दमन, संयम आदि शीलों (सम्प्रवृत्तियों) का निरूपण किया गया है।

इन उपर्युक्त आठ पाहुडोंको 'अष्टपाहुड' कहा जाता है और आरम्भके ६ पाहुडोंपर श्रुतसागर सूरिकी संस्कृत-व्याख्याएँ हैं।

१३. बारस अणुवेक्खा—इसमें वैराग्योत्पादक १२ अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं) का ९१ गाथाओंमें प्रतिपादन है।

१४. सिद्धभत्ति—इसमे १२ गाथाओं द्वारा सिद्धोंका स्वरूप व उनकी भक्ति वर्णित है।

१५ सुदभत्ति—इसमे ११ गाथाएँ हैं। उनमें श्रुतकी भक्ति प्रतिपादित है।

१६. चारित्तभत्ति—इसमें १० अनुष्टुप् गाथाओं द्वारा पाँच प्रकारके चारित्रका दिग्दर्शन हैं।

१७ योगिभत्ति—२३ गाथाओ द्वारा इसमें योगियोंकी विभिन्न अवस्थाओंका विवेचन है।

१८. आयरियभत्ति—इसमें १० गाथाओं द्वारा आचार्यके गुणोकी संस्तुति की गयी है।

१९. णिव्वाणभत्ति—इसमे २७ गाथाएँ हैं और उनमे निर्वाणका स्वरूप एवं निर्वाणप्राप्त तीर्थंकरोंकी स्तुति की गयी है।

२०. पंचगुरुभत्ति—यह सात गाथाओकी लघु कृति है और पाँच परमेष्ठियोंकी भक्ति इसमें निबद्ध है।

२१. थोस्सामिथुदि—इसमें ८ गाथाओं द्वारा ऋषभादि चौबीस तीर्थंकरोकी स्तुति की गयी है।

इन रचनाओके सिवाय कुछ विद्वान् 'रयणसार' और 'मूलाचार' को भी कुन्दकुन्दकी रचना बतलाते हैं।

कुन्दकुन्दकी देन

कुन्दकुन्दके इस विशाल वाङ्मयका सूक्ष्म और गहरा अध्ययन करनेपर उनकी हमें अनेक उपलब्धियाँ अवगत होती हैं। उनका यहाँ अंकन करके उनपर संक्षिप्त विचार करेंगे। वे ये हैं—

१ साहित्यिक उद्भावनाएँ, २ दार्शनिक चिन्तन, ३ तात्त्विक विचारणा और ४ लोककल्याणी दृष्टि।

१. साहित्यिक उद्भावनाएँ—हम पहले कह आये है कि कुन्दकुन्दकी उपलब्ध समग्र ग्रन्थ-रचना प्राकृत-भाषामें निबद्ध है। प्राकृत-साहित्य गद्यसूत्रों और पद्यसूत्रो दोनोंमें उपनिबद्ध हुआ है। कुन्दकुन्दने अपने समग्र ग्रन्थ, जो उपलब्ध हैं, पद्यसूत्रों—गाथाओंमें ही रचे हैं। प्राकृतका पद्य-साहित्य यद्यपि एकमात्र गाथा-छन्दमें, जो आर्याछन्दके नामसे प्रसिद्ध हैं, प्राप्त है। किन्तु कुन्दकुन्दके प्राकृत पद्य-वाङ्मयकी विशेषता यह है कि उसमें गाथा-छन्दके अतिरिक्त अनुष्टुप् और उपजाति छन्दोंका भी उपयोग किया गया है और इस छन्दवैविध्यसे उसमें सौन्दर्यके साथ आनन्द भी अध्येताको प्राप्त होता है। अनुष्टुप् छन्दके लिए भावपाहुड गाथा ५९, नियमसार गाथा १२६ और उपजाति छन्दके लिए प्रवचनसारके ज्ञेयाधिकारकी '**णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण**' गाथाएँ द्रष्टव्य हैं। यद्यपि षट्खण्डागमके पचम वर्गणाखण्डके ३६ वें '**णिद्धस्स णिद्धेण**' सूत्रको ही अपने ग्रन्थका अंग बना लिया है। फिर भी छन्दोंकी विविधतामें क्षति नही आती।

इसी प्रकार अलंकार-विविधता भी उनके ग्रन्थोंमे उपलब्ध होती है, जो काव्यकी दृष्टिसे उसका होना अच्छा है। अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकारके लिए भावपाहुडकी '**ण मुयइ पयडि अभव्वो**' (१३७ संख्यक) गाथा, उपमालंकारके लिए इसी ग्रन्थकी '**जह तारयाण चंदो**' (१४३ संख्यक) गाथा और रूपकालंकारके लिए उसीको '**जिणवरचरणंबुरुहं**' (१५२) गाथा देखिए। इस प्रकार कुन्दकुन्दके प्राकृत वाङ्मयमें अनेक साहित्यिक उद्भावनाएँ परिलक्षित होती हैं, जिससे अवगत होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द केवल सिद्धान्तवेत्ता मनीषी

ही नहीं थे, वे प्राकृत और संस्कृत भाषाओंके प्रौढ़ कवि भी थे और इन भाषाओंमें विविध छन्दों तथा अलंकारोंमें कविता करनेकी विशिष्ट प्रतिभा उन्हें प्राप्त थी।

दार्शनिक चिन्तन

कुन्दकुन्दका दार्शनिक चिन्तन आगम, अनुभव और तर्कपर विशेष आधृत है। जब वे किसी वस्तुका विचार करते हैं तो उसमें सिद्धान्तके अलावा दर्शनका आधार अवश्य रहता है। पंचास्तिकायमें कुन्दकुन्दने द्रव्यके लक्षण किये हैं। एक यह कि जो सत् है वह द्रव्य है तथा सत् उसे कहते हैं जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य दो पाये जायें। जगत्‌की सभी वस्तुएँ सत्स्वरूप है और इसीसे उनमें प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाया जाता है। दूसरा लक्षण यह है कि जो गुणों और पर्यायोंका आश्रय है। अर्थात् गुण-पर्याय वाला है। पहला लक्षण जहाँ द्रव्यकी त्रयात्मक शक्तिको प्रकट करता है वहाँ दूसरा लक्षण द्रव्यको गुणों और पर्यायोंका पुञ्ज सिद्ध करता है तथा उसमें सहानेकान्त और क्रमानेकान्त दो अनेकान्तोंको सिद्ध कर सभी वस्तुओंको अनेकान्तात्मक बतलाता है। कुन्दकुन्दके इन दोनो लक्षणोंको उत्तरवर्ती गृद्धपिच्छ जैसे सभी आचार्योंने अपनाया है।

कुन्दकुन्दका दूसरा नया चिन्तन यह है कि आगमोंमें जो '**सिया अत्थि**' (स्याद् अस्ति—कथंचित् है) और '**सिया णत्थि**' (स्यान्नास्ति—कथंचित् नहीं है) इन दो भंगों (प्रकारों)से वस्तुनिरूपण है। कुन्दकुन्दने उसे सात भंगों (प्रकारों) से प्रतिपादित किया है तथा द्रव्यमात्रको सात भंग (सात प्रकार) रूप बतलाया है। उनका यह चिन्तन एवं प्रतिपादन समन्तभद्र जैसे आचार्योंके लिए मार्गदर्शक सिद्ध हुआ। समन्तभद्रने उनकी इस 'सप्तभंगी' को आप्तमीमांसा, स्वयम्भूस्तोत्र आदिमें विकसित किया एवं विशदतया निरूपित किया है।

तात्त्विक चिन्तन

कुन्दकुन्दकी उपलब्ध सभी रचनाएँ तात्त्विक चिन्तनसे ओतप्रोत हैं। समयसार और नियमसारमें जो शुद्ध आत्माका विशद और विस्तृत विवेचन है वह अन्यत्र अलभ्य है। आत्माके बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन भेदोंका (मोक्षपाहुड ४ से ७) कथन उनसे पहले किसी ग्रन्थमें उपलब्ध नही है। सम्यग्दर्शनके आठ अंगोंका निरूपण (स० सा० २२९-२३६), अणुमात्र राग रखने वाला सर्वशास्त्रज्ञ भी स्वसमयका ज्ञाता नही (पचा० १६७), जीवको सर्वथा कर्मबद्ध अथवा कर्म-अबद्ध बतलाना नय पक्ष (एकान्तवाद) है और दोनोंका ग्रहण करना समयसार है (स. सा. १४१-१४३), तीर्थंकर भी वस्त्रधारी हो तो सिद्ध नहीं हो सकता (दं० पा० २३) आदि तात्त्विक विवेचन कुन्दकुन्दकी देन है।

लोक कल्याणी दृष्टि

कुन्दकुन्दकी दृष्टिमें गुण कल्याणकारी हैं, देह, जाति, कुल आदि नहीं। (दं. पा. २७) आदि निरूपण भी उनकी प्रशस्त देन है। इस प्रकार मनुष्यमात्रके हितका मार्ग उन्होंने प्रशस्त किया है।

■

आचार्य गृद्धपिच्छ

संस्कृत-भाषामें जैन सिद्धान्तोंको गद्य-सूत्रोंमें निबद्ध करने वाले प्रथम आचार्य गृद्धपिच्छ हैं। इन्हें उमास्वामी और उमास्वाति भी कहा जाता है। पुरातनाचार्य वीरसेन और आचार्य विद्यानन्दने 'गृद्धपिच्छाचार्य' नामसे ही इनका उल्लेख किया है। इन्होंने अपने किसी भी ग्रन्थमें उनके उमास्वामी और उमास्वति-नामोंका उल्लेख नहीं किया। अभयचन्द्रने भी उनका गृद्धपिच्छके नामसे ही उल्लेख किया है।

निर्विवादरूपमें इनकी एक ही कृति मानी जाती है। वह है **'तत्त्वार्थसूत्र'**। यह जैन परम्पराका विश्रुत और अधिक मान्य ग्रन्थ-रत्न है। यह समग्र श्रुतका आलोडन कर निकाला गया श्रुतामृत है। जैन साहित्य और शिलालेखोंमें इसका उल्लेख तत्त्वार्थ, तत्त्वार्थशास्त्र, मोक्षशास्त्र, नि.श्रेयसशास्त्र, तत्त्वार्थाधिगम जैसे नामोंसे किया गया है।

इसके सूत्र नपे-तुले, अर्थगर्भ, गम्भीर और विशद है। इस पर दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओंके आचार्योंने टीकाएँ, व्याख्याएँ, टिप्पण, भाष्य, वार्तिक आदि लिखे हैं और इसे बहु मान दिया है। इन टीकादिमें कई तो इतनी विशाल और गम्भीर हैं कि वे स्वतंत्र ग्रन्थकी योग्यता रखती है। इनमें आचार्य अकलंकदेवका तत्त्वार्थवार्तिक और वार्तिकोंपर लिखा उनका भाष्य तथा आचार्य विद्यानन्दका तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और उसपर लिखा गया उन्हीका स्वोपज्ञ भाष्य ऐसी टीकाएँ हैं, जिनमें अनेकों विषयोंका विशद एवं विस्तृत विवेचन है।

आचार्य गृद्धपिच्छको उनके अकेले इस तत्त्वार्थसूत्रने अमर एवं यशस्वी बना दिया है। तत्त्वार्थसूत्रके सूक्ष्म और गहरे अध्ययनसे उनके व्यक्तित्वका उसके अध्येतावर अमिट प्रभाव पड़ता है। वे सिद्धान्तनिरूपणमें तो कुशल हैं ही, दर्शन और तर्कशास्त्रके भी महापण्डित है। तत्त्वार्थसूत्रका आठवां, नवां और दशवां ये तीन अध्याय सिद्धान्तके निरूपक है। शेष अध्यायोंमे सिद्धान्त, दर्शन और न्यायशास्त्रका मिश्रित विवेचन है। यद्यपि दर्शन और न्यायका विवेचन इन अध्यायोंमें भी कम ही है किन्तु जहाँ जितना उनका प्रतिपादन आवश्यक समझा, उन्होंने वह विशदताके साथ किया है। वह युग मुख्यतया सिद्धान्तोंके प्रतिपादनका था। उनके समर्थनके लिए दर्शन और न्यायकी जितनी आवश्यकता प्रतीत हुई उतना उनका आलम्बन लिया गया है। उदाहरणके लिए कणादका वैशेषिकसूत्र और जैमिनिका मीमासासूत्र ले सकते है। इनमे अपने सिद्धान्तोंका मुख्यतया प्रतिपादन है और दर्शन एव न्यायका निरूपण आवश्यकतानुसार हुआ है। आचार्य गृद्धपिच्छने इस तत्त्वार्थसूत्रमें भी वही शैली अपनायी है।

तत्त्वार्थसूत्रके पहले अध्यायके ५, ७, व ८ संख्यक सूत्रोंमें आगमानुसार सिद्धान्तका और इसी अध्यायके ६, १०, ११, १२ संख्यक सूत्रोंमें दर्शनका तथा इसी अध्यायके ३१ व ३२ सूत्रों एवं दशवें अध्यायके ५, ६, ७, ८ सूत्रोंमें न्याय (तर्क) का विवेचन इस बातको बतलाता है कि तत्त्वार्थसूत्रमें सिद्धान्तोंके प्रतिपादनके साथ दर्शन और न्यायका भी प्रतिपादन उपलब्ध है, जो अध्येताओंके लिए समयानुसार आवश्यक रहा है।

तत्त्वार्थसूत्रकारको इस संस्कृत गद्य-सूत्ररचनाके समय अनेक स्थितियोंका सामना करना पड़ा होगा, क्योंकि उनके पूर्व श्रमणपरम्परामें प्राकृत-भाषामें ही गद्य या पद्य ग्रन्थोंके रचनेकी अपनी परम्परा थी। सम्भव है उनके इस प्रयत्नका आरम्भमें विरोध भी किया गया हो और इसीसे इस गद्यसूत्र संस्कृतग्रन्थ तत्त्वार्थ-सूत्रको कई शताब्दियों तक किसी आचार्यने छुआ नहीं—उस पर किसीने कोई वृत्ति, टीका, वार्तिक, भाष्य आदिके रूपमें कुछ नहीं लिखा। देवनन्दि-पूज्यपाद (छठी शताब्दी) ही एक ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने उसपर तत्त्वार्थवृत्ति—सर्वार्थसिद्धि लिखी और उसके छिपे महत्त्वको प्रकट किया। फिर तो आगे अकलंकदेव, विद्यानन्द, सिद्धसेन गणी आदिके लिए मार्ग प्रशस्त हो गया।

इस सूत्र-ग्रन्थमें वैशेषिकसूत्रकी तरह १० अध्याय है और आदि तथा अन्तमें एक-एक पद्य है। आदि-का पद्य मङ्गलाचरणके रूपमें है और अन्तका पद्य ग्रन्थसमाप्ति एवं लघुता सूचक है। वे ये हैं—

आदि पद्य—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ।।

अन्तिम पद्य

अक्षर-मात्र-पद-स्वरहीनं व्यंजन-संधि-विवर्जितरेफम्।
साधुभिरत्र मम क्षमितव्यं को न विमुह्यति शास्त्र-समुद्रे ।।

वस्तुतः आचार्य गृद्धपिच्छ और उनके तत्त्वार्थसूत्रका समग्र जैन वाङ्मयमें सम्मानपूर्ण एवं विशिष्ट स्थान है।
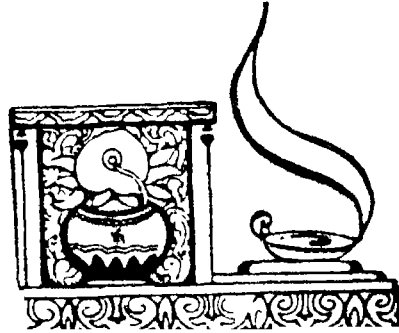
आचार्य समन्तभद्र

आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य गृद्धपिच्छके पश्चात् जैन वाङ्मयकी जिस मनीषीने सर्वाधिक प्रभावना की और उसपर आये आघातोंको दूर कर यशोभाजन हुआ वह है स्वामी समन्तभद्राचार्य। शिलालेखों तथा परवर्ती ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंमें इनका प्रचुर यशोगान किया गया है। अकलंकदेवने इन्हें स्याद्वादतीर्थका प्रभावक और स्याद्वादमार्गका परिपालक, विद्यानन्दने स्याद्वादमार्गाग्रणी, वादिराजने सर्वज्ञप्रदर्शक, मलयगिरि-ने आद्य स्तुतिकार तथा शिलालेखोंमें वीर-शासनकी सहस्रगुणी वृद्धि करने वाला, श्रुतकेवलिसन्तानोन्नायक, समस्तविद्यानिधि, शास्त्रकार एवं कलिकालगणधर जैसे विशेषणों द्वारा उल्लेखित किया है।

समन्तभद्रका समय वस्तुतः दार्शनिक चर्चाओं, शास्त्रार्थों और खण्डन-मण्डनके ज्वारभाटेका समय था। तत्त्वव्यवस्था ऐकान्तिक की जाने लगी और प्रत्येक दर्शन एकान्त पक्षका आग्रही हो गया। जैन दर्शनके अनेकान्तसिद्धान्तपर भी घात-प्रतिघात होने लगे। फलतः आर्हत-परम्परा ऋषभादि महावीरान्त तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित तत्त्वव्यवस्थापक स्याद्वादको भूलने लगी, ऐसे समयपर स्वामी समन्तभद्रने ही स्याद्वादको उजागर किया और स्याद्वादन्यायसे उन एकान्तोंका समन्वय करके अनेकान्ततत्त्वकी व्यवस्था की।

इनका विस्तृत परिचय और समयादिका निर्णय श्रद्धेय पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपने **'स्वामी समन्तभद्र'** नामक इतिहास-ग्रन्थमें दिया है। वह इतना प्रमाणपूर्ण, अविकल और शोधात्मक है कि उसमें संशोधन, परिवर्त्तन या परिवर्धनकी गुञ्जाइश प्रतीत नहीं होती। वह आज भी बिलकुल नया और चिन्तन-पूर्ण है। विशेष यह है कि समन्तभद्र उस समय हुए, जब दिगम्बर परम्परामें मुनियोंमें वनवास ही प्रचलित था, चैत्यवास नहीं। जैसा कि उनके स्वयंभूस्तोत्रगत श्लोक १२८ तथा रत्नकरण्डश्रावकाचारके पद्य १४७ से प्रकट है[1]। इसके सिवाय कुमारिल (ई० ६५०) और धर्मकीर्ति (६३५) ने समन्तभद्रका खण्डन किया है[2], अतः वे उनसे पूर्ववर्ती हैं। आचार्य वादिराज[3] (१०२५ ई०) के न्यायविनिश्चयविवरण (भाग १, पृ० ४३९) गत उल्लेख (''**उक्तं स्वामिसमन्तभद्रैस्तुदुपजीविना भट्टेनाऽपि**') से स्पष्ट है कि कुमारिलसे समन्तभद्र पूर्ववर्ती हैं। शोधके आधारपर इनका समय दूसरी-तीसरी शताब्दी अनुमानित होता है।

समन्तभद्र द्वारा प्रतिपादित तत्त्व-व्यवस्था

आचार्य समन्तभद्रने प्रतिपादन किया कि तत्त्व (वस्तु) अनेकान्तरूप है—एकान्तरूप नहीं और अनेकान्त विरोधी दो धर्मों सत्-असत्, शाश्वत-अशाश्वत, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि) के युगलके आश्रयसे प्रकाशमें आनेवाले वस्तुगत सात धर्मोंका समुच्चय है और ऐसे-ऐसे अनन्त सप्तधर्म-समुच्च विराट अनेकान्तात्मक तत्त्वसागरमें अनन्त लहरोंकी तरह लहरा रहे है और इसीसे उसमें अनन्त सप्तकोटियाँ (सप्तभङ्गियाँ) भरी पडी हैं। हाँ, दृष्टाको सजग और समदृष्टि होकर उसे देखना-जानना चाहिए। उसे यह ध्यातव्य है कि वक्ता या ज्ञाता वस्तुको जब अमुक एक कोटिसे कहता या जानता है तो वस्तुमें वह धर्म

---

१. जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, पृ० १८० से १८७।

२. ३, यही ग्रन्थ, 'अनुसंधानमें पूर्वाग्रहमुक्ति आवश्यक : कुछ प्रश्न और समाधान शीर्षक लेख।

अमुक अपेक्षासे रहता हुआ भी अन्य धर्मोंका निषेधक नहीं है। केवल वह विवक्षावश या अभिप्रायवश मुख्य और अन्य धर्म गौण हैं। इसे समझनेके लिए उन्होंने प्रत्येक कोटि (भङ्ग-वचनप्रकार)के साथ 'स्यात्' निपात-पद लगाने की सिफारिश की और 'स्यात्' का अर्थ 'कथञ्चित्'—किसी एक दृष्टि—किसी एक अपेक्षा बतलाया। साथ ही उन्होंने प्रत्येक कोटिकी निर्णयात्मकताको प्रकट करनेके लिए प्रत्येक उत्तरवाक्यके साथ 'एवकार' पदका प्रयोग भी निर्दिष्ट किया, जिससे उस कोटिकी वास्तविकता प्रमाणित हो, काल्पनिकता या सांवृतिकता नहीं। तत्त्वप्रतिपादनकी इन सात कोटियों (वचन प्रकारों)को उन्होंने एक नया नाम भी दिया। वह नाम है भङ्गिनी प्रक्रिया—सप्तभङ्गी अथवा सप्तभङ्ग नय। समन्तभद्रकी वह परिष्कृत सप्तभङ्गी इस प्रकार प्रस्तुत हुई—

(१) स्यात् सत्रूप ही तत्त्व (वस्तु) है।
(२) स्यात् असत्रूप ही तत्त्व है।
(३) स्यात् उभयरूप ही तत्त्व है।
(४) स्यात् अनुभय (अवक्तव्य) रूप ही तत्त्व है।
(५) स्यात् सद् और अवक्तव्य रूप ही तत्त्व है।
(६) स्यात् असत् और अवक्तव्यरूप ही तत्त्व है।
(७) स्यात् और असत् तथा अवक्तव्यरूप ही तत्त्व है।

इस सप्तभङ्गीमें प्रथम भङ्ग स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे, दूसरा परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे, तीसरा दोनोंकी सम्मिलित अपेक्षासे, चौथा दोनों (सत्त्व-असत्त्व)को एक साथ कह न सकनेसे, पाँचवाँ प्रथम-चतुर्थके संयोगसे, षष्ठ द्वितीय-चतुर्थके मेलसे और सप्तम तृतीय-चतुर्थके मिश्ररूपसे विवक्षित है। और प्रत्येक भङ्गका प्रयोजन पृथक्-पृथक् है। उनका यह समस्त प्रतिपादन आप्तमीमांसामें[1] द्रष्टव्य है।

समन्तभद्रने सदसद्वादकी तरह अद्वैत-द्वैतवाद, नित्य-अनित्यवाद, आदिमें भी इस सप्तभंगीको समायोजित करके दिखाया है तथा स्याद्वादकी प्रतिष्ठा की है।

इस तरह तत्त्व-व्यवस्थाके लिए उन्होने विचारकोंको एक स्वस्थ एवं नयी दृष्टि (स्याद्वाद शैली) प्रदानकर तत्कालीन विचार-संघर्षको मिटानेमें महत्त्वपूर्ण योगदान किया। दर्शन सम्बन्धी उपादानों—प्रमाणका स्वरूप, प्रमाणके भेद, प्रमाणका विषय, प्रमाणका फल, नयका स्वरूप, हेतुका स्वरूप, वाच्य-वाचकका स्वरूप आदिका उन्होंने विशद प्रतिपादन किया। इसके लिए उनकी आप्तमीमासा (देवागम)का अवलोकन एवं आलोडन करना चाहिए। आप्तमीमांसाके अतिरिक्त स्वयम्भूस्तोत्र और युक्त्यनुशासन भी उनकी ऐसी रचनाएँ है, जिनमें जैन दर्शनके अनेक अनुद्घाटित विषयोंका उद्घाटन हुआ है और उनपर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

●

---

१. समन्तभद्र, आप्तमी० का० १४, १५, १६, २१।

आचार्य सामन्तभद्रका प्रभाव

कवीना गमकानां च वादीनां वाग्मिनामपि ।
यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्निचूडामणीयते ।।

● ● ●

अवटु-तटमटति झटिति स्फुट-पटु-वाचाट-धूर्जटेर्जिह्वा ।
वादिनि समन्तभद्रे स्थितिवति का कथाऽन्येषाम् ।।

● ● ●

पूर्वं पाटलिपुत्र-मध्यनगरे भेरी मया ताडिता पश्चान्मालव-सिन्धु-ठक्क-विषये काञ्चीपुरे वैदिशे ।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं सकट वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम् ।।

● ● ●

वन्द्यो भस्मक-भस्मसात्कृतिपटुः पद्मावतीदेवतादत्तोदात्तपद-स्वमन्त्र-वचन-व्याहूत-चन्द्रप्रभः ।
आचार्यस्स समन्तभद्र-गणभृद् येनेह काले कलौ जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः ।।

● ● ●

काञ्च्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः पुण्ड्रोड्रे शाक्यभिक्षुः दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट् ।
वाराणस्यामभूवं शशधरधवलः पाण्डुरांगस्तपस्वी राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैन-निर्ग्रन्थवादी ।।

● ● ●

आचार्योहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोहं दैवज्ञोहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोहं ।
राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलायामाज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोहं ।।

■

विविध

■ ■

विहारकी महान् देन : तीर्थंकर महावीर और इन्द्रभूति

विहारकी महत्ता

विहारकी माटी बड़ी पावन है। उसने संस्कृतिके निर्माताओंको जन्म देकर अपना और सारे भारत-का उज्ज्वल इतिहास निर्मित किया है। सांस्कृतिक चेतनाको उसने जगाया है। राजनैतिक दृष्टिसे भी भारतके शासकीय इतिहासमें विहारका नाम शीर्ष और स्मरणीय रहेगा। विहारने ही सर्वप्रथम गणतन्त्र (लोकतन्त्र)को जन्म दिया और राजनीतिक क्रान्ति की। यद्यपि वैशालीका वह लिच्छवियोंका गणतन्त्र आजके भारतीय गणतन्त्रकी तुलनामें बहुत छोटा था। किन्तु चिरकालसे चले आये राजतन्त्रके मुकाबलेमें वैशाली गणतन्त्रकी परिकल्पना और उसकी स्थापना निश्चय ही बहुत बड़े साहसपूर्ण जनवादी कदम और विहारियोंकी असाधारण सूझबूझकी बात है। सांस्कृतिक चेतनामें जो कुण्ठा, विकृति और जड़ता आ गयी थी, उसे दूरकर उसमें नये प्राणोंका संचार करते हुए उसे सर्वजनोपयोगी बनानेका कार्य भी विहारने ही किया, जिसका प्रभाव सारे भारतपर पड़ा। बुद्ध कपिलवस्तु (उत्तर प्रदेश)में जन्मे। पर उनका कार्यक्षेत्र विहार खासकर वैशाली, राजगृह आदि ही रहा, जहाँ तीर्थंकर महावीर व अन्य धर्मप्रचारकोंकी धूम थी। महावीर और गौतम इन्द्रभूति तो विहारकी ही देन हैं, जिन्होंने संस्कृतिमें आयी कुण्ठा एवं जड़ताको दूर किया, उसे सँवारा, निखारा और सर्वोदयी बनाया। प्रस्तुत निबन्धमें हम इन दोनोंके महान् व्यक्तित्वोंके विषयमें ही विचार करेंगे और उनकी महान् देनोंका दिशा-निर्देश करेंगे।

तीर्थंकर महावीर

तीर्थंकर महावीर जैनधर्मके चौबीस तीर्थंकरोंमें अन्तिम और चौबीसवें तीर्थंकर हैं। आजसे २५७३ वर्ष पूर्व वैशालीके निकटवर्ती क्षत्रियकुण्डमें राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला, जिनका दूसरा नाम प्रिय-कारिणी था, की कुक्षिसे चैत्र शुक्ला १३ को इनका जन्म हुआ था। राजा सिद्धार्थ ज्ञातृवंशी क्षत्रिय थे और क्षत्रियकुण्डके शासक थे। वैशाली गणतन्त्रके अध्यक्ष (नायक) राजा चेटकके साथ इनका घनिष्ठ एवं आत्मीय सम्बन्ध था। उनकी पुत्री त्रिशला इन्हे विवाही थी।

उस समय विहार और भारतकी धार्मिक स्थिति बहुत ही दयनीय थी। धर्मके नामपर अन्धश्रद्धा, मूढ़ता और हिंसाका सर्वत्र बोलबाला था। पशुबलि और नरबलिकी पराकाष्ठा थी। और यह सब होता था उसे धर्म मानकर। महावीर बचपनसे ही विवेकी, प्रज्ञावान् और विरक्त स्वभावी थे। उनसे समाजकी यह स्थिति नहीं देखी गयी। उसे सुधारा जाय, यह सोचकर भरी जवानीमें ३० वर्षकी वयमें ही घर, राज्य और संसारसे विरक्त होकर संन्यास ले लिया—निर्ग्रन्थ दीक्षा ले ली। १२ वर्ष तक जंगलोंमें, पर्वतगुफाओंमें और वृक्षकोटरोंमें समाधि लगाकर आत्म-चिन्तन किया तथा कठोर-से-कठोर अनशनादि तपोंका आचरण किया। यह सब मौनपूर्वक किया। कभी किसीके कुछ पूछने और उत्तर न मिलनेपर उन्हें पागल समझा गया। किन्तु वे तो निरन्तर आत्म-चिन्तनमें लीन रहते थे। फलतः उन्हें लोगों द्वारा पहुँचाये गये बहुत कष्ट भी सहने पड़े। उन्हें जब केवलज्ञान हो गया और योग्य शिष्य इन्द्रभूति गौतम पहुँच गये, तब उनका मौन टूटा और लगातार तीस वर्ष तक उनके उपदेशोंकी धारा प्रवाहित हुई। उनके पवित्र उपदेशों और

आचार-सम्पन्न उच्च जीवनका तत्कालीन वातावरण एवं उस वातावरणमें रहनेवाले लोगोंपर ऐसा असाधारण प्रभाव पड़ा, जो भारतके धार्मिक इतिहासमें उल्लेखनीय रहेगा। भारतीय संस्कृतिमें आगत कुण्ठा और जड़ताको दूर करनेके लिए उन्हें भागीरथी प्रयत्न करना पड़ा। पशुबलिका बड़ा जोर था। स्थान-स्थानपर यज्ञोंकी महिमा (अभ्युदय, स्वर्गफल, स्त्री-पुत्र-धनादिका लाभ) बतलाकर उनका आयोजन किया जाता था। यज्ञमें मृत पशुको स्वर्गलाभ होता है और जो ऐसे यज्ञ कराते हैं उन्हें भी स्वर्ग मिलता है। ऐसी विडम्बना सर्वत्र थी। महावीरने इन सबका विरोधकर हिम्मतका कार्य किया। उन्होंने अहिंसाका शंखनाद फूंका, जिसे प्रबुद्धवर्गने ही नही, कट्टर विरोधियोंने भी सुना और उसका लोहा माना। इन्द्रभूति और उनके सहस्रों अनुगामी अपने विरोधभावको भूलकर अहिंसाके पुजारी हो गये और पशुबलिका उन्होंने स्वयं विरोध किया। वैदिक यज्ञोंमे होनेवाली अपार हिंसापर महावीरकी अहिंसक विचार-धाराका अद्भुत, जादू जैसा, असर हुआ। महावीरने मनुष्यकी भी बलिका निषेध किया तथा मांसभक्षणको निन्द्य एव निषिद्ध बतलाया। मास-भक्षण करनेपर अहिंसाका पालन सम्भव नही है। प्रतीत होता है कि उस समय यज्ञोंमें हुत पशुओं या मनुष्यकी बलिसे उत्पन्न मासको धर्म-विहित एव शास्त्रानुमोदित मानकर भक्षण किया जाता था और वेद-वाक्योंसे उसका समर्थन किया जाता था। महावीरने इसे दृढ़तापूर्वक भूल और अज्ञानता बतलायी। दूसरे जीवोंको दुःख देकर एव उन्हें मारकर उनके मांसको खानेसे धर्म कदापि नही हो सकता। धर्म तो आत्म-विकारो (काम-क्रोधादि) का जीतना, इन्द्रियोको वशमें करना, जीवों पर दया करना, दान देना और आत्म-चिन्तन करना है। धर्म वह प्रकाश है, जो अपने आत्माके भीतरसे ही प्रकट होता है तथा भीतर और बाहरके अन्धेरेको मिटाता हुआ अभय प्रदान करता है। हिंसा अन्धकार है और वह अविवेकसे होती है। विचार और आचारमे लोग जितने अधिक अप्रमत्त-सावधान-विवेकवान् होंगे उतनी ही अधिक अहिंसा, निर्भयता और सम्यक् बुद्धि आयेगी।

महावीरने पूर्ण अहिंसाकी प्राप्ति तभी बतलायी, जब मन, वाणी और क्रिया इन तीनोंको अप्रमत्त रखा जाये। इसीसे उन्होंने स्पष्ट कहा है कि '**प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा**' (त० सू० ६-११) अर्थात् कषायके कारण अपने या दूसरे जीवोंके प्राणोंको घात करना हिंसा है।

इससे प्रतीत होता है कि महावीरकी दृष्टि बहुत विशाल और गम्भीर थी। वे सृष्टिके प्रत्येक प्राणी को अपने समान मानते थे और इसी से वे '**समभाव**' का सदैव उपदेश देते थे। उन्होंने सबसे पहले जो आत्मकल्याणकी ओर कदम उठाया और उसके लिए निरन्तर साधना की, उसीका परिणाम था कि उन्हें पूर्ण ज्ञान, पूर्ण दर्शन, पूर्ण बल और पूर्ण सुख प्राप्त हो गया था। तत्पश्चात् उन्होंने ३० वर्ष तक विहार करके जनकल्याण किया। इस अवधिमें उन्होंने जो उपदेश दिये वे प्राणी मात्रके कल्याणकारी थे। उनके उपदेशोका चरम लक्ष्य जीवकी मुक्ति—कर्मबन्धनसे छुटकारा पाना था और समस्त दुःखोंसे मुक्त होना था। अपने आचरणको स्वच्छ एवं उच्च बनाने के लिए अहिंसाका पालन तथा अपने मन एवं विचारोंको शुद्ध और निर्मल बनानेके लिए सर्व समभावरूप '**अनेकान्तात्मक**' दृष्टिकोणके अपनानेपर उन्होंने बल दिया। साथ ही हित मित वाणीके प्रयोगके लिए '**स्याद्वाद**' पर भी जोर दिया। महावीरके इन उपदेशोंका स्थायी प्रभाव पड़ा, जिनकी सशक्त एवं जीवन्त परम्परा आज भी विद्यमान है। उनके उपदेशोंका विशाल वाङ्मय प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत, तमिल, तेलुगु, महाराष्ट्री, गुजराती आदि भाषाओंमे निबद्ध देशके विभिन्न शास्त्र-भंडारोंमे समुपलब्ध है। राजकुमार विद्युच्चर, चौर्यकार्यमें अत्यन्त कुशल, अजन चोरजैसे सहस्रों व्यक्तियोंने

उनके उपदेशोंसे आत्मोद्धार किया, चन्दना जैसी सैकड़ों नारियोंने, जो समाजसे च्युत एवं बहिष्कृत थीं, महावीरकी शीतल छाया पाकर श्रेष्ठता एवं पूज्यता को प्राप्त किया। कुत्ते जैसी निन्द्य पर्यायमें जन्मे पशुयोनिके जीवोंने भी उनकी देशनासे लाभ लिया। प्रथमानुयोग और श्रावकाचारके ग्रन्थोंमें ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं, जिनसे स्पष्टतया महावीरके धर्मकी उदारता एवं विशालता अवगत होती है। तात्पर्य यह कि तत्कालीन बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे सभीको अधिकार था कि वे महावीरके उपदेशोंको सुनें, ग्रहण करें और उनपर चलकर आत्मकल्याण करें।

चतुर्विध संघका गठन

महावीरने समाजका गठन बिल्कुल नये ढंगसे किया। उन्होंने उसे चार वर्गोंमें गठित किया। वे चार वर्ग हैं—१ श्रावक, २ श्राविका, ३ साधु (मुनि) और ४ साध्वी (आर्यिका)। प्रत्येक वर्गका संचालन करनेके लिए एक एक वर्गप्रमुख भी बनाया, जिसका दायित्व उस वर्गकी अभिवृद्धि, समुन्नति और उसका संचालन था। फलतः उनकी संघव्यवस्था बड़ी सुगठित ढंगसे चलती थी और आजतक वह चली आ रही है। तत्कालीन अन्य धर्म-प्रचारकोंने भी उनकी इस संघ-व्यवस्थासे लाभ लिया था। बुद्धने आरम्भमें स्त्रियोंको दीक्षा देना निषिद्ध कर दिया था। किन्तु णिग्गंथनातपुत्त महावीर की संघव्यवस्थाका आनन्दने जब बुद्धके समक्ष उदाहरण प्रस्तुत किया और स्त्रियोंको भी दीक्षा देनेपर जोर दिया तो बुद्धने उन्हें भी दीक्षित करना आरम्भ कर दिया था तथा उनके संघकी संघटना की थी।

अन्तमें महावीरने मध्यमा पावासे मुक्ति-लाभ लिया।

गौतम इन्द्रभूति

इन्द्रभूति उस समयके महान् पंडित और वैदिक विद्वान् थे। जैन साहित्यमे जो और जैसा उल्लेख इनके विषयमें किया गया है उससे इनके महान् व्यक्तित्वका परिचय मिलता है।

आचार्य यतिवृषभ (विक्रमकी ५वी शती) के उल्लेखानुसार इन्द्रभूति निर्मल गौतम गोत्रमें पैदा हुए थे और वे चारों वेदोंके पारगामी तथा विशुद्ध शीलके धारक थे। धवला और जयधवला टीकाओंके रचयिता आचार्य वीरसेन (विक्रमकी ९वी शती) के[2] अनुसार इन्द्रभूति क्षायोपशमिक चार निर्मल ज्ञानों-से सम्पन्न थे। वर्णसे ब्राह्मण थे, गौतमगोत्री थे, सम्पूर्ण दुश्रुतियोंके पारंगत थे और जीव-अजीव विषयक सन्देह को लेकर वर्धमान तीर्थंकरके पादमूलमें पहुँचे थे।

वीरसेनने[3] इन्द्रभूतिके परिचय-विषयक एक प्राचीन गाथा भी उद्धृत की है। गाथामे पूर्वोक्त परिचय ही निबद्ध है। इतना उसमें विशेष कहा गया है कि वे ब्राह्मणोत्तम थे।

१. विमले गोदमगोत्ते जादेणं इंदभूदिणामेणं।
चउवेदपारगेणं सिस्सेण विसुद्धसीलेण ।। —ति० प० १-७८

२. ''.....खओवसम-जणिद-चउरमल-बुद्धि-संपण्णेण बम्हणेण गोदमगोत्तेण सयल-दुस्सुदि-पारएण जीवाजीव-विसय-संदेह-विणासणट्ठमुवगय-वड्ढमाण-पाद-मूलेण इंदभूदिणावहारिदो।
—धव० पु० १, पृ० ६४

३. गोत्तेण गोदमो विप्पो चाउव्वेय-सडंग वि।
णामेण इंदभूति त्ति सीलवं बह्मणुत्तमो ।। —वही, पु० १, पृ० ६५

वीरसेनके शिष्य और आदिपुराणके कर्त्ता आचार्य जिनसेन[1] (विक्रम की ९वीं शती) ने 'इन्द्रभूति' और 'गौतम' पदोंकी व्युत्पत्ति भी दिखाई है। बतलाया है कि इन्द्रने आकर उनकी पूजा की थी, इससे वे 'इन्द्रभूति' और गौ—सर्वज्ञभारतीको उन्होंने जाना-पढा, इससे वे गौतम कहे गये।

जैन साहित्यके अन्य स्रोतोंसे[2] भी अवगत होता है कि आर्य सोमिलने मध्यमा पावामें जो महन् यज्ञ आयोजित किया था, उसका नेतृत्व इन्द्रभूति गौतमके हाथमे था। इस यज्ञमे बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् शिष्य-परिवार सहित आमंत्रित थे। इससे यह प्रकट है कि इन्द्रभूति निःसन्देह प्रकाण्ड वैदिक विद्वान् थे और उनका अप्रतिम प्रभाव था।

किन्तु आश्चर्य है कि इतने महान् प्रभावशाली वैदिक विद्वान्का वैदिक साहित्यमें न उल्लेख मिलता है और न परिचय। इसका एकमात्र कारण यही प्रतीत होता है कि इन्द्रभूति तीर्थंकर महावीरके शिष्य हो गये थे और वैदिक विचार-धाराका उन्होने परित्याग कर दिया था। ऐसी स्थितिमें उनका वैदिक साहित्यमें कोई उल्लेख एवं परिचय न मिले, तो कोई आश्चर्य नही है।

महावीरका शिष्यत्व

जैन साहित्यके उल्लेखोंसे विदित है कि तीर्थंकर महावीरको कैवल्य प्राप्त हो जानेपर भी ६५ दिन तक उनका उपदेश नही हुआ। इसका कारण था उनके अव्यर्थ उपदेशोंको संकलन—अवधारण करनेकी योग्यता रखनेवाले असामान्य व्यक्तिका अभाव। इन्द्रने अपने विशिष्ट ज्ञानसे ज्ञात किया कि तीर्थंकर महावीरकी वाणीको अवधारण करनेकी क्षमता इन्द्रभूतिमे है। पर वह वैदिक है और महाभिमानी है। इन्द्रने विप्र-वटुका स्वयं वेश बनाया और इन्द्रभूतिके चरण-सान्निध्यमे पहुँचा। उस समय इन्द्रभूति अपने ५०० शिष्योंसे घिरे हुए थे और वेदाध्ययनाध्यापनमें रत थे। विप्रवटु वेशधारी इन्द्र प्रणाम करके इन्द्रभूति-से बोला—गुरुदेव, मैं बहुत बड़ी जिज्ञासा लेकर आपके पादमूलमें आया हूँ। आशा है आप मेरी जिज्ञासा पूरी करेंगे और मुझे निराश नही लौटना पडेगा। इन्द्रके विनम्र निवेदन पर इन्द्रभूतिने त्वरित ध्यान दिया और कहा कि वटो! अपनी जिज्ञासा व्यक्त करो। मैं उसकी पूर्ति करूँगा। इन्द्रने निम्न गाथा पढ-कर उसका अर्थ स्पष्ट करनेका अनुरोध किया—

पंचेव अत्थिकाया छज्जीव-णियाया महव्वया पंच।
अट्ठ य पवयणमादा सहेउओ बंध-मोक्खो य॥

—धवला, पु० ९, पृ० १२९ मे उद्धृत।

इन्द्रभूति इस गाथाका अर्थ और उसमे निरूपित पारिभाषिक विषयोंको बहुत सोचनेपर भी समझ न सके। तब वे वटुसे बोले—कि यह गाथा तुमने किससे पढ़ी और किस ग्रन्थकी है? ब्राह्मण वटुवेषधारी इन्द्रने कहा गुरुदेव! उक्त गाथा जिनसे पढी है वे विपुलगिरिपर मौनावस्थित हैं और कब तक मौन रहेंगे, कहा नही जा सकता। अतएव श्रीचरणोंमें उसका अर्थ अवगत करनेके लिए उपस्थित हुआ हूँ।

---

१. (क) इन्द्रेण प्राप्तपूजर्द्धिरिन्द्रभूतिस्त्वमिष्यते।
(ख) गौतमा गौः प्रकृष्टा स्यात् सा च सर्वज्ञभारती।
तां वेत्सि तामधीष्टे च त्वमतो गौतमो मतः॥ —आ० पु० २।५२-५४

२. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड १, परि० ७, पृ० १८५

पर इन्द्रभूति उसका अर्थ बतानेमें असमर्थ थे। इस असमर्थताको प्रकट करना भी उनके स्वाभिमान और प्रकाण्ड विद्वत्ताके प्रतिकूल था। फलतः वे ब्राह्मणवटुवेशधारी इन्द्रके साथ उनके गुरुसे शास्त्रार्थ करने की इच्छासे चल दिये और पीछे-पीछे उनके शिष्य भी चल पड़े। महावीर विपुलगिरिपर एक सभा स्थलमें ऊँचे आसनपर विराजमान थे। सभास्थल (समवसरण)के समक्ष मानस्तम्भ था। इन्द्रभूतिने ज्यों ही सभास्थलमे प्रवेश किया त्यों ही मानस्तम्भके देखते ही उनका अहंकार दूर हो गया और सारा ज्ञान निर्मल हो गया। उनके अहंकार-जन्य सारे विचार बदल गये और निर्मल-चित्त हो गये। सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेमे उन्हें देर न लगी। महावीरके पादमूलमे उनका शिष्यत्व ग्रहणकर निर्ग्रन्थ-दीक्षा ले ली और उनके प्रथम गणधर (पट्ट शिष्य) हो गये तथा चार ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि और मन.पर्यय) एवं उत्कृष्ट संयमके धारक वे कुछ क्षणोंमें बन गये। इसे परिणामोंकी विचित्रता ही समझना चाहिए। इस तरह इन्द्रभूति महावीरके ऐसे महान् प्रभावशाली प्रथम शिष्य हैं, जिनके द्वारा उनके ३० वर्ष व्यापी उपदेश द्वादशांग श्रुतके रूपमें निबद्ध किये गये। अन्तमे इन्द्रभूतिने अपना समग्र श्रुत—महावीरके दूसरे शिष्य एव अपने उत्तराधिकारी सुधर्म स्वामीको देकर १२ वर्ष तक केवली रहकर निर्वाण-लाभ लिया।
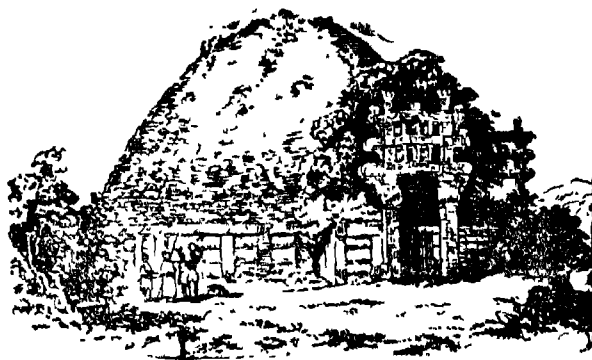
विद्वान् और समाज

विद्वान् समाजका एक विशिष्ट अङ्ग है। शरीरमे जो स्थान शिर (उत्तमाङ्ग) का है वही समाजमें विद्वान् (ज्ञानवान्) का है। यदि शरीरमे शिर न हो या रुग्ण हो तो शरीर शरीर न रहकर धड़ हो जायेगा या उससे सार्थक जीवन-क्रिया नहीं हो सकेगी। सारे शरीरकी शोभा भी शिरसे ही है। अतः शिर और उसके उपाङ्गों—आँख, कान, नाक आदिकी रक्षा एवं चिन्ता सदा की जाती है। विद्वान् समाजके धर्म, दर्शन, इतिहास और श्रुतका निर्माण एवं संरक्षण करके उसे तथा उसकी संस्कृतिको सप्राण रखता है। यदि विद्वान् न हो या वह चिन्ताग्रस्त हो तो स्वस्थ समाज और उसकी उच्च सस्कृतिकी कल्पना ही नहीं की जा सकती है। पर दुर्भाग्यसे इस तथ्यको समझा नहीं जाता। यही कारण है कि समाजमें विद्वान्‌की स्थिति चिन्तनीय और दयनीय है। किसी विद्यालय या पाठशालाके लिए विद्वान्‌की आवश्यकता होनेपर उससे व्यवसायकी मनोवृत्तिसे बात की जाती है। संस्था-संचालक उसे कम-से-कम देकर अधिक-से-अधिक काम लेना चाहता है। कुछ महीने पूर्व एक संस्था-संचालक महानुभावने हमें विद्वान्‌के लिए उसकी वाछनीय योग्यताओका उल्लेख करते हुए लिखा। हमने उन्हे उत्तर दिया कि यदि उक्त योग्यतासम्पन्न विद्वान्‌के लिये कम-से-कम तीनसौ रुपए मासिक दिया जा सके तो विद्वान् भेज देगे। परन्तु उन्होंने तीनसौ रुपए मासिक देना स्वीकार नही किया। फ़लतः वही विद्वान् छहसौ रुपए मासिकपर अन्यत्र चला गया। कहा जाता है कि विद्वान् नही मिलते। विचारणीय है कि जो किसी धार्मिक शिक्षणसंस्थामे दश वर्ष धर्म-दर्शनका शिक्षण लेकर विद्वान् बने और बादमें उसे उसकी श्रुत-सेवाके उपलक्ष्यमें सौ-डेढ़सौ रुपए मासिक सेवा-पारिश्रमिक दिया जाय तो वह आजके समयमे उससे कैसे निर्वाह करेगा। काश! वह सद्‌गृहस्थ हो और दो-चार बाल-बच्चे हों, तो वह श्रुत-सेवा कर सकेगा या आर्थिक चिन्तामे ही घुलता रहेगा! अतः आज हमें इस महत्त्वपूर्ण प्रश्नपर गम्भीरतासे विचारकर श्रुत-सेवकोंकी परम्पराको हर प्रयत्नसे जीवित रखना है। यदि हमने इसकी उपेक्षा की तो अगले दश वर्षमे ये टिमटिमाते दीपक भी बुझ जावेंगे और इस दिशामें कोई भी आना पसन्द नहीं करेगा, जबकि लौकिक विद्याके क्षेत्रमें विविध मार्गोंमे प्रवेशकर भरपूर आर्थिक लाभ होगा। इससे संस्कृतिकी जो क्षति होगी उसकी कल्पना भी नही की जा सकती।

विद्वान्‌का दायित्व

विद्वान्‌को यह सदा ध्यान रखना आवश्यक है कि वह समाजसे अलग नही है—वह उसका ही अभिन्न अङ्ग है। बिना शिरके जैसे शरीर संज्ञाहीन धड़ कहा जाता है उसी प्रकार बिना धड़के शिर भी चेतनाशून्य होकर अपना अस्तित्व खो देता है। अतः दोनोका अभिन्नत्व ही जीवन-क्रियाका सम्पादक है। ठीक इसी प्रकार बिना विद्वान्‌के समाज और बिना समाजके विद्वान् भी अपना अस्तित्व नही रख सकते हैं। फिर समाजमे उसने जन्म लिया है उसके प्रति उसका कृतज्ञभावसे बहुत बड़ा कर्त्तव्य है, जिसकी उपेक्षा नही की जा सकती और न उसे भुलाया ही जा सकता है। संस्कृति, धर्म, दर्शन और साहित्यके सरक्षणका जिस तरह समाजका परमावश्यक कर्त्तव्य है उसी तरह विद्वान्‌का भी उनके संरक्षणका परम दायित्व है। इस सत्यको हमें नही भूलना है। हमपर उस श्रेष्ठ परम्पराको आगे बढ़ानेका उत्तरदायित्व है, जिस परम्परा-

को आचार्योंके बाद आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमल्लजी, पण्डित जयचन्दजी, गुरु गोपालदासजी, वर्णी गणेशप्रसादजी जैसे विद्वद्रत्नोंने जीवनव्यापी कष्टोंको सहते हुए त्यागवृत्तिके साथ हम तक पहुँचाया है। बिना त्यागके श्रुतसेवा की हो नहीं जा सकती है। हमारा विश्वास है कि श्रुतसेवाका लक्ष्य और उसकी ओर प्रवृत्ति रहनेपर विद्वान् धनी न बन सके, तो भूखा भी नहीं रह सकता। जो श्रुत केवलज्ञान-प्रदाता और परमात्मपद-दाता है उसके उपासक आर्थिक कष्टसे सदा ग्रस्त नहीं रह सकते। सारस्वतका ध्येय स्वामी समन्तभद्रके शब्दोंमें 'लोकमें व्याप्त जड़ता और मूढ़ताको दूरकर जिनशासनका प्रकाश करना' है। भौतिक उपलब्धियाँ तो उसे अनायास प्राप्त होंगी। सरस्वतीका उपासक यों अपरिग्रहमें ही सरस्वतीकी अधिक सेवा करता और आनन्द उपलब्ध करता है।

समस्याएँ

यों तो जीवन ही समस्याओंसे घिरा हुआ है। कोई-न-कोई समस्या जीवनमें खड़ी मिलती है। किन्तु धीर और बुद्धिमान् उन समस्याओंपर काबू पा लेता है। आज देशके सामने कितनी समस्याएँ हैं। पर राष्ट्रनेता उन्हें देर-सबेर हल कर लेते हैं। हमारी समाजमें भी अनेक समस्याएँ हैं। उनमें तीर्थक्षेत्रोंकी समस्या प्रमुख है। यदि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों समाजें, जो भगवान् महावीर और उनसे पूर्ववर्ती ऋषभादि तेईस तीर्थंकरोंकी उपासिका है, आगामी भगवान् महावीरके २५०० वें निर्वाणोत्सवके उपलक्ष्यमें समानताके आधारपर तीर्थक्षेत्रोंकी समस्याको सुलझा लें, तो दोनोंमें घृणा और भयका भाव दूर होकर पारस्परिक सौहार्द सम्भव है और उस दशामें तीर्थोंका विकास तथा समृद्धिकी भी सम्भावना है, जहाँ विश्व-के लोग भारत-भ्रमणपर आनेपर जा सकते हैं और विश्वको उनका परिचय दे सकते हैं।

यहाँ हमें मुख्यतया विद्वानोंकी समस्याओंका उल्लेख अभीष्ट है। उनकी समस्याएँ साम्पत्तिक या आधिकारिक नहीं हैं। वे केवल वैचारिक हैं। तीन दशक पूर्व दस्सा-पूजाधिकार, अन्तर्जातीय-विजातीय-विवाह जैसी समस्याएँ थीं, जो समयके साथ हल होती गयी हैं। दस्साओंको समानरूपसे मन्दिरोंमें पूजाका अधिकार मिल गया है। अन्तर्जातीय और विजातीय विवाह भी, जो शास्त्र-सम्मत हैं और अनार्यप्रवृत्ति नहीं हैं, होने लगे हैं और जिनपर अब कोई रोक नहीं रही। स्वामी सत्यभक्त (पं० दरबारीलालजी) वर्धा द्वारा-की गयी जैनधर्मके सर्वज्ञतादि सिद्धान्तोंकी मीमांसा भी दि० जैनसंघ द्वारा प्रकाशित '**विरोध-परिहार**' जैसे ग्रन्थोंके द्वारा उत्तरित हो चुकी है। डाक्टर हीरालालजी द्वारा उठाये गये प्रश्न भी '**अनेकान्त**' (मासिक) आदि द्वारा समाहित किये गये हैं।

हमे स्वर्गीय पं० देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री द्वारा सुनाये गये उस युगकी याद आती है जब गुरु गोपालदासजीको समाजके भीतर और बाहर जानलेवा जबर्दस्त टक्कर लेना पड़ती थी, जिसे वे बड़ी निर्भ-यता और ज्ञानवैभवसे लेते थे। उस समय संकीर्णता और अज्ञानने समाजको तथा घृणा और असहनशीलताने आर्यसमाजको बलात् जकड़ रखा था। गुरुजीने दोनों मोर्चोंपर शानदार विजय प्राप्त की थी। शास्त्रार्थ-संघ अम्बालाका, जो अब दि० जैन संघ मथुराके नामसे प्रसिद्ध है, उदय संकीर्णता, अज्ञान, घृणा, असहनशीलता जैसी कुण्ठाओंके साथ संघर्ष करनेके लिए ही हुआ था और इस दिशामें उसने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। वेदविद्या-विशारद पं० मंगलसेनजी अम्बाला, विलक्षण-मेधावी पं० राजेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थ जैसे समर्थ

विद्वान्-मेनानियोंने आर्यसमाजके साथ शास्त्रार्थ करके जैनधर्मके सिद्धान्तोंकी रक्षा ही नहीं की, स्वामी कर्मानन्दजी जैसे आर्यसमाजी महाशास्त्रार्थी विद्वान्की आस्थाको जैनधर्ममें परिणत भी किया था।

आज भी कुछ सैद्धान्तिक मतभेदकी समस्याएँ हैं, जिनका होना अस्वाभाविक नहीं है। आचार्योंतकमें सैद्धान्तिक मतभेद रहा है। आचार्य वीरसेनने ऐसे अनेक आचार्य-मतभेदोंका धवलामें समुल्लेख किया है। किन्तु दुर्भाग्यसे आज कुछ खिचाव पाया जाता है। वह नहीं होना चाहिए। वाणी और लेखनी दोनोंमें संयम वांछनीय है। वीतरागकथामें असंयमका स्थान तो है ही नहीं। जब हम अपनी शास्त्र-सम्मत बातको दूसरेके गलेमें उतारनेका प्रयास करें तो आग्रह और आग्रहसे चिपटे रोष, अहंकार एवं असद्भावसे मुक्त होकर ही उसको चर्चा करें। दोनों पक्ष स्याद्वादी हैं। उन्हें निरपेक्ष आग्रह तो होना ही नहीं चाहिए। यह गौरव और प्रसन्नताकी बात है कि ये दोनों पक्ष विद्वत्परिषद्में समाहित है और दोनों ही उसका समादर करते हैं। हमारा उनसे नम्र निवेदन है कि वे विद्वत्परिषद्का जिसप्रकार गौरव रखकर आदर करते हैं उसी प्रकार वे समग्र श्रुतकी उपादेयताका भी गौरवके साथ सम्मान करें। श्रुत चार अनुयोगों—प्रथमानुयोग, द्रव्यानुयोग, करणानुयोग और चरणानुयोग—में विभक्त है। समन्तभद्रस्वामीने इनका समानरूपमें विवेचन किया है और चारोंकी आस्था—भक्तिको सम्यग्ज्ञानका तथा सम्यग्ज्ञानको मुक्तिका कारण बतलाया है। ऐसी स्थितिमें अनुयोगविशेषपर बल देकर दूसरे अनुयोगोंकी उपेक्षा या अनादेयता नहीं ही होनी चाहिए। यह बात अलग है कि अमुक अनुयोगकी अपेक्षासे विवेचन करनेपर उसकी प्रधानता हो जाय और अन्यकी अप्रधानता। पर उनकी उपेक्षा न की जाय—विवेचनमें उन्हें भी स्थान मिलना चाहिए। इसीलिए ज्ञेयतत्त्वको समझनेके लिए प्रमाणके अतिरिक्त द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों और निक्षेपोंका तथा उपादेयको ग्रहण करनेके लिए व्यवहार और निश्चय नयोंका आगममें प्रतिपादन है। प्रथमको दर्शन-शास्त्रका और दूसरेको अध्यात्मशास्त्रका प्रतिपादन कहा गया है। महर्षि कुन्दकुन्दने इन दोनों शास्त्रोंका निरूपण किया है। उनके पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड और प्रवचनसार मुख्यतः दर्शनशास्त्रके ग्रन्थ हैं तथा नियमसार एवं समयसार अध्यात्मशास्त्रके। द्वादशांग श्रुत इन दोनोंका समुच्चय है। दर्शनशास्त्र जहाँ साधन है वहाँ अध्यात्मशास्त्र साध्य है और साध्यकी उपलब्धि बिना साधनके सम्भव नहीं। हाँ, साध्यके उपलब्ध हो जानेपर साधनका परित्याग या गौणता हो जाय, यह अलग बात है। अग्निज्ञान हो जानेपर धूमज्ञान अनावश्यक हो ही जाता है। पर अग्निज्ञानके लिए धूमज्ञानकी अनिवार्यता अपरिहार्य है।

जैनधर्म वीतराग-विज्ञान धर्म है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं। किन्तु वह अपने इस नामसे लक्ष्यनिर्देशभरकी अभिव्यक्ति करता है। उसमें लक्ष्य-प्राप्तिके उपकरणोंका समावेश नहीं है, ऐसा न कहा जा सकता है और न माना जा सकता है। किसी ग्रन्थका नाम '**मोक्षशास्त्र**' है। वह केवल मोक्षका ही प्रतिपादक नहीं होता। उसमें उसके विरोधी-अविरोधी सभी आवश्यक ज्ञेय और उपादेय तत्त्वोंका विवेचन होता है। स्वयं '**समयसार**' में शुद्ध आत्माका प्रतिपादन करनेके लिए ग्रन्थकार कुन्दकुन्दमहाराजने बन्ध, आस्रव, संवर, निर्जरा आदिका भी निरूपण किया है। इन्हीं बन्धादिका विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन '**षट्खण्डागम**' में आचार्य भूतबली-पुष्पदन्तने और '**कषायप्राभृत**' में आचार्य गुणधरने किया है। तथा इन्हींके आधारसे गोम्मटसारादि ग्रन्थ रचे गये हैं।

धर्मका आधार मुमुक्षु और सद्गृहस्थ दोनों हैं तथा सद्गृहस्थोंके लिए संस्कृति और तत्त्वज्ञान आवश्यक हैं। और इन दोनोंकी स्थितिके लिए वाङ्मय, तीर्थ, मन्दिर, मूर्तियाँ, कला, पुरातत्त्व और इतिहास अनिवार्य हैं। इनके बिना समाजकी कल्पना और समाजके बिना धर्मकी स्थिति सम्भव ही नहीं। मुमुक्षुधर्म भी गृहस्थधर्मपर उसी प्रकार आधारित है जिस प्रकार खम्भों पर प्रासाद निर्भर है। मुमुक्षुको मुमुक्षुतक

पहुँचानेके लिए आरम्भमें दर्शन-शास्त्रका विमर्श आवश्यक है। उसके बिना उसकी नींव मजबूत नहीं हो सकती। यह भी हमें नहीं भूलना है कि लक्ष्यको समझने और पानेके लिए उसकी ओर ध्यान और प्रवृत्ति रखना नितान्त आवश्यक है। दर्शन-शास्त्रको तो सहस्रोंबार ही नहीं, कोठि-कोटि बार भी पढ़ा-सुना है फिर भी लक्ष्यको नहीं पा पाये। तात्पर्य यह कि दर्शन-शास्त्र और अध्यात्म-शास्त्र दोनोंका चिन्तन जीवन-शुद्धिके लिए परमाश्वक है। इनमेंसे एककी भी उपेक्षा करनेपर हमारी वही क्षति होगी, जिसे आचार्य अमृतचन्द्रने निम्न गाथाके उद्धरणपूर्वक बतलाया है—

जइ जिणमयं पवज्जह तो मा ववहार-णिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं॥

—आत्मख्याति, स० सा०, गा० १२।

'यदि जिन-शासनकी स्थिति चाहते हो, तो व्यवहार और निश्चय दोनोंको मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहारके छोड़ देनेपर धर्मतीर्थका और निश्चयके छोड़नेसे तत्त्व (अध्यात्म) का विनाश हो जायेगा।'

यह सार्थ चेतावनी ध्यातव्य है।

स्वामी अमृतचन्द्रने उभयनयके अविरोधमें ही समयसारकी उपलब्धिका निर्देश किया है—

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव॥४॥

'उभयनयके विरोधको दूर करनेवाले 'स्यात्' पदसे अंकित जिन-शासनमें जो ज्ञानी स्वयं निष्ठ है वे अनव—नवीन नही, एकान्त पक्षसे अखण्डित और अत्यन्त उत्कृष्ट ज्ञानस्वरूप समयसारको शीघ्र देख (पा) ही लेते हैं।'

अमृतचन्द्रसे तीनसौ वर्ष पूर्व भट्ट अकलङ्कदेवने ऋषभको आदि लेकर महावीर पर्यन्त चौबीसों तीर्थकरोंको धर्मतीर्थकर्ता और स्याद्वादी कहकर उन्हे बिनम्रभावसे नमस्कार किया तथा उससे स्वात्मोपलब्धिकी अभिलाषा की है। जैसाकि भाषणके आरम्भमे किये गये मङ्गलाचरणसे, जो उन्हीके लघीयस्त्रयका मङ्गलश्लोक है, स्पष्ट है। इससे हम सहज ही जान सकते हैं कि स्याद्वाद तीर्थकर-वाणी है—उन्हीकी वह देन है। वह किसी आचार्य या विद्वान्का आविष्कार नहीं है। वह एक तथ्य और सत्य है, जिसे इंकारा नही जा सकता। निश्चयनयसे आत्माका प्रतिपादन करते समय उस परद्रव्यका भी विश्लेषण करना आवश्यक है, जिससे उसे मुक्त करना है। यदि बद्ध परद्रव्यका विवेचन, जो षट्खण्डागमादि आगमग्रन्थोंमे उपलब्ध है, न किया जाय और केवल आत्माका ही कथन किया जाय, तो जैन-दर्शनके आत्म-प्रतिपादनमें और उपनिषदोंके आत्मप्रतिपादनमें कोई अन्तर नही रहेगा।

एक बार न्यायालङ्कार पं० वंशीधरजीने कहा था कि एक वेदान्ती विद्वान्ने गुरुजीसे प्रश्न किया था कि आपके अध्यात्ममें और वेदान्तके अध्यात्ममे कोई अन्तर नही है? गुरुजीने उत्तर दिया था कि जैन दर्शनमें आत्माको सदा शुद्ध नहीं माना, संसारावस्थामें अशुद्ध और मुक्तावस्थामें शुद्ध दोनों माना गया है। पर वेदान्तमें उसे सदा शुद्ध स्वीकार किया है। जिस मायाकी उसपर छाया है वह मिथ्या है। लेकिन जैन दर्शनमें आत्मा जिस पुद्गलसे बद्ध, एतावता अशुद्ध है वह एक वास्तविक द्रव्य है। इससे संयुक्त होनेसे आत्मामें विजातीय परिणमन होता है। यह विजातीय परिणमन ही उसकी अशुद्धि है। इस अशुद्धिका जैन दर्शनमें

विस्तारसे विवेचन है। उससे मुक्त होनेके लिए ही संवर, निर्जरा आदि तत्त्वोंका विवेचन है। तात्पर्य यह कि जिन-शासन जब स्वयं स्याद्वादमय है, तो उसमें प्रतिपादित आत्मस्वरूप स्याद्वादात्मक होना ही चाहिए। इस तरह दोनों नयोंसे तत्त्वको समझने और प्रतिपादन करनेसे ही तत्त्वोपलब्धि एवं स्वात्मोपलब्धि प्राप्य है।

साहित्यक प्रवृत्तियाँ और उपलब्धियाँ

आजसे पचास वर्ष पूर्व जैन साहित्य सबको सुलभ नहीं था। इसका कारण जो भी रहा हो। यहाँ साम्प्रदायिकताके उन्मादने कम उत्पात नहीं किया। उसने बहुमूल्य सहस्रों ग्रन्थोंकी होली खेली है। उन्हें जलाकर पानी गरम किया गया है और समुद्रों एवं तालाबोंमें उन्हें डुबा दिया गया है। सम्भव है उक्त भयसे हमारे पूर्वजोंने बचे-खुचे वाङ्मयको निधिकी तरह छिपाया हो या दूसरोंके हाथ पड़नेपर अविनयका उन्हें भय रहा हो। प्रकाशनके साधन उपलब्ध होनेपर सम्भवतः उसी भयके कारण उन्होंने छापेका भी विरोध किया जान पड़ता है। परन्तु युगके साथ चलना भी आवश्यक होता है। अतएव कितने ही दूरदर्शी समाजसेवकोंने उस विरोधका सामना करके भी ग्रन्थ-प्रकाशनका कार्य किया। फलतः आज जैन वाङ्मयके हजारों ग्रन्थ प्रकाशमें आ गये हैं। षट्खण्डागम, कषायप्राभृत, धवला-जयधवलादि टीकाएँ जैसे सिद्धान्त-ग्रन्थ भी छप गये हैं और जनसामान्य भी उनसे ज्ञानलाभ ले रहा है। इस दिशामें श्रीमन्तसेठ शितावराय लक्ष्मीचन्द्र जैन-साहित्योद्धारक-फन्डद्वारा डाक्टर हीरालालजी, उनके सहयोगी पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री, पं० हीरालालजी शास्त्री और पं० बालचन्द्रजी शास्त्रीके सम्पादन-अनुवादादिके साथ षट्खण्डागमके १६ भागोंका प्रकाशन उल्लेखनीय है। सेठ माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमालासे स्वर्गीय पं० नाथूरामजी प्रेमीने कितने ही वाङ्मयका प्रकाशन कर उद्धार किया है। जीवराज-ग्रन्थमालासे डाक्टर ए० एन० उपाध्ये एवं पं० बालचन्द्रजी शास्त्रीने तिलोयपण्णत्ती आदि अनेक ग्रन्थोंको प्रकाशित कराया है। स्व० पं० जुगलकिशोर मुख्तारके वीर-सेवा-मन्दिर दिल्ली और वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट वाराणसीसे कई महत्त्वके ग्रन्थ प्रकट हुए हैं। श्री गणेशप्रसादवर्णी-ग्रन्थमालाका योगदान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। जिस प्रकाशन-संस्थासे सर्वाधिक जैन वाङ्मयका प्रकाशन हुआ, वह है भारतीय ज्ञानपीठकीमूर्तिदेवी ग्रन्थमाला। इस ग्रन्थमालासे सिद्धिविनिश्चय जैसे अनेक दुर्लभ ग्रन्थ सामने आये हैं और आ रहे हैं। इसका श्रेय जहाँ स्व० पं० महेन्द्रकुमारजी, प० कैलाशचन्द्रजी, पं० फूलचन्द्रजी, पं० हीरालालजी आदि उच्च विद्वानोंको प्राप्त है वहाँ ज्ञानपीठके संस्थापक साहू शान्तिप्रसादजी और अध्यक्षा श्रीमती रमारानीजीको भी है। उल्लेख्य है कि श्रीजिनेन्द्रवर्णीद्वारा संकलित-सम्पादित जैनेन्द्र-सिद्धान्त कोष (२ भाग) का प्रकाशन भी स्वागतयोग्य है। इस प्रकार पिछले पचास वर्षोंमें साहित्यिक प्रवृत्तियाँ उत्तरोत्तर बढ़ती गयी हैं, जिसके फलस्वरूप बहुत-सा जैन वाङ्मय सुलभ एवं उपलब्ध हो सका है।

स्व० डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्रीने विद्यादान और साहित्य-सृजनमें जो असाधारण योगदान किया है वह मुक्तकण्ठसे स्तुत्य है। लगभग डेढ़ दर्जन शोधार्थी विद्वान् आपके निर्देशनमें जैन विद्याके विभिन्न अङ्गोंपर पी-एच० डी० कर चुके हैं और लगातार क्रम जारी है। भारतीय ज्योतिष, लोकविजय-यन्त्र आदिपुराणमें प्रतिपादित भारत, संस्कृत-काव्यके विकासमें जैन कवियोंका योगदान जैसे अनेक ग्रन्थ-रत्न आपकी रत्नगर्भा सरस्वतीने प्रसूत किये हैं। पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्यकी भारतीने तो भारतके प्रथम नागरिक सर्वोच्च पदासीन राष्ट्रपति श्री वराह वेंकटगिरि तकको प्रभावित कर उन्हें राष्ट्रपति-सम्मान दिलाया और भारतीय वाङ्मयको समृद्ध बनाया है। आदिपुराण, हरिवंशपुराण, पद्मपुराण, उत्तरपुराण, गद्यचिन्तामणि, जीवन्धरचम्पू, पुरुदेवचम्पू, तत्त्वार्थसार, समयसार, रत्नकरण्डकश्रावकाचार आदि अर्धशती ग्रन्थ-राशि आपके द्वारा अनूदित एवं सम्पादित हुई है। डा० देवेन्द्रकुमारजी रायपुरका 'अपभ्रंश भाषा और साहित्यकी शोधप्रवृत्तियाँ, डा० हीरालालजी जैनका 'णायकुमारचरिउ', डा० ए० एन० उपाध्येका गीतवीतराग, पं०

कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीका 'नयचक्र', पं० अमृतलालजी शास्त्रीका 'चन्द्रप्रभचरित', डा० कस्तूरचन्द्रजी कासलीवालका 'राजस्थानके जैन सन्त : कृतित्व और व्यक्तित्व', श्री श्रीचन्द्रजी जैन उज्जैनका 'जैन कथानकोंका सांस्कृतिक अध्ययन' आदि नव्य-भव्य रचनाओंने जैनवाङ्मयके भण्डारकी अभिवृद्धि की है।

जैन शिक्षण-संस्थाएँ

आजसे पचास वर्ष पूर्व एकाध ही शिक्षण-संस्था थी। गुरु गोपालदासजी वरैया और पूज्य श्रीगणेशप्रसादजी वर्णीके धारावाही प्रयत्नोंसे सौ-से भी अधिक शिक्षण-संस्थाओंकी स्थापना हुई। मोरेना विद्यालय और काशीका स्याद्वाद-महाविद्यालय उन्हींमेंसे हैं। मोरेनासे जहाँ आरम्भमें सिद्धान्तके उच्च विद्वान् तैयार हुए वहाँ काशीसे न्याय, साहित्य, धर्म और व्याकरणके ज्ञाता तो हुए ही, अंग्रेजीके भी विद्वान् निकले हैं। यह गर्वकी बात है कि आज समाजमे जो बहुसंख्यक उच्च विद्वान् हैं वे इसी विद्यालयकी देन हैं। वस्तुतः इसका श्रेय प्राचार्य गुरुवर्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीको है, जो विद्यालयके पर्यायवाची माने जाते हैं। सागरके गणेशविद्यालयकी भी समाजको कम देन नहीं है। इसने सैकड़ों बुझते दीपकोंमें तेल और बत्ती देकर उन्हें प्रज्वलित किया है।

पर आज ये शिक्षण-संस्थाएँ प्राणहीन-सी हो रही हैं। इसका कारण मुख्यतया आर्थिक है। यहाँसे निकले विद्वानोंकी खपत समाजमें अब नहीं-के-बराबर है और है भी तो उन्हें श्रुतसेवाका पुरस्कार अल्प दिया जाता है। अतः छात्र, अब समाजके बाजारमे उनकी खपत कम होनेसे, दूसरे बाजारोंको टटोलने लगे हैं और उनमे उनका माल ऊँचे दामोंपर उठने लगा है। इससे विद्वानोंका ह्रास होने लगा है। फलतः समाज और संस्कृतिको जो क्षति पहुँचेगी, उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। अतः समाजके नेताओंको इस दिशामें गम्भीरतासे विचार करना चाहिए। यदि तत्परतासे तुरन्त विचार न हुआ तो निश्चय ही हमारी हजारों वर्षोंकी संस्कृति और तत्त्वज्ञानकी रक्षाके लिए संकटकी स्थिति आ सकती है।

विद्वत्परिषद्का भावी कार्यक्रम

विद्वत्परिषद्के साधन सीमित हैं और उसके चालक अपने-अपने स्थानोंपर रहकर दूसरी सेवाओंमें संलग्न है। उन आवश्यक सेवाओंसे बचे समय और शक्तिका ही उत्सर्ग वे समाज, साहित्य और संगठनमें करते हैं। अतः हमे अपनी परिधिके भीतर आगामी कार्यक्रम तय करना चाहिए।

हमारा विचार है कि परिषद्को निम्न तीन कार्य हाथमें लेकर उन्हे सफल बनाना चाहिए।

१. जैन विद्या-फण्डकी स्थापना।

२. भगवान् महावीरकी २५००वीं निर्वाणशतीपर सेमिनार।

३. ग्रन्थ-प्रकाशन।

१. पूज्य वर्णीजीके साभापत्यमें सन् १९४८ में परिषद्ने एक केन्द्रीय छात्रवृत्ति-फण्ड स्थापित करनेका प्रस्ताव किया था, जहाँ तक हमें ज्ञात है, इस प्रस्तावको क्रियात्मक रूप नहीं मिल सका है। आज इस प्रकारके फण्डकी आवश्यकता है। प्रस्तावित फण्डको 'जैन विद्या-फण्ड' जैसा नाम देकर उसे चालू किया जाय। यह फण्ड कम-से-कम एक लाख रुपएका होना चाहिए। इस फण्डसे (क) आर्थिक स्थितिसे कमजोर विद्वानोंके बच्चोंको सम्भव वृत्ति दी जाय। (ख) उन योग्य शोधार्थियोंको भी वृत्ति दी जाय, जो जैन-विद्याके किसी अङ्गपर किसी विश्वविद्यालयमें शोधकार्य करें। (ग) शोधार्थीके शोध-प्रबन्धके टङ्कन या शुल्क या दोनोंके लिए सम्भव मात्रामें आर्थिक साहाय्य किया जाय।

२. भगवान् महावीरकी २५००वीं निर्वाण-शती सारे भारतवर्षमें व्यापक पैमानेपर मनायी जायगी। उसमें विद्वत्परिषद्के सदस्य व्यक्तिशः योगदान करेंगे ही, परिषद् भी एक साथ अनेक स्थानोंपर अथवा भिन्न-भिन्न समयोंमें अनेक विश्वविद्यालयोंमें सेमिनारों (संगोष्ठियों) का आयोजन करे। इन सेमिनारोंमें जैन एवं जैनेतर विद्वानों द्वारा जैन विद्याकी एक निर्णीत विषयावलिपर शोधपूर्ण निबन्ध-पाठ कराये जायें। इन सेमिनारोंका आज अपना महत्त्व है और उनमें विद्वान् रुचिपूर्वक भाग लेंगे।

३. आगामी तीन वर्षोंकी अवधिके लिए एक ग्रन्थ-प्रकाशनकी योजना बनायी जाय। इस योजनाके अन्तर्गत '**तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्यपरम्परा**' ग्रन्थका तो प्रकाशन हो ही, उसके अतिरिक्त तीन अप्रकाशित संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंशके ग्रन्थों या भगवान् महावीर-सम्बन्धी नयी मौलिक रचनाओंका प्रकाशन किया जाय।

यदि अगले तीन वर्षोंमें परिषद् ये तीन कार्य कर लेती है तो वह संस्कृतिकी एक बहुत बड़ी सेवा कही जावेगी।
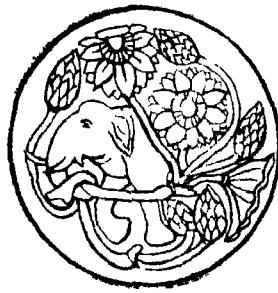
हमारे सांस्कृतिक गौरवका प्रतीक : अहार

क्षेत्रकी पावनता और अतीत गौरव

आजसे एक हजार वर्ष पूर्व यह वन-खण्ड (क्षेत्र) कितना समृद्ध था, कितनी जातियाँ यहाँ रहती थीं, कितने धनकुबेरोंकी यहाँ गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ थीं और कितने धर्मपिपासु साधक और श्रावकजन यहाँ द्रव्यका व्यय कराकर और करके अपनेको धन्य मानते थे। आप क्या कह सकते हैं कि यह सब समृद्धि— विभिन्न अनेक जातियोंका निवास, अनगिनत जिनमन्दिरोंका निर्माण और उनकी तथा असंख्य मूर्तियोंकी प्रतिष्ठाएँ जादूकी छड़ीकी तरह एक दिनमें होगई होंगी ? मेरा विश्वास है कि इस अद्भुत समृद्धिके लिए, दस-बीस वर्ष ही नहीं, शताब्दियां लगी होंगी। यहाँकी चप्पे-चप्पे भूमिके गर्भमें सहस्रों मूर्तियों, मन्दिरों और अट्टालिकाओंके भग्नावशेष भरे पड़े हैं। क्षेत्रकी भूमि तथा उसके आस-पासके स्थानोंकी खुदाईसे जो अभी तक खण्डित-अखण्डित मूर्तियाँ और महत्त्वपूर्ण भग्नावशेष उपलब्ध हुए हैं, वे तथा उनपर अङ्कित प्रचुर लेख यहाँके वैभव और गौरवपूर्ण इतिहासकी परम्पराको प्रकट करते हैं। सत्तरह-अठारह वर्ष पहले पं० गोविन्ददासजी न्यायतीर्थने, जो यहीके निवासी है, बड़े श्रमसे यहाँके ११७ मूर्तिलेखों व अन्य लेखोंका संग्रह करके उन्हे अनेकान्त (वर्ष ९, १०, सन् १९४८-४९) में प्रकाशित किया था। बा० यशपालजी जैन दिल्लीके प्रयाससे एक सग्रहालयकी भी यहाँ स्थापना हो गई है, जिसमे कितनी ही मूर्तियोंके अवशेष संगृहीत हैं। ब्र० रिषभ-चन्द्रजी जैन प्रतापगढ़ने भी इस क्षेत्रकी कुछ ज्ञातव्य सामग्रीपर प्रकाश डाला है। स्व० क्षेत्र-मंत्री पं० बारेलालजीका तो आरम्भसे ही इस दिशामें स्तुत्य प्रयास रहा है। आपने पं० धर्मदासजी द्वारा रचित हिन्दीके '**चौबीसकामदेव-पुराण**' के, जिसे लेखकने श्रीनामक आचार्यके '**प्राकृत चौबीस कामदेव पुराण**' का अनुवाद बताया है, आधारसे उसमें वर्णित यहाँके स्थानोंकी पुष्टि उपलब्ध वर्तमान स्थलोंसे करते हुए कुछ निष्कर्ष ऐसे निकाले है जो विचारणीय हैं। उदाहरणके लिए उनके कुछ निष्कर्ष इस प्रकार हैं :—

१. कोटी नामक भाटो वर्तमान क्षेत्रसे अत्यन्त निकट है, जो एक फर्लांग ही है। इस भाटेमें गगन-चुम्बी पर्वत हैं, जिनपर मन्दिरोंके भग्नावशेष अब भी पाये जाते हैं।

२. मदनसागर तालाब, काममदनसागर और मदनेशसागर ये तीनों तालाब पर्वतोंके नीचे तल-हटीमें हैं।

३. हयनपुर (हस्तिपुर) नामक स्थान पहाड़के नीचे हाथीपडावके नामसे प्रसिद्ध है।

४ सिद्धान्तश्री सागरसेन, आर्यिका जयश्री और चेल्लिका रत्नश्रीके नाम यहाँके मूर्तिलेखोंमें अङ्कित हैं।

५. गगनपुर नामक स्थान आज गोलपुरके नामसे प्रसिद्ध है, जो क्षेत्रके समीप ही है।

६. टांडेकी टोरिया, टांडेका खंदा और पड़ाव ये तीनों स्थान क्षेत्रके अत्यन्त निकट हैं।

७. सिद्धोंकी गुफा, सिद्धोंकी टोरिया नामक स्थान भी पासमें ही हैं।

८. एक पहाड़ खनवारा पहाड़ कहा जाता है, जिसपर पत्थरके बड़े खनबारे हैं। सम्भवतः यहाँसे मूर्तियोंके लिए पत्थर निकाला जाता होगा।

९ मदनेशसागरसरोवरके तटकी पहाड़ीपर एक विशाल कामेश्वर(मदनेश्वर) का मन्दिर था, जिसके विशाल पत्थरोंके अवशेष आज भी वहाँ देखे जा सकते है और वह स्थान अब भी मदनेश्वरके मन्दिरके नामसे प्रसिद्ध है।

इन निष्कर्षोंमे कितना तथ्य है, इसकी सूक्ष्म छानबीन होना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि उल्लिखित हिन्दी और प्राकृत दोनों '**चौबोस कामदेव-पुराण**' प्रकाशमे आयें और उनका गवेषणाके साथ अध्ययन किया जाय। "**सिद्धोंकी गुफा**" और '**सिद्धोंकी टोरिया**' नामक स्थान अवश्य महत्त्व रखते है और जो बतलाते हैं कि इस भूमिपर साधकोंने तपश्चर्या करके 'सिद्ध' पद प्राप्त किया होगा और इसीसे वे स्थान '**सिद्धोंकी गुफा**', '**सिद्धोंकी टोरिया**' जैसे नामोंसे लोकमें विश्रुत हुए हैं। इस निष्कर्षमें काफी बल है। यदि इसकी पुष्ट साक्षियाँ मिल जायें तो निश्चय ही यह प्रमाणित हो सकेगा कि यह पावन क्षेत्र जहाँ काफी प्राचीन है वहाँ अतीतमें सिद्धक्षेत्र भी रहा है और साधक यहाँ आकर '**सिद्धि**' (मुक्ति) के लिए तपस्या करते थे। भले ही उस समय इसका नाम अहार न होकर दूसरा रहा हो। विक्रमकी ११वीं-१२वी शतीके मूर्तिलेखोंमे इसका एक नाम 'मदनेशसागरपुर' मिलता है। जो हो, यह सब अनुसन्धेय है।

मूर्तिलेखोंका अध्ययन

यहाँके उपलब्ध मूर्तिलेखोंका अध्ययन करनेपर कई बातोंपर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। उन्हीका यहाँ कुछ विचार किया जाता है।

१. पहली बात तो यह है कि ये मूर्तिलेख वि० सं० ११२३ से लेकर वि० स० १८८१ तकके है। इनके आधारपर कहा जा सकता है कि यहाँ मन्दिरों और मूर्तियो की प्रतिष्ठाएँ वि० स० ११२३ से आरम्भ होकर वि० सं० १८८१ तक ७५८ वर्षों तक लगातार होती रही है।

२. दूसरी बात यह कि ये प्रतिष्ठाएँ एक जाति द्वारा नही, अपितु अनेक जातियों द्वारा कराई गई हैं। उनके नाम इस प्रकार उपलब्ध होते है :—

खंडिल्लवालान्वय (खंडेलवाल—ले० ७०), गर्गराटान्वय (ले० ७१), देउवालान्वय (ले० ६९), गृहपत्यन्वय (गहोई-ले० ८७), गोलापूर्वान्वय (ले० ६०), जैसवालान्वय (ले०५९), पौरपाटान्वय (ले०४२), मेडवालान्वय (लेख ४१), वैश्यान्वय (ले० ३९), मेडतवालवंश (ले० ३३), कुटकान्वय (ले० ३५), लमेचुकान्वय (ले० २८), अवधपुरान्वय (ले० २३), गोलाराडान्वय (ले० १२), श्रीमाधुन्वय (ले० ७), महडितवालान्वय (ले० २७, यह लेख ३३ में उल्लिखित मेडतबालवंश ही जान पडता है), पुरवाडान्वय (ले० १००), पौरवालान्वय (ले० १०२), माथुरान्वय (ले० ५६)। ध्यान रहे कि ब्रेकटमें जो लेख-नम्बर दिये गये है वे मात्र उदाहरणके लिए हैं। यों तो एक-एक जातिका उल्लेख कई-कई लेखोंमे हुआ है।

इस प्रकार इन लेखोंमें १९ जातियोंका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इनमे कईके उल्लेख तो ऐसे हैं, जिनका आज अस्तित्व ज्ञात नही होता। जैसे गर्गराटान्वय, देउवालान्वय आदि। इनकी खोज होनी चाहिए। यह भी सम्भव है कि कुछ नाम भट्टारकों या ग्रामोके नामपर ख्यात हो।

३. तीसरी बात यह कि इनमे अनेक भट्टारकोके भी नामोल्लेख है और जिनसे जान पड़ता है कि इस प्रदेशमें उनकी जगह-जगह गद्दियाँ थी—प्रतिष्ठाओंका संचालन तथा जातियोंका मार्गदर्शन वे ही करते थे।

सबसे पुराने वि० सं० १२१३ के लेख (७३) में भट्टारक श्रीमाणिक्यदेव और गुण्यदेवका, मध्यकालीन वि० सं० १५४८ के लेख (९७) में भ० श्रीजिनचन्द्रदेवका और अन्तिम वि० सं० १६४२, वि० सं० १६८८ के लेखों (११४, ९५) में क्रमशः भ० धर्मकीर्तिदेव, भ० शीलसूत्रदेव, ज्ञानसूत्रदेव तथा भ० जगन्द्रषेणके नामोल्लेख हैं। अन्य और भी कितने ही भट्टारकोंके इनमें नाम दिये हुए हैं।

४. चौथी बात यह कि कुन्दकुन्दान्वय, मूलसंघ, बलात्कारगण, सरस्वतीगच्छ, काष्ठासंघ आदि संघ-गण-गच्छादिका उल्लेख है, जिनसे भट्टारकोंकी यहाँ कई परम्पराओंका होना ज्ञात होता है।

५ पाँचवीं बात यह कि इन लेखोंमे कई नगरों और ग्रामोंका भी उल्लेख है। जैसे वाणपुर (ले० १, ८७, ८९), महिषणपुर (ले० १००), मदनेशसागरपुर (ले० १), आनन्दपुर (ले० १), वसुहाटिका (ले० १), ग्राम अहारमेंथे (अहार—ले० ९१) आदि। इससे मालूम पड़ता है कि ये सभी स्थान इस क्षेत्रसे प्रभावित थे और वहांके भाई यहाँ आकर प्रतिष्ठाएँ कराते थे।

६. छठी बात यह कि वि० सं० १२०७ और वि० सं० १२१३ के लेखों (नं० ८७, ८९) में गृहपत्यन्वय (गहोई जाति) के एक ऐसे गोत्रका उल्लेख है जो आजकल परवार जातिमे है और वह है कोच्छल्ल गोत्र। इस गोत्र वाले वाणपुर (वानपुर) में रहते थे। क्या यह गोत्र दोनो जातियोंमे है?, यह विचारणीय है। यह भी विद्वानोंके लिए विचारयोग्य है कि इन समस्त उपलब्ध लेखोंमें इस प्रान्तकी शताब्दियोंसे सम्पन्न, शिक्षित, धार्मिक और प्रभावशाली परवार जातिका उल्लेख अवश्य होना चाहिए था, जिसका इनमे अभाव मनको कौंच रहा है। मेरा विचार है कि इन लेखोंमे उसका उल्लेख है और उसके द्वारा कई मन्दिरों एवं मूर्तियोंकी प्रतिष्ठाएँ हुई हैं। वह है 'पौरपाटान्वय', जो इसी जातिका मूल नाम जान पड़ता है और उक्त नाम उसीका अपभ्रंश प्रतीत होता है। जैसे गृहपत्यन्वयका नाम गहोई हो गया है। यह 'पौरपाटान्वय' पद्मावती पुरवाल जातिका भी सूचक नही है, क्योंकि उसका सूचक 'पुरवाडान्वय' है जो अलगसे इन लेखोंमे विद्यमान है। इस सम्बन्धमें विशेषज्ञोंको अवश्य प्रकाश डालना चाहिए।

७. सातवी बात यह है कि इन लेखोंमें प्रतिष्ठा कराने वाली अनेक धार्मिक महिलाओंके भी नाम उल्लिखित हैं। आर्यिका जयश्री, रतनश्री आदि व्रती महिलाओंके अतिरिक्त सिवदे, सावनी, मालती, पदमा, मदना, प्रभा आदि कितनी ही श्राविकाओंके भी नाम उपलब्ध हैं।

और भी कितनी ही बातें हैं जो इन लेखोंका सूक्ष्म अध्ययन किये जानेपर प्रकाशमें आ सकती हैं।

हमारा वर्तमान और भावी

आप अपने पूर्वजोंके गौरवपूर्ण और यशस्वी कार्योंसे अपने शानदार अतीतको जान चुके हैं और उनपर गर्व भी कर सकते हैं। परन्तु हमें यह भी देखना है कि हम उनकी इस बहूमूल्य सम्पत्तिकी कितनी सुरक्षा और अभिवृद्धि कर सके और कर रहे हैं? सुयोग्य पुत्र वही कहलाता है जो अपनी पैतृक सम्पत्तिकी न केवल रक्षा करता है अपितु उसे बढ़ाता भी है। आज हमारे सामने प्रश्न है कि हम अपनी सांस्कृतिक सम्पत्तिकी सुरक्षा किस प्रकार करें और उसे कैसे बढ़ायें, ताकि वह सर्वका कल्याण करे? कोई भी समाज या देश अपने शानदार अतीतपर चिरकाल तक निर्भर एवं जीवित नही रह सकता। यदि केवल अतीतकी गुण-गाथा ही गायी जाती रहे और अपने वर्तमानको न सम्हाला जाय तथा भावीके लिए पुरुषार्थ न किया जाय तो समय आनेपर हमारे ही उत्तराधिकारी हमे अयोग्य और नालायक बतायेंगे। सांस्कृतिक भण्डार भी रिक्त हो जायेगा। अतः उल्लिखित प्रश्नपर हमें गम्भीरतासे विचार करना चाहिए। हमारे प्रदेशमें सांस्कृतिक सम्पत्ति प्रायः सर्वत्र बिखरी पड़ी है। पपौरा, देवगढ़, खजुराहा आदि दर्जनों स्थान उसके उदाहरण हैं।

प्रातःस्मरणीय पूज्य श्रीगणेशप्रसादजी वर्णीने इस प्रान्तमें कई वर्षों तक पैदल यात्रा करके भ्रमण किया और समाजमें फैली रूढ़ियों तथा अज्ञानताको दूर करनेका अदम्य प्रयास किया था। उन्होंने अनुभव किया था कि ये दोनों ऐसे घुन हैं जो अनाजको भूसा बना देते हैं—समाज उनसे खोखला हो जाता है। 'मेरी जीवन-गाथामें' उन्होंने ऐसी बोसियों रूढ़ियों और अज्ञानताका उल्लेख किया है, जिनसे समाजमें पार्थक्य और अनैक्यका साम्राज्य जड जमा लेता है और उसे शून्य बना देता है। जैन धर्म तीर्थंकरोंका धर्म है और तीर्थंकर समस्त जगत्‌का कल्याण करने वाले होते हैं। इसीसे जैनधर्मके सिद्धान्तोंमें विश्व-कल्याणकी क्षमता है। जैन धर्म किसीका भी अहित नहीं चाहता। और इसी लिए प्रतिदिन जिन-पूजाके अन्तमें यह भावना की जाती है—

क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपालः
काले काले सम्यग् वर्षतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम्।
दुर्भिक्षं चौरमारी क्षणमपि जगतां मास्म भूज्जीवलोके
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्यप्रदायि॥

अर्थात् समस्त देशोंकी प्रजाओंका भला हो, उनका पालक राजा बलवान् और धार्मिक हो, यथासमय उचित वर्षा हो, कोई किसी प्रकारकी व्याधि (शारीरिक कष्ट) न हो, देशमें कहीं अकाल न पड़े, कहीं भी चोरियाँ-डकैतियाँ न हो और न एक क्षणके लिए भी कहीं हैजा, प्लेग जैसी दैवी विपत्तियाँ आयें। सभीको सुख देनेवाला वीतराग सन्तोंका धर्म निरन्तर प्रवृत्त रहे।

यह है जैनधर्मके अनुयायी प्रत्येक जैनकी कामना। **'जियो और जीने दो'**, **'रहो और रहने दो'** जैसे अहिंसक सिद्धान्तोंके प्रवर्त्तक तथा अनुपालक हम जैन अपनेको निश्चय ही भाग्यशाली मान सकते हैं। लेकिन जहाँ अहिंसा दूसरोंके हितोंका घात न करनेकी शिक्षा देती है वहाँ वह अपने हितोंकी रक्षाका भी ध्यान दिलाती है। हममें इतना बल, साहस, विवेक और ज्ञान हो, जिससे हम अपने कर्त्तव्योंका बोध कर सकें और अपने अधिकारोंको सुरक्षित रख सकें। इसके लिए मेरे निम्न सुझाव हैं :

१. बालकोंको स्वस्थ और बलिष्ठ बनाया जाये। माता-पिताको इस ओर आरम्भसे ध्यान रखना आवश्यक है। इसके लिए प्रत्येक जगह खेल-कूद और व्यायामके सामूहिक साधनोंकी व्यवस्था की जाय। आज जैन लोग कमजोर और डरपोक समझे जाते हैं और इससे उनके साथ अन्याय होता रहता है।

२ प्रत्येक बालकको आरम्भसे धार्मिक शिक्षा दी जाये और इसके लिए हर जगह सम्मिलित धर्म-शिक्षाकी व्यवस्था की जाय।

३ बालकोंकी तरह बालिकाओंको भी शुरूसे शिक्षा दी जाय, ताकि समाजका एक अङ्ग शिक्षा-हीन न रहे।

४ प्रतिसप्ताह या प्रतिपक्ष बालकोंकी एक सभाका आयोजन किया जाय, जिसमें उन्हें उनके सामाजिक और धार्मिक कर्त्तव्योंके साथ देशसेवाका बोध कराया जाय।

५. जो बालक-बालिकाएँ तीव्र बुद्धि और होनहार हों, उन्हें ऊँची शिक्षाके लिए बाहर भेजा जाय तथा ऐसे बालकोंकी आर्थिक सहायता की जाय।

६ प्रौढ़ोंमें यदि कोई साक्षर न हों तो उन्हें साक्षर बनाया जाय और आजके प्रकाशमें उन्हें उच्च उद्योगों, व्यवसायों और धंधोंके करनेकी प्रेरणा की जाये।

७ समाजमें कोई भाई गरीबीके अभिशापके पीडित हों तो सम्पन्न भाई उन्हें मदद करें और इसे वे परोपकार या साधर्मी-वात्सल्य जैसा ही पुण्य-कार्य समझें।

८ यदि किसी भाईसे कभी कोई गलती हो गई हो तो उसे सुधारकर उनका स्थितीकरण करें और उन्हें अपना वात्सल्य प्रदान करें।

९. मन्दिरों, तीर्थों, पाठशालाओं और शास्त्रभण्डारोंकी रक्षा, वृद्धि और प्रभावनाका सदा ध्यान रखा जाय।

१०. ग्राम-सेवा, नगर-सेवा, प्रान्त-सेवा और राष्ट्र-सेवा जैसे यशस्वी एवं जनप्रिय लोक-कार्योंमें भी हमें पीछे नहीं रहना चाहिए। पूरे उत्साह और शक्तिसे उनमें भाग लेना चाहिए।

इन दशसूत्री प्रवृत्तियोंसे हम जहाँ अपने वर्तमानको सम्हाल सकेंगे वहाँ अपने भावीको भी श्रेष्ठ बना सकेंगे। जो आज बालक और कुमार हैं वे हमारी इन प्रवृत्तियोंके बलपर गौरवशाली भावी समाजका निर्माण करेंगे।

शिक्षाका महत्त्व : शान्तिनाथ दि० जैन संस्कृत-विद्यालयकी स्थापना

यहाँ शिक्षाके सम्बन्धमें भी कुछ कहना आवश्यक है। आचार्य वादीभसिंहने लिखा है कि '**अनवद्या हि विद्या स्याल्लोकद्वयसुखावहा**'—अर्थात् निर्दोष विद्या निश्चय ही इस लोक और परलोक दोनों ही जगह सुखदायी है। पूज्य वर्णीजीके हम बहुत कृतज्ञ है। वे यदि इस प्रान्तमें शिक्षाका प्रचार न करते, जगह-जगह पाठशालाओं और विद्यालयोंकी स्थापना न करते, तो आज जो प्रकाण्ड विद्वान् समाजमे दिखाई दे रहे हैं वे न दिखाई देते। उनसे पूर्व इस प्रान्तमें ही नही, सारे भारतमें भी तत्त्वार्थसूत्रका शुद्ध पाठ करनेवाला विद्वान् दुर्लभ था। यह उनका और गुरु गोपालदासजी वरैयाका ही परम उपकार है कि षट्खण्डागम, धवला, जयधवला, समयसार, तत्त्वार्थवार्त्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, न्यायविनिश्चय जैसे महान् ग्रन्थोंके निष्णात विद्वान् आज उपलब्ध हैं। अब तो छात्र जैनधर्मके ज्ञाता होनेके साथ लौकिक विद्याओं (कला, व्यापार, विज्ञान, इञ्जिनियरिंग, टैक्नालॉजी आदि) के भी विशेषज्ञ होने लगे हैं और अपनी उभय-शिक्षाओंके बलपर ऊँचे-ऊँचे पदोंपर कार्य करते हुए देखे जाते हैं। आपके स्थानीय शान्तिनाथ दि० जैन संस्कृत विद्यालयसे शिक्षा प्राप्तकर कई छात्र वाराणसीमें स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और वाराणसेय संस्कृत-विश्वविद्यालयमे उच्च शिक्षा पा रहे है। ये पूज्य वर्णीजी द्वारा लगाये इस विद्यालय-रूपी पौधेके ही सुफल हैं। इस विद्यालयका उल्लेख करते पूज्य वर्णीजीने 'मेरी जीवनगाथा' (पृ० ४४२ प्रथम संस्करण) में लिखा है कि '**मैंने यहाँपर क्षेत्रकी उन्नतिके लिए एक छोटे विद्यालयकी आवश्यकता समझी, लोगोंसे कहा, लोगोंने उत्साहके साथ चन्दा देकर श्रीशान्तिनाथ विद्यालय स्थापित कर दिया। पं० प्रेमचन्द्रजी शास्त्री तेंदूखेड़ावाले उसमें अध्यापक हैं, एक छात्रालय भी साथमें है। परन्तु धनकी त्रुटिसे विद्यालय विशेष उन्नति न कर सका।**'

ये शब्द हैं उस महान् सन्तके, जिसने निरन्तर ज्ञानकी ज्योति जलायी और प्रकाश किया। वे ज्ञानके महत्त्वको समझते थे, इसीसे उनके द्वारा संस्थापित स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी, गणेश संस्कृत महाविद्यालय सागर जैसे दर्जनों शिक्षण-संस्थान चारों ओर ज्ञानका आलोक विकीर्ण कर रहे हैं। वर्णीजीके ये शब्द कि '**धनकी त्रुटिसे विद्यालय विशेष उन्नति नहीं कर सका**'—हम सबके लिये एक गम्भीर चेतावनी है। क्या हम उनके द्वारा लगाये इस पौधेको हरा-भरा नही कर सकते और उनकी चिन्ता (धनकी त्रुटिको) दूर नहीं कर सकते? मेरा विश्वास है कि उस निस्पृह सन्तने जिस किसी भी संस्थाको स्थापित किया है, उसे आशीर्वाद दिया है वह संस्था निरन्तर बढ़ी है। उदाहरणार्थ स्याद्वाद महाविद्यालयको लीजिए, इसके लिए

वर्णीजीको आरम्भमें सिर्फ एक रुपया दानमें मिला था, जिसके ६४ पोस्टकार्ड खरीदकर उन्होंने ६४ जगह पत्र लिखे थे, फिर क्या था, वर्णीजीका आत्मा निर्मल एवं निस्पृह था और वाराणसी जैसे विद्याकेन्द्रमें एक जैन विद्यालयके लिए छटपटा रहा था, फलतः चारों ओरसे दानकी वर्षा हुई। आज इस विद्यालयको ५६ वर्ष हो गये और उसका ध्रौव्यकोष भी कई लाख है। यह एक निरीह सन्तका आशीर्वाद था। शान्तिनाथ दि० जैन विद्यालयको भी उनका आशीर्वाद ही नहीं, उनके करकमलोंसे स्थापित होनेका सौभाग्य प्राप्त है। मेरा विश्वास है कि इस विद्यालयका भी ध्रौव्यकोष आप लोग एक लाख अवश्य कर देंगे। तब वर्णीजीका स्वर्गमे विराजमान आत्मा अपने इस विद्यालयको हरा-भरा जानकर कितना प्रसन्न एवं आह्लादित न होगा।
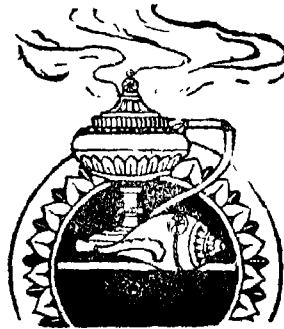
आचार्य शान्तिसागरका ऐतिहासिक समाधिमरण

प्राग्वृत्त

१८ अगस्त १९५५ का दिन था। श्रीसमन्तभद्र संस्कृत-विद्यालय आरम्भ हो चुका था। चा० च० आचार्य शान्तिसागरजी महाराजके द्वारा १४ अगस्त ५५ को श्रीकुंथलगिरि सिद्धक्षेत्रपर ली गई 'सल्लेखना' के प्राप्त समाचारसे समस्त अध्यापकों तथा छात्रोंको एक छोटेसे वक्तव्यके साथ अवगत कराया। सबने मौन-पूर्वक खड़े-खड़े नौवार 'णमोकारमंत्र' का जाप्य किया और महाराजकी निर्विघ्न सल्लेखना (समाधिमरण)के लिये सश्रद्ध शुभकामनाएँ कीं।

विद्यालयकी पढ़ाई चालू हो हुई थी कि महासभाके आफिसमे शीघ्र ही आनेके लिये फोन आया। हम वहाँ पहुँचे। वहाँ स्थानीय समाजके ४-६ प्रतिष्ठत महानुभाव भी थे। सबको बताया गया कि 'पं० वर्ध-मानजी शास्त्री शोलापुरका आज तार आया है, जिसमें उन्होंने सूचित किया है कि आचार्य महाराजने १७ अगस्त ५५ को ३॥ बजे मध्याह्नमें 'यम-सल्लेखना' ले ली है। अर्थात् जलका भी त्याग कर दिया है—यदि बाधा हुई और आवश्यकता पड़ी तो उसे लेंगे।' यह वे बता ही रहे थे कि इतनेमें शोलापुरसे सेठ रावजी देवचंदका फोन आया। उसमे उन्होंने भी यही कहा। निश्चय हुआ कि सुबह और शाम प्रत्येक मन्दिरजीमें जप, ध्यान, शान्तिधारा, पूजा, पाठ आदि सत्कार्य किये जायें। दान, एकाशन आदि भी, जो कर सकें, करें। हमने महाराजके अन्तिम उपदेशोंको रिकार्डिङ्ग मशीन (ध्वनिग्राहकयंत्र) द्वारा रिकार्ड (ध्वनिग्रहण) कराने तथा फिल्म (महाराजकी समग्र क्रियाओंका छायाचित्र) लेनेका विचार रखा, जिसपर हम लोग कोई निश्चय नही कर सके और इस चिन्ताके साथ लौटे कि 'जो विभूति आज हमारे सामने है और जिसने हमारा असधारण उपकार किया है उसके कुछ दिन बाद दर्शन नहीं हो सकेंगे।'

१९ अगस्तको बड़ौत (मेरठ) में आचार्य श्री १०८ नमिसागरजी महाराजका, जो आचार्यश्रीके प्रमुख शिष्य थे, केशलोंच था। विद्यालयके संस्थापक ला० मुन्शीलालजी जैन कपड़ेवाले तथा हम वहाँ गये। वहाँ महाराज नमिसागरजी भी आचार्यश्रीके सल्लेखनाग्रहणसे सचिन्त थे। २० अगस्तको हम बड़ौतसे दिल्ली वापिस आगये।

२१ अगस्त रविवार १९५५ को आ० नमिसागरका पत्र लेकर श्री कुन्थलगिरि जानेका निश्चय हुआ। तदनुसार दूसरे ही दिन २२ अगस्तको देहरा-बम्बई एक्सप्रेससे १०-२० बजे रातको श्री कुंथलगिरिके लिये रवाना हुए। गाड़ी दिल्लीसे ठीक समयपर छूटी; किन्तु नई दिल्ली और होडलके बीच एक स्टेशनपर गाड़ी ७ घटे पड़ी रही। मालूम करनेपर ज्ञात हुआ कि राष्ट्रपतिजीकी स्पेशल गाड़ी उधरसे दिल्ली आ रही है।

२३ अगस्तका दिन गाड़ीमें ही सफर करते हुए व्यतीत हुआ। कोटा, रतलाम, बड़ौदा, भंड़ौंच, अकलंकेश्वर, सूरत आदि स्टेशनोंपरसे गुजरते हुए २४ अगस्तको दिनमें १॥ बजे बम्बई पहुँचे। तुरन्त घोड़ा-

१. जैन प्रचारक, सल्लेखनांक, अगस्त १९५५।

गाड़ी करके हीराबागकी धर्मशाला आये। वहाँ स्नान, देवदर्शन, पूजन और भोजन आदि दैनिक क्रियाओंसे निवृत्त हुए। वहाँ श्री १०८ मुनि नेमिसागरजीका चतुर्मास हो रहा था। उनके दर्शन किये। शामको उसी दिन कुंथलगिरि जानेके लिये स्टेशनपर आये। मद्रास एक्सप्रेससे सवार होकर ता० २५ अगस्तको प्रातः ७ बजे कुर्डुवाड़ी पहुँचे। वहाँ पहुँचनेपर पता चला कि एडसी-कुंथलगिरि जानेवाली गाड़ी डेढ़ घंटे पूर्व छूट चुकी है। अतः कुर्डुवाड़ीमें स्नान, देवदर्शन, पूजन आदि करके मोटर बस द्वारा बार्सी होते हुए उसी दिन मध्याह्नमें ३।२० पर श्रीकुंथलगिरि पहुँचे। कुंथलगिरिका सुन्दर पहाड़ २-३ मील पहलेसे दिखने लगता है। यहाँसे देशभूषण और कुलभूषणने घोर उपसर्ग सहनकर सिद्धपद प्राप्त किया था।

मोटरसे उतरते ही मालूम हुआ कि महाराज दर्शन दे रहे हैं और प्रतिदिन मध्याह्नमें ३ से ३॥ बजे तक दर्शन देकर गुफामें चले जाते हैं। अतः सामानको वहीं छोड़ तीव्र वेगसे महाराजके दर्शनोंके लिये पहाड़पर पहुँचे। उस दिन महाराजने ३-४५ बजे तक जनता को दर्शन दिये। महाराज सबको अपने दाहिने हाथ और पिछीको उठाकर आशीर्वाद दे रहे थे। उस समयका दृश्य बड़ा द्रावक एवं अनुपम था। अब मनमें यह अभिलाषा हुई कि महाराजके निकट पहुँचकर निकटसे दर्शन व वार्ता करें तथा महाराज नमिसागरजीका लिखा पत्र उनके चरणोंमें अर्पित करें।

सुयोगसे पं० सुमेरुचन्द्रजी दिवाकर सिवनीने हमें तत्क्षण देखकर निकट बुला लिया और सेठ रावजी पंढारकर सोलापुर तथा श्री १०५ लक्ष्मीसेन भट्टारक कोल्हापुरसे हमारा परिचय कराया एवं आचार्य महाराजके चरणोंमें पहुँचानेके लिए उनसे कहा। ये दोनों महानुभाव महाराजकी परिचर्यामें सदा रहनेवालोंमें प्रमुख थे। एक घंटे बाद पौने पाँच बजे माननीय भट्टारकजी हमें महाराजके पास गुफामें ले गये।

सौम्यमुद्रामें स्थित महाराजको त्रिवार नमोऽस्तु करते हुए निवेदन किया कि 'महाराज! आपके सल्लेखनाव्रत तथा परिचर्यामें दिल्लीकी ओरसे, जहाँ आपने सन् १९३० में ससंघ चतुर्मास किया था, महाराज नमिसागरजीने हमें भेजा है। महाराज नमिसागरजीने आपके चरणोंमें एक पत्र भी दिया है।' आचार्यश्रीने कहा—'**ठीक है, तुम अच्छे आये।**' और पत्रको पढ़नेके लिये इङ्गित किया। हमने १० मिनट तक पत्र पढ़कर सुनाया। महाराजने हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया। महाराजकी शान्त मुद्राके दर्शनकर प्रमुदित होते हुए गुफासे बाहर आये। बादमें पहाड़से नीचे आकर डेरा तलाश करते हुए दिल्लीके अनेक सज्जनोंसे भेंट हुई। उनसे मालूम हुआ कि वे उसी दिन वापिस जा रहे हैं। अतः हम उनके डेरेमें ठहर गये।

यहाँ उल्लेख योग्य है कि वर्षाका समय, स्थानकी असुविधा और खाद्य-सामग्रीका अभाव होते हुए भी भक्तजन प्रतिदिन आ रहे थे और सब कष्टोंको सह रहे थे।

२९ अगस्त तक हम महाराजके पादमूलमें रहे और भाषण, तत्त्वचर्चा, विचार-गोष्ठी आदि दैनिक कार्यक्रमोंमें शामिल होते रहे। तथा सल्लेखना-महोत्सवके प्रमुख संयोजक सेठ बालचन्द देवचन्दजी शहा सोलापुर—बम्बईके आग्रह एवं प्रेरणासे 'सल्लेखनाके महत्त्व' तथा 'आचार्यश्रीके आदर्श-मार्ग' जैसे सामयिक विषयोंपर भाषण भी देते रहे। स्थान और भोजनके कष्टने इच्छा न होते हुए भी कुंथलगिरि और आचार्यश्रीका पादमूल हमें छोड़नेके लिए बाध्य किया और इस लिये दिल्ली लौट जानेका हमने दुखपूर्वक निश्चय किया। अतः महाराजके दर्शनकर और उनकी आज्ञा लेकर मोटर-बसपर आ गये।

उल्लेखनीय है कि हमें दिवाकरजीने प्रेरणा की थी कि शेडवाल (जि० बेलगांव)में आचार्य महाराजके बड़े भाई और १७ वर्ष पहले आचार्यश्रीसे दीक्षित, जिनकी ९४ वर्षकी अवस्था है, मुनि वर्धमानसागरजी तथा

कुम्भोजबाहुबलीमें मुनि समन्तभद्रजी, जो वर्धमानसागरजीसे दीक्षित, अनेक गुरुकुलोंके संस्थापक एवं आजन्म ब्रह्मचारी, बी० ए०, न्यायतीर्थ हैं, विराजमान हैं, उनके दर्शन अवश्य करना और आचार्यश्रीके बारेमें उनसे विशेष जानकारी प्राप्त करना। अतएव २९ अगस्तको श्रीकुंथलगिरिसे चलकर हम मिरज होते हुए ३० अगस्तको शेडवाल पहुँचे। वहाँ सौम्यमुद्राङ्कित एवं तेजस्वितापूर्ण मुनि वर्धमानसागरजीके दर्शन और आचार्य महाराज के बारेमे उनसे विशेष जानकारी प्राप्तकर बड़ा आनन्द हुआ। आचार्य महाराजके सदुपदेशसे यहाँ निर्मापित-भव्य एवं मनोहर तीस चौबीसी विशेष आकर्षणकी वस्तु है। यहाँका श्री शान्तिसागर दि० जैन अनाथाश्रम भी उल्लेखनीय है।

शेडवालसे ३१ अगस्तको चलकर उसी दिन कुम्भोज-बाहुबली पहुँचे। मुनि समन्तभद्रजी महाराजके, जो अभीक्ष्णज्ञानोपयोगमें निरत रहते हैं, दर्शन किये और उनके साथ चर्चा-वार्ताकर अतीव प्रमुदित हुए। यहाँका गुरुकुल, समवशरणमन्दिर, स्वाध्यायमन्दिर, बाहुबली मन्दिर, सन्मतिमुद्रणालय आदि संस्थाएँ द्रष्टव्य हैं। इन सब संस्थाओंके संस्थापक एवं प्राण महाराज समन्तभद्र है। महाराज पहाड़पर श्री १००८ बाहुबलीकी २८ फुट उन्नत विशाल मूर्तिकी भी स्थापना कर रहे हैं। आप जैसा धर्मानुराग हमें अबतक अन्यत्र देखनेमे नही मिला। श्रमणसंस्कृतिके आप सच्चे और मूक प्रसारक एवं सेवक हैं।

यहाँसे श्रमणबेलगोल—जैनबिद्री ज्यादा दूर नहीं है। अतः वहाँकी विश्वविख्यात गोम्मटेश्वरकी मूर्तिकी वन्दनाका लोभ हम संवरण नही कर सके। श्री समन्तभद्र महाराजने भी हमें प्रेरणा की। अतएव कुम्भोज बाहुबलीसे १ सितम्बरको चलकर २ सितम्बरको ६॥ बजे शामको श्रमणबेलगोल पहुँचे। पहुँचते ही उसी दिन रातको तथा दूसरे दिन ३ सितम्बरको गोम्मटेश्वरकी उस महान् अद्वितीय, ५८ फुट उत्तुङ्ग, अद्भुत, सौम्य मूर्तिकी वन्दनाकर चित्त सातिशय आह्लादित हुआ। यह मूर्ति एक हजार वर्षसे गर्मी, बरसात और सर्दीकी चोटोको सहन करती हुई विद्यमान है और आज भी अपने निर्माताकी उज्ज्वल कीर्तिको विश्व-विख्यात कर रही है। इतनी विशाल और उत्तुङ्ग भव्य मूर्ति विश्वमें अन्यत्र नही है। यह वीतराग मूर्ति दूरसे ही दर्शकको अपनी ओर खीच लेती है और अपनेमें उसे लीन कर लेती है।

कुंथलगिरिसे यहां वापिस हुए यात्रियोसे ज्ञात हुआ कि महाराजकी स्थिति चिन्ताजनक है और २९ अगस्तसे १ सितम्बर तक जल नही लिया। इस समाचारसे मेरे मनमें महाराजके चरणोंमे पुनः और शीघ्र कुंथलगिरि जानेके लिए ऊथल-पुथल एवं बेचैनी पैदा हो गई। फलतः ३ सितम्बर को ही श्रमणबेलगोलसे मोटरसे हम कुथलगिरिके लिए पुनः चल दिये और ४ सितम्बरको ९ बजे रात्रिमे मिरज आगये। आनेपर मालूम हुआ कि एडसी-कुथलगिरि जाने वाली गाडी आधा घण्टा पूर्व चली गई है और अब दूसरे दिन ११-४५ बजे जावेगी। फलस्वरूप उस दिन हम वही मिरज स्टेशन पर रहे। प्रातः ५ सितम्बरको मिरज शहरमें श्रीजिनमन्दिरके दर्शनोंके लिए गये। वहाँ भी देवेन्द्रकीर्ति भट्टारकजीसे भेंट हो गई। आप बहुत सज्जन भद्र भद्र है। मिरजसे ११-४५ बजेकी गाड़ीसे रवाना होकर ६ सितम्बरको एडसी होते हुए कुंथलगिरि पहुँचे। यहाँ आते ही ज्ञात हुआ कि महाराजकी प्रकृति उत्तम है। २ सितम्बरसे ४ सितम्बर तक उन्होंने जल ग्रहण किया। कल ५ सितम्बरको जल नही लिया है।

उसके बाद फिर आचार्यश्रीने जल ग्रहण नहीं किया। आचार्यश्रीसे दो एक बार जल ग्रहण करनेके लिए प्रार्थना भी की गई, किन्तु आचार्यश्रीने दृढ़ताके साथ कहा कि **'अब शरीर आलम्बन लिए बिना खड़ा नहीं रह सकता तो हम पवित्र दिगम्बर चर्याको सदोष नहीं बनावेंगे।'** ७ सितम्बरको बम्बईसे रिकार्डिंग मशीनके आजानेसे ८ सितम्बरको महाराजसे अन्तिम उपदेशके लिए प्रार्थना की गई। महाराजने सबको

प्रार्थना स्वीकार कर अपना अन्तिम भाषण दिया, जो मराठीमे २२ मिमट तक हुआ और जिसे रिकार्ड करा लिया गया।

आचार्यश्रीने समाजका लगभग अर्ध-शताब्दी तक मार्गदर्शन किया, देशके एक छोरसे दूसरे छोरतक पाद-विहार करके उसे जागृत किया और शताब्दियोंसे ज्योतिहीन हुए दि० मुनिधर्म-प्रदीपको प्रदीप्त किया। इस दुषमाकालमें उन्होंने अपने पवित्र एवं यशस्वी चारित्र, तप और त्यागको भी निरपवाद रखते हुए निर्ग्रन्थ-रूपको जैसा प्रस्तुत किया वैसा गत कई शताब्दियोंमें भी नहीं हुआ होगा। उनके इस उपकारको कृतज्ञ समाज चिरकाल तक स्मरण रखेगी।

हमे आचार्यश्रीके सल्लेखना-महोत्सवमें २५ अगस्तसे २९ अगस्त तक और ६ सितम्बरसे १९ सितम्बर तक उनके देहत्याग तथा भस्मोत्थानक्रिया तक १९ दिन श्री कुंथलगिरिमें रहनेका सौभाग्य मिला। एक महान् क्षपकके समाधिमरणोत्सवमे सम्मिलित होना आनन्दवर्धक ही नहीं, अपितु निर्मल परिणामोत्पादक एवं पुण्यवर्धक माना गया है। महाराजने ३५ दिन जितने दीर्घकाल तक सल्लेखनाव्रत धारणकर उसके अचिन्त्य महत्त्व और मार्गको प्रशस्त किया तथा जैन इतिहासमे अमर स्थान प्राप्त किया।

आचार्यश्रीकी नेत्रज्योति-मन्दता

चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागरजी महाराजकी आँखोंकी ज्योति पिछले कई वर्षोंसे मन्द होने लगी थी और वह मन्दसे मन्दतर एवं मन्दतम होती गई। आचार्य महाराज नश्वर शरीरके प्रति परम निस्पृही और विवेकवान् होते हुए भी इस ओरसे कभी उदासीन नही रहे और न शरीरकी उपयोगिताके तत्त्वको वे कभी भूले। **'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'**—शरीर धर्मका प्रथम साधन है, इसे उन्होंने सदा ध्यानमे रखा और आंखोंकी ज्योति-मन्दताको दूर करनेके लिए भक्तजनोंद्वारा किये गये उपचार-प्रयत्नोंको सदैव अपनाया। महाराज स्वयं कहा करते थे कि '**भाई ! आंखोंकी ज्योति संयम पालन में सहायक है और इस लिए हमे उसका ध्यान रखना आवश्यक है परन्तु यदि वह हमें जवाब देदे तो हमें भी उसे जवाब देना पड़ेगा।**' यथार्थमें आत्माके अमरत्वमे आस्था रखने वाले मुमुक्षु साधुका यही विवेक होता है। अत एव आचार्यश्रीने समय-समय पर उचित और मार्गाविरोधी उपचारोंको अपनाया तथा पर्याप्त औषधियोंका प्रयोग किया। किन्तु आंखोंकी ज्योतिमे अन्तर नहीं पड़ा, प्रत्युत वह मन्द ही होती गई। धार्मिक भक्तजनों द्वारा सुयोग्य डाक्टरों के लिए भी महाराजकी आँखें दिखाई गई। परन्तु उन्हे भी सफलता नहीं मिली।

समाधिमरण-धारणका निश्चय

ऐसी स्थितिमें आचार्यश्रीके सामने दो ही मार्ग थे, जिनमेसे उन्हे एक मार्गको चुनना था। वे मार्ग थे—शरीररक्षा या आत्मरक्षा। दोनोंकी रक्षा अब सम्भव नही थी। जबतक दोनोंकी रक्षा सम्भव थी तबतक उन्होंने दोनोका ध्यान रखा। उन्होंने अन्तर्दृष्टिसे देखा कि 'अब मुझे एककी रक्षाका मोह छोड़ना पड़ेगा। शरीर ८४ वर्षका हो चुका, वह जाने वाला है, नाशशील है, अब वह अधिक दिन नही टिक सकेगा। एक-न-एक दिन उससे मोह अवश्य छोड़ना पड़ेगा। इन्द्रियाँ जवाब दे रही है। आंखोंने जवाब दे ही दिया है। बिना आंखोंकी ज्योतिके यह सिद्धसम आत्मा पराश्रित हो जायेगा। ईर्यासमिति और एषणासमिति नही पल सकती। क्या इन आत्मगुणोंको नाशकर अवश्य जाने-वाले जीर्ण-शीर्ण शरीरकी रक्षाके लिए मैं अन्न-पान ग्रहण करता रहूं ? क्या आत्मा और शरीरके भेदको समझनेवाले तथा आत्माके अमरत्वमें आस्था रखने वाले साधुके लिए यह उचित है ? जिन ईर्यासमिति (जीवदया), एषणासमिति (भोजनशुद्धि) आदि आत्ममूलगुणोंके विकास, वृद्धि एवं रक्षाके लिए अनशनादि तप किये, उपसर्ग सहन

किये और घोर परीषह सहे, क्या उनका नाश होने दूँ? नश्वर शरीर नष्ट होता है तो हो, जीवनभर पालित-पोषित आत्मगुणोंको नाश नहीं होने दूंगा। अतः शरीरसे मोह छोड़कर आत्माकी रक्षा करूँगा; क्योंकि शरीररक्षाकी अपेक्षा आत्मरक्षा अधिक लाभदायक और श्रेयान् है। मैं सिद्धसम हूँ और इसलिये निर्विकल्पक समाधि द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर शुद्ध-बुद्ध-सिद्ध बनूँगा।' यह विचारकर आचार्य महाराजने सल्लेखनाव्रत धारण करनेका निश्चय किया और भगवान् श्री १००८ देशभूषण-कुलभूषणके पावन सिद्धिस्थान श्री कुंथलगिरिपर पहुँचकर अपने उस सुविचारित एवं विवेकपूर्ण निश्चयको क्रियात्मक रूप दिया। अर्थात् १४ अगस्त १९५५ रविवारको बादामका पानी लेकर उसी दिन समस्त प्रकारके आहार-पानीका आमरण त्याग-कर दिया। १७ अगस्त तक उनका यह त्याग नियम-सल्लेखनाके रूपमें रहा और उसके बाद उसे उन्होंने यमसल्लेखनाके रूपमें ले लिया। इतना विचार रखा कि बाधा होनेपर यदि कभी आवश्यकता पड़ी तो जल ले लूँगा।

समाधिमरण क्यों और उसकी क्या आवश्यकता ?

विक्रमकी छठी शताब्दीके विद्वान् आचार्य पूज्यपाद-देवनन्दि सल्लेखनाका महत्त्व और आवश्यकता बतलाते हुए लिखते हैं।

'मरणस्यानिष्टत्वाद्यथा वणिजो विविधपण्यदानादानसञ्चयपरस्य स्वगृहविनाशोऽनिष्टः। तद्विनाशकारणे च कुतश्चिदुपस्थिते यथाशक्ति परिहरति, दुःपरिहारे च पण्यविनाशो यथा न भवति तथा यतते एवं गृहस्थोऽपि व्रतशीलपण्यसञ्चये प्रवर्तमानस्तदाश्रयस्य न पातमभिवाञ्छति तदुपप्लवकारणे चोपस्थिते स्वगुणाविरोधेन परिहरति। दुःपरिहारे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति तथा प्रयतते इति।'—स० सि०, अ० ७ सू० २२।

अर्थात् मरण किसीको इष्ट नही है। जिस प्रकार अनेक तरहके जवाहरातोंका लेन-देन करनेवाले व्यापारीको अपने घरका नाश इष्ट नही है। यदि कदाचित् उसके नाशका कोई (अग्नि, बाढ़, विप्लव आदि) कारण उपस्थित होजाय तो वह उसके परिहारका यथाशक्ति उपाय करता है। और यदि परिहारका उपाय सम्भव नहीं होता तो घरमे रखे हुए जवाहरातोंकी जैसे बने वैसे रक्षा करनेका यत्न करता है—अपने बहुमूल्य जवाहरातको नष्ट नहीं होने देता है उसीप्रकार जीवनभर व्रत-शीलरूप जवाहरातका सञ्चय करने वाला श्रावक अथवा साधु भी उसके आधारभूत अपने शरीरका नाश नही चाहता—उसकी सदा रक्षा करता है। और शरीरके नाशकारणों—रोग, उपसर्ग आदिके उपस्थित होनेपर उनका पूर्ण प्रयत्नसे परिहार करता है तथा असाध्य रोग, अशक्य उपसर्ग आदि के होनेपर जब देखता है कि शरीरका रक्षण अब सम्भव नही है तो आत्मगुणोंका नाश न हो वैसा प्रयत्न करता है। अर्थात् शरीररक्षाकी अपेक्षा वह आत्मरक्षाको सर्वोपरि मानता है।

इसी बातको पं० आशाधरजी भी कहते हैं—

कायः स्वस्थोऽनुवर्त्यः स्यात् प्रतिकार्यश्च रोगितः।
उपकारं विपर्यस्यंस्त्याज्यः सद्भिः खलो यथा॥
देहादिवैकृतैः सम्यक्निमित्तैस्तु सुनिश्चिते।
मृत्यावाराधनामग्नमतेर्दूरे न तत्पदम्॥

'स्वस्थ शरीर, पथ्य आहार और विहार द्वारा पोषण करने योग्य है। और रोगी शरीर योग्य औषधियों द्वारा उपचारके योग्य है। परन्तु योग्य आहार-विहार और औषधोपचार करते हुए भी शरीरपर

उनका कोई असर न हो, प्रत्युत व्याधिकी वृद्धि ही हो, तो ऐसी स्थितिमें उस शरीरको दुष्टके समान छोड़ देना ही श्रेयस्कर है। अर्थात् समाधिमरण लेकर आत्मगुणोंकी रक्षा करनी चाहिये।'

'शीघ्र मरण सूचक शरीरादिके विकारोंद्वारा और ज्योतिषशास्त्र, एवं शकुनविद्या आदि निमित्तोंद्वारा मृत्युको सन्निकट जानकर समाधिमरणमे लीन होना बुद्धिमानोंका कर्त्तव्य है। उन्हें निर्वाणका प्राप्त होना दूर नहीं रहता।'

इन उद्धरणोंसे सल्लेखनाका महत्व और आवश्यकता समझमे आ जाती है। एक बात और है वह यह कि कोई व्यक्ति रोते-विलपते नही मरना चाहता। यह तभी सम्भव है जब मृत्युका अकषायभावसे सामना करे। नश्वर शरीरसे मोह त्यागे। पिता, पुत्रादि बाह्य पदार्थोंसे राग-द्वेष दूर करे। आनन्द और ज्ञानपूर्ण आत्माके निजत्वमें विश्वास करे। इतना विवेक जागृत होनेपर मुमुक्षु श्रावक अथवा साधु सल्लेखनामरण, समाधिमरण या पंडितमरण या वीरमरण पूर्वक शरीर त्याग करता है। समाधिमरणपूर्वक शरीरत्याग करनेपर विशेष जोर देते हुए कहा है :--

> यत्फलं प्राप्यते सद्भिर्व्रतायासविडम्बनात्।
> तत्फलं सुखसाध्यं स्यान्मृत्युकाले समाधिना॥
> तप्तस्य तपसश्चापि, पालितस्य व्रतस्य च।
> पठितस्य श्रुतस्यापि फलं मृत्युः समाधिना॥

'जो फल बडे-बड़े व्रती पुरुषोंको कायक्लेश आदि तप, अहिंसादि व्रत धारण करनेपर प्राप्त होता है वह फल अन्त समयमें सावधानी पूर्वक किये हुए समाधिमरणसे जीवोंको सहजमें ही प्राप्त हो जाता है। अर्थात् जो आत्मविशुद्धि अनेक प्रकारके तपादिसे होती है वह अन्त समयमें समाधिपूर्वक शरीर त्यागनेपर प्राप्त हो जाती है।'

'बहुत काल तक किये गये उग्र तपोंका, पाले हुए व्रतोंका और निरन्तर अभ्यास किये हुए शास्त्रज्ञानका एक मात्र फल शान्तिपूर्वक आत्मानुभव करते हुए समाधिमरण करना है। इसके बिना उनका कोई फल प्राप्त नहीं होता—केवल शरीरको सुखाना या ख्यातिलाभ करना है।'

इससे स्पष्ट है कि सल्लेखनाका कितना महत्त्व है। जैन लेखकोंने इसपर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। **'भगवती आराधना'** इसी विषयका एक प्राचीन ग्रन्थ है, जो प्राकृत भाषामे लिखा गया है और जिसका रचनाकाल डेढ-दो हजार वर्षसे ऊपर है। इसी प्रकार **'मृत्युमहोत्सव'** नामका संस्कृत भाषामें निबद्ध ग्रंथ है, जो बहुत ही विशद और सुन्दर है। आचार्य समन्तभद्रने लिखा है—

> उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
> धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः॥

'जिसका कुछ उपाय शक्य न हो, ऐसे किसी भयङ्कर सिंह आदि द्वारा खाये जाने आदिके उपसर्ग आ जानेपर, जिसमे शुद्ध भोजन-सामग्री न मिल सके, ऐसे दुष्कालके पडनेपर, जिसमें धार्मिक व शारीरिक क्रियाएँ यथोचित रीतिसे न पल सकें, ऐसे बुढ़ापेके आ जानेपर तथा किसी असाध्य रोगके हो जानेपर धर्मकी रक्षाके लिये शरीरके त्याग करनेको सल्लेखना (समाधिमरण--साम्यभावपूर्वक शरीरका त्याग करना) कहा गया है।'

इसी बातको एक दूसरी जगह भी इस प्रकार बतलाया गया है :—

नावश्यं नाशिने हिंस्यो धर्मो देहाय कामदः।
देहो नष्टः पुनर्लभ्यो धर्मस्त्वत्यन्तदुर्लभः॥

'नियमसे नाश होनेवाले शरीरके लिये अभीष्ट फलदायी धर्मका नाश नहीं करना चाहिये; क्योंकि शरीरके नाश हो जानेपर तो दूसरा शरीर पुनः मिल सकता है। परन्तु नष्ट धर्मका पुनः मिलना दुर्लभ है।'

सल्लेखना धारण करनेवाले जीवका किसी वस्तुके प्रति राग अथवा द्वेष नहीं होता। उसकी एक ही भावना होती है और वह है विदेहमुक्ति। समन्तभद्रस्वामीने लिखा है—

स्नेहं वैरं सङ्गं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः।
स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः॥
आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम्।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम्॥
शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा।
सत्त्वोत्स्माहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः॥
आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम्।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः॥
खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या।
पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन॥

'क्षपक इष्ट वस्तुसे राग, अनिष्ट वस्तुसे द्वेष, स्त्री-पुत्रादिसे ममत्व और धनादिसे स्वामीपनेकी बुद्धिको छोड़कर पवित्र मन होता हुआ अपने परिवारके लोगों तथा पुरा-पड़ोसी जनोंसे जीवनमें हुए अपराधोंको क्षमा करावे और स्वयं भी उन्हें प्रियवचन बोलकर क्षमा करे और इस तरह अपने चित्तको निष्कषाय बनावे।'

'इसके पश्चात् वह जीवनमें किये, कराये और अनुमोदना किये समस्त हिंसादि पापोंकी निश्छल भावसे आलोचना (खेद-प्रकाशन) करे तथा मृत्युपर्यन्त समस्त महाव्रतों (हिंसादि पाँच पापोंके त्याग) को धारण करे।

'इसके साथ ही शोक, भय, खेद, ग्लानि (घृणा), कलुषता और आकुलताको भी छोड़ दे तथा बल एवं उत्साहको प्रकट करके अमृतोपम शास्त्रवचनोंसे मनको प्रसन्न रखे।'

'इसके बाद सल्लेखनाधारी सल्लेखनामें सर्वप्रथम आहार (भक्ष्य पदार्थों) का त्याग करे और दूध, छाछ आदि पेय पदार्थोंका अभ्यास करे। इसके अनन्तर उसे भी छोड़कर काजी या गर्म जल पीनेका अभ्यास करे।'

'बादमें उनको भी छोड़कर शक्तिपूर्वक उपवास करे और इस तरह उपवास करते एवं पंचपरमेष्ठीका ध्यान करते हुए पूर्ण जागृत एवं सावधानीसे शरीरका त्याग करे।

इस विधिसे साधक अपने आनन्द-ज्ञान-घन आत्माका साधन करता है और भावी पर्यायको वर्तमान जीर्ण-शीर्ण नश्वर पर्यायसे भी ज्यादा सुखी, शान्त, निर्विकार, नित्य-शाश्वत एवं उच्च बनानेका सफल पुरुषार्थ करता है। नश्वरसे यदि अनश्वरका लाभ हो, तो उसे कौन विवेकी छोड़नेको तैयार होगा?

सल्लेखनाधारी उन पाँच दोषोंसे भी अपनेको बचाता है जो उसकी पवित्र सल्लेखनाको कलङ्कित करते हैं। वे पाँच दोष निम्न प्रकार हैं :—

जीवित-मरणाऽऽशंसे भय-मित्रस्मृति-निदान-नामानः।
सल्लेखनाऽतिचाराः पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टाः॥

'सल्लेखना धारण करनेके बाद जीवित बने रहनेकी आकांक्षा करना, जल्दी मरनेकी आकांक्षा करना, भयभीत होना, स्नेहियोंका स्मरण करना और अगली पर्यायके इन्द्रियसुखोंकी इच्छा करना ये पाँच बातें सल्लेखनाको दूषित करनेवाली कही गई हैं।'

उत्तम समाधिमरणका फल

स्वामी समन्तभद्रने लिखा है कि—

निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम्।
नि पिबति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढः॥

'उत्तम समाधिमरणको करनेवाला धर्मरूपी अमृतको पान करनेके कारण समस्त दुःखोंसे रहित होता हुआ निःश्रेयस और अभ्युदयके अपरिमित सुखोंको प्राप्त करता है।'

क्षपककी सल्लेखनामें सहायक और उनका महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य

इस तरह ऊपरके विवेचनसे सल्लेखनाका महत्त्व स्पष्ट है और इसलिये आराधक उसे बड़े आदर, प्रेम तथा श्रद्धाके साथ धारण करता है और उत्तरोत्तर पूर्ण सावधानीके साथ आत्म-साधनामे तत्पर रहता है। उसके इस पुण्यकार्यमे, जिसे एक '**महान् यज्ञ**' कहा गया है, पूर्ण सफलता मिले और अपने पवित्र पथसे विचलित न होने पाये, अनुभवी मुनि (निर्यापक) सम्पूर्ण शक्ति एवं आदरके साथ सहायता करते है और आराधकको समाधिमरणमे सुस्थिर रखते है। वे उसे सदैव तत्त्वज्ञानपूर्ण मधुर उपदेशो द्वारा शरीर और संसारकीअसारता एवं नश्वरता बतलाते हैं, जिससे वह उनमें मोहित न होवे।[1]

समाधिमरणकी श्रेष्ठता

आचार्य शिवार्यने '**भगवती आराधना**' मे सतरह प्रकारके मरणोंका उल्लेख करके पाँच तरहके[2] मरणोंका वर्णन करते हुए तीन मरणोंको उत्तम बतलाया है। लिखा है कि—

पंडिदपंडिदमरणं च पंडिदं बालपंडिदं चेव।
एदाणि तिण्णि मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसंति॥२७॥

'पण्डितपण्डितमरण, पण्डितमरण और बालपण्डितमरण ये तीन मरण सदा प्रशंसायोग्य है।'

१. भ० आ० गा० ६५०-६७६।
२. पंडिदपंडिदमरणं पंडिदयं बालपंडिदं चेव।
बालमरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च॥
'पण्डितपण्डितमरण, पण्डितमरण, बालपण्डितमरण, बालमरण और बालबालमरण ये पाँच मरण हैं।
भ० आ० गा० २५।

आगे लिखा है :—

पंडिदपंडिदमरणे खीणकसाया मरंति केवलिणो ।
विरदाविरदा जीवा मरंति तदिएण मरणेण ॥२८॥
पाओपगमणमरणं भत्तप्पण्णा य इंगिणी चेव ।
तिविहं पंडियमरणं साहुस्स जहुत्तचरियस्स ॥२९॥
अविरदसम्मादिट्ठी मरंति बालमरणे चउत्थम्मि ।
मिच्छादिट्ठी य पुणो पंचमए बालबालम्मि ॥३०॥

अर्थात् चउदहवें गुणस्थानवर्ती वीतराग-केवली भगवान्‌के निर्वाण-गमनको पण्डितपण्डितमरण, देश-व्रती श्रावकके मरणको बालपण्डितमरण, आचारांगशास्त्रानुसार चारित्रके धारक साधु-मुनियोंके मरणको पण्डितमरण, अविरतसम्यग्दृष्टिके मरणको बालमरण और मिथ्यादृष्टिके मरणको बालबालमरण कहा गया है । भक्तप्रत्याख्यान, इङ्गिनी और प्रायोपगमन ये तीन पण्डितमरणके भेद हैं । इन्हीं तीन भेदोंका ऊपर संक्षेपमें वर्णन किया गया है ।

आचार्य शान्तिसागर द्वारा इंगिनीमरण संन्यासका ग्रहण

आचार्य शान्तिसागरजीने समाधिमरणके इस महत्त्वको अवगत कर उपर्युक्त पण्डितमरणके दूसरे भेद इङ्गिनीमरण व्रतको ग्रहण किया । यद्यपि महाराज ५ वर्षसे पडितमरणके पहले भेद भक्तप्रत्याख्यानके अन्त-र्गत सविचारभक्तप्रत्याख्यानका, जिसकी उत्कृष्ट अवधि १२ वर्ष हैं, अभ्यास कर रहे थे । किन्तु शरीरकी जर्जरता व नेत्रज्योतिकी अत्यन्त मन्दतासे जब उन्हें अपना आयुकाल निकट जान पड़ा तो उन्होंने उसे इङ्गिनीमरणके रूपमे परिवर्तित कर दिया, जिसे उन्होंने ३५ दिन तक धारण किया । महाराजने स्वयं दिनांक १७-८-५५ को मध्याह्नमें २॥ बजे सेठ बालचन्द्र देवचन्द्रजी शहा, सेठ रावजी देवचन्द्रजी निम्बर-गीकर, संघपति सेठ गेंदनमलजी, सेठ चन्दूलालजी ज्योतिचन्द्रजी, श्री बण्डोबा रस्तोबा, श्री बाबूराव मारले, सेठ गुलाबचन्द्र सखाराम और रावजी बापूचन्दजी पंढारकरको आदेश करते हुए कहा था कि **'हम इङ्गिनी-मरण संन्यास ले रहे हैं, उसमें आप लोग हमारी सेवा न करें और न किसीसे करायें ।'** महाराजने यह भी कहा था कि **'पंचम काल होनेसे हमारा संहनन प्रायोपगमन (पण्डितमरणके तीसरे भेद) को लेनेके योग्य नहीं है, नहीं तो उसे धारण करते ।'** यद्यपि किन्हीं आचार्योंके मतानुसार इङ्गिनीमरण संन्यास भी आदिके तीन संहननके धारक ही पूर्ण रूपसे धारण कर सकते हैं तथापि आचार्य महाराजने आदिके तीन संहननोंके अभावमे भी इसे धारण किया और ३५ दिन तक उसका निर्वाह किया, जिसका अवलोकन उनके सल्लेखना-महोत्सवमें उपस्थित सहस्रों व्यक्तियोंने किया, वह **'अचिन्त्यमीहितं महात्मनाम्'** महात्माओंकी चेष्टाएँ अचिन्त्य होती हैं, के अनुसार विचारके परे है ।

समाधिमरणमें आचार्यश्रीके ३५ दिन

समाधिमरणके ३५ दिवसोंमें आचार्यश्रीकी जैसी प्रकृति, चेष्टा एव चर्या रही उससे आचार्य महाराजके धैर्य, विवेक, जागृति आदिकी जानकारी प्राप्त होती है । १९ दिन तो हम स्वयं उनके पादमूलमें कुंथलगिरि रहे और प्रतिदिन नियमित दैनंदिनी (डायरी) लिखते रहे तथा शेष १६ दिवसोंकी उनकी चर्या-दिको अन्य सूत्रोंसे ज्ञात किया ।

१८ सितम्बर ५५, रविवारको—प्रातः ६-४५ बजे श्री लक्ष्मीसेनजी भट्टारकने अभिषेकजल ले जाकर कहा—'महाराज ! अभिषेकजल है ।' महाराजने उत्तर दिया 'हूं' और उसे उत्तमांगमें लगा लिया । इसके ५ मिनट बाद ही ६-५० बजे उन्होंने शरीर त्याग दिया । शरीरत्यागके समय महाराज पूर्णतः जागृत और

सावधान रहे। अन्तिम समयकी उनके शरीरकी शास्त्रानुसार विधि करके उसे पद्मासन रूपमें चौकीपर विराजमान किया गया और प्रतिदिनकी तरह मंचपर ले जाकर जनताके लिए उनके दर्शन कराये। २ घंटे तक दशभक्ति आदिका पाठ हुआ। इसके बाद एक सुसज्जित पालकीमें महाराजके पौद्गलिक शरीरको विराजमान करके उस स्थानपर पहाड़के नीचे ले गये, जहाँ दाह-संस्कार किया जाना था। पहाड़पर ही मान-स्तम्भके निकटके मैदानमे बडे सम्मानके साथ डेढ़ बजे प्रभावपूर्ण दाह-संस्कार हुआ। लगभग ३० मन चन्दन, ३ बोरे कपूरकी टिकिया तथा खुला कपूर, हजारों कच्चे नारियल व हजारों गोले चितामे डाले गये। दाहसंस्कार महाराजके भतीजे, रावजी देवचन्द, माणिकचन्द वीरचन्द आदि प्रमुख लोगोंने किया। आगने धू-धूकर महाराजके शरीरको जला दिया। **'ओं सिद्धाय नमः'** प्रातः ६-५० से १॥ बजे तक जनताने बोला। इसी समय महाराजके आत्माके प्रति पं० वर्द्धमानजी, हमने, पं० तनसुखलालजी काला आदिने श्रद्धाञ्जलि-भाषण दिये। दाह-संस्कारके समय सर्पराजके आनेकी बात सुनी गई। ज्योतिषशास्त्रा-नुसार महाराजका शरीरत्याग अच्छे मुहूर्त, योग और अच्छे दिन हुआ। रातको अनेक लोग दाहस्थानपर बैठे-खड़े रहे।

१९ सितम्बर ५५, को भस्मीके लिए हम ५ बजे प्रातः दाहस्थानपर पहुँचे और देखा कि भस्मीके विशाल ढेरको भक्तजनोंने समाप्त कर दिया और अब बीचमें आग मात्र रह गई।

भक्तजनोंकी उपस्थिति

इस प्रकार यह महाराजका समाधिमरण ३५ दिवस तक चला, जो वस्तुतः ऐतिहासिक है। इस अवसरपर निम्न व्रतीजन विद्यमान रहे :—

(१) मुनि श्री पिहितास्रव, (२) ऐलक सुबल, (३) ऐ० यशोधर, (४) क्षु० विमलसागर, (५) क्षु० सूरिसिंह, (६) क्षु० सुमतिसागर, (७) क्षु० महाबल, (८) क्षु० अतिबल, (९) क्षु० आदिसागर, (१०) क्षु० जयसेन, (११) क्षु० विजयसेन, (१२) क्षु० पार्श्वकीर्ति, (१३) क्षु० ऋषभकीर्ति, (१४) क्षु० सिद्ध-सागर, (१५) भट्टारक श्री लक्ष्मीसेन, (१६) भट्टारक श्री जिनसेन, (१७) भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति (प्रारम्भमें रहे), (१८) क्षुल्लिका पार्श्वमती, (१९) क्षु० अजितमति, (२०) क्षु० विशालमती, (२१) क्षु० अनन्तमती (२२) क्षु० जिनमती, (२३) क्षु० वीरमती, ब्र० जीवराज, ब्र० दीपचन्द, ब्र० चान्दमल, ब्र० सूरजमल, ब्र० श्रीलाल आदि। समाजके अनेक प्रतिष्ठित श्रीमान् तथा विद्वान् भी वहाँ उपस्थित रहे। ३५ दिवसोंमें लगभग ५० हजार जनता पहुँची। इतने जन-समूहके होते हुए भी कोई विशेष घटना नहीं हुई। ३५ दिन जितना बड़ा मेला न सुना और न देखा। वह महाराजके जीवनव्यापी तप और आत्मत्यागका प्रभाव था।

●

आदर्श तपस्वी आचार्य नमिसागर : एक परिचय

आचार्य नमिसागरका जन्म सन् १८८८ में दक्षिण कर्णाटक प्रान्तके शिवपुर गांव (जिला बेलगांव) में हुआ। आपका जन्मनाम 'म्होणप्पाहोणप्पा' है। आपके पिताका नाम यादवराव और माताका नाम काला-देवी है। दो वर्षकी अवस्थामें पिताका और १२ वर्षकी अवस्थामें माताका वियोग हो गया था।

प्रारम्भिक शिक्षा

बचपनमे आपको पढ़नेमें रुचि नहीं थी। अपने अध्यापकोको चकमा देकर स्कूलसे भाग जाते थे और तीन-तीन दिन तक जगलमे वृक्षोंपर पेटसे कपडा बाँधकर चिपके रहते थे तथा भूख-प्यास भी भूल जाते थे। अतएव आपने प्रारम्भिक शिक्षा कर्णाटकीकी पहली दो पुस्तकों भरकी ली।

विवाह और गृहत्याग

सन् १९१४ मे २६ वर्षकी अवस्थामे आपका विवाह हुआ, ४ वर्ष बाद गौना हुआ और एक वर्ष तक धर्मपत्नीका संयोग रहा। पीछे उससे एक शिशुका जन्म हुआ, किन्तु तीन माह बाद उसकी मृत्यु हो गई और उसके तीन माह बाद शिशुकी माँका भी स्वर्गवास हो गया।

आप दस-दस, बीस-बीस बैलगाड़ियों द्वारा कपास, मिर्च, बर्तन आदिका व्यापार करते थे। एक दिन आप कपास खरीदनेके लिए जाम्बगी नामके गाँवमें, जो तेरदाड़ राज्यमे है, गये। वहाँ रातको भोजन करते समय भोजनमें दो मरे झिंगरा (एक प्रकारके लाल कोड़े) दीख गये। उसी समय आपको संसारसे वैराग्य हो गया और मनमें यह विचार करते हुए कि "मैं कितना अधम पापी और धर्म-कर्म हीन हूँ कि इस आरम्भ-परिग्रहके कारण दो जीवोंका घात कर दिया।" घर-बार छोड़कर संवेगी श्रावक हो गये। तीन वर्ष तक आप इसी श्रावक वेषमे घूमते रहे। बोरगाँवमे पहुँचकर श्रीआदिसागरजी नामके मुनिराजसे क्षुल्लक-दीक्षा ले ली और फिर दो वर्ष बाद ऐलक-दीक्षा भी ले ली। पाँच वर्ष तक आप इस अवस्थामे रहे।

साधु-दीक्षा

सन् १९२९ मे श्री सोनागिरजी (मध्यप्रदेश) में चारित्रचक्रवर्ती तपोनिधि आचार्य शान्तिसागरजी महाराजके निकट साधु-दीक्षा ग्रहण की और उन्हें अपना दीक्षा-गुरु बनाया। क्षुल्लकावस्थासे लेकर आपने जैनविद्री, जयपुर, कटनी, ललितपुर, मथुरा, देहली, लाडनू टांकाटूका (गुजरात), जयपुर, अजमेर, व्यावर, हाँसी आदि अनेक स्थानों—नगरों तथा गाँवोंमें ३० चातुर्मास किये और भारतके दक्षिणसे उत्तर और पश्चिमसे पूर्व समस्त भागोंमे विहार किया। इस विहारमें आपने लगभग दस हजार मीलकी पैदल यात्रा की और जगह-जगहकी जनताको आत्म-कल्याणका आध्यात्मिक एवं नैतिक उपदेश देकर उनका बड़ा उपकार किया।

आचार्य-पद

सन् १९४४ मे आप तारंगामें आचार्य कुन्थुसागरजीके संघमें सम्मिलित हो गये। संघ जब विहार करता हुआ धरियावाद (बागड़) पहुँचा तो आचार्य कुन्थुसागरजीका वहाँ अकस्मात् स्वर्गवास हो गया। संघने पश्चात् आपको तपादि विशेषताओंसे 'आचार्य' पदपर प्रतिष्ठित किया।

तपस्या और त्याग

आपकी तपस्या और त्याग अद्वितीय रहे। सन् १९२४ में आपने जयपुरमे वहांके अनाजोंकी भाषाका ज्ञान न हो सकनेसे ८ माह तक लगातार केवल कढ़ीका आहार लिया। सन् १९३१ में देहलीमे प्रथम चातुर्मासमे २१ दिन तक उपवास और बादमें डेढ़ माह तक केवल छाछ ग्रहण की। सन् १९३३ मे सरधना (मेरठ) के चातुर्मासमें ३६ दिन तक सिर्फ नीबूका रस लिया। मेरठमे दो माह तक लगातार केवल गन्नेका रस ग्रहण किया। सन् १९४० मे जेर (गुजरात) के चौमासेमे साढ़े छह महीनोमे सिर्फ २९ दिन आहार और शेष दिनोंमें १६४ उपवास किये। यह सिंह-विक्रीड़त व्रत है। सन् १९४१ मे टाकाटूंका (गुजरात) मे चौमासेमें सर्वतोभद्र व्रत किया, जिसमे एक उपवाससे सात उपवास तक चढ़ना और फिर सातसे क्रमशः एक उपवास तक आना और इस तरह साढ़े आठ महीनेमे केवल ४९ आहार और २४५ उपवास किये। सन् १९४७ में अजमेरमे ढाई माह तक जलका त्याग और केवल छाछका ग्रहण किया। सन् १९४८ मे ब्यावरमे केवल अन्न (दाल-रोटी) का ग्रहण और जलका त्याग किया। सन् १९३५ मे देहलीमे दूसरे चातुर्मासमे लगातार चार-चार उपवास किये और इस तरह कई उपवास किये। सन् १९५२ में भी तीसरे चातुर्मासके आरम्भमे देहलीमे आपने २० दिन तक अन्न और जलका त्याग किया तथा सिर्फ फल ग्रहण किये। महीनों आपने सिर्फ एक पैरके बलपर रहकर तपस्या की।

नमकका त्याग तो आपने कोई २७, २८ वर्षकी अवस्थामे ही कर दिया था और छह रसका त्याग भी आपने पौने दो वर्ष तक किया। इस तरह आपका तमाम साधुजीवन त्याग और तपस्यासे ओत-प्रोत रहा।

ध्यान और ज्ञान

बागपत (मेरठ) में जब आप एक डेढ माह रहे तो वहां जमनाके किनारे चार-चार घंटे ध्यानमें लीन रहते थे। बड़ेगांव (मेरठ) में जाड़ोंमें अनेक रात्रियां छतपर बैठकर ध्यानमे बितायी। पावागढ़ (बड़ोदा), तारंगा आदिके पहाड़ोंपर जाकर वहां चार-चार घंटे समाधिस्थ रहते थे।

तपोबलका प्रभाव और महानता

आपके जीवनकी अनेक उल्लेखनीय विशेषताएं हैं। जोधपुरमे आपके नेत्रोंकी ज्योति चली गई और इससे जनतामे सर्वत्र चिन्ताकी लहर फैल गई, किन्तु आप इस दैविक विपत्तिसे लेशमात्र भी नही घबराये और आहार-जलका त्यागकर समाधिमें स्थित हो गये। अन्तमे सातवें दिन आपको अपने तपोबल और आत्मनिर्मलताके प्रभावसे आंखोंकी ज्योति पुनः पूर्ववत् प्राप्त हो गई। उस मरुभूमिमे ग्रीष्मऋतुमे, जहां दर्शकोंके पैरोंमे फोले पड़ जाते थे, बालूमें तीन-तीन घंटे आप ध्यान करते थे।

पीपाड़ (जोधपुर) मे ५००० हजार हरिजनोंको वैयावृत्य तथा दर्शन करनेका आपने अवसर दिया तथा उनकी इच्छाको तृप्त करके धर्मपूर्वक अपना जीवन बितानेका उन्हें सन्देश दिया।

१५ दिसम्बर १९५० में जब आपको आहारके लिये जाते समय मालूम हुआ कि संयुक्त भारतके महान् निर्माता स्व० उपप्रधानमन्त्री सरदार बल्लभभाई पटेलका बम्बईमें देहावसान हो गया तो आपने आहार त्याग दिया और उपवास किया।

आप कितने गुणग्राही, निस्पृही और विनयशील रहे, यह आपके द्वारा चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागरजी महाराज और श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्यको लिखे गये पत्रोंसे विदित होता है और जिनमे उनकी गुणग्राहकता और विनयशीलताका अच्छा परिचय मिलता है।

उनका निधन

२२ अक्तूबर १९५६ का दुःखद दिन चिरकाल तक याद रहेगा। इस दिन १२ बजे श्री सिद्धक्षेत्र सम्मेदशिखरजीकी पावन भूमि (ईसरी-पारसनाथ) में जहाँ २० तीर्थंकरों और अगणित ऋषियोंने तप व निर्वाण प्राप्त किया, इस युगके इस अद्वितीय तपस्वीने समाधिपूर्वक देह त्याग किया। ढाई घण्टे पूर्व साढ़े नौ बजे उन्होंने आहारमें जल ग्रहण किया। दो दिन पूर्वसे ही अपने देहत्यागका भी संकेत कर दिया। क्षु० श्री गणेश प्रसादजी वर्णी, भगत प्यारेलालजी आदि त्यागीगणने उनसे पूछा कि 'महाराज, सिद्धपरमेष्ठीका स्मरण है ?' महाराजने 'हूँ' कहकर अपनी जागृत अवस्थाका उन्हें बोध करा दिया। ऐसा उत्तम सावधान पूर्ण समाधिमरण सातिशय पुण्यजीवोंका ही होता है। आचार्य नमिसागरजीने घोर तपश्चर्या द्वारा अपनेको अवश्य सातिशय पुण्यजीव बना लिया था।

एक संस्मरण

जब वे बड़ौतमें थे, मैं कुंथलगिरिसे आकर उनके चरणोंमें पहुँचा और आचार्य शान्तिसागरजी महाराजकी उत्तम समाधिके समाचार उन्हें सुनाये तथा जैन कालेज भवनमें आयोजित सभामें भाषण दिया तो महाराज गद्‌गद होकर रोने लगे और बोले—'गुरु चले गये और मैं अधम शिष्य रह गया।' मैंने महाराजको धैर्य बंधाते हुए कहा—'महाराज आप विवेकी वीतराग ऋषिवर हैं। आप अधीर न हो। आप भी प्रयत्न करें कि गुरुकी तरह आपकी भी उत्तम समाधि हो और वह श्री सिद्धक्षेत्र सम्मेद शिखरपर हो। वहाँ वर्णीजीका समागम भी प्राप्त होगा।' महाराज धैर्यको बटोरकर तुरन्त बोले कि—'पंडितजी, ठीक कहा, अब मैं चातुर्मास समाप्त होते ही तुरन्त श्री सम्मेद शिखरजीके लिये चल दूँगा और वर्णीजीके समागमसे लाभ उठाऊँगा।'

उल्लेखनीय है कि चातुर्मास समाप्त होते ही महाराजने बड़ौतसे विहार कर दिया। जब मैं उनसे खुर्जामें दिसम्बर-जनवरीमें मिला तो देखा कि महाराजके पैरोंमें छाले पड़ गये हैं। मैंने महाराजसे प्रार्थना की कि—'महाराज जाड़ोंके दिन हैं। १० मीलसे ज्यादा न चलिए।' तो महाराजने कहा कि—'पण्डितजी, हमें फाल्गुनकी अष्टान्हिकासे पूर्व शिखरजी पहुँचना है। यदि ज्यादा न चलेंगे तो उस समय तक नहीं पहुँच पायेंगे।' महाराजकी शरीरके प्रति निस्पृहता, वर्णीजीसे ज्ञानोपार्जनकी तीव्र अभिलाषा और श्रीसम्मेदशिखरजीकी ओर शीघ्र गमनोत्सुकता देखकर अनुभव हुआ कि आचार्यश्री अपने संकल्पकी पूर्तिके प्रति कितने सुदृढ़ है। उनके देहत्यागपर श्री दि० जैन लालमन्दिरजीमें आयोजित श्रद्धाञ्जलि-सभामें महाराजके अध्यवसायकी प्रशंसा करते हुए ला० परसादीलाल पाटनीने कहा था कि 'बड़े महाराजको अन्न त्याग किये २॥ वर्ष हो गया और हम सब लोग असफल हो गये तो आ. नमिसागरजी महाराजने अजमेरसे आकर दिल्लीमें चौमासा किया और हरिजन मन्दिर-प्रवेश समस्याको अपने हाथमें लेकर ६ माहमें ही हल करके दिखा दिया।' यथार्थमें उक्त समस्याको हल करनेवाले आचार्य नमिसागरजी महाराज ही हैं। आचार्य महाराजने अपनी कार्यकुशलता और बुद्धिमत्तासे ऐसी-ऐसी अनेक समस्याओंको हल किया, किन्तु उनके श्रेयसे वे सदैव अलिप्त रहे और उसे कभी नहीं चाहा। उनमे वचन-शक्ति तो ऐसी थी कि जो बात कहते थे वह सत्य सावित होती थी।

देहत्यागसे ठीक एक मास पूर्व २३ सितम्बर '५६ को जब मैं संस्था (समन्तभद्र संस्कृत विद्यालय, देहली) की ओरसे वर्णी-जयन्तीपर उनके चरणोंमें पहुँचा, तो महाराज बोले—'पंडितजी, आपको मेरे समाधिमरणके समय आना है।' महाराजके इन शब्दोंको सुनकर मैं चौंक गया और निवेदन किया कि 'महाराज

यह क्या कहते हैं। चातुर्मास बाद तो आपको दिल्ली चलना है। दिल्लीकी समाज और जैन अनाथाश्रम आपको लानेके लिये उत्सुक हैं। महाराज चुप रह गये। पर उनका संकेत उनकी सौम्य मुखाकृतिसे मुझे उनकी समाधिके अवसरपर आनेके लिये ही था। महाराजकी आज्ञा शिरोधार्य करते हुए चिन्ताके साथ कहा—'महाराज, चरणोंमें अवश्य उपस्थित होऊँगा।'

उसी समय एक पत्र ला० सरदारीमलजी गोटेवालों और एक पत्र आश्रम-मंत्री ला० रघुवीरसिंह कोठीवालोंको लिखा और उसमें महाराजके चिन्ताजनक स्वास्थ्यका उल्लेख करते हुए वैद्यराज कन्हैयालाल जी आयुर्वेदाचार्य प्रधान चिकित्सक जैन औषधालय, देहलीको शीघ्र भेजनेके लिए प्रेरणा की। वैद्यजी महाराजके चरणोंमें पहुँच गये और उन्होंने २२ दिन तक महाराजको पूरी वैयावृत्य की।

किन्तु हम जाते-जाते रह गये। हमलोग यही सोचते रहे कि महाराज अपनी असाधारण तपःशक्तिके प्रभावसे अभी हमलोगोंके मध्यमें अवश्य रहेंगे। किन्तु जिनके चरण-सान्निध्यमें पिछले छह वर्षोंमें सैकड़ो बार आया, गया और स्वाध्याय कराया। उनके तपसे प्रभावित होकर उनका भक्त बना और मेरे ही परामर्शसे वर्णीजीके समागममें सम्मेदशिखर सिद्ध क्षेत्रपर जानेका उन्होंने निश्चय किया। पर समाधिमरणके समय न पहुंच सका।

ऐसे महान् तपस्वीको शत-शत वन्दन है।

पूज्य वर्णीजी : महत्त्वपूर्ण संस्मरण

पूज्य बाबा भागीरथजीके सम्बन्धमें हमने आप्तजनोंसे सुना था कि वे एक बार अपने भक्तोंके साथ पद-यात्रा कर रहे थे। एक जगह उन्हें पैरके अंगूठेमें पत्थरकी चोट लग गयी और अंगूठेसे खूनकी धारा बह निकली। उन्हें पता भी नहीं, वे बराबर चलते रहे। पीछे चल रहे एक भक्तकी निगाह उनके अंगूठेकी ओर गयी और उसने देखा कि बाबाजीके अँगूठेसे खून बह रहा है। भक्तसे न रहा गया और बाबाजीसे वह बोला—'बाबाजी ! आपके अँगूठेसे खून बह रहा है, रुकिए, उसपर कुछ लगाकर पट्टी बाँध दी जाय।' बाबाजी बोले—'पुग्गल-पुग्गल'की लड़ाई हो गयी, हमारा क्या गया।' भक्त बोला—'महाराज ! शरीर धर्मका आद्य साधन है, उसकी रक्षा न की जाय तो धर्मकी साधना कैसे हो सकेगी ?'

बाबाजीने उत्तर दिया कि 'शरीरकी रक्षाके लिए ही तो हम उसे रोज दाना-पानी देते हैं। किन्तु सावधानी रखते हुए भी उसमें असाताके उदयसे यदि विकार आ जाये, तो उसके लिए हमें घबड़ाना नहीं चाहिए।'

भक्त बाबाजीके इस निस्पृहतापूर्ण उत्तरको सुनकर सोचने लगा कि एक हम हैं जो शरीर-मोही हैं और दूसरे बाबाजी हैं, जो उसके मोही नहीं हैं। इसीलिए वे शरीरके एक हिस्सेमें आयी चोटको चोट नहीं समझ रहे, अपितु पुद्गल-पुद्गलकी लड़ाई बता रहे हैं। वास्तवमें ऐसे विवेकी आत्माओंको बहिरात्मा तो नहीं कहा जा सकता। कहते हैं कि बाबाजीने अपना भोजन अन्तमें क्रमशः कम करते-करते एक तोला मूँगकी दालका कर दिया था। पूरी सावधानी और विवेकावस्थामें उन्होंने शरीरका त्याग किया था। धन्य है उन्हें।

पूज्य श्री गणेशप्रसादजी वर्णी (मुनि गणेशकीर्ति महाराज) उन्हीं बाबा भागीरथजीको साथी ही नहीं, अपना गुरु भी मानते थे। समाजमें इन दोनों वर्णियोंके प्रति अपूर्व श्रद्धा एवं निष्ठा थी और दीपचन्दजी वर्णी सहित तीनों '**वर्णीत्रय**'के रूपमें मान्य और पूज्य थे।

पर '**वर्णी**' नाम जितना गणेशप्रसादजीके साथ अभिन्न हो गया था उतना उन दोनों वर्णियोंके साथ नहीं। यही कारण है कि 'वर्णीजी' कहनेपर गणेशप्रसादजीका ही बोध होता है। वास्तवमें 'वर्णीजी' यह उपनाम न रहकर उनका नाम ही हो गया था। यह तभी होता है, जब व्यक्ति अपने असाधारण त्याग, ज्ञान, चारित्र, लोकोपकार आदि लोकातिशायी गुणोंसे असाधारण प्रतिष्ठा और महानता पा लेता है, तब लोग उसके छोटे नामसे ही उसे सम्बोधित करके अपना आदरभाव व्यक्त करते हैं। 'मालवीय' कहनेसे मदनमोहन मालवीयका और 'गाँधीजी' या 'महात्माजी' कहनेपर मोहनदास कर्मचन्द गाँधीका बोध लोग करते हैं। यही बात 'वर्णीजी' इस नामके सम्बन्धमें है।

वर्णीजी कितने निर्मोही थे, यहाँ हम कुछ घटनाओं द्वारा बताना चाहते हैं।

भयानक कारवंकर फोड़ा

ललितपुर (उत्तर प्रदेश) के क्षेत्रपालकी बात है। वहाँ उनका चातुर्मास हो रहा था। उनके दायें पैरकी जंघामें उन्हें एक भयानक कारवंकर फोड़ा हो गया था। बहुत देशी उपचार हुए, पर कोई लाभ

नहीं हुआ। यह समाचार दिल्ली पहुँचा। वहाँसे ला० राजकृष्णजी, हम आदि कई लोग ललितपुर आये। वर्णीजीके दर्शन किये। उनके उस भयानक फोड़ेको भी देखा। किन्तु वर्णीजीके चेहरेपर जरा भी सिकुड़न न थी और न उनके चेहरेसे उसकी पीड़ा ही ज्ञात होती थी। ला० राजकृष्णजी एक सर्जन डाक्टरको शहरसे ले आये। डाक्टरने फोड़ाको देखा और कहा कि इसका आपरेशन होगा, अन्य कोई चारा नहीं है। वर्णीजीने कहा, तो कर दीजिए। डा० बोला 'आपरेशनके लिए अस्पताल चलना होगा।' वर्णीजीने दृढ़तापूर्वक कहा कि हम 'अस्पताल तो नहीं जायेंगे, यहीं कर सकते हों तो कर दीजिए, अन्यथा छोड़ दीजिए।' ला० राजकृष्णजीने डॉक्टरसे कहा कि ये त्यागी महात्मा हैं, अस्पताल नहीं जायेंगे, ऑपरेशनका सब सामान हम यहीं ले आते हैं। डॉक्टर वहीं (क्षेत्रपालमें) ऑपरेशन करनेको तैयार हो गया। जब डॉक्टरने पुनः वर्णीजीसे बेहोश करनेकी बात कही तो वर्णीजीने कहा कि 'बेहोश करनेकी आवश्यकता नहीं' और अपना पैर आगे बढ़ा दिया। पौन घटेमें ऑपरेशन हुआ। पर वर्णीजीके चेहरेपर कोई सिकुड़न या पीड़ाका आभास नहीं हुआ। रोजमर्राकी भाँति हम लोगोंसे चर्चा-वार्ता करते रहे। यह थी उनकी शरीरके प्रति निर्मोह वृत्ति और जागृत विवेक। हम लोग यह देखकर दंग रह गये।

१०५ डिग्री बुखार

दूसरी घटना इटावाकी है। वर्णीजीका यहाँ भी एक चातुर्मास था। यहाँ उन्हें मलेरिया हो गया और १०४, १०५ डिग्री तक बुखार रहने लगा। पैरोंमे शोथ भी हो गया। उनकी इस चिन्ताजनक अस्वस्थताका समाचार ज्ञात होनेपर दिल्लीसे ला० राजकृष्णजी, ला० फीरोजीलालजी, ला० हरिश्चन्द्रजी, हम आदि इटावा पहुंचे।

जिस गाड़ीसे गये थे, वह गाड़ी इटावा रातमे ३—३॥ बजे पहुँचती है। स्टेशनसे ताँगा करके गाड़ीपुराकी जैनधर्मशालामे पहुँचे, जहाँ वर्णीजी ठहरे हुए थे। सब ओर अँधेरा और सभी सोये हुए थे। एक कमरेसे रोशनी आ रही थी। हम उसी ओर बढ़े और जाकर देखा कि वर्णीजी समयसारके स्वाध्यायमें लीन हैं। सबको वहीं बुला लिया। ला० फीरोजीलालजीने थर्मामीटर लगाकर वर्णीजीका तापमान लिया। तापमान १०५ डिग्री था और रातके ३॥ बजे थे। उनकी इस अद्भुत शरीर-निर्मोह वृत्तिको देखकर हम सभी चकित हो गये और चिन्ताकी लहरमें डूब गये। पैरोंकी सूजन तो एकदम चिन्ताजनक थी। किन्तु वर्णीजीपर कोई असर नहीं दिखा।

अन्तिम समयकी असह्य पीड़ा

तीसरी घटना उनके अन्त समयकी ईसरीकी है। वे अन्तिम दिनोंमें काफी अशक्त हो गये थे। उन्हें उठने, बैठने और करवट बदलनेमे सहायता करनेके लिए एक महावीर नामका कुशल परिचारक था। अन्य कितने ही भक्त उनके निकट हर समय रहते थे। किन्तु महावीर बड़ी कुशलता एवं सावधानीसे उनकी परिचर्या करता था। इस अशक्त अवस्थामे भी वर्णीजीकी किसी चेष्टासे उनकी पीड़ाका आभास नहीं होता था। मुँहसे कभी ओफ तक नहीं निकलती थी। उस असह्य पीड़ाको वे अद्भुत सहनशीलतासे सहते थे, वे वेदनासे विचलित नहीं हुए। ऐसी थी उनकी शरीरके प्रति विवेकपूर्ण निर्मोह वृत्ति, जो उनके अन्तरात्मा होनेकी सूचक थी, बहिरात्मा तो वे जीवनमे प्रायः कभी नहीं रहे होंगे। प्राथमिक १८ वर्षोंसे वे यद्यपि वैष्णवमतमें रहे, किन्तु उनके मनमें अन्तर्द्वन्द्व और वैराग्य एवं विवेक तब भी रहा। इसीसे वे पत्नी, माता आदिके मोहको छोड़ सके थे और अत्यन्त ज्ञानवती, धर्मवत्सला, धर्ममाता चिरोंजाबाईके अनायास सम्पर्कमें आ गये थे।

इन तीन घटनाओंसे स्पष्टतया उनकी निर्मोहवृत्तिका परिचय मिलता है।

वे परमोही भी न थे। उनके दर्शनों एवं उपदेश सुननेके लिए रोज परिचित-अपरिचित सैकड़ों व्यक्ति आते-जाते रहते थे और वे अनुभव करते थे कि वर्णीजीकी हमपर कृपा है और हमसे स्नेह करते हैं। पर वास्तवमें उनका न किसी भी व्यक्तिके प्रति राग था और न किसी संस्था या स्थान विशेषसे अनुराग था।

कभी कुछ लोग उनके सामने किसीकी आलोचना भी करने लगते थे, पर वर्णीजी एकदम मौन-तटस्थ। कभी भी वे ऐसी चर्चामें रस नहीं लेते थे। हरिजन-मन्दिर-प्रवेशपर अपना मत प्रकट करनेपर आवाज आयी कि वर्णीजीकी पीछी-कमण्डलु छीन ली जाय। इसपर उनका सहज उत्तर था कि 'छीन लो पीछी-कमण्डलु, हमारा आत्म-धर्म तो कोई नहीं छीन सकता।' ऐसी उनमें अपार सहनशीलता थी।

उनके निकट कोई सहायतायोग्य श्रावक, छात्र या विद्वान् पहुँच जाये, तो तुरन्त उसकी सहायताके लिए उनका हृदय उमड़ पडता था और उनका संकेत मिलते ही उनके भक्तगण उसकी पूर्ति कर देते थे—उनके लिए उनकी थैलियाँ खुली रहती थीं। वस्तुतः वे एक महान् सन्त थे, महात्मा थे और महात्माके सभी गुण उनमें थे।

लोकापवादपर विजय

भारविने कहा है कि '**विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।**'—विकारका निमित्त मिलनेपर भी जिनका चित्त विकृत (विकार युक्त) नहीं होता वे ही धीर पुरुष हैं। सेठ सुदर्शन, सती सीता जैसे अनेक पावन मनुष्योंके लिए कितने विकारके निमित्त मिले, पर वे अडिग रहे—उनके मन विकृत नहीं हुए, गांधीजीको क्या कम विकारके निमित्त मिले? किन्तु वे भी अविकृत रहे और लोकमें अभिवन्दनीय सिद्ध हुए।

बहुत वर्ष बीत गये। वर्णीजी तब समाज-सेवाके क्षेत्रमें आये ही थे। उन्होंने समय-सुधारका बीड़ा उठाया। विवाहोंमें बारातों और फैनारोंमें औरतोंके जानेकी प्रथा थी। यह प्रथा फिजूलखर्ची और अपव्ययकी जनक तो थी ही, परेशानी भी बहुत होती थी। वर्णीजीने इस प्रथाको बन्द करनेके लिए समाजको प्रेरित किया। किन्तु जब उसका कोई असर नहीं हुआ, तो वे स्वयं आगे आये। वे चाहते थे कि बारातमें तथा फैनारोंमें औरतें न जायें, क्योंकि पुरुषोंके लिए काफी परेशानियाँ उठाना पड़ती हैं तथा उनकी सुरक्षाका विशेष खयाल रखना पडता है। अतः उनका जाना बन्द किया जाय। परन्तु औरतें यह कब मानने वाली थीं। नीमटोरिया (ललितपुर, उत्तर प्रदेश) में एक बारात गयी। उसमें औरतें भी गयीं। वर्णीजीको जब पता चला तो वे वहाँ पहुँचे और सभी औरतोंको वापिस करा दिया। औरतोंपर उसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। उन्होंने विवेक खोकर वर्णीजीको अनेक प्रकारकी गालियाँ दीं, बुरा-भला कहा और खूब कोसा। किन्तु वर्णीजीपर उनकी गालियोंका कोई असर नहीं हुआ। उनके मनमें जरा भी रोष या क्रोध नहीं आया। फलतः धीरे-धीरे उक्त प्रथा बन्द हो गयी। अब तो सारे बुन्देलखण्डमें बारातमें औरतोंका जाना प्रायः बन्द ही हो गया है। यह थी वर्णीजीकी सहिष्णुता और संकल्प शक्तिकी दृढ़ता।

दिल्लीमें चातुर्मास हो रहा था। उसी समयकी बात है। कुछ गुमराह भाइयोंने वर्णीजीके विरोधमें एक परचा निकाला और उसमें उन्हें पूंजीपतियोंका समर्थक बतलाया। जब यह चर्चा उन तक पहुँची, तो वे हंसकर बोले—'भइया! मैं तो त्यागी हूँ और त्यागका ही उपदेश देता हूँ तथा सभीसे—पूंजीपतियों और अपूंजीपतियोंसे त्याग कराता हूँ और त्यागी बनाना चाहता हूँ। इसमें कौन-सी बुराई है।' वर्णीजीका यह

उत्तर कितना सात्त्विक, मधुर और सहिष्णुताका द्योतक था। वर्णीजी सबके थे, गरीबके भी, अमीरके भी, विद्वान्के भी, अनपढ़के भी, और वृद्ध तथा बच्चोंके भी। उनका वात्सल्य सभी पर था। गांधीजीके लिए बिड़ला जैसे कुबेर स्नेहपात्र थे तो उससे कम उनका स्नेह गरीबों या हरिजनोंसे न था। वे उनके लिए ही जिए और मरे। वर्णीजी जैन समाजके गांधी थे। उनकी रग-रग में सबके प्रति समान स्नेह और वात्सल्य था।

हमे बुन्देलखण्डका स्वयं अनुभव है। वह एक प्रकारसे गरीब प्रदेश है। वहाँ वर्णीजीने जितना हित और सेवा गरीबोंकी की है, उतनी अन्यकी नहीं। विद्यार्थी हो, विद्वान् हो। उद्योगहीन हो और चाहे कोई गरीबनी विधवा हो उन सबपर उनकी कातर दृष्टि रहती थी। वे इन सभीके मसीहा थे।

सत्यानुसरण

वर्णीजी वैष्णव कुलमें उत्पन्न हुए। किन्तु उन्होंने अमूढ़ दृष्टि एवं परीक्षाबुद्धिसे जैनधर्मको आत्म-धर्म मानकर उसे अपनाया। उनका विवेक और श्रद्धा कितनी दृढ़ एवं जागृत रही, यह बात निम्न घटनासे स्पष्ट मालूम हो जाती है। वर्णीजी जब सहारनपुर पहुंचे और वहाँ आयोजित विशाल सार्वजनिक सभामे उपदेशके समय एक अजैन भाईने उनसे प्रश्न किया कि 'आपने हिन्दू धर्म छोड़कर जो जैनधर्म ग्रहण किया तो क्या वे विशेषताएँ आपको हिन्दूधर्ममे नही मिलीं?' इसका उत्तर वर्णीजीने बड़े सन्तुलित शब्दोमे देते हुए कहा कि 'जितना सूक्ष्म और विशद विचार तथा आचार हमे जैन धर्ममे मिला है उतना षड्दर्शनोंमे किसीमे भी नही मिला। यदि हो तो बतलायें, मै आज ही उस धर्मको स्वीकार कर लूं। मैने सब दर्शनोके आचार-विचारोंको गहराईसे देखा और जाना है। मुझे तो एक भी दर्शनमे जैनधर्ममे वर्णित अहिंसा और अपरिग्रह-का अद्वितीय एवं सूक्ष्म आचार-विचार नहीं मिला। इसीसे मैने जैनधर्म स्वीकार किया है। यदि सारी दुनिया जैनधर्म स्वीकार कर ले तो एक भी लड़ाई-झगड़ा न हो। जितने भी लड़ाई-झगड़े होते हैं वे हिंसा और परिग्रहको लेकर ही होते हैं। संसारमे सुख-शान्ति तभी हो सकती है जब अहिंसा और अपरिग्रहका आचार-विचार सर्वत्र हो जाय।' यह है वर्णीजीका विवेक और श्रद्धापूर्वक किया गया सत्यानुसरण। आचार्य अकलङ्कदेवने परीक्षक होने के लिए दो गुण आवश्यक माने हैं—१ श्रद्धा और २ गुणज्ञता (विवेक)। इनमेसे एकका भी अभाव हो, तो परीक्षक नही हो सकता। पूज्य वर्णीजीमे हम दोनों गुण देखते हैं, और इस लिए उन्हें सत्यानुयायी पाते हैं।

अपार करुणा

वर्णीजी कितने कारुणिक और परदु:खकातर थे, यह उनकी जीवन-व्यापी अनेक घटनाओंसे प्रकट है। उनकी करुणाकी न सीमा थी और न अन्त था। जो अहिंसक और सन्मार्गगामी थे उनपर तो उनका वात्सल्य रहता ही था, किन्तु जो अहिंसक और सन्मार्गगामी नही थे—हिंसक एवं कुमार्गगामी थे, उन पर भी उनकी करुणाका प्रवाह बहा करता था। वे किसी भी व्यक्तिको दुं:खी देखकर दु:खकातर हो जाते थे। गत विश्वयुद्धोंकी विनाशलीलाकी खबरें सुनकर उन्हे मर्मान्तिक दु:ख होता था। सन् १९४५ मे जब आजाद हिन्द फौजके सैनिकोंके विरुद्ध राजद्रोहका अभियोग लगाया गया और उन्हे फाँसीके तख्ते पर चढ़ाया जाने वाला था, उस समय सारे देशमें अंग्रेज सरकारके इस कार्यका विरोध हो रहा था और उनकी रक्षाके लिए धन इकट्ठा किया जा रहा था। उस समय वर्णीजी जबलपुरमें थे। एक सार्वजनिक सभामें, जो धन एकत्रित करनेके लिए की गयी थी, वर्णीजी भी उपस्थित थे। उनका हृदय करुणासे द्रवित हो गया और बोले—"जिनकी रक्षाके लिए ४० करोड़ मानव प्रयत्नशील हैं उन्हें कोई शक्ति फाँसीके तख्तेपर नहीं चढ़ा सकती। आप विश्वास रखिए, मेरा अन्त:करण कहता है कि आजाद हिन्द फौजके सैनिकोका बाल भी बाका नहीं हो सकता है।" इतना कहा और अपनी चद्दर (ओढ़नेकी) उनकी सहायताके लिए दे डाली। उसे नीलाम

करने पर एक उनके भक्तने २९००) में ले ली। इसका उपस्थित जनता और अध्यक्ष मध्यप्रदेशके तत्कालीन गृहमंत्री पं० द्वारकाप्रसाद मिश्रपर बड़ा प्रभाव पड़ा। वर्णीजीकी करुणाके ऐसे-ऐसे अनेक उदाहरण हैं।

जगत्कल्याणकी सतत भावना

वर्णीजीमें जो सबसे बड़ी विशेषता थी वह है जगत्के कल्याणकी सतत भावना। विहारसे मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश और दिल्लीकी पदयात्रामें उन्होंने लाखों लोगोंको शराब न पीने, मांस न खाने और हिंसा न करनेका मर्मस्पर्शी उपदेश दिया और उन्होंने उनके इस उपदेशको श्रद्धापूर्वक ग्रहण किया। उनकी इस पद-यात्रामें लोगोंने उन्हें बड़ा आदर दिया और उनके प्रति अपूर्व श्रद्धा व्यक्त की। अनेक जगह उनका श्रद्धापूर्वक उन्होंने आतिथ्य किया। आजके विश्वको त्रस्त देखकर वे हमेशा कहते थे कि 'एक हवाई जहाज लो और साथमें १०।१५ मर्मज्ञ विद्वानोको लो और यूरोपमें जाकर अहिंसा और अपरिग्रह धर्मका प्रचार करो। साथमें हम भी चलनेको तैयार हैं। जहाँ शराब और मांसकी दुकानें है और नाचघर बने हुए हैं वहाँ जाकर सदाचार और अहिंसाका उपदेश करो। आज लोगोंका कितना भारी पतन हो रहा है। देशके लाखों मानवोंका चरित्र इन सिनेमाघरोंसे बिगड रहा है, उन्हें बन्द कराओ और भारतोय पुरातन महापुरुषोंके सदाचारपूर्ण चरित्र दिखाओ।' यह थी वर्णीजीकी विश्वकल्याणकी भावना।

पूज्य वर्णीजीमें ऐसे-ऐसे अनेकों गुण थे, जिनका यहाँ उल्लेख करना शक्य नहीं। वास्तवमें उनका जीवन-चरित्र महापुरुषका जीवन-चरित्र है। इसी लिए उन्हे करोडों नर-नारी श्रद्धापूर्वक नमन करते है। उनके गुण हम जैसे पामरोंको भी प्राप्त हों, यह भावना करते हुए उन्हें मस्तक झुकाते है।

प्रतिभामूर्ति पण्डित टोडरमलजी

महामना आचार्य भूतबलि तथा पुष्पदन्तने षट्खण्डागम सिद्धान्त और आचार्य गुणधरने कसाय-पाहुड सिद्धान्त-ग्रन्थोंका प्रणयन करके भगवान् महावीरके अवशिष्ट तत्त्वज्ञान और सद्धर्मका विस्तार किया था। यह समय लगभग विक्रमकी पहली शताब्दीका है। कुछ शताब्दियों तक इन सिद्धान्त-ग्रन्थोंका पर्याप्त पठन-पाठन बना रहा—इनपर कई टीकाएँ, निबन्ध और रचनाएँ लिखी गई। परन्तु कुछ काल बाद इनका पठन-पाठन विरल हो गया और टीकादि ग्रन्थ लुप्त अथवा अनुपलब्ध हो गये। विक्रमकी नवमी शतीमें जैन वाङ्मयके नभमें एक दीप्तिमान् प्रतिभा-प्रकाशपुञ्ज विद्वन्नक्षत्रका आविर्भाव हुआ, जिसका नाम आचार्य वीरसेन स्वामी है। वीरसेन स्वामीने उक्त सिद्धान्त-ग्रन्थोंपर विद्वत्ता एवं पाण्डित्यपूर्ण विशाल और महान् धवला तथा जयधवला टीकाएँ लिखी, जो लगभग नब्बे हजार श्लोक प्रमाण है। जयधवलाके दो तिहाई भागको जिनसेन स्वामीने लिखा, जो वीरसेन स्वामीके बुद्धिमान प्रधान शिष्य थे। इन टीकाओंके आधारसे विक्रम सं० की ग्यारहवी शताब्दीमें नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने गोम्मटसार सिद्धान्तग्रन्थकी रचना की। गोम्मटसार जैन समाजको इतना प्रिय हुआ कि इसके बननेके बाद विद्वानोंमें प्रायः उसीका पठन-पाठन रहा और केशववर्णी, द्वितीय नेमिचन्द्र, अभयचन्द्र आदि विद्वानाचार्यो द्वारा विस्तृत एवं सरल कनडी तथा संस्कृत टीकाएँ इसपर लिखी गई। इस तरह वीरसेन स्वामी द्वारा पुनः प्रवर्तित सिद्धान्तज्ञान-परम्परा तेरहवीं शताब्दी तक अनवच्छिन्न रूपसे चली आई। परन्तु तेरहवीं शताब्दीके बाद अठारहवी शताब्दी पर्यन्त उसका पठन-पाठन, लिखना-लिखाना प्रायः बन्द हो गया और उनके ज्ञाताओंका अभाव हो गया।

विक्रमकी अठारहवीं शताब्दीके अन्तमें जयपुरकी पवित्र उर्वरा भूमिपर एक दूसरे बहु प्रकाशमान तेजस्वी नक्षत्रका उदय हुआ, जिसका प्रकाश चारों तरफ फैला और जो 'पंडित टोडरमल' इस नामसे विख्यात एवं विश्रुत हुआ। हम इन्हें इनकी असाधारण विद्वत्ता और असाधारण कार्यसे दूसरे वीरसेन स्वामी कह सकते हैं। वीरसेनस्वामीने जैसा धवलादि टीकाओंके निर्माणका कार्य किया, प्रायः वैसा ही इन महाविद्वान् पंडित टोडरमलजीने किया। जब गोम्मटसार, त्रिलोकसार आदि गहन सिद्धान्तग्रन्थोंके जानकार दुर्लभ थे—उनका प्रायः अभाव था और तत्त्वज्ञानपरम्परा विच्छिन्न हो गयी थी, उस समय इन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा और अद्भुत क्षयोपशमसे गोम्मटसारादि सिद्धान्तग्रन्थोंके गहन एवं सूक्ष्म तत्त्वों व रहस्योंको ज्ञातकर उनपर पैंसठ हजार श्लोक प्रमाण 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका' नामकी विशाल भाषा-टीका रची और अनेकों तत्त्वजिज्ञासुओंको उसके मर्मसे परिचित कराया। गुरुमुखसे पढ़कर पढ़े विषयको दूसरोंके लिये समझाना अथवा उसपर कुछ लेखादि लिखना सर्वथा सरल है। परन्तु जिस गहन तथा सूक्ष्म विषयका उस पर्यायमें किसीसे परिचय अथवा ज्ञान नहीं हुआ उस विषयको दूसरोंके लिये बड़ी सरलतासे समझाना अथवा उसपर विस्तृत टीकादि लिखना बिना असाधारण प्रतिभा और पूर्वजन्मीय विलक्षण क्षयोपशमके असम्भव है। उनका बनाया मोक्षमार्गप्रकाशक हिन्दी भाषाका बेजोड़ गद्यग्रन्थ है। भारतीय समग्र हिन्दीगद्य-साहित्यमें इसकी तुलनाका एक भी ग्रन्थ दृष्टिगोचर नहीं होता। क्या भाषा, क्या भाव, क्या पदलालित्य और क्या सरलता सबसे भरपूर है। इस ग्रन्थने जैन परम्परामें थोड़ेसे ही समयमें वह महत्त्व प्राप्त कर लिया है जो हिन्दुओंके यहाँ गीताने, मुसलमानोंके यहाँ कुरानने और ईसाइयोंके यहाँ बाईबिलने प्राप्त किया है। काश! यदि यह ग्रन्थ अधूरा न

रहता, पण्डितजी उसे पूरा कर जाते, तो वह अकेला ही हजार ग्रन्थोंको पढ़नेकी जरूरतको पूरा कर देता। फिर भी वह जितना है उतना भी गीतादि जैसा महत्त्व रखता है। पण्डितजीने इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय आदि ग्रन्थोंपर भी टीकाएँ लिखी हैं और इस तरह वीरसेनस्वामीकी तरह इनकी समग्र रचनाओं-का प्रमाण लगभग एक लाख श्लोक जितना है। ऐसे असाधारण विद्वान्‌को प्रतिभामूर्ति एवं दूसरे वीरसेन-स्वामी कहना कोई अत्युक्ति नहीं है। सिर्फ अन्तर यही है कि एक आचार्य हैं तो दूसरे गृहस्थ। एकने स्वतंत्र संस्कृत व प्राकृतमें टीकाएँ लिखी तो दूसरेने पूर्वाधारसे राष्ट्रभाषा हिन्दीमें। लेखनका विस्तार, समा-लोचकता, शकासमाधानकारिता, दार्शनिक-विज्ञता, सिद्धान्त-मर्मज्ञता, वीतरागधर्मकी अनन्य-उपासकता तथा परोपकारभावना दोनों विद्वानोंमें निहित हैं। दोनोंका साहित्य ज्ञाननिधि है और दोनों ही अपने-अपने समयके खास युगप्रवर्त्तक हैं। अतएव पण्डित टोडरमलजीको आचार्य अथवा ऋषि नहीं तो आचार्यकल्प अथवा ऋषिकल्प तो हम कह ही सकते हैं।

पण्डितजी इतने प्रतिभावान् होते हुए भी जब अपनी लघुता प्रकट करते हैं और अपनेको 'मन्द बुद्धि' लिखते हैं तो उनकी सात्त्विकता, प्रामाणिकता और निरभिमानताका मूर्तिमान चित्र सामने आ जाता है। उनकी इन पंक्तियोंको पढ़िये—

"जातै गौम्मटसारादि ग्रन्थनि विषैं संदृष्टिनि करि जो अर्थ प्रकट किया है सो संदृष्टिनिका स्वरूप जानै विना अर्थ जाननेमें न आवें तातै मेरी मति अनुसारि किंचिन्मात्र अर्थ संदृष्टिनिका स्वरूप कहौ हौं तहाँ जो किछू चूक होइ सो मेरि मद बुद्धिकी भूलि जानि बुद्धिवंत कृपा करि शुद्ध करियो"—अर्थसदृष्टिअधिकार।

यही कारण है कि साधर्मी भाई रायमलके[1], जो पण्डितजीके गोम्मटसारादिकी टीका लिखनेमें प्रेरक थे और जैन शासनके सार्वत्रिक प्रचारको उत्कट भावनाको लिये हुए एक विवेकवान धार्मिक सत्पुरुष थे, लिखे अनुसार पण्डितजीके पास देश-देशके प्रश्न आते थे और वे उनका समाधान करके उनके पास भेजते थे। इनकी इस परिणतिका ही यह प्रभाव था कि उस समय जयपुरमें जो जैनधर्मकी महिमा प्रवृत्त हो रही थी वह रायमल साधर्मीके शब्दोंमें 'चतुर्थ कालवत्' थी।

यदि इस प्रतिभामूर्ति विद्वान्‌का उदय न हुआ होता तो आज जो गोम्मटसारादि ग्रन्थोंके अभ्यासी विद्वान् व स्वाध्यायप्रेमी दिख रहे हैं वे शायद एक भी न दिखते और जयपुर बादको पं० जयचन्दजी, सदा-सुखजी आदि विद्वन्मणियोंको पैदा न कर पाता। इस सबका श्रेय जयपुरके इसी महाविद्वान्‌को है। साधर्मी भाई रायमलने यह ठीक ही लिखा है[2] कि—"अबारके अनिष्ट काल विषै टोडरमलजीके ज्ञानका क्षयोपशम विशेष भया। ए गोम्मटसार ग्रन्थका बंचना पाँच सै बरस पहली था। ता पीछे बुद्धिकी मंदता करि भाव सहित बंचना रहि गया। अबै फेरि याका उद्योत भया। बहुरि वर्तमान काल विषै यहाँ धर्मका निमित्त है तिसा अन्यत्र नाहीं।"

पण्डित टोडरमलजी भारतीय साहित्य और जैन वाङ्मयके इतिहासमें एक महाविद्वान् और महा-साहित्यकारके रूपमें सदा अमर रहेंगे। उनके सिद्धान्तमर्मज्ञता, समालोचकता और दार्शनिक अभिज्ञता आदि कितने ही ऐसे गुण हैं, जिनपर विस्तृत प्रकाश डालना चाहता था; परन्तु समयाभाव और शीघ्रताके कारण उसे इस समय छोड़ना पड़ रहा है। वस्तुतः पं० टोडरमलजीपर एक स्वतंत्र पुस्तक ही लिखी जाना चाहिए, जैसी तुलसीदासजी आदिपर लिखी गई है।

१-२. देखो, 'साधर्मी भाई रायमल' लेखगत उनका आत्मपरिचयात्मक लेखपत्र, वीर-वाणी वर्ष १, अंक २।

श्रुत-पञ्चमी

श्रीवृषभादिवीरान्तं रागद्वेषविवर्जितम् ।
जिनं नत्वा गुरुं चेति श्रुतं नौमि जिनोद्भवम् ।।

दिगम्बरजैनपरम्परायां महावीर-जन्मयुत्सववदेव श्रुत-पञ्चम्युत्सवोऽपि महताऽऽदरेण प्रतिवर्षं सोल्लासं सम्पद्यते । तद्दिवसे स्वे स्वे स्थाने सर्वे जैनाः सम्भूय श्रुतपूजां प्रकुर्वते । श्रुतोत्पत्तेश्चैतिह्यमाकर्णयन्ति । तन्माहात्म्यं चावधारयन्ति । प्रसीदन्ति च मुहुर्मुहुः स्वमनस्सु । धन्योऽयं दिवसः । धन्यास्ते महाभागाः यैरस्मिन् दिवसेऽस्मत्कृते स्वहितप्रदर्शकः श्रुतालोकः प्रदत्तः । यदालोकेनाद्यावधि पश्यामो वयं स्वहितस्य पन्थानम् । यदि नाम न स्याच्छ्रुतालोकोऽयं न जाने पथभ्रष्टाः सन्तः क्व गच्छेम वयम् । **'न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति'** इति सतां वचनमनुस्मृत्यास्माभिः श्रुतदेवताजन्मदातुः स्मरणार्थं स्वस्य कृतज्ञताप्रकाशनार्थं चेदं श्रुतपञ्चमीतिपर्व सवैशिष्टयं सम्पादनीयम् । सततं श्रुताभ्यास-पठन-पाठनदत्तचेतोभिश्च भाव्यम् । सर्वत्र च श्रुतप्रचारः कार्यः । केवलमेकत्र स्थाने शास्त्राण्येकीकृत्य तेभ्य अर्घप्रदानं न श्रुतपूजा श्रुतोपासना वा, अपितु नित्यं प्रसन्नेन मनसा शास्त्राध्ययन गृहे गृहे शास्त्रप्रवेशः शास्त्रदानं शास्त्रप्रकाशनं चेत्येवं श्रुतप्रचारः श्रुतप्रसारो वा श्रुतपूजा विज्ञेया । श्रावकस्य षडावश्यकेषु **'देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्यायः संयमस्तपः ।'** इत्यादिना स्वाध्यायस्यावश्यककर्तव्यत्वेन निर्देशः कृतः । श्रावकाचार-साध्वाचारमर्मज्ञेन विदुषा श्रीमदाशाधरेण श्रुतपूजा देवपूजातुल्यैवाभिहिता—

ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या ते यजन्ते जिनमञ्जसा ।
न किञ्चिदन्तरं प्राहुराप्ता हि श्रुतदेवयोः ।।

—सागारधर्मामृते २–४४ ।

स्वामिसमन्तभद्राचार्येणाप्युक्तं देवागमे—

स्याद्वाद-केवलज्ञाने सर्वतत्त्व-प्रकाशने ।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ।।१०५।।

अतएव पूजा-भक्त्यादिषु श्रुतस्यैव भक्तिः प्रार्थिता, न मत्यादिचतुष्टयस्य, संसारवारकत्वाभावात् मोक्षकारणत्वाभावाच्च । श्रुतस्य तु तदुभयकार्यकारित्वात् । तथा हि—

श्रुते भक्तिः श्रुते भक्तिः श्रुते भक्तिः सदाऽस्तु मे ।
सज्ज्ञानमेव संसारवारणं मोक्षकारणम् ।।

इत्थं श्रुतस्य माहात्म्यं विदितमेव ।

साम्प्रतं श्रुतोत्पत्तेः किञ्चिदैतिह्यं विलिख्यते । यद्यपि श्रुतावतारादिग्रन्थेषु श्रुतोत्पत्तेरैतिह्यं निबद्धमेव तथापि सर्वजनावबोधार्थमत्र संक्षेपतः तन्निगद्यते । तथा हि—

षट्खण्डागमस्य टीकायां धवलायां वीरसेनाचार्येण कर्तृविवेचनप्रसङ्गेन कर्ता द्विविधः प्रोक्तः—अर्थकर्ता ग्रन्थकर्ता च । तत्रार्थकर्ता द्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया चतुर्विधो निरूपितः—द्रव्यकर्ता क्षेत्रकर्ता कालकर्ता भावकर्ता च । अष्टादशदोषविमुक्तश्चतुर्विधोपसर्गद्वाविंशतिपरीषहातिक्रान्तो योजनान्तरदूरसमीपस्थाष्टादशभाषासप्तशत-

क्षुल्लकभाषासमन्वितत्तिर्यग्देवमनुष्यभाषाकारन्यूनाधिकभावातीतमधुरमनोहरगम्भीरविशदवागतिशयसम्पन्नः शतेन्द्रप्राप्तपूजातिशयो महावीरोऽर्थकर्ता। क्षेत्रतोऽर्थकर्ता पञ्चशैलपुरे (राजगृहनगरसमीपे) रम्ये पर्वतोत्तमे विपुलाचले भव्यलोकानां हितार्थं महावीरेणार्थः कथितः। इत्थं स एव विपुलाचलस्थो भव्यजीवानामर्थोपदेशको महावीरः क्षेत्रकर्ता विज्ञेयः। कालतोऽर्थकर्ताऽभिधीयते—

इम्मिस्से वसप्पिणोए चउत्थ-समयस्स पच्छिमे भाए।
चोतीस-वास-सेसे किंचि वि सेसूणए संते ॥
वासस्स पढममासे पक्खम्मि सावणे बहुले।
पाडिवद-पुव्व-दिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजम्मि ॥

आभ्यां गाथाभ्यामिदमुक्तम्—अस्यामवसर्पिण्यां चतुर्थकालस्य दुःषमासुषमानामकस्यान्तिमे भागे किञ्चिन्न्यूनचतुस्त्रिंशद्वर्षविशेषे वर्षस्य प्रथममासे श्रावणेऽसितपक्षे प्रतिपद्दिवसे पूर्वाह्णेऽभिजिन्नक्षत्रे धर्मतीर्थोत्पत्तिः (वीरशासनोत्पत्तिः) जाता। तात्पर्यमिदं यच्छ्रावणकृष्णप्रतिपद्दिवसे भगवता तीर्थंकरेण महावीरेण स्वदिव्यध्वनिना भव्यलोकस्य हितमुपदिष्टमिति। अतएव श्रावणकृष्णप्रतिपद्दिवसः समग्रजैनसंसारे **'वीर-शासन-जयन्ति'** इति नाम्ना पर्व प्रख्यातिमवाप। वीरजयन्तिवद्वीरशासनजयन्त्यपि सम्प्रति क्वचित्क्वचित् समायुज्यते जैनैः। इदानी भावतोऽर्थकर्ता निरूप्यते—कर्मचतुष्टयमुक्तोऽनन्तचतुष्टयसम्पन्नो नवकेवललब्धिसंयुतो महावीरो भावश्रुतमुपदिशतीति भावतोऽर्थकर्ता समभिधीयते। तेन महावीरेण केवलज्ञानिना कथितार्थस्तस्मिन्नेव काले तत्रैव क्षेत्रे क्षायोपशमिकमत्यादिज्ञानचतुष्टयसम्पन्नेन जीवाजीवविषयसन्देहविनाशनार्थमुपगतवर्द्धमान-पादमूलेन गौतमेन्द्रभूतिनाऽवधारितः। इत्थं श्रुतपर्यायेण परिणतो गौतमो द्रव्यश्रुतस्य कर्ता। तस्माद् गौतमाद् ग्रन्थरचना जाता इति। तेन गौतमेन द्विविधमपि श्रुतं लोहार्यस्य संचारितम्। तेनापि जम्बूस्वामिनः। एवं परिपाटीक्रमेण एते त्रयोऽपि महाभागाः सकलश्रुतधारका भणिताः। परिपाटीक्रममनवेक्ष्य च संख्यातसहस्राः सकलश्रुतधारका बभूबुः। गौतमदेवो लोहार्यो जम्बूस्वामी चैते त्रयोऽपि सप्तविधलब्धिसम्पन्नाः सकलश्रुतपारंगता भूत्वा केवलज्ञानमवाप्य निर्वृतिं (मुक्तिं) प्रापुः। ततो विष्णुनन्दिमित्रादयः पञ्चापि चतुर्दशपूर्वधारका जाताः। तदनन्तरं विशाखाचार्यादय एकादशाचार्या एकादशानामङ्गानामुत्पादपूर्वादिदशपूर्वाणां च पारंगताः संजाताः। शेषोपरिमचतुर्णां पूर्वाणामेकदेशधराश्च। ततो नक्षत्राचार्यादयः पञ्चाचार्या एकादशानामङ्गानां पारंगताश्चतुर्दशानां च पूर्वाणामेकदेशज्ञातारः सम्भूताः। ततः सुभद्रादयश्चात्वार आचार्याः सामस्त्येनाचाराङ्गधारकाः शेषाङ्गपूर्वाणामेकदेशधारकाः समभवन्। एतेषां सर्वेषां कालः ६८३ वर्षपरिमितः। वीरनिर्वाणात् ६८३ वर्षाणि यावदङ्गश्रुतज्ञानमवस्थितम्।

ततः सर्वेषामङ्गानां निखिलपूर्वाणां चैकदेशः श्रुतबोध आचार्यपरम्परया धरसेनाचार्य सम्प्राप्त इति। तेन धरसेनाचार्येण श्रुतवत्सलेनाष्टाङ्गमहानिमित्तपारंतेन ग्रन्थविच्छेदो भविष्यतीति जातश्रुतविच्छेदभयेन महिमानगर्यां समायोजिते विशिष्टधर्मोत्सवे सम्मिलितानां दक्षिणापथाचार्याणां समीपे एको लेखः (पत्रात्मकः) प्रेषितः। तल्लेखात् धरसेनाचार्यस्य श्रुतरक्षणाभिप्रायं विज्ञाय तैराचार्यैर्विद्याग्रहण-धारणसमर्थौ धवलामलबहुविधविनयविभूषिताङ्गौ सुशीलौ देश-कुल-जातिशुद्धौ सकलकलापारंगतौ द्वौ साधू धरसेनाचार्यसमीपे सौराष्ट्रदेशस्थे गिरिनगरे प्रेषितौ। निशायाः पश्चिमे प्रहरे धरसेनाचार्येणातिविनयसम्पन्नौ धवलवर्णौ शुभौ द्वौ वृषभौ स्वप्ने दृष्टौ। एवंविधं सुस्वप्नं दृष्ट्वा प्रसन्नेन चेतसा धरसेनाचार्येण **'जयउ सुयदेवदा'**—जयतु श्रुतदेवतेति संलपितम्। तस्मिन्नेव दिवसे प्रातः तौ द्वावपि साधू समागतौ। ताभ्यां धरसेनाचार्यस्य पूर्णतया विनयाचारो विहितः। तथापि तयोः परीक्षणार्थं सुपरीक्षा हि हृदयसन्तोषकरेति सञ्चिन्त्य हीनाधिकवर्णयुक्ते द्वे विद्ये साधयितुं प्रदत्ते। तौ प्रत्युक्तं चैते विद्ये षष्ठोपवासेन साधनीये। तदनन्तरं तयोर्द्वे विकृताङ्गे विद्यादेवते

दृष्टिपथमाजग्मतुः । तयोर्मध्ये एकोद्गतदन्ता अपरैकनेत्रा । न चैषो देवतानां स्वभाव इति विचिन्त्य मंत्रव्याकरण-शास्त्रकुशलाभ्यां ताभ्यां ते विद्ये शुद्धीकृत्य पुनः साधिते । ततश्च ते विद्यादेवते स्वस्वभावस्थिते दृष्टे । पुनस्ताभ्यां सर्वमेतद्वृत्तं धरसेनाचार्यं प्रति निवेदितम् । धरसेनाचार्येण ज्ञातश्रुतग्रहणयोग्यताविशिष्टपात्रेण सन्तुष्टेन शुभतिथौ शुभनक्षत्रे शुभदिवसे ताभ्यां सिद्धान्तग्रन्थः प्रारब्धः । पुनः क्रमेण व्याचक्षमाणेन तेन धरसेनाचार्येणाषाढमासशुक्लपक्षैकादशम्यां पूर्वाह्णे ग्रन्थः समाप्तिं नीतः । तेन सन्तुष्टैर्भूतविशेषैर्देवैस्तदा तयोर्मध्ये एकस्य बलि (नैवेद्य) पुष्पादिभिः महती पूजा कृता । तेनाचार्येण धरसेनेनैकस्य **भूतबलीति** नाम कृतम् । अपरस्य भूतविशेषैर्देवैरेव पूजितस्य समीकृतास्तव्यस्तदन्तस्य **पुष्पदन्त** इति संज्ञा कृता । एताभ्यामेवाचार्याभ्यां षट्खण्डागमस्य धरसेनाचार्यतः पठितस्य ग्रन्थ-रचना कृता । यद्यपि अल्पायुष्केण पुष्पदन्ताचार्येण बिंशति-प्ररूपणासमन्वितसत्प्ररूपणाया एव सूत्राणि रचितानि, भूतबल्याचार्यस्य सविधे जिनपालितद्वारा प्रेषितानि च, भगवता भूतबलिभट्टारकेण महाकर्मप्रकृतिप्राभृतस्य विच्छेदो भविष्यतीति विचार्य द्रव्यप्रमाणानुगमादि-निखिलषट्खण्डागमश्रुतस्य निबन्धन कृतम्, तथापि खण्डसिद्धान्तापेक्षया तावुभावाचार्यौ श्रुतस्य (षट्खण्डागमस्य) कर्त्तारावभिधीयेते ।

एवं मूलग्रन्थकर्ता वर्द्धमानभट्टारकः, अनुग्रन्थकर्ता गौतमस्वामी, उपग्रन्थकर्तारो भूतबलि-पुष्पदन्तादयो वीतराग-द्वेष-मोहा मुनिवरा इत्यवधेयम् । श्रुतनिबन्धनविषयकमेतावन्मात्रमेव वृत्तं वीरसेनाचार्येण धवलाटीकायां निबद्धमस्ति । अतस्तदुक्तवचनात् श्रुतारम्भतिथिर्न विज्ञायते । तस्मात्तु केवलमिदमेवावगम्यते यच्छुभतिथौ शुभनक्षत्रे शुभवारे ताभ्यां श्रुताभ्यासः समारब्धः । आषाढमासशुक्लपक्षैकदशम्यां च समाप्तिं नीतः ।

किन्तु श्रीमदिन्द्रनन्दिकृते श्रुतावतारे पुस्तकाकारेण निबद्धस्य श्रुतस्य (षट्खण्डागमस्य) तिथेः स्पष्टतयोल्लेखः कृतः । तथा हि—

ज्येष्ठसितपक्षपञ्चम्यां चातुर्वर्ण्यसंघसमवेतः ।
तत्पुस्तकोपकरणैर्व्यधात् क्रियापूर्वकं पूजाम् ।।
श्रुतपञ्चमीति तेन प्रख्यातिं तिथिरियं परामाप ।
अद्यापि येन तस्यां श्रुतपूजां कुर्वते जैनाः ।।

अत एतत्प्रमाणाज्ज्येष्ठशुक्ला पञ्चमी समुपलब्धस्य निबद्धश्रुतस्य तिथिरिति निश्चीयते । अत्र सन्देहस्य किमपि कारणं नास्ति; तद्वचनस्य प्रामाण्याङ्गीकारात् ततोऽस्या तिथौ श्रुतपञ्चमीसमारोहः सर्वैर्जैनैः समुल्लासपूर्वकं समायुज्यते ।

जम्बूजिनाष्टकम्[1]

यदीयबोधे सकलाः पदार्थाः समस्तपर्ययियुता विभान्ति ।
जितारिकर्माष्टकपापपुञ्जो जिनोऽस्तु जम्बूर्मम मार्गदर्शी ॥१॥
अभूत्कलाबन्तिमकेवली यो निरस्तसंसारसमस्तमायः ।
समुज्ज्वलत्केवलबोधदीपो जिनोऽस्तु जम्बूर्ममार्गदर्शी ॥२॥
विहाय यो बाल्यवयस्यसीमान्भुजङ्गभोगान्करुणान्तरात्मा ।
प्रपन्न-निर्वेद-दिगम्बरत्वो जिनोऽस्तु जम्बूर्मम मार्गदर्शी ॥३॥
कृते विवाहेऽपि धृतो न कामो अणोरणीयानपि भोगवर्गे ।
निजात्महितभावनया प्रबुद्धो जिनोऽस्तु जम्बूर्मम मार्गदर्शी ॥४॥
वार्तां यदीयां विनिशम्य नक्तं चौरोऽपि[2] चौरत्वमपास्य यस्य ।
सम्पर्कमासाद्य मुनिर्बभूव जिनोऽस्तु जम्बूर्मम मार्गदर्शी ॥५॥
जिनेन्द्रदीक्षां सुखदां गृहीत्वा निहत्य यः कर्मचतुष्टयं च ।
यः केवली भव्यहितोऽन्तिमोऽसौ जिनोऽस्तु जम्बूर्मम मार्गदर्शी ॥६॥
हितोपदेशं कुर्वन् हितैषी समानयद्धर्मपथे सुलोकान् ।
समन्ततो यो विजहार लोके जिनोऽस्तु जम्बूर्मम मार्गदर्शी ॥७॥
स्वयंवृतो मुक्तिरमाविलासैः सद्यो विमुक्तो मथुरापुरीतः ।
स विश्वचक्षुर्विबुधेन्द्रवन्द्यो जिनोऽस्तु जम्बूर्मम मार्गदर्शी ॥८॥

●

---

१. जब मैं सन् १९४०-४२ में मथुराके ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम (जैन गुरुकुल) मे दो वर्ष प्राचार्य रहा, तभी यह 'जम्बू-जिनाष्टक' रचा था। आश्रमके छात्र इसे प्रार्थनाके रूपमें शामको मन्दिरजीमें बोलते थे। यद्यपि जम्बूस्वामीका मोक्ष विपुलगिरि (राजगृह, बिहार) से हुआ है, तथापि चौरासी, मथुरासे उनके मोक्ष होनेकी अनुश्रुति होनेसे उसी आधारपर यह रचा गया था।

२. विद्युच्चरः।

दशलक्षण धर्म

अग्निके संयोगसे पानी गर्म हो जाता है और उसके असंयोगमें वह ठण्डा रहता है। ठण्डापन पानीका निज स्वभाव है, उसका अपना धर्म है और गर्मपना उसका स्वभाव नहीं है, विभाव है, अधर्म है। वस्तुका अपनी प्राकृतिक (स्वाभाविक) अवस्थामें रहना उसका अपना स्वरूप है, धर्म है। पानीको अग्निका निमित्त न मिले तो पानी हमेशा ठण्डा ही रहेगा, वह कभी गर्म न होगा।

इसी तरह कर्मके निमित्तसे आत्मामें क्रोध, मान, माया और लोभ आदि विकार (विभाव) उत्पन्न होते हैं। यदि आत्माके साथ कर्मका संयोग न रहे तो उसमें न क्रोध, न मान, न माया और न लोभादि उत्पन्न होंगे। इससे जान पड़ता है कि आत्मामें उत्पन्न होनेवाले ये संयोगज विकार हैं। अतएव ये उसके स्वभाव नहीं हैं, विभाव हैं, अधर्म हैं। कर्मकी प्रागभाव और प्रध्वंसाभावरूप अवस्थामें वे विकार नहीं रहते। उस समय वह अपने क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच आदि निज स्वभावमें स्थित होता है। यथार्थमें वस्तुका असली स्वभाव उसका धर्म है और नकली—औपाधिक स्वभाव अर्थात् विभाव उसका अधर्म है। आचार्य कुन्दकुन्दने स्पष्ट कहा है कि **'वत्थु-सहावो धम्मो'** वस्तुका स्वभाव धर्म है और विभाव अधर्म। आत्माका असली स्वभाव क्षमादि है, इसलिए वह उसका धर्म है और क्रोधादि उसका नकली स्वभाव अर्थात् विभाव है, अतः वह उसका अधर्म है।

इस सामान्य आधारपर जीवोंको अपने स्वभावमें स्थित रहनेका और कर्मजन्य विभावोंसे दूर रहने अथवा उनका सर्वथा त्याग कर देनेका उपदेश दिया गया है।

आत्मामें कर्मके निमित्तसे यों तो अनगिनत विकार प्रादुर्भूत होते हैं। पर उन्हें दश वर्गों (भागों)में विभक्त किया जा सकता है। वे दश वर्ग ये हैं :

१. क्रोध वर्ग	६. हिंसा वर्ग
२. मान वर्ग	७. काम वर्ग
३. माया वर्ग	८. चोरी वर्ग
४. लोभ वर्ग	९. परिग्रह वर्ग
५. झूठ वर्ग	१०. अब्रह्म वर्ग

मुमुक्षु (गृहस्थ या साधु) जब आत्म-स्वभावको प्राप्त करनेके लिए तैयार होता है तो वह उक्त क्रोधादिको अहितकारी और क्षमादिको हितकारी जानकर क्रोधादिसे निवृत्ति तथा क्षमादिकमें प्रवृत्ति करता है। सर्वप्रथम वह क्षमाको धारण करता है और क्रोधके त्यागका केवल अभ्यास ही नहीं करता, अपितु उसमें प्रगाढ़ता भी प्राप्त करता है। इसी तरह मार्दवके पालन द्वारा अभिमानका, आर्जवके आचरण द्वारा मायाका, शौचके अनुपालन द्वारा लोभका, सत्यके धारण द्वारा झूठका, संयमको अपनाकर हिंसाका, तपोमय वृत्तिके द्वारा काम (इच्छाओं) का, त्यागधर्मके द्वारा चोरीका, आकिंचन्यकी उपासना द्वारा परिग्रहका और ब्रह्मचर्य पालन द्वारा अब्रह्मका निरोध करता है और इस प्रकार वह क्षमा आदि दश धर्मोंके आचरण द्वारा क्रोध आदि दश आत्म-विकारोंको दूर करनेमें सतत संलग्न रहता है। ज्यों-ज्यों उसके क्षमादि गुणोंकी वृद्धि होती

जाती है त्यों-त्यों उसके वे क्रोधादि विकार भी अल्पसे अल्पतर और अल्पतम होते हुए पूर्णतः अभावको प्राप्त हो जाते हैं। जब उक्त गुण सतत अभ्यासके पूर्णरूपमें विकसित हो जाते हैं तो उस समय आत्मामें कोई विकार शेष नहीं रहता और आत्मा, परमात्मा बन जाता है। जब तक इन विकारोंका कुछ भी अंश विद्यमान रहता है तब तक वह परमात्माके पदको प्राप्त नहीं कर सकता।

जैन दर्शनमें प्रत्येक आत्माको परमात्मा होनेका अधिकार दिया गया है और उसका मार्ग यही 'दश धर्मका पालन' बतलाया गया है। इस दश धर्मका पालन यों तो सदैव बताया गया है और साधुजन पूर्णरूपसे तथा गृहस्थ आंशिक रूपसे उसे पालते भी हैं। किन्तु पर्यूषण पर्व या दशलक्षण पर्वमें उसकी विशेष आराधना की जाती है। गृहस्थ इन दश धर्मोंकी इन दिनों भक्ति-भावसे पूजा करते हैं, जाप देते हैं और विद्वानोंसे उनका प्रवचन सुनते हैं। जैनमात्रकी इस पर्वके प्रति असाधारण श्रद्धा एवं निष्ठा-भाव है। जैन धर्ममे इन दश धर्मोंके पालनपर बहुत बल दिया गया है।
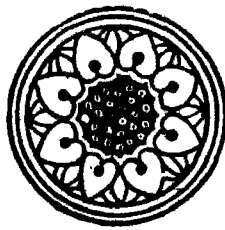
क्षमावणी : क्षमापर्व

भारतवर्षमें प्राचीनकालसे दो संस्कृतियोंकी अविराम-धारा बहती चली आ रही है। वे दो संस्कृतियाँ हैं—१ वैदिक और २. श्रमण। 'संस्कृति' शब्दका सामान्यतया अर्थ आचार-विचार और रहन-सहन है। जिनका आचार-विचार और रहन-सहन वेदानुसारी है उनकी संस्कृति तो वैदिक संस्कृति है तथा जिनका आचार-विचार और रहन-सहन श्रमण-परम्पराके अनुसार है उनकी संस्कृति श्रमण-संस्कृति है। 'श्रमण' शब्द प्राकृत भाषाके 'समण' शब्दका संस्कृतरूप है। और यह 'समण' शब्द दो पदोंसे बना है—एक 'सम' और दूसरा 'अण', जिनका अर्थ है सम—इन्द्रियों और मनपर विजयकर समस्त जीवोंके प्रति समता भावका 'अण'—उपदेश करनेवाला महापुरुष (महात्मा-सन्त-साधु)। ऐसे आत्मजयी एवं आत्मनिर्भर महात्माओं द्वारा प्रवर्तित आचार-विचार एवं रहन-सहन ही श्रमण-संस्कृति है। इन श्रमणोंका प्रत्येक प्रयत्न और भावना यह होती है कि हमारे द्वारा किसी भी प्राणीको कष्ट न पहुँचे, हमारे मुखसे कोई असत्य वचन न निकले, हमारे द्वारा स्वप्नमे भी परद्रव्यका ग्रहण न हो, हम सदैव ब्रह्मस्वरूप आत्मामे ही रमण करें, दया, दम, त्याग और समाधि ही हमारा धर्म (कर्त्तव्य) है, परपदार्थ हमसे भिन्न है और हम उनके स्वामी नही हैं। वास्तवमें इन श्रमणोंका प्रधान लक्ष्य आत्म-शोधन होता है और इसलिए वे इन्द्रिय, मन और शरीरको भी आत्मीय नही मानते—उन्हें भौतिक मानते है। अतः जिन बातोंसे इन्द्रिय, मन और शरीरका पोषण होता है या उनमे विकार आता है, उन बातोंका श्रमण त्याग कर देता है और सदैव आत्मिक चरम विकासके करनेमे प्रवृत्त रहता है। यद्यपि ऐसी प्रवृत्ति एवं चर्या साधारण लोगोंको कुछ कठिन जान पढ़ेगी। किन्तु वह असाधारण पुरुषोंके लिए कोई कठिन नही है।

संसारमें रहते हुए परस्पर व्यवहार करनेमें चूक होना सम्भव है और प्रमाद तथा कषाय (क्रोध, अहंकार, छल और लोभ) की सम्भावना अधिक है। किन्तु विचार करनेपर मालूम होता है कि न प्रमाद अच्छा है और न कषाय। दोनोंसे आत्माका अहित ही होता है—हित नही होता। यहाँ तक कि उनसे पर-का भी अहित हो सकता है—दूसरोंको कष्ट पहुँच सकता है और उनसे उनके दिल दुःखी हो सकते हैं तथा उनके हृदयको आघात पहुँच सकता है।

अतएव इन श्रमणोंने अनुभव किया कि दैवसिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक और वार्षिक ऐसे आयोजन किये जायें, जिनमे व्यक्ति अपनी भूलोंके लिए दूसरोंसे क्षमा मागे और अपनेको कर्मबन्धनसे हलका करे। साधु तो दैवसिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमण (क्षमायाचना) करते हैं। पर गृहस्थोंके लिए वह कठिन है। अतएव वे ऐसा वार्षिक आयोजन करते है जिसमे वे अपनी भूल-चूक-के लिए परस्परमें क्षमा-याचना करते हैं। यह आयोजन उनके द्वारा सालमे एक बार उस समय किया जाता है, जब वे भाद्रपद शुक्ला ५मीसे भाद्रपद शुक्ला १४ तक दश दिन क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन दश धर्मके अंगोंकी सभक्ति पूजा, उपासना और आराधना कर अपनेको सरल और द्रवित बना लेते हैं। साथ ही प्रमाद और कषायको दुःखदायी समझकर उन्हें मन्द कर लेते है तथा रत्नत्रय (सम्यक् दृष्टि, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचार)को आत्माकी उपादेय निधि मानते हैं। फलतः वे कषाय या प्रमादसे हुई अपनी भूलोंके लिए एक-दूसरेसे क्षमा मांगते और स्वयं उन्हें

क्षमा करते हैं। ऐसे आयोजनको 'क्षमापर्व' कहते हैं और वह भाद्र मासकी समाप्तिपर आश्विन कृष्ण १ को मनाया जाता है। इस दिन सभी श्रमणोपासक—गृहस्थ और श्रमणोपासिका—गृहस्थनी एक-दूसरेसे अपनी एक सालकी भूलोंके लिए क्षमा-याचना करते हैं और उस समय निम्न मार्मिक भाव-व्यक्त करते हैं—

खम्मामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूदेसु वैरं मज्झं ण केणचिद॥

'मैं समस्त जीवोंको क्षमा करता हूँ और वे मुझे क्षमा करें। समस्त जीवोंपर मेरा मैत्रीभाव है, किसीके साथ मेरा वैर नहीं है।'

इस प्रकारसे क्षमाके वचन—वाणीका परस्परमें व्यवहार होनेसे इस 'क्षमा पर्व'को 'क्षमावाणी' पर्व तथा उस दिन क्षमाकी अवनी—भूमि स्वयं बनने-बनानेसे 'क्षमावनी' या 'क्षमावणी' पर्व भी कहते हैं। निःसन्देह यह पर्व वर्षोंसे या एक वर्षके भरे हुए मनके कालुष्य—मलको धो देता है और मित्रता एवं बन्धुत्वभावको स्थापित करता है।
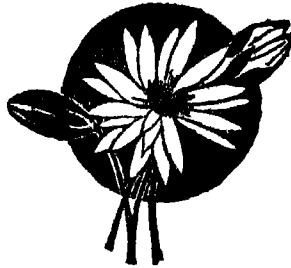
वीरनिर्वाण पर्व : दीपावली

भारतीय संस्कृति अध्यात्मप्रधान होनेके कारण यहाँ प्रत्येक पर्वकी अपनी-अपनी कुछ विशेषता है और उन पर्वोंका सम्बन्ध किसी-न-किसी महापुरुषसे है, जो विश्वको कुछ देता है। तात्पर्य यह कि भारतीय पर्व प्रायः महापुरुषोंसे सम्बन्धित हैं और वे उनकी स्मृतिमे स्थापित हुए हैं।

यहाँ पर्वोंसे हमारा अभिप्राय विशेषतया नैतिक एवं धार्मिक पर्वोंसे है। यों तो लौकिक और सामाजिक पर्वोंकी भारतवर्षमें और प्रत्येक जातिमें कमी नही है। इनमें कितने ही परम्परागत हैं और जिन्हें जनसमुदाय आज भी अपनाये हुए है। पर उनमें कितना तथ्यांश है, यह कह सकना कठिन है। एक परीक्षक बुद्धि अवश्य उनकी सचाई या असचाईको आंक सकती है। यह अवश्य है कि इन पर्वोंसे लोगोंको मनोविनोद और इन्द्रियपोषणकी सामग्री सहजरूपमें मिल जाती है। किन्तु उनसे न विवेक जागृत होता है और न आध्यात्मिकता जगती है, जो जीवनको उन्नत और वास्तविक सुखी बनानेके लिए आवश्यक हैं।

पर जिन पर्वोंके बारेमे हम यहाँ चर्चा कर रहे हैं वे हैं धार्मिक और नैतिक पर्व। इन पर्वोंसे अवश्य हमारा विवेक जागृत होता है, चेतना जागती है और हम गलत मार्गसे सही मार्गपर आ जाते हैं। इन पर्वोंसे अध्यात्मप्रेमियोंको नीति, धर्म और अध्यात्मकी शिक्षा मिलती है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि कितने लोग इस सांचेमे ढलते हैं और निश्छल भावसे अपनेको आध्यात्मिक बनाते है। प्रायः देखा जाता है कि इन धार्मिक एवं नैतिक पर्वोंके अवसर पर, जब उनसे पूरी धार्मिकता सीखनी चाहिए, मनो-विनोद और अप्रत्यक्षतः इन्द्रियपोषणके आयोजन किये जाते हैं। लगता है कि हमारी मनोदशा उत्तरोत्तर ऐसी होती जा रही कि भोगोंका त्याग भी न करना पड़े और धर्म एवं नीतिका पालन भी हो जाये। इस प्रसंगमें पाहुडदोहाकारका निम्न वचन याद आ जाता है—

> वेपंथेहिं ण गम्मई वेमुहसूई ण सिज्जए कंथा।
> विण्णि ण हुंति अयाणा इंदियसोक्खं च मोक्खं च ॥

—पा० दो० २१३।

'दो रास्तोंसे जाना नहीं होता, दो मुखोसे सुई कथरी नही सीती। हे अजान ! इसी तरह ये दो कार्य नहीं हो सकते कि इन्द्रियसुख भी प्राप्त हो और मोक्ष भी मिल जाय। इनमेसे प्रथम मार्गपर चलनेसे संसार होगा और दूसरे मार्ग (भोगत्याग) से मोक्ष प्राप्त होगा।'

हिन्दीके एक विद्वान् कविने भी यही कहा है—

> दो-मुख सुई न सीवे कंथा, दो-मुख पंथी चले न पंथा।
> यों दो काज न होंय सयाने, विषय-भोग अरु मोक्ष पयाने ॥

धार्मिक एवं नैतिक पर्वोंका सम्बन्ध जिन महापुरुषोंसे है, वास्तवमें उनके सन्देशों, उपदेशों और जीवन-चरितोंको अपने जीवनमें लाना चाहिए, तभी व्यक्ति अपनी उन्नति, अपने कल्याण और वास्तविक मोक्ष-सुखको प्राप्त कर सकता है।

प्रकृतमें हमें 'वीर-निर्वाण' पर्वपर प्रकाश डालना है। अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीरने कार्तिक कृष्णा चतुर्दशीकी रात्रि और अमावस्याके प्रत्यूषकाल (ब्राह्ममुहूर्त—प्रातः) में स्वातिनक्षत्रमें पावानगरीसे निर्वाण प्राप्त किया था। अत एव इस महान् एवं पावन दिवसको जैन परम्परामें 'वीर-निर्वाण' पर्वके रूपमें मनाया जाता है। आचार्य यतिवृषभ (ई० सन्० ५वीं शती) ने अपनी 'तिलोयपण्णत्ती' (४-१२०८) में स्पष्ट लिखा है—

> कत्तिय-किण्हे चोद्दसि-पच्चूसे सादिणामणक्खत्ते।
> पावाए णयरीए एक्को वीरेसरो सिद्धो॥

इस गाथामें कहा गया है कि भगवान् वीरनाथ कार्तिकवदी १४ के प्रत्यूषकालमें स्वातिनामक नक्षत्रमें पावापुरीसे अकेले सिद्ध (मुक्त) हुए।

इनके सिवाय आचार्य वीरसेन (ई० ८३९) ने अपनी 'षट्खण्डागम' की विशाल टीका 'धवला' में 'वीर-निर्वाण' का प्रतिपादन करने वाली एक प्राचीन गाथा उद्धृत की है। उसमें भी यही कहा गया है। वह गाथा निम्न प्रकार है—

> पच्छा पावाणयरे कत्तियमासे य किण्ह-चोद्दसिए।
> सादीए रत्तीए सेसरयं हन्तु णिव्वाओ॥

'पश्चात् वीरनाथ पावानगरमे पहुँचे और वहाँसे कार्तिकवदी चउदसकी रात्रिमें स्वातिनक्षत्रमें शेष रज (अघातिया कर्मों) को भी नाश करके निर्वाणको प्राप्त हुए।'

यहाँ एक असंगति और विरोध दिखाई दे सकता है कि उपर्युक्त 'तिलोयपण्णत्ती' के उल्लेखमें चतुर्दशीका प्रत्यूषकाल' बतलाया गया है और यहाँ (धवलामें उद्धृत गाथामें) 'चतुर्दशीकी रात' बतलायी गयी है? इसका समाधान स्वयं आचार्य वीरसेनने टीकामे 'रत्तीए' पदके विशेषणके रूपमें 'पच्छिमभाए'—'पिछले पहरमें' पदका प्रयोग अध्याहृत करके कर दिया है और तब कोई असंगति या विरोध नहीं रहता। इससे स्पष्ट होता है कि चतुर्दशीकी रातके पिछले पहरमें अर्थात् अमावस्याके प्रत्यूषकाल (प्रातः) में भ० वीरनाथका निर्वाण हुआ। 'तिलोयपण्णत्ती' की उक्त गाथामे भी यही अभिप्रेत है। अतः आम तौरपर निर्वाणकी तिथि कार्तिकवदी अमावस्या मानी जाती है, क्योंकि धवलाकारके उल्लेखानुसार इसी दिन निर्वाणका समस्त कार्य—निर्वाणपूजा आदि सकल देवेन्द्रों द्वारा किया गया था। धवलाकारका वह उल्लेख इस प्रकार है—

> 'अमावसीए परिणिव्वाणपूजा सयलदेवेंदेहि कयात्ति।'

उत्तरपुराणमें आचार्य गुणभद्रने भी '**कार्तिककृष्णपक्षस्य चतुर्दश्यां निशात्यये।**' इस पद्यवाक्यके द्वारा कार्तिकवदी चतुर्दशीकी रातके अन्तमे भ० महावीरका निर्वाण बतलाया है।

हरिवंशपुराणकार जिनसेनके हरिवंशपुराणगत उल्लेखसे भी यही प्रकट है। उनका वह उल्लेख इस प्रकार है—

> जिनेन्द्रवीरोऽपि विबोध्य सन्ततं समन्ततो भव्यसमूहसन्ततिम्।
> प्रपद्य पावानगरीं गरीयसीं मनोहरोद्यानवने तदीयके॥
> चतुर्थकालेऽर्धचतुर्थमासकैर्विहीनताश्चिचतुरब्दशेषके।
> सकार्तिके स्वातिषु कृष्णभूतसुप्रभातसन्ध्यासमये स्वभावतः॥

अघातिकर्माणि निरुद्धयोगको विधूय घातिघनवद्विबन्धनः।
विबन्धनस्थानमवाप शङ्करो निरन्तरायोरुसुखानुबन्धनम् ॥
—हरिवं० ६६। १५, १६, १७।

'वीर जिनेन्द्र समस्त भव्यसमुदायको सतत संबोधित करके अन्तमें पावानगरी पहुँचे और उसके सुन्दर उद्यानवनमें कार्तिकवदी चउदसकी रात और अमावस्याके सुप्रभात समयमें, जब कि चौथे कालके साढ़े तीन मास कम चार वर्ष अवशेष थे, स्वातिनक्षत्रमे योग निरोध कर अघातियाकर्मोंको घातियाकर्मोंकी तरह नष्ट कर बन्धनरहित होकर बन्धनहीन (स्वतंत्र) और निरन्तराय महान् सुखके स्थान मोक्षको प्राप्त हुए।'

आचार्य पूज्यपाद-देवनन्दि (ई० ५ वी शती) का **'निर्वाणभक्ति'** गत निम्न उल्लेख भी यही बतलाता है—

पावानगरोद्याने व्युत्सर्गेण स्थितः स मुनिः।
कार्तिककृष्णस्यान्ते स्वातावृक्षे निहृत्य कर्मरजः ॥

इस प्रकार इन शास्त्रीय प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि भ० महावीरका कार्तिक वदी चउदसकी रात और अमावस्याके सुबह, जब कुछ अन्धेरा था, निर्वाण हुआ था और उसी समय उनका निर्वाणोत्सव मनाया गया था। इस तरह 'वीर-निर्वाण' पर्व प्रचलित हुआ और जो आज भी सर्वत्र मनाया जाता है।

भ० महावीरके निर्वाणके समयका पता जनसमुदायको पूर्वदिनसे ही विदित हो चुका था और इस-लिए वे सब वहाँ पहलेसे ही उपस्थित थे। इनमें अठारह गणराज्योंके अध्यक्ष, विशिष्टजन, देवेन्द्रों, साधारण देवों और मनुष्योंके समूह मौजूद थे। समस्त (११) गणधर, मुनिगण, आर्यिकाएँ, श्रावक और श्राविकाएँ आदि भी विद्यमान थे। जो नही थे, वे भी भगवान्‌के निर्वाणका समाचार सुनते ही पहुँच गये थे। बिजली-की भाँति यह खबर सर्वत्र फैल गयी थी। भगवान् बुद्धके प्रमुख शिष्यने उन्हे भी यह अवगत कराया था कि पावामें अभी-अभी णिग्गंथनातपुत्त (महावीर) का निर्वाण हुआ।

प्रदीपोंका प्रज्वलन

उस समय प्रत्यूषकाल होनेसे कुछ अंधेरा था और इसलिए प्रकाश करनेके लिए रत्नों और घृतादिके हजारों प्रदीप प्रज्वलित किये गये। आचार्य जिनसेनके हरिवंशपुराणमे स्पष्ट उल्लेख है कि उस समय ऐसा प्रकाश किया गया, जिससे पावानगरी चारों ओरसे आलोकित हो गयी। यहाँ तक कि आकाशतल भी प्रकाशमय-ही-प्रकाशमय दिखाई पड़ रहा था। यथा—

ज्वलत्प्रदीपावलिकया प्रवृद्धया सुरासुरैः दीपितया प्रदीप्तया।
तदा स्म पावानगरी समन्ततः प्रदीपिताकाशतला प्रकाशते ॥
तथैव च श्रेणिकपूर्वभूभृतः प्रकृत्य कल्याणमहं सहप्रजाः।
प्रजग्मुरिन्द्राश्च सुरैर्यथा पथं प्रयाचमाना जिनबोधिमर्थिनः ॥
—हरिवं० ६६।१९,२०।

वीर-निर्वाण और दीपावली

हरिवंशपुराणकार (९वीं शती) ने यह भी स्पष्ट उल्लेख किया है कि इसके पश्चात् भगवान् महा-वीरके निर्वाण-लक्ष्मीको प्राप्त करनेसे इस पावन निर्वाण-दिवसकी स्मृतिके रूपमें सदा मनानेके लिए भक्त जनताने **'दीपावली'** के नामसे एक पवित्र सार्वजनिक पर्व ही संस्थापित एवं सुनियत कर दिया—अर्थात्

जनसमूह प्रतिवर्ष बड़े आदरके साथ इस निर्वाण-पर्वको प्रसिद्ध 'दीपावली'के नामसे इस भारतवर्षमें मनाने लगा। उनका वह उल्लेख इस प्रकार है—

> ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात्प्रसिद्धदीपावलिकयाऽत्र भारते।
> समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वरं जिनेन्द्रनिर्वाणविभूतिभक्तिभाक् ॥

वही, ६६।२१।

'इसके बाद तो समस्त भारतवर्षमे लोग प्रतिवर्ष बड़े आदरके साथ वीर जिनेन्द्रके निर्वाणोत्सवको अपनी अनन्यभक्ति एवं श्रद्धाको 'दीपावली'के रूपमे प्रकट करने लगे और तभीसे यह 'दीपावली' पर्व प्रचलित हुआ।'

इस तरह भारतवर्षमें दीपावली पर्वकी मान्यता भगवान् महावीरके निर्वाण-पर्वसे सम्बन्ध रखती है और यह एक सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय पर्व स्पष्ट अवगत होता है। मेरे अनुसन्धानसे इससे पूर्वका इतना और ऐसा उल्लेख अबतक नहीं मिला। यतः भगवान्का निर्वाण कार्तिक वदी १४की रात और अमावस्याके प्रातः हुआ था, अतः उसके आसपासके कुछ दिनोंको भी इस पर्वमे और शामिल कर लिया गया, ताकि पर्वको विशेष समारोह और आयोजनके साथ मनाया जा सके। इसीसे दीपावली पर्व कार्तिक वदी तेरससे आरम्भ होकर कार्तिक शुक्ला दूज तक मनाया जाता है। इन दिनों घरोंकी दीवारों और द्वारोंपर जो चित्र बनाये जाते हैं वे भ० महावीरके सभास्थल—समोशरण (समवसरण) की प्रतिकृति हैं, ऐसा ज्ञात होता है। गणेश-संस्थापन और लक्ष्मीपूजन भ० महावीरके प्रधान गणधर गौतम इन्द्रभूतिको, जिन्हें जैनवाङ्मयमें 'गणेश' भी कहा है, उनका उत्तराधिकारी बनने तथा केवलज्ञानलक्ष्मीकी प्राप्ति करनेके मूर्तरूप प्रतीत होते हैं। इन जैसी और भी कितनी ही बातें इन दिनोमे सामान्य जनता द्वारा की जाती हैं। उनका भी सम्बन्ध भ० महावीरसे स्पष्ट मालूम होता है। इन तथ्योंकी प्रचलित मान्यताओं और निर्वाणकालिक घटित घटनाओंके सामञ्जस्यके आधारपर खोज की जाय तो पूरा सत्य सामने आ सकता है और तथ्योंका उद्घाटन हो सकता है। फिर भी उपलब्ध प्रमाणों और घटनाओंपरसे यह निःसंकोच और असन्दिग्धरूपमे कहा जा सकता है कि वीर-निर्वाण पर्व और दीपावली पर्वका घनिष्ठ सम्बन्ध है अथवा वे एक दूसरेके रूपान्तर हैं।

महावीर-जयन्ती

चैत्र सुदी १३ का सुहावना दिवस भगवान् महावीरका जन्म-दिन है। आजसे २५५४ वर्ष पूर्व इस दिन उन्होंने जन्म लिया था। वे एक मानव थे और मानवसे भगवान् बने थे। उनमें इतनी विशेषता थी कि उनका ज्ञान और बल असाधारण था। संजय और विजय मुनिराजोंके लिए उन्हें देखकर अभिलषित ज्ञान होना, भयंकर सर्पको अपने वशमे करना, विषय-वासनाओंसे अलिप्त रहना, आदि सैकड़ों घटनाएँ हैं, जो उनकी अलौकिकताको प्रकट करती हैं।

पर महावीरका महावीरत्व इन चमत्कारोंसे नही है। उनका महावीरत्व है—आत्मविकारोंपर विजय पानेसे। सबसे पहले उन्होंने दूसरोंपर शासन करनेकी अपेक्षा अपनेपर शासन किया। मानवसुलभ जितनी कमजोरियाँ और विकार हो सकते हैं उन सबपर उन्होंने काबू पाया। प्रायः यह प्रत्येकके अनुभवगम्य है कि दूसरोंको उपदेश देना बडा सरल होता है, पर उसपर स्वयं चलना उतना ही कठिन होता है। महावीरने लोकके इस अनुभवसे विपरीत किया। उन्होंने सबसे पहले महावीरत्व प्राप्त करनेके लिये स्वय अपनेको उस ढाँचेमें ढाला और जब वे उसमे उत्तीर्ण हो गये—आत्म-विश्वास, आत्मज्ञान और आत्मसंयमको पूर्ण रूपमे स्वयं प्राप्त कर लिया तब दूसरोंको भी उस मार्गपर चलनेके लिये कहा।

महावीरने एक दिन नहीं, एक माह नही, एक वर्ष नही, अपितु पूरे १२ वर्ष तक कठोर साधना की। उनका एक लक्ष्य साधनामें रहा। वह यह कि 'शरीरं वा पातयामि कार्यं वा साधयामि।' और इसीसे वे अपने लक्ष्यकी प्राप्तिमें पूर्णतः सफल हुए। उन्होंने पार्श्वनाथ आदि अन्य तीर्थंकरोंको तरह तीर्थंकरत्व प्राप्त किया। सबसे बड़ी बात तो यह है कि उन्हें अपने समयकी अनगिनत विषमताओं और संघर्षोंका सामना करना पड़ा। लेकिन उन सबको उन्होंने समुद्रकी तरह गम्भीर, मेरुकी तरह निश्चल, आकाशकी तरह निर्लेप और सूर्यकी तरह निरपेक्ष प्रकाशक बनकर शान्त किया। परिणाम यह हुआ कि समकालीन अन्य तीर्थिक—धर्मप्रवर्त्तक उनके सामने अधिक समय तक न टिक सके और न अपना प्रभाव लोक-मानसपर स्थायी बनानेमें समर्थ हो सके। मक्खलि गोशालक, अजितकेश कबलि, संजय वेलट्ठिपुत्त आदि धर्मप्रवर्त्तक इसके उदाहरण हैं।

मज्झिम निकायमें आनन्द और बुद्धके अनेक जगह संवाद मिलते हैं। उनमें बुद्धने आनन्दसे महावीरके सम्बन्धमें अनेक जिज्ञासाएँ प्रकट की हैं। आनन्दने महावीरकी सभाओमें जा-जा कर जानकारी प्राप्तकर बुद्धकी जिज्ञासाओंको शान्त किया है। उनमेंसे दो-एकको हम यहाँ देते हैं। एक बार बुद्धने आनन्दसे कहा-'आनन्द! जाओ, देखो तो, निग्गठनातपुत्त इस समय कहाँ है और क्या कर रहे हैं? आनन्द जाता है और महावीरको देखता है कि वे एक विशाल पाषाण जैसे ऊंचे निरावरण स्थानपर बैठे हुए हैं और ध्यानमग्न हैं। उनकी इस कठोर तपस्याको देखकर आनन्द बुद्धसे जाकर कहता है। बुद्ध महावीरकी तपस्यासे प्रभावित होकर कहते हैं कि वे दीर्घ तपस्वी हैं। एक बार महावीर जब विपुलगिरिपर विराजमान थे और सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी हो गये थे एवं मानव, देव, तिर्यञ्च सभीको आत्मज्ञानकी धारा बहा रहे थे, उसी समय बुद्ध भी विपुलगिरिके निकटवर्ती गृद्धकूट पर्वतपर विराजमान थे। वे आनन्दसे कहते हैं, आनन्द!

जाओ, देखो, निग्गंठनातपुत्तकी सभामें स्त्रियाँ भी रहती हैं ? आनन्द जाता है और देखता है कि महावीर-की सभामें पुरुषोंसे कहीं अधिक स्त्रियाँ भी हैं और वे न केवल श्राविकाएँ ही हैं, भिक्षुणियाँ भी हैं और महावीरके निकट बैठकर उनका सदा उपदेश सुनती हैं व विहारके समय उनके साथ चलती हैं। इस सबको देखकर आनन्द बुद्धसे जाकर कहता है—भन्ते ! निग्गंठनातपुत्तकी विशाल सभामें अनेकों स्त्रियाँ, श्राविकाएँ और भिक्षुणियाँ हैं। बुद्ध कुछ क्षणों तक विस्मित होकर स्तब्ध हो जाते हैं और तुरन्त कह उठते हैं कि निग्गंठनातपुत्त सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हैं। हमें भी स्त्रियोंको अपने संघमें लेना चाहिए। इसके बाद बुद्ध स्त्रियोंको भी दीक्षा देने लगे।

बुद्धकी इन दोनों बातोंसे स्पष्ट मालूम होता है कि महावीर अपने समकालीन बुद्ध जैसे प्रभावशाली धर्मप्रवर्त्तकपर भी अपना अप्रतिम प्रभाव डाल चुके थे। वास्तवमें बाह्य शत्रुविजेताकी अपेक्षा आत्मविकार-विजेताका स्थान सर्वोपरि है। उसके आत्मामें अचिन्त्य शक्ति, अचिन्त्य ज्ञान और अचिन्त्य आनन्दका स्रोत निकल आता है। महावीरको भी यही स्रोत प्राप्त हो गया था।

भ० महावीरने इसके लिये अनेक सिद्धान्त रचे और उन सबको जनताके लिए बताया। इन सिद्धान्तों-में उनके दो मुख्य सिद्धान्त हैं—एक अहिंसा और दूसरा स्याद्वाद। अहिंसासे आचारकी शुद्धि और स्याद्वादसे विचारकी शुद्धि बतलाई। आचार-विचार जिसका जितना अधिक शुद्ध होगा—अनात्मासे आत्माकी ओर बढ़ेगा वह उतना ही अधिक परमात्माके निकट पहुँचेगा। एक समय वह आयेगा जब वह स्वयं परमात्मा बन जायगा।

महावीरने यह भी कहा कि जो इतने ऊँचे नहीं चढ़ सकते वह श्रावक रहकर न्याय-नीतिके साथ अपने कर्त्तव्योंका पालन कर स्वयं सुखी रहें तथा दूसरोंको भी सुखी बनानेका सदैव प्रयत्न करें।
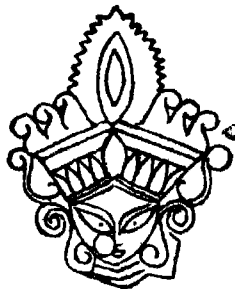
श्रीपपौराजी : जिनमन्दिरोंका अद्भुत समुच्चय

भारतीय जन-मनकी सुदृढ़ धार्मिक रुचिका साकार रूप देखना हो, तो इन पवित्र भूमियोंको देखिए, जहाँ पहुँचकर हम अपनी मानस-कालिमाको धोकर शान्तिके सुखद प्रवाहमें गोता लगाने लग जाते हैं। ये पुण्य-भूमियाँ भारतीय संस्कृतिकी प्रतीक हैं। दृश्य काव्यके समान ये पवित्र तीर्थक्षेत्र भी आह्लादजनक होते हैं और अध्यात्मकी ओर अग्रसर करते हैं। इन तीर्थक्षेत्रोंपर निर्मित देवालयों आदिकी कलामय कारीगरी भी तत्कालीन स्थापत्य कलाके गौरव और गरिमाको प्रकट करती हुई दर्शकके मनपर अमिट प्रभाव डालती है। देशके अस्सी प्रतिशत उत्सव, सभाएँ और मेले इन्हीं तीर्थक्षेत्रोंपर सम्पन्न होते हैं। भारतीय समाजको ये तीर्थक्षेत्र जीवन प्रदान करते तथा उसकी गरिमामय संस्कृतिका प्रतिनिधित्व करते हैं, इनका समाजसे बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीसे भारतके कोने-कोनेमें इनका अस्तित्व पाया जाता है। एक तरफ पुरी है तो दूसरी तरफ द्वारिका, एक ओर सम्मेदाचल है तो दूसरी ओर गिरनार।

बुन्देलखण्ड भारतका मध्यक्षेत्र हृदय है। यह आचारमें उन्नत और विचारमें कोमल तो है ही, धार्मिक श्रद्धा भी अपूर्व है। वीरत्व भी इसकी भूमिमें समाया हुआ है। यहाँ अनगिनत तीर्थ क्षेत्र हैं। उनकी आभासे यह सहस्रों वर्षोंसे अलोकित है। जिस ओर जाइये उसी ओर यहाँ तीर्थ भूमियाँ मिलेंगी। द्रोणगिर, रेशिन्दीगिर और सोनागिर जैसे जहाँ सिद्धक्षेत्र हैं वहाँ देवगढ़, पपौरा, अहार, खजुराहो जैसे अतिशय क्षेत्र भी हैं। देवगढ़ और खजुराहोकी कला इसके निवासियोके मानसकी आस्था और निष्ठाको व्यक्त करती है तो द्रोणगिर और रेशिन्दीगिरकी प्राकृतिक रमणीयता दर्शकको अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। अहार क्षेत्रकी विशाल और भव्य शान्तिनाथमूर्ति हमारी निष्ठा और आकर्षणको द्विगुणित कर देती है।

श्रीपपौराजीके उत्तुंग एवं विशाल शिखरबन्द भव्य जिनालय दूरसे ही हमें आह्वान करते हैं। टीकमगढ़ (म० प्र०) से तीन मील दूर दक्षिण-पूर्वमें यह पुण्य तीर्थ अवस्थित है। इसकी पश्चिम दिशामें विशाल सिंहद्वार है जो सौम्य आकृतिसे हमारी भावनाओंको पहलेसे ही परिवर्तित करने लगता है। तीर्थके चारों ओर विस्तृत प्राकार है, जिसके भीतर समतल मैदानमें १०७ विशाल जिनालय निर्मित हैं। इनमें अनेक जिनालय शताब्दियों पूर्वके हैं। यहाँकी चौबीसी उल्लेखनीय है। प्रत्येककी परिक्रमा पृथक्-पृथक् और सबकी एक संयुक्त है। छोटी-छोटी वाटिकाओं, कुओं और धर्मशालाओंसे यह क्षेत्र बहुत ही मनोरम एवं सुशोभित है। वातावरण एकदम शान्त और साधनायोग्य है। आकाशसे बातें करते हुए १०७ शिखरबन्द जिनमन्दिरोंकी शोभा जनसाधारणकी भावनाओं और भक्तिको बिराट् बना देती है। जिनप्रतिमाएँ अपनी मूकोपदेशों द्वारा स्निग्ध एवं शीतल शान्तरसकी धारा उड़ेलती हैं। उस समय दर्शकका मन आनन्द-विभोर होकर घंटों भक्तिमें तल्लीन हो जाता है।

यद्यपि प्रदेश आर्थिक और शैक्षणिक दृष्टिसे पिछड़ा हुआ है, किन्तु उसकी धार्मिक भावनाएँ प्रोन्नत है, जिनका परिचय यहाँके कार्योंसे मिल जाता है। क्षेत्रके वार्षिक मेलेपर एकत्र होकर समाज अपनी दिशाको पहचानने और समस्याओंको सुलझानेका यहाँ अवसर प्राप्त करती है।

क्षेत्रपर श्रीवीर दि० जैन विद्यालय स्थित है, जिसके द्वारा इस प्रान्तकी धार्मिक शिक्षाकी पूर्ति होती है और जो उल्लेखनीय है। सैकड़ों विद्यार्थी यहाँसे शिक्षा ग्रहण कर विद्वान् बने हैं। इस विद्यालयकी स्थापना स्वर्गीय पं० मोतीलालजी वर्णीके प्रयत्नोंसे हुई थी। इसकी उन्नति और संचालनमें वर्णीजीका पूरा एवं वरद हस्त रहा है। बा० ठाकुरदासजीने मंत्रित्वका दायित्व बहन करके उसके विकासमें अथक श्रम किया है। क्षेत्र और विद्यालय दोनोंकी उन्नति तथा विकासमें दोनों महानुभावोंकी सेवायें सदा स्मरणीय रहेंगी।

पपौराजी एक ऐसा दर्शनीय और बन्दनीय क्षेत्र है जहाँ बड़ी शान्ति मिलती है। हमें उक्त विद्यालयमें तीन वर्ष तक अध्यापन करानेका सुअवसर मिला। इस कालमें क्षेत्रपर जो शान्ति मिली और धर्मभावना वृद्धिगत हुई उसे हम क्षेत्रका प्रभाव मानते हैं। इस पुण्य तीर्थक्षेत्रका एक बार अवश्य दर्शन-बन्दन करना चाहिए।
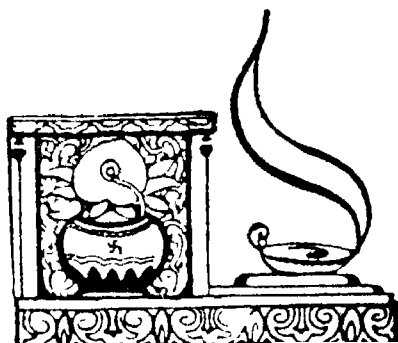
पावापुर : महावीरकी निर्वाणभूमि

महात्माओंने जहाँ जन्म लिया, तप किया, ज्ञान प्राप्त किया, उपदेश दिए, जीवनमें अनेकों बार आये गये, शरीरका त्याग किया, उन स्थानोंको लोकमें तीर्थ (पवित्र जगह) कहा गया है। पावापुर भी एक ऐसा ही पावन तीर्थ स्थान है जहाँसे भगवान् महावीरने शरीरका त्याग कर निर्वाण-लाभ किया था।

महत्त्व

विक्रमकी पाँचवी शताब्दीके विद्वान् आचार्य यतिवृषभने 'तिलोयपण्णत्ति' में कहा है—

पावाए णयरीए एक्को वीरेसरो सिद्धो ॥४—१२०८॥

पावापुरसे भ० वीरने सिद्ध पद प्राप्त किया।

इसी प्रकार विक्रमकी छठी शतीके आचार्य पूज्यपादने भी अपनी 'निर्वाणभक्ति'में लिखा है—

पावापुरस्य बहिरुन्नत-भूमिदेशे, पद्मोत्पलाकुलवतां सरसां हि मध्ये।
श्रीवर्द्धमानजिनदेव इति प्रतीतो, निर्वाणमाप भगवान्प्रविधूत-पाप्मा ॥२४॥

अर्थात् पावापुरके बाहर ऊँचे स्थानपर, जिसके चारों ओर विविध कमलोंसे व्याप्त तालाब हैं, घाति अघातिरूप पापमलको सर्वथा नाश कर भगवान् वर्द्धमान जिनेन्द्रने निर्वाण प्राप्त किया।

आचार्य जिनसेन (विक्रमकी ९वीं शती) ने भी अपने 'हरिवंशपुराण'में पावापुरसे निर्वाण प्राप्त करनेका विस्तृत वर्णन किया है। वे कहते हैं कि भ० वीरनाथ चारो ओरके भव्योंको प्रबुद्ध करके समृद्धि-सम्पन्न पवित्र पावा नगरीमे पहुँचे और वहाँ उसके मनोहर उद्यानमे स्थित होकर कर्मबन्धनको तोड़ मुक्तिको प्राप्त हुए।

इसी तरह 'निर्वाणकाण्ड' तथा अपभ्रंश 'निर्वाणभक्ति'मे भी कहा है—

(क) पावाए णिव्वुदो महावीरो ॥१॥
(ख) पावापुर वंदउ वड्ढमाणु, जिणि महियलि पयडिउ विमल णाणु ॥

अर्थात् हम उस पवित्र तीर्थ पावापुरकी वन्दना करते हैं जहाँसे वर्द्धमान जिनेन्द्रने निर्वाण लाभ किया और पृथ्वीपर विमल ज्ञानकी धारा बहाई।

विक्रमकी १३वी शताब्दीके विद्वान् यतिपति मदनकीर्तिने भी अपनी रचना 'शासन चतुस्त्रिंशिका' में वहाँ वीर जिनेन्द्रकी सातिशयमूर्ति होने और लोगों द्वारा उसकी भारी भक्ति किये जानेका उल्लेख करते हुए लिखा है—

तिर्यञ्चोऽपि नमन्ति यं निज-गिरा गायन्ति भक्त्याशयाः
दृष्टे यस्य पदद्वये शुभदृशो गच्छन्ति नो दुर्गतिम्।
देवेन्द्रार्चित-पाद-पंकज-युगः पावापुरे पापहा
श्रीमद्वीरजिनः स रक्षतु सदा दिग्वाससां शासनम् ॥१८॥

अर्थात् जिन्हें तिर्यञ्च भी अतिशय भक्तिके साथ नमस्कार करते हैं और अपनी अव्यक्त वाणी द्वारा गुणगान करते हैं। जिनके चरणोंके दर्शन करनेपर भव्यजीव दुर्गतिको प्राप्त नहीं होते तथा जो पावापुरमें इन्द्र द्वारा अर्चित हैं और लोकके पापोंके नाशक हैं वह श्री वीरजिनेन्द्र दिगम्बर शासनकी सदा रक्षा करें-लोकमें उसके प्रभावको प्रख्यापित करते रहें।

इन समस्त उल्लेखों एवं कथनोंसे पावापुरकी पावनता और उसका सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक महत्त्व लोकके लिये स्पृहणीय हो तो कोई आश्चर्य नहीं है।

स्थिति

यह पावापुर विहार प्रान्तमें पटनाके पास है और गुणावा अतिशय क्षेत्रसे १३ मील है। भारतवर्षके समस्त जैन बन्धु वन्दनार्थ वहाँ हर वर्ष जाते हैं। कार्तिकवदी अमावस्याका वहाँ वीर निर्वाणोपलक्ष्यमें प्रति वर्ष एक बडा मेला भरता है, जिसमें सहस्रो जैन व अजैन भाई शामिल होते हैं और बड़ी भक्ति करते हैं। ऐसे पवित्र स्थानकी वन्दना करना, दर्शन करना और पूजा करना निश्चय ही हमारी कृतज्ञता और श्रद्धाका द्योतक है और पुण्य संचयका कारण है। भगवान् महावीरके निर्वाण-दिवसके उपलक्ष्यमें प्रचलित दीपावलीपर उसकी विशेष स्मृति होना और भी स्वाभाविक है। भ० महावीर अन्तिम तीर्थङ्कर होनेसे उनकी इस पावन निर्वाणभूमि पावापुरका समग्र जैन साहित्यमें अनुपम एवं महत्वपूर्ण स्थान है। और इसलिए वह भारतीय जनताके लिए सदैव अभिवन्दनीय है।
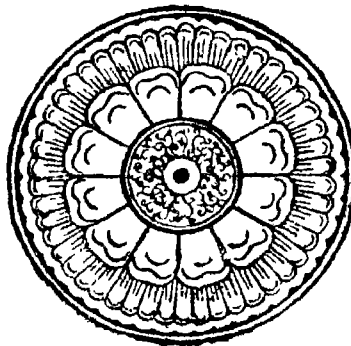
श्रमणबेलगोला और श्रीगोम्मटेश्वर

श्रमणबेलगोला दक्षिण भारतमे करनाटक प्रदेशमें हासन जिलेका एक गौरवशाली और ऐतिहासिक स्थान रहा है। यह जैन परम्पराके दि० जैनोंका एक अत्यन्त प्राचीन और सुप्रसिद्ध तीर्थ है। इसे जैन-ग्रन्थकारोंने जैनपुर, जैनविद्री और गोम्मटपुर भी कहा है। यह बेंगलौरसे १०० मील, मैसूरसे ६२ मील, आर्सीकेरीसे ४२ मील, हासनसे ३१ मील और चिनार्यपट्टनसे ८ मील है। यह हासनसे पश्चिमकी ओर अवस्थित है और मोटरसे २-३ घण्टोंका रास्ता है। यह विन्ध्यगिरि और चन्द्रगिरि नामकी दो पहाड़ियोंकी तलहटीमें एक सुन्दर और मनोज्ञ चौकोर तालाबपर, जो प्राकृतिक झीलनुमा है, बसा हुआ है। यह है तो एक छोटा-सा गाँव, पर ऐतिहासिक पुरातत्व और धार्मिक दृष्टिसे इसका बड़ा महत्त्व है।

दुष्काल

जैन अनुश्रुतिके अनुसार ई० ३०० सौ वर्ष पूर्व सम्राट चन्द्रगुप्तके राज्यकालमें उत्तर भारतमें जब बारह वर्षका दुष्काल पड़ा तो अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहुके नायकत्वमें १२ हजार श्रमणों (जैन साधुओं)के संघने उत्तर भारतसे आकर इस स्थानकी मनोज्ञता और एकान्तता देखी तथा यहीं रहकर तप और ध्यान किया। आचार्य भद्रबाहुने अपनी आयुका अन्त जानकर यहीं समाधिपूर्वक देहोत्सर्ग किया। सम्राट् चन्द्रगुप्तने भी, जो संघके साथ आया था, अपना शेष जीवन संघ व गुरु भद्रबाहुकी सेवामे व्यतीत किया था।

इस स्थानको श्रमणबेलगोला इसलिए कहा गया कि उक्त श्रमणों (जैन साधुओं) ने यहाँके बेलगोल (सफेद तालाब) पर तप, ध्यानादि किया तथा आवास किया था। तब कोई गाँव नहीं था, केवल सुरम्य पहाड़ी प्रदेश था।

यहाँ प्राप्त सैकड़ों शिलालेख, अनेक गुफाएँ, कलापूर्ण मन्दिर और कितनी ही विशाल एवं भव्य जैन मूर्तियाँ भारतके प्राचीन गौरव और इतिहासको अपनेमे छिपाये हुए हैं। इसी स्थानके विन्ध्यगिरिपर गंगवंश-के राजा राचमल्ल (ई० ९७५-९८४) के प्रधान सेनापति और प्रधान मन्त्री वीर-मार्तण्ड चामुण्डराय द्वारा एक ही पाषाणमे उत्कीर्ण करायी गई श्री गोमटेश्वर बाहुबलिकी वह विश्वविख्यात ५७ फुट ऊँची विशाल मूर्त्ति है, जिसे विश्वके दर्शक देखकर आश्चर्य-चकित हो जाते हैं। दूसरी पहाड़ी चन्द्रगिरिपर भी अनेक मन्दिर व बसतियाँ बनी हुई हैं। इसी पहाडीपर सम्राट् चन्द्रगुप्तने भी चन्द्रगुप्त (प्रभाचन्द्र) मुनि होकर समाधिपूर्वक शरीर त्यागा था और इसके कारण ही इस पहाड़ीका नाम चन्द्रगिरि पड़ा। इन सब बातोंसे 'श्रमणबेलगोला' का जैन परम्परामे बडा महत्व है। एक बार मैसूर राज्यके एक दीवानने कहा था कि "सम्पूर्ण सुन्दर मैसूर राज्यमें श्रमणबेलगोला सदृश अन्य स्थान नहीं है, जहाँ सुन्दरता और भव्यता दोनोंका सम्मिश्रण पाया जाता हो।" यह स्थान तभीसे पावन तीर्थके रूपमें प्रसिद्ध है।

परिचय

यहाँ गोम्मटेश्वर और उनकी महामूर्तिका परिचय वहींके प्राप्त शिलालेखों द्वारा दे रहे हैं। शिला-लेख नं० २३४ (८५) में लिखा है कि—"गोम्मटेश्वर ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकरके पुत्र थे। इनका नाम बाहु-

बली या भुजबली था। इनके ज्येष्ठ भ्राता भरत थे। ऋषभदेवके दीक्षित होनेके पश्चात् भरत और बाहुबली दोनों भाइयोंमें साम्राज्यके लिए युद्ध हुआ। युद्धमें बाहुबलिकी विजय हुई। पर संसारकी गति (राज्य जैसी तुच्छ चीजके लिए भाइयोंका परस्परमें लड़ना) देखकर बाहुबलि विरक्त हो गये और राज्य अपने ज्येष्ठ भ्राता भरतको देकर तपस्या करनेके लिए वनमें चले गये। एक वर्षकी कठोर तपस्याके उपरान्त उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। भरतने, जो सम्राट् हो गये थे, बाहुबलीके चरणोंमें पहुँचकर उनकी पूजा एवं भक्ति की। बाहुबलीके मुक्त होनेके पश्चात् उन्होंने उनकी स्मृतिमें उनकी शरीराकृतिके अनुरूप ५२५ धनुषप्रमाणकी एक प्रस्तर मूर्ति स्थापित कराई। कुछ काल पश्चात् मूर्तिके आस-पासका प्रदेश कुक्कुट सर्पोंसे व्याप्त हो गया, जिससे उस मूर्तिका नाम कुक्कुटेश्वर पड़ गया। धीरे-धीरे वह मूर्ति लुप्त हो गयी और उसके दर्शन अगम्य एवं दुर्लभ हो गये। गंगनरेश रायमल्लके मन्त्री चामुण्डरायने इस मूर्तिका वृतान्त सुना और उन्हें उसके दर्शन करनेकी अभिलाषा हुई, पर उस स्थान (पोदनपुर) की यात्रा अशक्य जान उन्होंने उसीके समान एक सौम्य मूर्त्ति स्थापित करनेका विचार किया और तदनुसार इस मूर्त्तिका निर्माण कराया।"

कवि बोप्पण (११८० ई०) ने इस मूर्तिकी प्रशंसा करते हुए लिखा है कि "यदि कोई मूर्ति अत्युन्नत (विशाल) हो, तो यह आवश्यक नही कि वह सुन्दर भी हो। यदि विशालता और सुन्दरता दोनों भी हों, तो यह आवश्यक नही कि उसमें अलौकिक वैभव (भव्यता) भी हो। गोम्मटेश्वरकी मूर्तिमें विशालता, सुन्दरता और अलौकिक वैभव तीनोंका सम्मिश्रण है। गोम्मटेश्वरकी मूर्तिसे बढकर संसारमे उपासनाके योग्य अन्य क्या वस्तु हो सकती है?"

पाश्चात्य विद्वान् फर्गुसनने अपने एक लेखमें लिखा है कि "मिस्र देशके सिवाय संसार भरमें अन्यत्र इस मूर्तिसे विशाल और प्रभावशाली मूर्ति नहीं है।"

पुरातत्त्वविद् डा० कृष्ण लिखते हैं कि "शिल्पीने जैनधर्मके सम्पूर्ण त्यागकी भावना इस मूर्तिके अंग-अंगमे अपनी छैनीसे भर दी है। मूर्त्तिकी नग्नता जैनधर्मके सर्व त्यागकी भावनाका प्रतीक है। एकदम सीधे और मस्तक उन्नत किये खड़े इस प्रतिबिम्बका अंग-विन्यास पूर्ण आत्म-निग्रहको सूचित करता है। होंठोंकी दयामयी मुद्रासे स्वानुभूत आनन्द और दुःखी दुनियाके साथ मूक सहानुभूतिकी भावना व्यक्त होती है।"

हिन्दी जगत्के प्रसिद्ध विद्वान् काका कालेलकरने एक लेखमें लिखा है—"मूर्त्तिका सारा शरीर भरावदार, यौवनपूर्ण, नाजुक और कान्तिमय है। एक ही पत्थरसे निर्मित इतनी सुन्दर मूर्त्ति संसारमे और कहीं नहीं। इतनी बडी मूर्त्ति इतनी अधिक स्निग्ध है कि भक्तिके साथ कुछ प्रेमकी भी यह अधिकारिणी है। धूप, हवा और पानीके प्रभावसे पीछेकी ओर ऊपरकी पपड़ी रिपर पड़नेपर भी इसका लावण्य खण्डित नहीं हुआ है।"

प्राच्यविद्यामहार्णव डॉ० हीरालाल जैनने लिखा है कि—"एशिया खण्ड ही नहीं, समस्त भूतलका विचरण कर आइये, गोम्मटेश्वरकी तुलना करनेवाली मूर्ति आपको क्वचित् ही दृष्टिगोचर होगी। बड़े-बड़े पश्चिमीय विद्वानोंके मस्तिष्क इस मूर्तिकी कारीगरीपर चक्कर खा गये हैं। कम-से-कम एक हजार वर्षसे यह प्रतिमा सूर्य, मेघ, वायु आदि प्रकृतिदेवीकी अमोघ शक्तियोंसे बातें कर रही है, पर अब तक उसमें किसी प्रकारकी थोड़ी-सी भी क्षति नही हुई है, मानो मूर्तिकारने उसे आज ही उद्घाटित किया हो।"

ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि इस संसारकी अद्भुत मूर्तिके प्रतिष्ठाता गंगवंशी राजा राचमल्लके प्रधान आमात्य और सेनापति चामुण्डराय हैं। चामुण्डरायको शिलालेखोंमें समरधुरन्धर, रणरंगसिंह, वैरिकुलकालदण्ड, असहायपराक्रम, समरपरशुराम, वीरमार्त्तण्ड, भटशिरोमणि आदि उपाधियोंसे विभू-

षित किया गया है। चामुण्डराय अपनी सत्यप्रियता और धर्मनिष्ठाके कारण "सत्य युधिष्ठिर" भी कहे जाते थे। इनकी जैनधर्ममें अनुपमेय निष्ठा होनेके कारण जैन ग्रन्थकारोंने भी इन्हे सम्यक्त्वरत्नाकर, गुणरत्न-भूषण, शौचाभरण आदि विशेषणों (उपाधियों) द्वारा उल्लेखित किया है। इन्हीं चामुण्डरायने गोम्मटेश्वरकी महामूर्तिकी प्रतिष्ठा २३ मार्च ई० सन् १०२८ में कराई थी, जैसाकि इस मूर्तिपर उत्कीर्ण लेखसे विदित है।

महामस्तकाभिषेक

इस मूर्तिका महामस्तकाभिषेक बड़े समारोहके साथ सम्पन्न होता है। ऐतिहासिक दृष्टिसे इसके महामस्तकाभिषेकोंका वर्णन ई० सन् १५००, १५९८, १६१२, १६७७, १८२५ और १८२७ के उत्कीर्ण शिलालेखोंमे मिलता है, जिनमें अभिषेक करानेवाले आचार्य, गृहस्थ, शिल्पकार, बढ़ई, दूध, दही आदिका ब्यौरा मिलता है। इनमें कई मस्तकाभिषेक मैसूर-नरेशों और उनके मन्त्रियोंने स्वय कराये है। सन् १९०९ में भी मस्तकाभिषेक हुआ था, उसके बाद मार्च १९२५ मे भी वह हुआ, जिसे मैसूर नरेश महाराज कृष्णराज बहादुरने अपनी तरफसे कराया था और अभिषेकके लिए पांच हजार रुपये प्रदान किये थे तथा स्वयं पूजा भी की थी। इसके अनन्तर सन् १९४० मे भी गोम्मटेश्वरकी इस मूर्तिका महामस्तका-भिषेक हुआ था। उसके पश्चात् ५ मार्च १९५३ मे महामस्तकाभिषेक किया गया था, उस समय भारतके कोने-कोनेसे लाखों जैन इस अभिषेकमे सम्मिलित हुए थे। इस अवसरपर वहाँ दर्जनो पत्रकार, फोटोग्राफर और रेडियोवाले भी पहुँचे थे। विश्वके अनेक विद्वान् दर्शक भी उसमें शामिल हुए थे।

समारोह २१ फरवरी १९८१ में जो महामस्तकाभिषेक हुआ, वह सहस्राब्दि-महामस्तकाभिषेक महोत्सव था। इस महोत्सवका महत्त्व पिछले महोत्सवोंसे बहुत अधिक रहा। कर्नाटक राज्यके माननीय मुख्यमन्त्री गुंडुराव और उनके सहयोगी अनेक मन्त्रियोंने इस महोत्सवको राज्यीय महोत्सव माना और राज्यकी ओरसे उसकी सारी तैयारियाँ की गयी। प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरागांधी और अनेक केन्द्रीय मन्त्रिगण भी उक्त अवसर पर पहुँचे थे। लाखों जैनोंके सिवाय लाखों अन्य भाई और बहने भी इस उत्सव-में सम्मिलित हुए। विश्वधर्मके प्रेरक एलाचार्य मुनि विद्यानन्दके प्रभावक तत्त्वावधानमें यह सम्पन्न हुआ, जिनके मार्गदर्शनमे भगवान् महावीरका २५०० वाँ निर्वाण महोत्सव सारे राष्ट्रने व्यापक तौरपर १९७४ मे मनाया।

भारतीय प्राचीन संस्कृति एवं त्याग और तपस्याकी महान् स्मारक यह गोम्मटेश्वरकी महामूर्ति युग-युगों तक विश्वको अहिंसा और त्यागकी शिक्षा देती रहेगी।

राजगृहकी मेरी यात्रा और अनुभव

इतिहासमें राजगृहका स्थान

श्रद्धेय पं० जुगलकिशोर मुख्तारका अरसेसे यह विचार चल रहा था कि राजगृह चला जाय और वहाँ कुछ दिन ठहरा जाय तथा वहाकी स्थिति, स्थानों, भग्नावशेषों और इतिहास तथा पुरातत्त्व सम्बन्धी तथ्योंका अवलोकन किया जाय।

राजगृहका इतिहासमे महत्त्वपूर्ण स्थान है। सम्राट् विम्बसारके, जो जैनपरम्पराके दिगम्बर और श्वेताम्बर तथा बौद्ध साहित्यमे राजा श्रेणिकके नामसे अनुश्रुत है और मगधसाम्राज्यके अधीश्वर एवं भगवान् महावीरकी धर्म-सभाके प्रधान श्रोता माने गये है, मगधसाम्राज्यकी राजधानी इसी राजगृहमे थी। यहां उनका किला अब भी पुरातत्त्वविभागके सरक्षणमे है और जिसकी खुदायी होने वाली है। एक पुराना किला और है जो कृष्णके समकालीन जरासन्धका कहा जाता है। वैभार पर्वतके नीचे उधर तलहटीमे पर्वतकी शिला काट कर एक आस्थान बना है और उसके आगे एक लंबा चौडा मैदान है। ये दोनो स्थान राजा श्रेणिकके खजाने और बैठकके नामसे प्रसिद्ध है। तीसरे-चौथे पहाड़के मध्यवर्ती मैदानमे एक बहुत विशाल प्राचीन कुआं भूगर्भसे निकाला गया है और जिसे मिट्टीसे पूर भी दिया गया है। इसके ऊपर टीन की छतरी लगा दी गई है। यह भी पुरातत्त्व-विभागके संरक्षणमें है। इसके आसपास कई पुराने कुएँ और वेदिकाएँ भी खुदाईमें निकली है। किंवदन्ती है कि रानी चेलना प्रतिदिन नये वस्त्रालंकारोंको पहिनकर पुराने वस्त्रालंकारोंको इस कुएँमें डाला करती थी। दूसरे और तीसरे पहाडके मध्यमें गृद्धकूट पर्वत है, जो द्वितीय पहाडका ही अंश है और जहां महात्मा बुद्धकी बैठके बनी हुई है और जो बौद्धोंका तीर्थस्थान माना जाता है। इसे भी हम लोगोने गौरसे देखा। पुराने मन्दिरोंके अवशेष भी पड़े हुए हैं। विपुलाचल कुछ चौड़ा है और वैभारगिरि चौडा तो कम है पर लम्बा अधिक है। सबसे पुरानी एक चौबीसी भी इसी पहाड़ पर बनी हुई है जो प्रायः खडहरके रूपमे स्थित है और पुरातत्वविभागके संरक्षणमे है। अन्य पहाडोंके प्राचीन मन्दिर और खंडहर भी उसीके अधिकारमे कहे जाते है। इसी वैभारगिरिके उत्तरमे सप्तपर्णी दो गुफाएँ हैं जिनमें ऋषि लोग रहते बतलाये जाते है। गुफाएँ लम्बी दूर तक चली गई है। वास्तवमे ये गुफाएँ सन्तोंके रहनेके योग्य है। ज्ञान और ध्यानकी साधना इनमे की जा सकती है। परन्तु आजकल इनमे चमगीदड़ोंका वास है और उसके कारण इतनी बदबू है कि खड़ा नही हुआ जाता।

भगवान् महावीरका सैकडों बार यहाँ राजगृहमें समवसरण आया है और विपुलगिरि तथा वैभारगिरि पर ठहरा है। और वहींसे धर्मोपदेशकी गङ्गा बहाई है। महात्मा बुद्ध भी अपने संघ सहित यहां राजगृहमे अनेक बार आये हैं और उनके उपदेश हुए हैं। राजा श्रेणिकके अलावा कई बौद्ध और हिन्दू सम्राटोंकी भी राजगृहमे राजधानी रही है। इस तरह राजगृह जैन, बौद्ध और हिन्दू तीनों संस्कृतियोंके सङ्गम एवं समन्वयका पवित्र और प्राचीन ऐतिहासिक तीर्थ स्थान है, जो अपने अंचलमें अतीतके विपुल वैभव और गौरवको छिपाये हुए है और वर्तमानमे उसकी महत्ताको प्रकट कर रहा है।

यहांके कुण्ड और उनका महत्त्व

यहांके लगभग २६ कुंडोंने राजगृहकी महत्ताको और बढ़ा दिया है। दूर-दूरसे यात्री और चर्मरोगादिके रोगी इनमें स्नान करनेके लिये रोजाना हजारोंकी तादादमें आते रहते हैं। सूर्यकुण्ड, ब्रह्मकुण्ड और सप्तधाराओंका जल हमेशा गर्म रहता है और बारह महीना चालू रहते हैं। इनमें स्नान करनेसे वस्तुतः थकान, शारीरिक क्लान्ति और चर्मरोग दूर होते हुए देखे गये हैं। लकवासे ग्रस्त एक रोगीका लकवा दो तीन महीना इनमे स्नान करनेसे दूर हो गया। कलकत्ताके सेठ प्रेमसुख जी को एक अङ्गमें लकवा हो गया। वे भी वहां ठहरे हैं और उनमें स्नान करते हैं। पूछनेसे मालूल हुआ कि उन्हे कुछ आराम है। हम लोगोंने भी कई दिन स्नान किया और प्रत्यक्ष फल यह मिला कि थकान नहीं रहती थी—शरीरमे फुरती आजाती थी।

राजगृहके उपाध्याय—पण्डे

कुण्डोंपर जब हमने वहांके सैकड़ों उपाध्यायों और पण्डोंका परिचय प्राप्त किया तो हमें ब्राह्मण-कुलोत्पन्न इन्द्रभूति और उनके विद्वान् पांचसौ शिष्योंकी स्मृति हो आई और प्राचीन जैन साहित्यमे उल्लिखित उस घटनामें विश्वासको दृढता प्राप्त हुई, जिसमें बतलाया है कि वैदिक महाविद्वान् गौतम इन्द्रभूति अपने पांचसौ शिष्योंके साथ भगवान् महावीरके उपदेशसे प्रभावित होकर जैनधर्ममे दीक्षित हो गया था और उनका प्रधान गणधर हुआ था। आज भी वहां सैकड़ों ब्राह्मण 'उपाध्याय' नामसे व्यवहृत होते हैं। परन्तु आज वे नाममात्रके उपाध्याय है और यह देख कर तो बडा दुःख हुआ कि उन्होंने कुण्डोपर या अन्यत्र यात्रियोंसे दो-दो, चार-चार पैसे मांगना ही अपनी वृत्ति—आजीविका बना रखी है। इससे उनका बहुत ही नैतिक पतन जान पड़ा। यहांके उपाध्यायोंको चाहिए कि वे अपने पूर्वजोंकी कृतियों और कीर्त्तिको ध्यानमे लायें और अपनेको नैतिक पतनसे बचायें।

श्वेताम्बर जैनधर्मशाला और मन्दिर

यहां श्वेताम्बरोंकी ओरसे एक विशाल धर्मशाला बनी हुई है, जिसमे दिगम्बर धर्मशालाकी अपेक्षा यात्रियोंको अधिक आराम है। स्वच्छता और सफाई प्रायः अच्छी है। पाखानोकी व्यवस्था अच्छी है—यन्त्र-द्वारा मल-मूत्रको बहा दिया जाता है, इससे बदबू या गन्दगी नही होती। यात्रियोंके लिये भोजनके वास्ते कच्ची और पक्की रसोईका एक ढाबा खोल रखा है, जिसमे पांच वक्त तकका भोजन फ्री है और शेष समयके लिये यात्री आठ आने प्रति बेला शुल्क देकर भोजन कर सकता है और आटे, दाल, लकड़ीकी चिंतासे मुक्त रहकर अपना धर्मसाधन कर सकता है। भोजन ताजा और स्वच्छ मिलता है। मैनेजर बा० कन्हैयालालजी मिलनसार सज्जन व्यक्ति हैं। इन्होंने हमे धर्मशाला आदिकी सब व्यवस्थासे परिचय कराया। श्वेताम्बरोंके अधिकारमें जो मन्दिर है वह पहले दिगम्बर और श्वेताम्वर दोनोंका था। अब वह पारस्परिक समझौतेके द्वारा उनके अधिकारमे चला गया है। चार जगह दर्शन हैं। देखने योग्य है।

बा० छोटेलालजीके साथ १३ दिन

कई बातोंपर विचार-विमर्श करनेके लिये बा० छोटेलालजी कलकत्ता ता० ५ मार्चको राजगृह आ गये थे और वे ता० १८ तक साथ रहे। आप काफी समयसे अस्वस्थ चले आ रहे हैं—इलाज भी काफी करा चुके है, लेकिन कोई स्थायी आराम नहीं हुआ। यद्यपि मेरी आपसे दो-तीन बार पहले भेंट हो चुकी थी; परन्तु न तो उन भेंटोंसे आपका परिचय मिल पाया था और न अन्य प्रकारसे मिला था। परन्तु अबकी बार उनके निकट सम्पर्कमे रह कर उनके व्यक्तित्व, कर्मण्यता, प्रभाव और विचारकताका आश्चर्यजनक परिचय

मिला। बाबू साहबको मैं एक सफल व्यापारी और रईसके अतिरिक्त कुछ नहीं जानता था, पर मैंने उन्हें व्यक्तित्वशाली, चिन्ताशील और कर्मण्य पहले पाया—पीछे व्यापारी और रईस। आप अपनी तारीफसे बहुत दूर रहते हैं और चुपचाप काम करना प्रसन्द करते हैं। आप जिस उत्तरदायित्वको लेते हैं उसे पूर्णतया निभाते हैं। आपको इससे बड़ी घृणा है जो अपने उत्तरदायित्वको पूरा नहीं करते। आपके हृदयमें जैन संस्कृतिके प्रचारकी बडी तीव्र लगन है। आप आधुनिक ढंगसे उसका अधिकाधिक प्रचार करनेके लिए उत्सुक हैं। जिन बड़े-बड़े व्यक्तियोंसे, विद्वानोंसे और शासकोंसे अच्छे-अच्छोंकी मित्रता नही हो पाती उन सबके साथ आपकी मित्रता-दोस्ताना और परिचय जान कर मै बहुत आश्चर्यान्वित हुआ। सेठ पद्मराजजी रानीवाले और अर्जुनलालजी सेठीके सम्बन्धकी कई ऐसी बातें आपने बतलाईं, जो जैन इतिहासकी दृष्टिसे संकलनीय हैं। आपके एकहरे दुर्बल शरीरको देख कर सहसा आपका व्यक्तित्व और चिन्ताशीलता मालूम नहीं होती, ज्यों-ज्यों आपके सम्पर्कमें आया जाये त्यों-त्यों वे मालूम होते जाते हैं। वस्तुतः समाजको उनका कम परिचय मिला है। यदि वे सचमुचमे प्रकट रूपमे समाजके सामने आते और अपने नामको अप्रकट न रखते तो वे सबसे अधिक प्रसिद्ध और यशस्वी बनते। अपनी भावना यही है कि वे शीघ्र स्वस्थ हों और उनका संकल्पित वीरशासनसंघका कार्य यथाशीघ्र प्रारम्भ हो।

राजगृहके कुछ शेष स्थान

बर्मी बौद्धोका भी यहाँ एक विशाल मन्दिर बना हुआ है। आज कल एक बर्मी पुङ्गी महाराज उसमे मौजूद है और उन्हीकी देखरेखमे यह मन्दिर है। जापानियोंकी ओरसे भी बौद्धोंका एक मन्दिर बन रहा था, किन्तु जापानसे लड़ाई छिड़ जानेके कारण उसे रोक दिया गया था और अब तक रुका पडा है। मुसलमानोंने भी राजगृहमे अपना तीर्थ बना रखा है। विपुलाचलसे निकले हुए दो कुण्डोंपर उनका अधिकार हैं। एक मस्जिद भी बनी हुई है। मुस्लिम यात्रियोंके ठहरनेके लिये भी वही स्थान बना हुआ है और कई मुस्लिम वासिंदाके रूपमे यहाँ रहते हुए देखे जाते हैं। कुछ मुस्लिम दुकानदार भी यहाँ रहा करते हैं। सिक्खोंके भी मन्दिर और पुस्तकालय आदि यहाँ हैं। कुंडोंके पास उनका एक विस्तृत चबूतरा भी है। ब्रह्मकुडके पास एक कुंड ऐसा बतलाया गया जो हर तीसरे वर्ष पड़ने वाले लौडके महीनेमे ही चालू रहता है और फिर बन्द हो जाता है। परन्तु उसका सम्बन्ध मनुष्य कृत कलासे जान पडता है। राजगृहकी जमीदारी प्रायः मुस्लिम नवाबके पास है, जिसमेंसे रुपयामें प्रायः चार आना (एक चौथाई) जमीदारी सेठ साहू शान्तिप्रसादजी डालमियानगरने नवाबसे खरीद ली है। यह जानकर खुशी हुई कि जमीदारीके इस हिस्सेको आपने दिगम्बर जैन सिद्ध क्षेत्र राजगृहके लिये ही खरीदा है। उनके हिस्सेकी जमीनमे सर्वत्र S. P. Jain के नामसे चिन्ह लगे हुए हैं, जिससे आपकी जमीनका पार्थक्य मालूम हो जाता है। और भी कुछ लोगोंने नवाबसे छोटे-छोटे हिस्से खरीद लिए हैं। राजगृहमे खाद्यसामग्री तेज तो मिलती है। किन्तु बेईमानी बहुत चलती है। गेहुंओंको अलगसे खरीद कर पिसानेपर भी उसमे चौकर बहुत मिला हुआ रहता था। आटा हमें तो कभी अच्छा मिलकर नही दिया। बा० छोटेलालजीने तो उसे छोड़ ही दिया था। क्षेत्रके मुनीम और आदमियोसे हमे यद्यपि अच्छी मदद मिली, लेकिन दूसरे यात्रियोंके लिये उनका हमे प्रमाद जान पड़ा है। यदि वे जिस कार्यके लिये नियुक्त हैं उसे आत्मीयताके साथ करें तो यात्रियोंको उनसे पूरी मदद और सहानुभूति मिल सकती है। आशा है वे अपने कर्त्तव्यको समक्ष निष्प्रमाद होकर अपने उत्तरदायित्वको पूरा करेंगे।

आरा और बनारस

राजगृहमें २० दिन रह कर ता० १८ मार्चको वहाँ से आरा आये। वहाँ जैन सिद्धान्तभवनके अध्यक्ष पं० नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्यके मेहमान रहे। स्टेशनपर आपने प्रिय पं० गुलाबचन्द्रजी जैन, मैनेजर

जैन बाला विश्रामको हमे लेनेके लिये भेज दिया था। आरामे स्व० बा० देवकुमारजी रईस द्वारा स्थापित जैन-सिद्धान्त-भवन और श्रीमती विदुषी पण्डिता चन्दाबाईजी द्वारा संस्थापित जैन बाला विश्राम तथा वहाँ प्रतिष्ठित श्री १००८ बाहुबलिस्वामीकी विशाल खड्गासन मूर्ति वस्तुत: जैन भारतकी आदर्श वस्तुएँ है। आरा आने-वालोंको जैनमन्दिरोंके अलावा इन्हे अवश्य ही देखना चाहिये। भवन और विश्राम दोनों ही समाजकी अच्छी विभूति है। यहाँ स्व० श्रीहरिप्रसादजी जैन रईसकी ओरसे कालेज, लायब्रेरी आदि कई संस्थाएँ चल रही है। आरामे चलकर बनारस आये और अपने चिरपरिचित स्याद्वादमहाविद्यालयमे ठहरे। संयोगसे विद्यालयके सुयोग्य मत्री सौजन्यमूर्ति बा० सुमतिलालजीमे भेट हो गई। आपके मन्त्रित्वकालमे विद्यालयने बहुत उन्नति की है। कई वर्षमे आप गवर्नमेंट सर्विससे रिटायर्ड है और समाजसेवा एवं धर्मोपासनामे ही अपना समय व्यतीत करते है। आपका धार्मिक प्रेम प्रशसनीय है। यहाँ अपने गुरुजनो और मित्रोंके सम्पर्कमे दो दिन रहकर बडे आनन्दका अनुभव किया। स्याद्वादमहाविद्यालयके अतिरिक्त यहाँकी विद्वत्परिषद्, जय-धवला कार्यालय और भारतीय ज्ञानपीठ प्रभृति ज्ञानगोष्ठियाँ जैनसमाज और साहित्यके लिए क्रियाशीलताका सन्देश देती है। इनके द्वारा जो कार्य हो रहा है वह वस्तुत: समाजके लिये शुभ चिह्न है। मैं तो समझता हूँ कि समाजमे जो कुछ हरा-भरा दिख रहा है वह मुख्यतया स्याद्वादमहाविद्यालयकी ही देन है और जो उसमे क्रियाशीलता दिख रही है वह उक्त संस्थाओंके सचालकोंकी चीज है। आशा है इन संस्थाओंसे समाज और साहित्यके लिए उत्तरोत्तर अच्छी गति मिलती रहेगी।

इस प्रकार राजगृहकी यात्राके साथ आरा और बनारसकी भी यात्रा हो गई और ता० २४ मार्चको सुबह साढे दस बजे यहा सरसावा हमलोग सानन्द सकुशल वापिस आ गये।
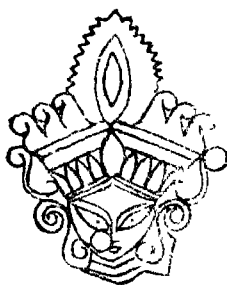
काश्मीरकी मेरी यात्रा और अनुभव

यात्राका कारण और विचार

कितने ही दिनोंसे मेरी यह इच्छा बनी चली आ रही थी कि भारतके मुकुट और सौन्दर्यकी क्रीडा-भूमि काश्मीरकी यात्रा एक बार अवश्य की जाय। सौभाग्य कहिए या दुर्भाग्य, अप्रेलके मध्यमें तपोनिधि श्री १०८ आचार्य नमिसागरजी महाराजके मेरठमे दर्शन कर देहली वापिस आने ही मैं अस्वस्थ पड़ गया और लगभग सवा माह तक 'लो ब्लड प्रेशर' का शिकार रहा। मित्रों, हितैषियों व सस्थाधिकारियोंने मुझे स्वास्थ्य-सुधारके लिए काश्मीर जानेकी प्रेरणा की। उनकी सद्भावनापूर्ण प्रेरणा पा मेरी इच्छा और बलवती हो गई। अन्तमें काश्मीर जानेका पूर्ण निश्चय किया और भारत सरकारके काश्मीर विभागसे तीन माहके पास बनवा कर २२ मई १९५४ को देहलीसे श्रीनगर तक के ४० रु० के वापिसी इन्टर-टिकट लेकर हमने सपत्नीक ला० मक्खनलालजी जैन ठेकेदार देहलीके साथ काश्मीर मेलसे प्रस्थान किया। दूसरे दिन प्रातः पठानकोट पहुँचे और उसी समय रेलवेकी आउट एजेन्सी लेने वाली N. D. राधाकृष्ण बस कम्पनीकी १३ सीटी बससे, जो हर समय तैयार रहती है, हम लोग श्रीनगरके लिए रवाना हो गये। १२ बजे दिनमे जम्मू पहुँचे और वहाँ खाना-पीना खाकर एक घण्टे बाद चल दिये। यहाँ उक्त बस-सर्विसका स्टेशन है। अनेक घाटियोको पार करते हुए रातको ८॥ बजे बनिहाल पहुँचे और वहाँ रात बिताई। यहाँ ठहरनेके लिये किरायेपर कमरे मिल जाते है। जम्मू और उसके कुछ आगे तक तीव्र गर्मी रहती है किन्तु बनिहालसे चित्ताकर्षक ठंडी हवायुक्त सर्दी शुरू हो जाती है और कुछ गर्म कपडे पहनने पडते है। यात्री यहासे गर्मीके कष्टको भूलकर ठंडका सुखद अनुभव करने लगता है।

काश्मीरकी उत्तुंग घाटियों और प्राकृतिक दृश्योको देखकर दर्शकका चित्त बड़ा प्रसन्न होता है। जब हम नौ हजार फुटकी ऊँचाईपर टेनिल पहुँचे और एक जगह रास्तेमे बर्फकी शिलाओंपर चले-फिरे तथा बर्फको उठाया तो अपार आनन्द आया। काश्मीरमें सबसे ऊँची जगह यही टेनिल है। यहाँसे फिर उतार शुरू हो जाता है। हमारी बस पहाड़ोंके किनारे-किनारे गोल चक्कर जैसे मार्गको तय करती हुई २४ मईको प्रातः ७ बजे खन्नाबल पहुँच गयी। यहाँसे श्रीनगर सिर्फ ३० मील रह जाता है। पहले श्रीनगर न जाकर यही उतर कर मटन, पहलगाँव, अच्छावल, कुकरनाग आदि स्थानोंको देख आना चाहिये और बादमें श्रीनगर जाना चाहिये। इसमें काश्मीर-पर्यटकको समय, शक्ति और अर्थकी बचत हो जाती है। अतः हम लोग यही उतर गये और ताँगे करके ११ बजे दिनमे मटन पहुँचे।

मटन—मे पं० शिवराम नीलकण्ठ पण्डेके मकानमे ठहरे। पं० शिवराम नीलकण्ठ सेवाभावी और सज्जन है। यहाँ तीन-सौ के लगभग पण्डे रहते है। यह हिन्दुओंका प्रमुख तीर्थ स्थान है। यहाँ पानीकी खूब बहार है। चारों ओर पानी ही पानी है। तीन कुण्ड है, जिनमे एक वृहद् चश्मेसे पानी आता है। पास ही लम्बोदरी नदी अपना लम्बा उदर किये बहती है, जिसपर सवा लाख रुपयेके ठेकपर एक नया पुल बन रहा है। इसी लम्बोदरी नदीसे महाराजा प्रतापसिंहके राज्य-समयमे गण्डासिंह नामके साधारण सिखने अपने बुद्धिचातुर्यसे पहाड़ी खेतीकी सिंचाईके लिए पहाड़ोके ऊपरसे एक नहर निकाली थी, जो आश्चर्यजनक है

और जिसपर महाराजाने उसे अपनी रियासतका चीफ इञ्जीनियर बना दिया था। यह नहर २२ मील लम्बी और वेगसे पानी बहाने वाली है। नहरके पास एक डाक-बंगला है। जिसमें पहले दर्शक भी ठहरते थे। हम व ला० मक्खनलालजी यहीं आकर स्वाध्याय व तत्त्वचर्चा किया करते थे। मटनसे एक मीलकी दूरीपर वह प्रसिद्ध एवं विशाल हिन्दुओंका मार्तण्ड मंदिर है, जिसे सन् ८५६ मे अवन्तिवर्मा (श्रीवर्मा) ने बनवाया था और सन् १३९० में सुलतान सिकन्दरने तोड़ा था। मन्दिरके विशाल और बड़े-बड़े पत्थरोंको देख कर आश्चर्य होता है कि उस जमानेमे जब क्रेन नही थी, इतने बडे पत्थर इतने ऊँचे कैसे चढ़ाये गये होंगे। कहते हैं कि इस मार्तण्ड मन्दिरके कारण ही मार्तण्डका मटन नाम हो गया।

कुकरनाग—मटनसे अनन्तनाग, अच्छावल होते हुए ३ जूनको हम लोग बस द्वारा कुकरनाग गये। कुकरनाग मटनसे १९ मील है। ठहरनेके लिए जगह अच्छी मिल जाती है। यहाँ कई चश्मे हैं, जिनका पानी बहुत अच्छा व स्वास्थ्यप्रद है। चश्मोंसे इतना पानी आता है कि उससे एक नदी बन गई और जिसका नाम 'कुकरनाग' है। पहाडपर राज्यसरकारकी ओरसे एक बंगला बना हुआ है, जो दर्शकोंके लिए भी किरायेपर दिया जाता है। एक बंगला और राज्यसरकारकी ओरसे नीचे बन रहा है। और भी कई लोगोंने बगले बनवा रखे है, जो किरायेपर दिये जाते हैं। यहाँ एक मीलपर एक चूने वाला चश्मा है, जिसके बारेमें प्रसिद्धि है कि इसके पानीमें कैलशियम है और खुजली आदि चर्मरोगोंको दूर करता है। यहाँ कितने ही लोग चार-चार महीना इसीलिये रहते हैं कि यहाँका जलवायु उत्तम है। चीड़के असंख्य उन्नत वृक्षोंसे पहाड़ व हरे-हरे धान्यके खेत बड़े ही शोभायमान होते हैं।

अनन्तनाग—यह काश्मीरका एक जिला है। यहाँ उल्लेखनीय दो चश्मे हैं। एक गन्धकका चश्मा है, जो मस्जिदके पास है और जिसका जल चर्मरोगोंके लिये खास गुणकारी है। दूसरे चश्मेसे कई कुण्ड बना दिये गये हैं। यहाँके गब्बे (कालीन) विशेष प्रसिद्ध हैं।

अच्छावल—यह काश्मीरके द्रष्टव्य स्थानोंमेसे एक है। यहाँ भी कई झरने हैं, जो बहुत मशहूर है। बाग फव्वारोंसे सजा हुआ है। कहते है कि ये फव्वारे जहाँगीरकी बीबी नूरजहाँने अपने मनोविनोदके लिये बनवाये थे। यहाँ दर्शकों की भीड़ बनी रहती है। यहाँ ५-५, ७-७ सेरकी संरक्षित मछलियाँ है।

वेरीनाग—यहाँ एक ५४ फुट गहरी और षट्कोण नीलवर्णी झील है, जो बड़ी सुन्दर और देखने योग्य है। झेलम नदी इसी झीलसे निकली है। इसे देखनेके लिए हम घोड़ों द्वारा गये।

पहलगाँव—कुकरनागमें ९ दिन रह कर हमलोग १२ जूनको वापिस मटन आ गये और वहाँ पुनः ११ दिन ठहरकर २४ जूनको पहलगाँव चले गये। पहलगाँव काश्मीर भरमे सबसे सुन्दर जगह है और प्राकृतिक सौन्दर्यका अद्वितीय आगार है। एक ओरसे लम्बोदरी और दूसरी ओरसे आडू नदी कल-कल शब्द करती हुई यहाँ मिलकर मटनकी ओर बहती हैं। नदीके दोनों ओर हरे-हरे उत्तुंग कैलके वृक्षोंसे युक्त मनोरम वर्फाच्छादित पर्वत शृंखला है जो बड़ी भव्य व सुहावनी है। पहाड़ों और नदियोंके बीचके सुन्दर मैदानमें पहलगाँव बसा हुआ है। यहाँ हमने १३) रोजपर एक खालसा कोठी किरायेपर ली, जो बहुत सुन्दर और हवादार थी। यहाँ ठहरनेके लिए प्लाजा, बजीर, खालसा आदि होटल, कोठियाँ, मकान और तम्बू मिल जाते हैं। दिल्लीसे गये ६०० छात्र-छात्राएँ और अध्यापक-अध्यापिकाएँ उक्त होटलों तथा तम्बुओमें ठहरे थे। यहाँसे हम लोग वाइसरायन और शिकारगा देखने गये, जो पहलगाँवसे १-१॥ मीलकी दूरीपर हैं और सुन्दर मैदान हैं। १ जुलाईको हम पत्नी सहित घोड़ोंपर सवार होकर चन्दनबाड़ी गये, जो पहलगाँवसे ८ मील है और जहाँ दो पहाड़ोंके बीच बने बर्फके पुलके नीचेसे लम्बोदरी बहती हुई बड़ी सुहावनी लगती है। बर्फका पुल देखने योग्य है। इसी परसे दर्शक व अन्य लोग शेषनाग, पंचतरणी और अमरनाथकी यात्रार्थ जाते हैं।

श्रीनगर—पहलगाँवसे हम लोग २ जुलाईके प्रातः ८ बजे रवाना होकर ११ बजे श्रीनगर पहुँचे। श्रीनगरके सन्निकट रास्तेमें अवन्तीपुर भी देखा, जहाँ मार्तण्ड मन्दिर जैसा ही हिन्दुओंका विशाल मंदिर बना हुआ है और जो भग्नावस्थामें पड़ा हुआ है। श्रीनगरमें हम विजय होटलमें और ला० मक्खनलालजी मैजिस्टिक होटलमें ठहरे। यहाँ ला० हरिश्चन्द्र जी और श्री पं० कैलाशचन्द्र जी बनारस भी सौभाग्यसे मिल गये। मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। इससे पहले पहलगाँव तथा मटनमें भी आपसे भेंट हो गई थी।

डल लेक आदि दृष्टव्य कुछ स्थान—४ जुलाईको हमलोग तांगों द्वारा डल लेक, शाही चश्मा, निषाद, शालामार और हार्वन बाग देखने गये। ये चारों ही स्थान श्रीनगरके प्रसिद्ध और मनोज्ञ स्थान हैं। डल लेक एक बड़ी और मनोरम झील है। झीलमें एक नेहरू पार्क और एक होटल है। हर रविवारको लोग यहाँ सैर करने आते हैं। चश्मा शाहीका पानी सुस्वादु और पाचक है। यहाँसे हमलोग सीधे पहले हार्वन गये। यहाँ चश्मोंसे निकले पानीकी एक झील है, जो नील वर्ण है। हार्वनके बाद शालामार और निषाद आये। निषाद अति सुन्दर और चित्ताकर्षक है। पहाड़से निकले चश्मेके पानीकी कई जगह ऊँची फालें और फव्वारे बनाये गये हैं। यह बाग भी नूरजहाँकी कृति है, जहाँ वह मनोविनोद और क्रीड़ाके लिये आती थी। लोग छुट्टीका दिन यहीं आनन्दसे व्यतीत करते हैं।

गुलमर्ग व खिलनमर्ग—५ जुलाईको हमलोग गुलमर्ग और खिलनमर्ग देखनेके लिये बस द्वारा टनमर्ग गये। मोटर बस टनमर्ग तक ही आती-जाती हैं। यहाँसे घोड़ों द्वारा उक्त स्थानोंको देखने जाना होता है। ये दोनों स्थान ऊँची पहाड़ीपर हैं। गुलमर्ग एक लम्बा चौड़ा मैदान है जहाँ अनेक होटल व मकान बने हैं, जिनमें यात्री आकर महीनों ठहरते हैं। यहाँ हम आते-जाते वर्षाके कारण १०-१५ मिनट ही ठहरे। खिलन-मर्ग भी एक ऊँचाईपर सुन्दर मैदान है, जहाँ पास ही बर्फकी शिलायें हैं और जिनपरसे यात्री चलते व दौड़ते हैं और आनन्दानुभव करते है।

हमने रास्तेमे वह जगह भी देखी, जहाँ तक १९४७ मे लुटेरें कबायली अथवा पाकिस्तानी सैन्य दल टिड्डियोंकी तरह लूटमार और अपहरण करते हुए आ चुके थे। इस जगहसे श्रीनगर सिर्फ पाँच मील है। उक्त दोनों स्थानोंको देखकर उसी दिन ५॥ बजे शामको हम वापिस श्रीनगर आ गये।

श्रीनगरके बाजारोंमें जितनी बार जायें उतनी ही बार चीजोंको खरीदनेकी इच्छा हो जाती है। यहाँकी सूक्ष्म और बारीक कारीगरी अत्यन्त प्रशंसनीय है। लकड़ीका काम, ऊनी व रेशमी कपड़ेका काम, टोकनियाँ, गब्बे, नमदे और केशर यहाँकी खास चीजें है। हाँ, बोटों व शिकारोंसे पटी झेलमका दृश्य भी अव-लोकनीय है। उसमें हर व्यक्तिको सैर करनेकी इच्छा हो आती है। उसके सातों पुल भी उल्लेखनीय हैं।

७ जुलाईको श्रीनगरसे N. D. राधाकृष्ण बस द्वारा रवाना होकर ८ जुलाईको प्रातः पठानकोट आ गये और वहाँसे ५-५० पर शामको छूटने वाली काश्मीर मेलसे चलकर ७ जुलाईको प्रातः देहली सानन्द आ गये। स्टेशनपर पं० बाबूलालजी जमादार, पं० मन्नूलालजी शास्त्री, भगत हरिश्चन्द्रजी और छात्रवर्गने हम लोगोंका हार्दिक स्वागत कर हमें अपना अनन्य स्नेह दिया। समन्तभद्र संस्कृत-विद्यालयमें हम उस समय प्रिंसिपल (प्राचार्य) रहे।

काश्मीरके सौन्दर्यकी अभिवृद्धिमें पहलगाँव, चन्दनवाडी, अच्छावल, डल लेक, वेरीनाग, कुकरनाग और निषाद बाग ये स्थान प्रमुख कारण हैं। यहाँ यह खास तौरसे उल्लेखनीय है कि काश्मीर राज्यमे, जहाँ ७५ प्रतिशत मुसलिम आबादी है, गोहत्या नहीं होती—कानूनन बन्द है। वहाँके भोले, भद्र और गरीब लोगोंकी सुजनता देखने योग्य है। खाने-पीनेकी सभी चीजें सस्ती और अच्छी मिल जाती हैं। कवि कल्हणने अपनी राजतरंगिणीमें जो काश्मीरका विशद वर्णन किया है उससे स्पष्ट है कि काश्मीरका भारतके साथ बहुत पुराना सम्बन्ध है और वह भारतका ही एक अभिन्न प्रदेश रहा है।

अतः काश्मीरके साथ हमारा सांस्कृतिक और सौहार्दका सम्बन्ध उत्तरोत्तर बढ़ते रहना चाहिये।●

बम्बईका प्रवास

बम्बईमें हमारा तीन दिनका प्रवास था। यहाँ श्रद्धेय प्रेमीजीने हमारा प्रेमपूर्ण आतिथ्य किया। आप समाज व साहित्यके पुराने सेवक हैं। आपने समाज व साहित्यपर सैकड़ों लेख लिखे हैं एवं अन्धेरेमें पड़े हुए सैकड़ों ग्रन्थों और ग्रंथकारोंको प्रकाशमें लाकर जैन इतिहासके निर्माणमे अपूर्व योगदान दिया है। जैन-हितैषी व जैनमित्रका आपने जिस योग्यता और विद्वत्तासे सम्पादन किया उसकी समता आज समाजका प्रायः कोई पत्र नहीं रखता। अपने जीवनकी अर्धशताब्दी आपने समाजसेवामे व्यतीत किया है। यद्यपि अब आप लगभग ७० वर्षके हो गये और काफी अशक्त रहने लगे है फिर भी समाजसेवाकी चिन्ता अहर्निश रखते हैं। हमारी आपके साथ घंटों सामाजिक व साहित्यिक चर्चाएँ हुई। उनमें हमने यही महसूस किया कि उन जैसे अध्यवसायी, लगनशील, समाजचिन्तक और साहित्यसेवी बहुत कम विद्वान् होंगे। जैन समाजमें कहीं कोई नई बात या हलचल हुई उससे समाजको परिचित करानेका प्रेमीजीने सदैव ध्यान रखा। किन्तु अब इस ओर किसीका भी लक्ष्य नहीं है। श्वेताम्बर समाजमें दिगम्बर समाजके सम्बन्धमें कितनी ही ऐसी बातें एवं घटनाएँ हो जाती हैं जिनकी हमे खबर नही मिलती और कदाचित् मिल भी जाय तो बहुत पीछे मिलती है। दिगम्बर समाजको आज विरोधात्मक कार्यकी ओर नही, विधेयात्मक कार्यकी ओर गतिशील होना चाहिए। उसका जो भी प्रयत्न हो विसंगठित एवं विरोधात्मक नहीं होना चाहिए।

प्रेमीजीके सिवाय बम्बईमे हम जिन सज्जनोंके परिचयमें आये, उनमें धर्मनिष्ठ संघपति सेठ पूनमचंद घासीलालजी, सेठ निरंजनलालजी, मित्रवर पंडित विजयमूर्तिजी एम० ए०, दर्शनाचार्य और बन्धुवर पं० कुन्दनलालजी मैनेजर रायचन्द शास्त्रमालाके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

संघपतिजीके साथ हमारी उनकी अपनी कोठीमे निर्मापित श्री चैत्यालयजीमे धार्मिक चर्चाएँ हुई; जो काफी महत्त्वपूर्ण थी। कालबादेवीमें आपके द्वारा बहुत विशाल और आदर्श जिनमन्दिर बनवाया जा रहा है। इसमें लाखों रुपये लगेंगे। यह बम्बईकी कलापूर्ण कृतियोंमे एक अपूर्व एवं अन्यतम कृति होगी। इसे बनते हुए दो-तीन वर्ष हो गये और कई वर्ष और लगेंगे। इसका प्रायः सारा ही संगमरमरका पत्थर विदेशी है और बहुत सुन्दर है।

भूलेश्वरके श्री जिनमन्दिरजीमें हम प्रतिदिन पूजन करते थे। यहाँ पूजनादिका सुप्रबन्ध है। इसके प्रबन्धकोंमें एक धर्मप्रेमी सेठ निरंजनलालजी हैं। दिगम्बर समाज, जैन इतिहास-निर्माण और 'संजद' पदके सम्बन्धमे हमारी आपसे विस्तृत और सौजन्यपूर्ण बातचीत हुई। हमने जैन इतिहास-निर्माणकी आवश्यकता और 'संजद' पदकी स्थितिपर बल दिया। फलतः आपने इस सब वार्ताको बडे महाराज (चा० च० पूज्य आचार्य शान्तिसागरजी) से कहने और उनके पास जानेके लिए आग्रह किया। परन्तु समय न होनेसे हम महाराजके पास न जा सके। लेकिन उनके इस निमंत्रणको हमने स्वीकार कर लिया कि बादमे बुलानेपर हम अवश्य आवेंगे।

पं० विजयमूर्तिजी और श्री कुन्दनलालजी हमारे सुपरिचित मित्रोंमें हैं। इन मित्रोंने हमें बम्बईके प्रसिद्ध स्थानों चौपाटी, इंडियागेट, समुद्रकी सैर, हिंगिग-गार्डन, कमलानेहरू-गार्डन, रानी-बाग, अजायबघर आदि दिखाये। विशाल सड़कें, गगनस्पर्शी मकान, बड़े-बड़े मार्केट, शिष्टतापूर्ण रहन-सहन, समुद्रकी सीनरी आदि बातें बम्बईकी अपनी खास विशेषताएँ हैं। यहाँ नंगे शिर चलते हुए प्रायः कोई नही मिलेगा। वास्तवमें यहाँकी शिष्टता एवं सभ्यता अन्य बातोंके साथ अवश्य ही दर्शकके चित्तको आकर्षित करती है और इन्हीं सब बातोंसे बम्बईको भारतका पहला एवं सुन्दर नगर कहलानेका गौरव प्राप्त है। ■

परिशिष्ट

प्रस्तुत ग्रन्थमें डॉ० कोठियाके जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं और ग्रन्थोंकी प्रस्तावनाओंमें पूर्व प्रकाशित सामग्री दी गयी है, उसके पूर्व प्रकाशित शीर्षक आदिका विवरण इसमें प्रकाशित शीर्षकोंके साथ यहाँ दिया जाता है—

इस ग्रन्थमे प्रकाशित शीर्षक	अन्यत्र प्रकाशित शीर्षक आदि विवरण
धर्म	
१. पुण्य और पापका शास्त्रीय दृष्टिकोण	: पुण्य और पापकी शास्त्रीय स्थिति, जैन सन्देश, वर्ष ३०, अंक २४, जैन संघ, मथुरा।
२. वर्तनाका अर्थ	: क्या वर्तनाका अर्थ गलत है ?, 'अनेकान्त', वर्ष ७, किरण ११-१२, ई० १९४५।
३ जीवनमे संयमका महत्त्व	: सयमकी आवश्यकता, 'जैनदर्शन' (मासिक), जनवरी १९३७।
४. चारित्रका महत्त्व	: जैन दृष्टिमे चारित्रका स्थान, 'जैन प्रचारक', मासिक, सितम्बर १९४०, बालाश्रम, दिल्ली।
५. करुणा : जीवकी एक शुभ परिणति	: शीर्षक वही, प्रज्ञा (त्रैमासिक), का० हि० वि० वि०, दिसम्बर १९७२।
६. जैन धर्म और दीक्षा	: शीर्षक वही, सम्पादकीय, जैन प्रचारक (मासिक), जनवरी १९५१।
७. धर्म एक चिन्तन	: धर्मकी आवश्यकता, जैन सन्देश, सितम्बर १९५०, जैन सघ, मथुरा।
८. सम्यक्त्वका अमूढदृष्टि अग: एक महत्त्वपूर्ण परीक्षण-सिद्धान्त	: अमूढदृष्टि बनाम परीक्षण-सिद्धान्त, जैन सन्देश (साप्ताहिक), सितम्बर १९६४।
९. महावीरकी धर्मदेशना	: महावीरकी जीवन-झांकी, जीवन साहित्य, (मासिक), दिल्ली, अक्तूबर १९५२।
१०. वीर-शासन और उसका महत्त्व	: शीर्षक वही, अनेकान्त (मासिक), वर्ष ५, किरण ५, ई० १९४३, सरसावा (सहारनपुर)।
११. महावीरका आध्यात्मिक मार्ग	: महावीर और दीपावली, जैन प्रचारक, अक्तूबर १९४०, बाल आश्रम, दिल्ली।
१२. महावीरका आचार-धर्म	: शीर्षक वही, पुस्तिका, पर्यूषण, २३ सितम्बर १९६१।
१३. भ० महावीरकी क्षमा और अहिंसाका एक विश्लेषण	: शीर्षक वही, महावीर-जयन्ती स्मारिका, जयपुर।
१४. भ० महावीर और हमारा कर्त्तव्य	: शीर्षक वही, जैन गजट, अप्रेल १९५४।

दर्शन

१. अनेकान्तवाद-विमर्श	लोकका अद्वितीय गुरु अनेकान्तवाद, 'अनेकान्त' (मासिक), वर्ष ११, किरण १, १९५२ ।
२. स्याद्वाद-विमर्श	स्याद्वाद, 'प्रज्ञा' भाग १, अंक १४, अक्तूबर १९६८ ।
३. संजयवेलट्ठिपुत्त और स्याद्वाद	शीर्षक वही, 'अनेकान्त' वर्ष ९, कि० २, १९४८ । तथा विश्ववाणी, इलाहाबाद, जून १९४८ ।
४. जैनदर्शनके समन्वयवादी दृष्टिकोणकी ग्राह्यता	शीर्षक वही, 'आज' दैनिक, वाराणसी, ४ मार्च १९७२ ई० ।
५. श्रमण-संस्कृतिकी वैदिक संस्कृतिको देन	शीर्षक वही, महावीर-जयन्ती स्मारिका, जयपुर, १९७१ ई० ।
६. डॉ० अम्बेडकरसे भेंटवार्तामें अनेकान्त-चर्चा	: डॉ० अम्बेडकर और उनके दार्शनिक विचार, 'अनेकान्त', वर्ष १०, किरण ४, दिसम्बर १९४९, दिल्ली ।
७. जैन दर्शनमे सल्लेखन : एक अनुशीलन	: शीर्षक वही, समाधिमरणोत्साहदीपक, प्रस्तावना, अक्तूबर १९६३ ई० ।
८. जैन दर्शनमे सर्वज्ञता	: जैन दर्शनमें सर्वज्ञताकी संभावनाएँ, अखिल भा० दर्शन परिषद्मे पठित तथा 'दार्शनिक' (त्रैमासिक) वर्ष ११, अक १, जनवरी १९६५ मे प्रकाशित ।
९. अर्थाधिगम-चिन्तन	जैन दर्शनमे अर्थाधिगम-चिन्तन, 'प्रज्ञा', Vol-Xiii (1), काशी हिन्दू वि० वि०, वाराणसी ।
१०. ज्ञापकतत्त्व-विमर्श	प्रमाण और नय, जैन प्रचारक, अगस्त-सितम्बर १९३८, दिल्ली ।
११. ध्यान-विमर्श	: जैन दर्शनमे ध्यान-विचार, जिनवाणी, योगांक, जयपुर ।

न्याय

१ भारतीय वाङ्मयमें अनुमान-विचार	जैन तर्कशास्त्रमे अनुमान-विचार, शोध-प्रबन्ध, प्रास्ताविक, अनुमान-विकास, संक्षिप्त अनुमान-विवेचन, उपसंहार, ई० १९६९, वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट, वाराणसी ।
२. न्याय-विद्यामृत	न्यायकी उपयोगिता, 'अनेकान्त', वर्ष ९, कि० १ ।

इतिहास और साहित्य

१. स्याद्वाद-सिद्धि और वादीभसिंह	शीर्षक वही, प्रस्तावना, स्याद्वाद-सिद्धि माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९५० ई० ।
२. द्रव्यसंग्रह और नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव	सम्पादकीय (प्रति-परिचय, प्रस्तावना—ग्रन्थ और ग्रन्थकार, द्रव्यसंग्रह, गणेश वर्णी दि० जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९६६ ।
३. शासन-चतुस्त्रिंशिका और मदनकीर्ति	: सम्पादकीय (प्रति-परिचय), प्रस्तावना—शासन-चतुस्त्रिंशिका और मदनकीर्ति परिशिष्ट, वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट, १९४९ ।

४. 'संजद' पदके सम्बन्धमें अकलङ्कदेवका महत्त्वपूर्ण अभिमत	: शीर्षक वही, 'अनेकान्त', वर्ष ८, कि० २, जनवरी १९४६ ।
५. ९३ वें सूत्रमें 'संजद' पदका सद्भाव	: ९३ वें सूत्रमें 'संजद' पदका विरोध क्यों?, 'अनेकान्त' वर्ष ८, कि० १०, सितम्बर, १९४६ ई० ।
६. नियमसारकी ५३ वीं गाथा और उसकी व्याख्या एवं अर्थपर अनुचिन्तन	शीर्षक वही, 'वीर-वाणी', वर्ष ३५, अंक २, अक्टूबर १९८२, 'नियमसारकी ५३ वी गाथाकी व्याख्या और अर्थ-में भूल' जैन सन्देश, १६ सितम्बर १९८२, जैन विद्वत्सं-गोष्ठी बम्बईमें पठित, ७, ८ सितम्बर १९८२ ।
७. अनुसन्धानमें पूर्वाग्रहमुक्ति आवश्यकः कुछ प्रश्न और समाधान	अनुसन्धानमें पूर्वाग्रहमुक्ति आवश्यक, अनेकान्त, वर्ष ३४, कि० ४, दरियागंज, नई दिल्ली, १९८१ ।
८. गुणचन्द्र मुनि कौन हैं ?	शीर्षक वही, 'अनेकान्त', जनवरी १९५० ।
९. कौन-सा कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्र है ?	शीर्षक वही, 'अनेकान्त', वर्ष ८, कि० ४-५, अप्रेल १९४६ ।
१०. गजपन्थ तीर्थ क्षेत्रका एक अति प्राचीन उल्लेख	: शीर्षक वही, 'अनेकान्त', वर्ष ७, कि०, १९४५ ।
११ अनुसन्धान विषयक महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर	शङ्का-समाधान, 'अनेकान्त', वर्ष ९, कि० १, ३, १९४८ ।
११. आचार्य कुन्दकुन्द	आचार्य कुन्दकुन्दका प्राकृत वाङ्मय और उसकी देन, क्षु० चिदानन्द स्मृतिग्रन्थ, द्रोणगिर, वी० नि० २४९९ ।
१३. आचार्य गृद्धपिच्छ	तत्त्वार्थसूत्रकी परम्परा, जैन सिद्धान्त भास्कर, आरा, सन् १९४५ ।
१४. आचार्य समन्तभद्र	'देवागम और समन्तभद्र', प्रस्तावना, वीर सेवा मन्दिर-ट्रस्ट, वाराणसी, १९६७ (प्र० सं०), १९७८ (द्वि० सं०) ।

विविध

१. बिहारकी महान् देन : तीर्थंकर महावीर और इन्द्रभूति	शीर्षक वही, मगध यूनिवर्सिटी और जैन समाज गया के संयुक्त तत्त्वावधानमें आयोजित जैन विद्या संगोष्ठीमें पठित एवं उनके द्वारा प्रकाशित महावीर-जयन्ती स्मारिका में मुद्रित, सन् १९७५ ।
२. विद्वान् और समाज	: अखिल भारतीय दि० जैन विद्वत्परिषद्के रजत-जयंती अधिवेशन शिवपुरीके अध्यक्षपदसे दिया गया अध्यक्षीय भाषण, फरवरी १९७३ ।
३. हमारे सांस्कृतिक गौरवका प्रतीकः अहार	श्री शान्तिनाथ दि० जैन विद्यालय, अहारके अध्यक्षपदसे दिया गया अध्यक्षीय भाषण, दिसम्बर १९६६ ।
४. आचार्य शान्तिसागरका ऐतिहासिक समाधिमरण	: शीर्षक वही, सम्पादकीय, जैन प्रचारक सल्लेखनांक, दिल्ली, अगस्त १९५५ ।
५. आदर्श तपस्वी आचार्य नमिसागर	: आचार्य तपस्वी श्री १०८ आचार्य नमिसागरकी जीवन-झाँकी, प्रकाशक जैन समाज, हिसार, दिसम्बर १९५२ तथा सम्पादकीय, जैन प्रचारक, नवम्बर १९५६, दिल्ली ।

६. पूज्य वर्णीजी : महत्त्वपूर्ण संस्मरण : न भूलने वाले संस्मरण, दिगम्बर जैन, वर्ष ५९, अंक ११, सूरत, सितम्बर १९६६। तथा महामानव पूज्य वर्णीजी, जैन प्रचारक, 'वर्णी अंक', १९५२।

७. प्रतिभामूर्ति पं० टोडरमल : शीर्षक वही, वीर वाणी, टोडरमलाङ्क, जयपुर।

८. श्रुत-पञ्चमी : जैन मित्र, अप्रैल १९३७, सूरत।

९. जम्बू-जिनाष्टकम् : शीर्षक वही, 'अनेकान्त', वर्ष ८, कि० १, जनवरी १९४६।

१०. दशलक्षणधर्म पर्व : दशलक्षणधर्म, पुस्तिका, वाराणसी, १९६३। तथा 'जैन सन्देश', जैन संघ, मथुरा, अगस्त १९५२।

११. क्षमावणी : क्षमापर्व : क्षमावाणी पर्व और उसका महत्व, जैन सन्देश, मथुरा, अगस्त, १९५२।

१२. वीर-निर्वाण पर्व : दीपावली : वीर-निर्वाण और दीपावली, खण्डेवाल हितेच्छु, इन्दौर, नवम्बर १९४३, तथा जैन गजट, दिल्ली, नवम्बर १९५३।

१३. महावीर-जयन्ती : शीर्षक वही, सम्पादकीय, जैन प्रचारक, दिल्ली, अप्रैल १९५६।

१४. श्री पपौराजी : जिन मन्दिरोंका अद्भुत समुच्चय : श्री पपौराजी : एक पावन तीर्थक्षेत्र, 'वीर,' २८ मई : १९५१, दिल्ली।

१५. पावापुर : भगवान् महावीरकी पावन निर्वाणभूमिः पावापुर, जैन प्रचारक, १९५४, दिल्ली।

१६. श्रमणबेलगोला और श्री गोम्मटेश्वर : श्री गोम्मटेश्वरका सहस्राब्दि-महोत्सव महामस्तकाभिषेक, 'आज', वाराणसी, १९८० तथा इसके पूर्व नवभारत टाइम्स, दिल्ली, २२ फरवरी, १९५३।

१७. राजगृहकी यात्रा और मेरे अनुभव : राजगृहकी यात्रा, 'अनेकान्त', वर्ष ८, कि० ४-५, १९४६। ई०, सरसावा (सहारनपुर)।

१८ काश्मीरकी यात्रा और और मेरे अनुभव : सौन्दर्यकी क्रीडाभूमि काश्मीरकी यात्रा, जैन सन्देश, २९ जुलाई १९५४, मथुरा।

१९. बम्बईका प्रवास : प्रवासमें मेरे ४५ दिन, जैन प्रचारक, दिल्ली, सन् १९५१।

■